॥ श्रीहरिः ॥

"कल्याण"के ग्राहकों और प्रेमी पाठकोंसे नम्र निवेदन

१—'कल्याण'के ५७वें वर्ष-(सन् १९८३ ई०) का विशेषाङ्क 'चरित्र-निर्माणाङ्क' पाठकोंकी सेवामें प्रस्तुत है । इसमें ४३२ पृष्ठोंमें पाठ्यसामग्री और ८ पृष्ठोंमें सूची आदि हैं । कई बहुरंगे चित्र भी यथास्थान दिये गये हैं ।

२—जिन ग्राहक महानुभावोंके मनीआर्डर आ गये हैं, उनको विशेषाङ्क फरवरीके अङ्कके साथ रजिस्ट्री-द्वारा भेजे जा रहे हैं । जिनके रुपये नहीं प्राप्त हुए हैं, उनको अङ्क बचनेपर ही ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार वी० पी० द्वारा भेजा जा सकेगा । रजिस्ट्रीकी अपेक्षा वी० पी० द्वारा विशेषाङ्क भेजनेमें डाकखर्च अधिक लगता है, अतः ग्राहक महानुभावोंसे विनम्र अनुरोध है कि वी० पी० की प्रतीक्षा न करके कल्याणके हितमें वार्षिक मूल्य कृपया मनीआर्डर द्वारा ही भेजें । 'कल्याण'का वार्षिक शुल्क २४.०० रुपये मात्र है, जो विशेषाङ्कका ही मूल्य है ।

३—ग्राहक-संख्या या 'पुराना ग्राहक' न लिखनेसे आपका नाम नये ग्राहकोंमें लिख जायगा, जिससे आपकी सेवामें 'चरित्र-निर्माणाङ्क' नयी ग्राहक-संख्याके क्रमसे पहुँचेगा और पुरानी ग्राहक-संख्याके क्रमसे इसकी वी० पी० भी जा सकती है । ऐसा भी हो सकता है कि उधरसे आप मनीआर्डरद्वारा रुपये भेजें और उनके यहाँ पहुँचनेके पहले ही इधरसे वी० पी० भी चली जाय । ऐसी स्थितिमें आपसे प्रार्थना है कि आप वी० पी० लौटायें नहीं, कृपया प्रयत्न करके किन्हीं अन्य सज्जनको *नया ग्राहक* बनाकर उन्हींको वी० पी०से गये 'कल्याण'के अङ्क दे दें और उनका नाम-पता—साफ लिखकर हमारे कार्यालयको भेजनेका अनुग्रह करें । आपके इस कृपापूर्ण सहयोगसे आपका 'कल्याण' व्यर्थ डाक-व्ययकी हानिसे बच जायगा और आप 'कल्याण'के पावन प्रचारमें सहायक बनेंगे ।

४—विशेषाङ्क—'चरित्र-निर्माणाङ्क' फरवरीवाले दूसरे अङ्कके साथ ग्राहकोंके पास रजिस्टर्ड-पोस्टसे भेजा जा रहा है । शीघ्रता और तत्परता रहनेपर भी सभी ग्राहकोंको इन्हें भेजनेमें लगभग ६-७ सप्ताह तो लग ही जाते हैं । ग्राहक-महानुभावोंकी सेवामें विशेषाङ्क ग्राहक-संख्याके क्रमानुसार ही भेजनेकी प्रक्रिया है, अतः कुछ ग्राहकोंको विलम्बसे ये दोनों अङ्क मिलेंगे । कृपालु ग्राहक परिस्थिति समझकर हमें क्षमा करेंगे ।

५—आपके 'विशेषाङ्क'के लिफाफे (या रैपर) पर आपकी जो ग्राहक-संख्या लिखी गयी है, उसे आप खूब सावधानीसे नोट कर लें । रजिस्ट्री या वी० पी०-नम्बर भी नोट कर लेना चाहिये, जिससे आवश्यकता होनेपर उसके उल्लेखसहित पत्र-व्यवहार किया जा सके । इस कार्यसे हमारे कार्यालयको सुविधा और कार्यवाहीमें शीघ्रता होती है ।

६—'कल्याण' व्यवस्था-विभाग एवं गीताप्रेस-पुस्तक-विक्रय-विभागको अलग-अलग समझकर सम्बन्धित पत्र, पार्सल, पैकेट, रजिस्ट्री, मनीआर्डर, बीमा इत्यादि पृथक् पतोंपर भेजने चाहिये । पतेकी जगह केवल 'गोरखपुर' ही न लिखकर 'पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर, पिन—२७३००५ (उ० प्र०)' भी लिखना चाहिये ।

७—'कल्याण'—सम्पादन-विभागको भेजे जानेवाले पत्रादि 'सम्पादक-कल्याण, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर, पिन—२७३००५ (उ० प्र०)' एवं 'साधक-संघ' तथा 'नाम-जप-विभाग'को भेजे जानेवाले पत्रादिपर अभिप्रेत विभागका नाम लिखकर 'द्वारा-कल्याण-कार्यालय, पत्रालय-गीताप्रेस, गोरखपुर—पिन २७३००५ (उ० प्र०)' लिखना चाहिये । पता स्पष्ट और पूर्ण रहनेसे पत्रादि यथास्थान शीघ्र पहुँचते हैं और कार्यमें शीघ्रता होती है ।

—व्यवस्थापक—कल्याण-कार्यालय, पत्रालय—गीताप्रेस, गोरखपुर—पिन२७३००५— (उ० प्र०)

ब० नि० सं० क्र०—

श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ

श्रीमद्भगवद्गीता और रामचरितमानस विश्व-साहित्यके अमूल्य ग्रन्थरत्न हैं। इनके पठन-पाठन एवं मननसे मनुष्य लोक-परलोक दोनोंमें अपना परम मङ्गल कर सकता है। इनके स्वाध्यायमें वर्ण, आश्रम, जाति, अवस्था आदिकी कोई बाधा नहीं है। आजके समयमें इन दिव्य ग्रन्थोंके पाठ और प्रचारकी अत्यधिक आवश्यकता है; अतः धर्मप्राण जनताको इन कल्याणमय ग्रन्थोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं विचारोंसे अधिकाधिक लाभ पहुँचानेके सदुद्देश्यसे 'गीता-रामायण-प्रचार-संघ'की स्थापना की गयी है। इसके सदस्योंकी संख्या इस समय लगभग पैंतालीस हजार है। इसमें श्रीगीताके छः प्रकारके और श्रीराम-चरितमानसके तीन प्रकारके सदस्य बनाये गये हैं। इसके अतिरिक्त उपासना-विभागके अन्तर्गत नित्य इष्टदेवके नामका जप, ध्यान और मूर्तिकी पूजा अथवा मानसिक पूजा करनेवाले सदस्योंकी श्रेणी भी है। इन सभीको श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानसके नियमित अध्ययन एवं उपासनाकी सत्प्रेरणा दी जाती है। सदस्यताका कोई शुल्क नहीं है। इच्छुक सज्जन परिचय-पुस्तिका निःशुल्क मँगाकर पूरी जानकारी प्राप्त करनेकी कृपा करें एवं श्रीगीताजी और श्रीरामचरितमानसके प्रचार-यज्ञमें सम्मिलित होकर अपने जीवनका कल्याण-पथ उज्ज्वल करें।

पत्र-व्यवहारका पता—मन्त्री, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-संघ, पत्रालय—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश), जनपद—पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)

साधक-संघ

मानव-जीवनकी सर्वतोमुखी सफलता आत्मविकासपर ही अवलम्बित है। आत्मविकासके लिये जीवनमें सत्यता, सरलता, निष्कपटता, सदाचार, भगवत्परायणता इत्यादि दैवी गुणोंका संग्रह और असत्य, क्रोध, लोभ, मोह, द्वेष, हिंसा इत्यादि आसुरी लक्षणोंका त्याग ही एकमात्र श्रेष्ठ उपाय है। मनुष्यमात्रको इस सत्यसे अवगत करानेके पावन उद्देश्यसे लगभग ३५ वर्ष पूर्व साधक-संघकी स्थापना की गयी। सदस्यताका शुल्क नहीं है। सभी कल्याणकामी स्त्री-पुरुषोंको इसका सदस्य बनना चाहिये। सदस्योंके लिये ग्रहण करनेके १२ और त्याग करनेके १६ नियम हैं। प्रत्येक सदस्यको एक 'साधक-दैनन्दिनी' एवं एक 'आवेदन-पत्र' भेजा जाता है, जिन्हें सदस्य बननेके इच्छुक भाई-बहनोंको मात्र ४५ पैसेके डाक-टिकट या मनीआर्डर अग्रिम भेजकर मँगवा लेना चाहिये। साधक उस दैनन्दिनीमें प्रतिदिन अपने नियम-पालनका विवरण लिखते हैं। विशेष जानकारीके लिये कृपया निःशुल्क नियमावली मँगाइये। पता—

संयोजक—साधक-संघ, द्वारा—'कल्याण-कार्यालय', पत्रालय—गीताप्रेस, जनपद—गोरखपुर—२७३००५ (उ० प्र०)

श्रीगीता-रामायणकी परीक्षाएँ

श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानस मङ्गलमय, दिव्यतम जीवनग्रन्थ हैं। इनमें मानवमात्रको अपनी समस्याओंका समाधान मिल जाता है और जीवनमें अपूर्व सुख-शान्तिका अनुभव होता है। प्रायः सम्पूर्ण विश्वमें इन अमूल्य ग्रन्थोंका समादर है और करोड़ों मनुष्योंने इनके अनुवादोंको भी पढ़कर अवर्णनीय लाभ उठाया है। इन ग्रन्थोंके प्रचारके द्वारा लोकमानसको अधिकाधिक उजागर करनेकी दृष्टिसे श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसकी परीक्षाओंका प्रबन्ध किया गया है। दोनों ग्रन्थोंकी परीक्षाओंमें बैठनेवाले लगभग पंद्रह हजार परीक्षार्थियोंके लिये ४०० (चार सौ) परीक्षा-केन्द्रोंकी व्यवस्था है। नियमावली मँगानेके लिये कृपया निम्नलिखित पतेपर कार्ड भेजें—

व्यवस्थापक—श्रीगीता-रामायण-परीक्षा-समिति, पत्रालय—स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश), जनपद—पौड़ी गढ़वाल (उ० प्र०)

श्रीहरिः

'चरित्र-निर्माणाङ्क'की विषय-सूची

चित्र-सूची

(बहुरंगे)

(रेखा-चित्र)

श्रीगणेश-परिवार

चारित्र्यपालक—भगवान् विष्णु

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ (मनु० २ । २०)

वर्ष ५७ } गोरखपुर, सौर माघ, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०८, जनवरी १९८३ ई० { संख्या १
पूर्ण संख्या ६७४

भव-व्याल-ग्रसितकी प्रार्थना

हे हरि ! कवन दोष तोहिं दीजै ।
जेहि उपाय सपनेहुँ दुरलभ गति, सोइ निसि-बासर कीजै ॥ १ ॥
जानत अर्थ अनर्थ-रूप, तमकूप परब यहि लागे ।
तदपि न तजत स्वान अज खर ज्यों, फिरत बिषय अनुरागे ॥ २ ॥
भूत-द्रोह कृत मोह-बस्य हित आपन मैं न बिचारो ।
मद-मत्सर-अभिमान ग्यान-रिपु, इन महँ रहनि अपारो ॥ ३ ॥
बेद-पुरान सुनत समुझत रघुनाथ सकल जगब्यापी ।
बेधत नहिं श्रीखंड बेनु इव, सारहीन मन पापी ॥ ४ ॥
मैं अपराध-सिंधु करुनाकर ! जानत अंतरजामी ।
तुलसिदास भव-ब्याल-ग्रसित तव सरन उरग-रिपु-गामी ॥ ५ ॥

(सौमनस्यके लिये)

संज्ञान-सूक्त (१)

सं समिद् युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ १ ॥

अग्निदेव, अभिमतफलदाता! तुम ईश्वर, तुम स्वामी,
वैश्वानर, तुम सब भूतोंमें व्यापक अन्तर्यामी!
उत्तर-वेदीपर याज्ञिकजन करते तुम्हें प्रदीपित,
धन दो हमें, ज्ञान दो हमको, है तव शक्ति असीमित ॥ १ ॥

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ २ ॥

सब मिलकर तुम एक रहो, हे धर्म-निरत विद्वानो!
बात एक तुम बोलो, मनमें अर्थ एक तुम जानो।
एकचित्त हो देव पुरातन ज्यों लेते निज भाग,
वैसे ही तुम भी लो, करके निज विरोधका त्याग ॥ २ ॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः
समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

मन्त्र एक-सा हो इन सबका, होवे प्राप्ति समान,
अन्तःकरण समान सभीके, सम विचार, सम ज्ञान।
तुम सबके हित मैं अभिमन्त्रित करता मन्त्र समान,
सम हविष्यसे लिये तुम्हारे करता आहुति-दान ॥ ३ ॥

समानी व आकूतिः
समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो
यथा वः सुसहासति ॥ ४ ॥

तुम सबकी चेष्टा समान हो, निश्चय एक समान,
हृदय तुम्हारे एक-तुल्य हों, हो न विषमता-मान।
एक-सदृश ही हों तुम सबके अन्तःकरण उदार,
हो सुन्दर सहवास तुम्हारा, ज्यों समता साकार ॥

(ऋग्वेद १०, १९१से)

संज्ञानसूक्त (२)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥

आप सबके मध्यमें विद्वेषको हटाकर मैं सहृदयता-संमनस्कताका प्रचार करता हूँ। जिस प्रकार गौ अपने बछडेसे प्रेम करती है, उसी प्रकार आप सब एक दूसरेसे प्रेम करें ॥ १ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो माता भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥२॥

पुत्र पिताके व्रतका पालन करनेवाला हो तथा माताका आज्ञाकारी हो। पत्नी अपने पतिसे शान्ति-युक्त मीठी वाणी बोलनेवाली हो ॥ २ ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥३॥

भाई-भाई आपसमें द्वेष न करें। बहिन-बहिनके साथ ईर्ष्या न रखे। आप सब एकमत और समान व्रतवाले बनकर मृदुवाणीका प्रयोग करें ॥ ३ ॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

जिस प्रेमसे देवगण एक दूसरेसे पृथक् नहीं होते और न आपसमें द्वेष करते हैं, उसी ज्ञानको तुम्हारे परिवारमें स्थापित करता हूँ। सब पुरुषोंमें परस्पर मेल हो ॥ ४ ॥

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट
संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्तो यात
समग्रास्थ सध्रीचीनान् ॥ ५ ॥

श्रेष्ठता प्राप्त करते हुए सब लोग हृदयसे एक साथ मिलकर रहो, कभी विलग न होओ। एक-दूसरेको प्रसन्न रखकर एक साथ मिलकर (राष्ट्रके) भारी बोझेको खींच ले चलो। परस्पर मृदु सम्भाषण करते हुए चलो और अपने अनुरक्त जनसे सदा मिले हुए रहो ॥ ५ ॥

*

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा
नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥

अन्न और जलकी सामग्री समान हो । एक ही (विधि-) बन्धनसे सबको युक्त करता हूँ । साथ मिलकर अग्निकी परिचर्या करो, जिस प्रकार रथकी नाभिके चारो ओर अरे लगे रहते हैं ॥ ६ ॥

सध्रीचीनान् वः समनसः कृणोम्ये-
कश्नुष्टीन् संवननेन सहृदः ।
देवा इवेदमृतं रक्षमाणाः
सायंप्रातः सुसमितिर्वो अस्तु ॥ ७ ॥

समान (मति-) गतिवाले आप सबको सममनस्क बनाता हूँ, जिससे आप पारस्परिक प्रेमसे समान (सद्-) भावोंके साथ एक (चरित्रवान्) अग्रणीका अनुसरण करें । देवतागण जिस प्रकार समान चित्तसे अमृतकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सायं और प्रातः आप सबकी (देश-धर्मके प्रति) उत्तम समिति हो ॥ ७ ॥

(अथर्ववेदकी पैप्पलाद शाखा ५, १९ से)

चरित्रशील उत्तम पुरुष

कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहो मद्यमदादयः ।
माया मात्सर्यपैशुन्यमविवेको विचारणा ॥
अन्धकारो यदृच्छा च चापल्यं लोलता नृप ।
अत्यायासोऽप्यनायासः प्रमादो द्रोहसाहसम् ॥
आलस्यं दीर्घसूत्रत्वं परदारोपसेवनम् ।
अत्याहारो निराहारः शोकश्चौर्यं नृपोत्तम ॥
एतान् दोषान् गृहे नित्यं वर्जयन् यदि वर्तते ।
स नरो मण्डनं भूमेर्देशस्य नगरस्य च ॥
श्रीमान् विद्वान् कुलीनोऽसौ स एव पुरुषोत्तमः ।
सर्वतीर्थाभिषेकश्च नित्यं तस्य प्रजायते ॥

(स्कन्दपुराण, प्रभासखण्ड)

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद्यपान, मद आदि, कपट-छल, डाह, चुगलखोरी, अविवेक, विचारशून्यता, तमोगुण, स्वेच्छाचार, चपलता, लोलुपता, (भोगोंके लिये) अत्यधिक प्रयास, अकर्मण्यता, प्रमाद (कर्तव्य-कर्म न करना और अकर्तव्य करना), दूसरोंके साथ द्रोह करनेमें आगे रहना, आलस्य, दीर्घसूत्रता, परस्त्रीसे अनुचित सम्बन्ध, बहुत अधिक खाना, कुछ भी न खाना, शोक, चोरी—इन दोषोंसे बचा रहकर जो अपना जीवन बिताता है, वह मानव पृथ्वी, देश तथा नगरका चारित्र्य-भूषण है । वही श्रीमान्, विद्वान्, कुलीन और मनुष्योंमें सर्वोत्तम है । उसे नित्य ही सम्पूर्ण तीर्थोंमें स्नान करनेका फल मिलता है ।

शुभाशंसा

चरित्रनिर्माणसमाह्वयाङ्कः
कल्याणदोऽस्तु च जयं तनोतु ।
भवन्तु लोका भुवि वृत्तवन्तः
प्रसीदतु श्रीभगवान् मुकुन्दः ॥

('कल्याण'का) चरित्र-निर्माण-संज्ञक (इस वर्षका) विशेषाङ्क (देश-समाजके लिये) कल्याणकारी हो (तथा अपने उद्देश्यकी सिद्धिसे) सबको विजय प्रदान करे । पृथिवी-मण्डलके सभी लोग चरित्रशाली हों एवं श्रीभगवान् मुकुन्द प्रसन्न हों ।

—श्रीरवीन्द्रनाथ गुरु

बालकोंके पृष्ठ—

आजके बालक कलके चरित्रशील राष्ट्रनिर्माता कैसे बनेंगे ? निम्नाङ्कित आदर्श आचरणोंसे—

देश-धर्म-मर्यादा-रक्षाकी प्रतिज्ञा

हम उस देशमें उत्पन्न हुए हैं—जिस देशमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामने अवतार लिया, जिस देशमें लीलापुरुषोत्तम भगवान् कृष्णने अवतार लिया।

हम उस देशमें उत्पन्न हुए हैं—जिस देशमें महर्षि वाल्मीकिने रामायणका गान किया, जिस देशमें महर्षि वेदव्यासने महाभारतका निर्माण किया।

हम उस देशमें उत्पन्न हुए हैं—जिस देशमें युधिष्ठिर-जैसे धर्मात्मा हुए, जिस देशमें दधीचि-जैसे दानी हुए, जिस देशमें हरिश्चन्द्र-जैसे सत्यवादी हुए।

हम उस देशमें उत्पन्न हुए हैं—जिस देशमें राणा प्रताप-जैसे प्रणवीर हुए, जिस देशमें छत्रपति शिवाजी-जैसे धीर-वीर हुए, जिस देशमें गुरु गोविन्दसिंह-जैसे कर्मवीर हुए।

हम उस देशमें उत्पन्न हुए हैं—जिस देशमें लोकमान्य तिलक-जैसे कर्मयोगी हुए, जिस देशमें महामना मालवीयजी-जैसे निष्ठावान् हुए, जिस देशमें महात्मा गान्धी-जैसे सत्य-अहिंसाके पुजारी हुए।

हमारा देश—भीम और अर्जुन-जैसे वीरोंका देश है;

सावित्री और अनसूया-जैसी पतिव्रताओंका देश है;

गोस्वामी तुलसीदास और सूरदास-जैसे भक्तोंका देश है।

हमारा देश—गौरवशाली है; वैभवशाली है; उन्नतिशाली है; गङ्गा और गायत्रीका देश है।

हम ऐसा काम नहीं करेंगे—जो हमारे देशकी संस्कृति, प्रतिष्ठा और मर्यादाके अनुकूल न हो, जो हमारे देशके सम्मानके अनुकूल न हो, जो धर्म और सच्चारित्र्यके अनुकूल न हो।

हम देशके गौरवकी रक्षा करेंगे। हम देशके सम्मानकी रक्षा करेंगे। हम संस्कृतिकी रक्षा करेंगे। हम देश-धर्म-मर्यादा एवं संस्कृतिकी लाज रखेंगे। हम आदर्श शुचिशील चरित्रवान् बनेंगे। हम महापुरुष बनकर देश-धर्मका कल्याण करेंगे।

धर्म-पालनकी प्रतिज्ञा

भगवान् धर्मकी रक्षाके लिये अवतार लेते हैं।
सत्पुरुष धर्मकी रक्षा करते हैं। अच्छे लोग धर्मका पालन करते हैं।
जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है।
जो धर्मका पालन करता है, धर्म उसका पालन करता है।
जो धर्मकी मर्यादापर चलता है, उसकी मर्यादा बची रहती है।
राजा शिवि धर्मात्मा थे। राजा रन्तिदेव धर्मात्मा थे।
राजा युधिष्ठिर धर्मात्मा थे। धर्मात्माओंका नाम अमर हुआ।
धर्मात्माओंको भगवान्‌का धाम मिला। धर्मात्माओंका संसार सम्मान करता है।
धर्मके पालनसे सुख मिलता है। धर्मके पालनसे शान्ति मिलती है।
धर्मके पालनसे यश बढ़ता है। धर्मके पालनसे कल्याण होता है।
हम धर्मका पालन करेंगे। हम धर्मकी मर्यादापर चलेंगे।
हम धर्मानुकूल व्यवहार करेंगे। हम आदर्श धर्मनिष्ठ बनेंगे।
हम धर्मको सर्वस्व समझेंगे।

आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः

(दक्षिणाम्नाय श्रीशृङ्गेरी शारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी अभिनव-विद्यातीर्थजी महाराजका प्रसाद)

वसिष्ठधर्मसूत्रका कथन है कि साङ्गोपाङ्गस्वाधीत पवित्र चारों वेद भी 'यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः' सदाचारशून्य मानवको पवित्र नहीं कर सकते—'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'। वेदोंकी वैसे अपार महिमा है। याज्ञवल्क्यादि स्मृतियोंमें तथा अन्यान्य धर्मशास्त्रोंमें बड़े-बड़े पापोंके प्रायश्चित्तके लिये वेदपरायणका विधान है। पर वसिष्ठके इस वचनके अनुसार यह ज्ञात होता है कि सदाचारविहीन पुरुषको वेदाध्ययन या धर्मकार्य भी पवित्र नहीं कर सकते। अतः सदाचारकी महिमा सर्वातिशायी है। हम लोग धर्म एवं सदाचारके बलपर ही ऐहिक और पारलौकिक सुख पाते हैं।

अब यह विचार करना है कि यह सदाचार है क्या! वेद, पुराण, धर्मशास्त्रोक्त धर्म तथा शिष्ट पुरुषोंका आचरण ही सदाचार है। पर हम शिष्ट पुरुषों या उनके आचरणको सदा नहीं देख सकते। ऐसी हालतमें सदाचारको कैसे समझें? इसका समाधान यह है कि अनादिकालसे प्रवृत्त वेद और धर्मशास्त्रोंके अनुशीलनसे हम इसे समझ सकते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद्में सदाचारका सुन्दर ढंगसे निरूपण हुआ है। वह किसी भी देश और कालके लिये आवश्यक है। आचार्य अध्ययन पूरा होनेके बाद अपने शिष्यको उपदेश देते हैं। उसका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है—'सच बोलो। धर्मका आचरण करो। स्वाध्यायको कभी मत छोड़ो। माताको देवता समझो। पिताको देवता समझो। आचार्यको देवता समझो। अतिथियोंका सत्कार करो।' इन स्पष्ट वचनोंसे प्रतिपाद्य आचार सदाचार है। यहाँ वेदों, शास्त्रों और संतोंके आचरण तथा जीवनसे उसे समझना चाहिये। वेदोंके अनुसार चरित्रसे मुख्यतया वैदिक अनुष्ठान ही गृहीत है। इसके अतिरिक्त श्रुतिमूलक धर्मशास्त्रोंमें भी चरित्रके अङ्ग सदाचारका विस्तारसे निरूपण हुआ है। मनुमहाराज कहते हैं—

> लोष्टमर्दी तृणच्छेदी नखखादी च यो नरः।
> स विनाशं व्रजत्याशु सूचकोऽशुचिरेव च॥
>
> (मनु० ४।७१)

अर्थात्—'मिट्टीके ढेलेका मलना, तिनकेको तोड़ना, नाखूनको मुँहमें रखके दाँतोंसे काटना, चुगलखोरी करना और अशुचि रहना ठीक नहीं। इन कार्योंको करनेवाला अश्रेय प्राप्त करता है।' भगवान्‌ने मनुष्यको हाथ-पाँव आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ और नाक-कान आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ दी हैं। हम तभी बुद्धिमान् होंगे, जब इन सबको अपने वशमें रखकर धर्मकार्य करें। परंतु होता यह है कि इनको अपने स्वभावके अनुसार छोड़कर हम मनमानी कर लेते हैं। पर यह सदाचार नहीं असदाचार है, इससे इहलोक और परलोक दोनो बिगडते हैं। हम ऐसे अनाचारोंसे बचें तो कल्याण प्राप्त कर सकेंगे। वैदिक चरित्रोंमें मुख्यतया ७ पाकयज्ञसंस्था, ७ हविर्यज्ञसंस्था एवं ७ सोमसंस्थाएँ आती हैं। इनके अनुष्ठानसे पुण्यपूर्वक अद्भुत प्रगति होती है। सामान्य चरित्र भी असंख्य हैं। इनसे सांसारिक पवित्र जीवनके साथ-साथ पुण्य भी प्राप्त होता है। सत्पुरुषोंके सम्पर्क और धर्मग्रन्थोंसे इन्हें सीखा जा सकता है। जीवनमें सदाचार आये बिना सीखी हुई विद्या और किये हुए अनुष्ठान भी विफल हो जाते हैं, या पूरा फल नहीं दे पाते। विष्णुसहस्रनामकी फलश्रुतिमें एक श्लोक आता है—

> सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्प्यते।
> आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥
>
> (महाभारत अनुशासन १४९)

अर्थात्—'सभी धर्मशास्त्रोंमें आचार ही श्रेष्ठ माना जाता है । आचारसे पुण्यका उदय होता है । उस पुण्यके स्वामी श्रीभगवान् अच्युत है ।' मानो भगवान् हमारे पुण्यों-के फल-प्रदाता है । पुण्य तो सदाचारसे प्राप्त होता है । इसलिये सभी शास्त्रोंमें आचारका प्राधान्य (श्रेष्ठत्व) है । सदाचारी पुरुषको संसारके लोग आदर देते और उसका गौरव बढ़ाते हैं । भगवान् भी उसपर कृपा करके मङ्गल प्रदान करते हैं । अतः सभी लोगोंको सदाचारी सच्चरित्र बनकर जीवनको सार्थक बनाना चाहिये । आचारसे हीन होना पापी बनना है ।

संकल्पबल और चारित्र्य

(धर्मसम्राट् अनन्तश्रीविभूषित ब्रह्मलीन स्वामी श्रीकरपात्रीजी महाराजके अमृतोपदेश)

शास्त्र कहते हैं—'क्रतुमयोऽयं पुरुषः' —पुरुष क्रतुमय है—'स यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते ।' अतएव 'वह जैसा संकल्प करने लगता है, वैसा ही आचरण करता है और जैसा आचरण करता है, फिर वैसा ही बन जाता है ।' जिन बातोंका प्राणी बार-बार विचार करता है, धीरे-धीरे वैसी ही इच्छा हो जाती है । उसकी फिर इच्छानुसारी वार्ता, आचरण, कर्म और कर्मानुसारिणी गति होती है । अतः स्पष्ट है कि अच्छे आचरण एवं चारित्र्यके लिये अच्छे विचारोंको लाना चाहिये । बुरे कर्मोंको त्यागनेके पहले बुरे विचारोंको त्यागना चाहिये । जो बुरे विचारोंका त्याग नहीं करता, वह कोटि-कोटि प्रयत्लोसे भी बुरे कर्मोंसे छुटकारा नहीं पा सकता । कर्मका आधार विचार है ।

कितने ही व्यक्ति दुराचार, दुर्विचारजन्य दुर्व्यसन आदिको छोड़ना चाहते है । मद्यपायी, वेश्यागामी व्यसनके कारण दुःखी होता है । वह व्यसनको छोड़ना चाहता है, उपाय भी ढूँढ़ता है, महात्माओंके पास रोता भी है, छोड़नेकी प्रतिज्ञा भी कर लेता है, परतु जो सावधानीसे मद्यपान, वेश्यागमन आदि दुराचारोंके बराबर चिन्तन और मननका परित्याग करता है, उनका स्मरण ही नहीं होने देता, विचार आते ही उसे विचारान्तरोंसे काट देता है, वह तो छुटकारा पा जाता है, परतु जो बुरे विचारोंको न छोड़कर उनका रस लेता रहता है, वह कभी बुरे कर्मोंसे छुटकारा नहीं पा सकता; वह बार-बार भग्नप्रतिज्ञ होकर रोता है । वह विचारोंके समय असावधान रहता है । विचारसे क्या होता है ? बुरा कर्म न करूँगा, उसीके त्यागकी मैंने प्रतिज्ञा की है, इस तरह अपनेको धोखा देकर विचारके रसका अनुभव करता हुआ वह कभी व्यसनसे आत्मत्राण नहीं कर पाता । इसीलिये पुरुषको चाहिये कि वह किसी तरह बुरे विचारोंको हटाये, उन्हें अपने पास कभी फटकने ही न दे ।

जिस समय बुरे विचार आने लगें, उस समय वह अन्य-मनस्क होनेका प्रयत्न करे । भगवद्ध्यानसे, मन्त्र-जपसे, श्रवणसे, सत्सङ्गसे बुरे विचारोंकी धाराको तोड़ देना चाहिये । भले ही उपन्यास, नाटकों, समाचार-पत्रोंको पढ़ना पड़े, परंतु बुरे विचारोंकी धारा अवश्य तोड़नी चाहिये और उत्तरोत्तर श्रेयोविचारका आश्रय लेना चाहिये । इसी तरह अच्छे कर्मोंके लिये पहले अच्छे विचारोंको लाना चाहिये । इसीलिये अच्छे शास्त्रोंका अभ्यास, अच्छे पुरुषोंका सङ्ग करने और पवित्र वातावरणमें रहनेसे अच्छे विचार बनते हैं, बुरे विचार और बुरे कर्म छूट जाते हैं । अतः श्रेयस्कामीको सदा वेदान्तादिके सच्चिन्तनमें ही लगे रहना चाहिये । कहा भी गया है—

> आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया ।
> दद्यान्नावसरं किंचित् कामादिभ्यो मनागपि ॥

वैसे मनका सहसा संकल्प-विकल्पसे रहित होना असम्भव है पर प्रयास मनोनिग्रहका चलना रहना चाहिये । जैसे भाद्रपदमें सिन्धु, शतद्रु, गङ्गा आदि नदियोंका वेग रोककर उनके उद्गम स्थानमें

लौटाकर उन्हें सुखा देना असम्भव है, परंतु सामान्य ऋतुओंमें उनसे नहर आदिको निकालकर जलप्रवाहको मोड़ा तो जाता ही है। इसी प्रकार बुरे विचारोंको रोककर, सात्त्विक विचारोंकी धाराओंको चलाकर, सात्त्विक वृत्तियोंसे तामस वृत्तियोंको काटकर सदाचरणपूर्वक शनैः-शनैः अन्तरङ्ग-सूक्ष्म-सात्त्विक वृत्तियोंसे स्थूल-बहिरङ्ग-सात्त्विक वृत्तियोंको भी काटकर निर्वृत्तिकता सम्पादन की जा सकती है।

शास्त्रोंमें बालकोंके विचारोंको सँभालनेका बड़ा ध्यान रखा गया है। स्त्रियों और बालकोंके निर्मल कोमल पवित्र अन्तःकरणोंमें पहलेसे ही जो बातें अङ्कित हो जाती हैं, वे ही उनका चरित्र-निर्माण करती हैं। चित्त या अन्तःकरण यदि अद्रुत लाक्षा-(लाख-)के समान कठोर होता है तो उसमें किसी भी आचरण या उपदेशका प्रभाव नहीं पड़ता और जब वह द्रुत लाक्षाके समान कोमल रहता है तो लाक्षापर मुहरके अक्षरोंके समान निर्मल कोमल उस पवित्र अन्तःकरणपर उत्तम आचरणों और उपदेशोंसे प्रभाव पड़ जाता है। पहलेसे ही बुरे सङ्गों और ग्रन्थोंसे बालकोंके हृदयमें कूड़ा-करकटका भरा जाना अत्यन्त हानिकारक है। इसीलिये अच्छे पुरुषोंका सङ्ग तथा सच्छास्त्रोंके अभ्यासमें ही उन्हें लगाना अच्छा है—

यादृशैः संनिविशते यादृशांश्चोपसेवते।
यादृगिच्छेच्च भवितुं तादृग् भवति पूरुषः॥

जैसे लोगोंका सहवास होता है और जैसे लोगोंका सेवन होता है, जैसा होनेकी उत्कट वाञ्छा होती है, प्राणी वैसा ही हो जाता है।

श्रद्धेय प्राणीके प्रति श्रद्धालुका अन्तःकरण, प्राण, देह आदि झुक जाते हैं, अतएव श्रद्धेयके उपदेशों और आचरणोंका प्रभाव श्रद्धालुओंके अन्तःकरणमें पड़ता है। यद्यपि सात्त्विकी श्रद्धा उत्तम व्यक्तियोंमें ही हुआ करती है, तथापि तामसी, राजसी श्रद्धा कहीं भी उत्पन्न हो सकती है। बुरे लोगोंके सहवाससे बुरी इच्छा, बुरे कर्म बन पड़ते हैं, जिनसे प्राणीका पतन हो जाता है, परंतु अच्छे सङ्गों, अच्छी इच्छाओं, अच्छे कर्मोंसे प्राणी सम्राट्, स्वराट्, विराट्, अनन्त, धन-धान्य-सम्पन्न इन्द्र, महेन्द्र, ब्रह्मा आदि तक बन सकता है। अच्छे सङ्ग, अच्छी इच्छा और शास्त्रोक्त उत्तम साधनोंका सहारा लेकर प्राणी मनचाही वस्तुको प्राप्त कर सकता है। एक जन्म या अनेक जन्मोंमें प्राणी अवश्य ही अपने अभीष्टको प्राप्त कर सकता है, अगर बीचसे लौट न पड़े। अन्यान्य वस्तुओंके समान ही सद्विचारोंके भी आदान-प्रदानसे श्रेष्ठ चरित्रका निर्माण किया जा सकता है और इससे साध्य—मोक्ष तककी प्राप्ति भी सम्भव है।

चरित्र—भगवत्प्राप्तिका प्रधान साधन

(पूर्वाम्नाय गोवर्धन-पीठाधीश्वर, जगद्गुरु शंकराचार्य, अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीनिरञ्जनदेवतीर्थजी महाराजके सदुपदेश)

अनन्तकोटि-ब्रह्माण्डनायक परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम अखण्ड सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमेश्वरकी कृपाप्राप्तिके बिना प्राणीका कल्याण कदापि सम्भव नहीं। परम निःश्रेयसका एकमात्र आधार उन्हीं अशरणशरण, अकारणकरुणावरुणालय, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधिष्ठान भगवान्की कृपा है; इस लोकमें भी सर्वविध सर्वाङ्गीण समुन्नतिका एकमात्र साधन भगवत्कृपा ही है। उसके बिना सुखोंके सभी साधन सर्वथा व्यर्थ सिद्ध होते हैं। इतना ही नहीं, उलटे वे घोर दुःखके कारण बन जाते हैं। अतः भगवान्की कृपाप्राप्तिपूर्वक उनका सांनिध्य प्राणिमात्रके लिये आवश्यक है। तदर्थ, सद्धर्माचरण—चरित्रानुष्ठान सर्वोत्तम कार्य है। विष्णुपुराणमें कहा गया है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
विष्णुराराध्यते पन्था नान्यस्तत्तोषकारकः॥
(विष्णुपु० ३।८।९)

शास्त्र उनकी आज्ञा हैं। लोकमें भी यदि हम किसीका कृपा-प्रसाद चाहें तो उसका सीधा-सा साधन उसका आज्ञापालन है। कठोर-से-कठोर हृदयवाले पुरुष भी निरंतर अपनी आज्ञाका पालन करनेवाले व्यक्तिपर कृपा-दृष्टि बनाये रखते देखे जाते हैं। फिर अत्यन्त कोमल स्वभाववाले प्रभुका तो कहना ही क्या!

भगवान्‌की कोमलता लोकोत्तर है। समस्त संसारकी ऐश्वर्य-माधुर्याधिष्ठात्री जगज्जननी भगवती पराम्बा महालक्ष्मी अपने कमलसे भी कोमल हाथोंसे भगवान्‌के श्रीचरणारविन्दोंका संवाहन करनेकी इच्छासे जब उनका स्पर्श करनेके लिये अग्रसर होती हैं, तब मन-ही-मन सकुचाती हैं कि कहीं मेरे इन कठोर हाथोंसे श्रीचरणारविन्दोंको कष्ट न हो जाय।

यद्यपि लौकिक मनुष्योंकी तरह भगवान् प्रत्यक्ष होकर आज्ञा नहीं देते, फिर भगवान्‌की आज्ञाका पालन कैसे किया जाय? तथापि विश्वजनीन, सर्वहितकारी, सर्वजनसुखकारी सनातन-धर्मकी यह एक अद्भुत विशेषता है कि उसमें स्वयं भगवान् अपने श्रीमुखसे ही अपनी आज्ञाका स्पष्ट निर्देश करते हैं। अनादि अपौरुषेय विश्वकल्याणकारक वेदवाक्य और धर्म-शास्त्र ही भगवान्‌की आज्ञाएँ हैं। उनका पालन करना ही उन प्रभुकी आज्ञाका पालन और उनका उल्लङ्घन करना ही भगवान्‌की आज्ञाका उल्लङ्घन करना है। लौकिक व्यक्ति भी अपने स्वामीकी आज्ञाकी उपेक्षा करनेपर जैसे सांसारिक सुखोंसे वञ्चित रहता है, ठीक वैसे ही श्रीभगवदाज्ञास्वरूप वेद-शास्त्रों-(धर्मशास्त्र-स्मृतियों-) के विधानका उल्लङ्घन करनेवाला व्यक्ति भी इहलोक और परलोकमें कभी किसी प्रकारकी भी सुख-शान्ति-प्राप्ति नहीं कर सकता। जो वेद-शास्त्रकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है, वह न तो भगवद्भक्त कहलानेका अधिकारी है और न उसे वैष्णव ही कहा जा सकता है। स्वयं श्रीभगवान्‌के वचन हैं—

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञोच्छेदी मम द्रोही मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥
(वाधूलस्मृति १८९)

'वेद-शास्त्रप्रतिपादित वर्णाश्रमधर्मका उल्लङ्घन करनेवाला व्यक्ति मेरी आज्ञाका पालन नहीं करता, इसलिये वह मेरा भक्त नहीं, अपितु मेरा द्रोही है; फिर उसे वैष्णव कहलानेका अधिकार कहाँसे मिल सकता है!'

सच्चारित्र्यद्वारा श्रीभगवत्कृपा प्राप्त करनेका भी यही एकमात्र उपाय है कि अपने-अपने व और आश्रमके अनुसार यथाशक्ति, यथासम्भव स्वधर्मानुष्ठान किया जाय तथा उसके फलकी इच्छाका परित्याग कर अपने किये हुए सत्कर्म, सद्धर्मको भगवान्‌के श्रीचरणारविन्दोंमें अर्पण कर देना चाहिये। शास्त्रनिषिद्ध कर्मोंमें अपने मनको कभी प्रवृत्त न होने देना ही भगवद्भक्तिका सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। अन्यथा भगवान् प्रसन्न नहीं होते—

स्वधर्मकर्मविमुखा रामकृष्णेति राविणः।
ते हरेर्द्वेषिणो मूढा धर्मार्थं जन्म यद्धरेः॥

भगवान् कहते हैं—'यदि मुझे प्रसन्न करना चाहते हो तो अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्तव्य-कर्मका अनुष्ठान करो तथा बिना फलकी इच्छा रखे उन कर्मोंको मेरे चरणोंमें अर्पित कर दो। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय मुझे संतुष्ट करनेका नहीं है।' स्पष्ट है कि सच्चारित्र्यसे भगवान्‌के संतुष्ट होनेपर ही उनकी कृपा प्राप्त होगी तथा भगवत्कृपा-प्राप्तिसे ही सर्वविध दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और शाश्वत सुख-शान्तिकी प्राप्ति होगी।

सामाजिक जीवनमें सच्चारित्र्यकी अनिवार्यता

(—पश्चिमाम्नाय द्वारकाशारदापीठाधीश्वर जगद्गुरु शंकराचार्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीस्वरूपानन्दजी महाराज)

वेदोंमें चारित्र्य-निर्माणके लिये कर्म, उपासना और ज्ञान—इन तीनों साधनोंका प्रतिपादन हुआ है। मनुष्यका चारित्र्य पूर्णरूपसे निष्कलङ्क तभी होता है जब उसके अन्तःकरणमें रहनेवाले मल, विक्षेप एवं आवरण—ये तीन दोष मिट जाते हैं। निष्काम कर्मयोगसे मल, उपासनासे विक्षेप एवं ज्ञानसे आवरण-दोष दूर होता है। भाष्यकार भगवान् श्रीशंकराचार्यने ज्ञानको ही मोक्षका साक्षात् साधन माना है। उन्होंने ज्ञानको फलपर्यवसायी सिद्ध करनेके लिये पूर्व मीमांसकोंके बहुत-से विचारोंका परीक्षण एवं खण्डन कर अपने पक्षकी स्थापना की है।

पूर्वमीमांसाका आधार-सूत्र है:—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्।

'वेदके क्रियार्थक होनेके कारण उसमें पाये जानेवाले सिद्धपदार्थ-बोधक वाक्य निरर्थक या क्रिया-विधिकी प्रशंसा या निन्दा करनेवाले अर्थवादमात्र हैं।' शाब्दबोध भी क्रियार्थक वचनोंसे ही होता है। प्रयोजक वृद्धने प्रयोज्य वृद्धसे कहा,—**'गामानय'** तब बालक प्रयोज्यवृद्धकी गौको ले जानेकी क्रिया देखकर **'गाम्'** और **'आनय'** इन दो पदोंका अर्थ जानता है। इसी प्रक्रियासे **'गां बधान, अश्वमानय'** इत्यादि वाक्योंमें क्रियापरक पदोंके सहकारसे ही सिद्धपरक पदोंका अर्थ जाना जाता है। इसी तरह **'स्वर्गकामो यजेत्'** इत्यादि वेदवचनोंका तात्पर्य भी क्रियापरकतासे ही अवगत होता है। इस प्रकार—

'फलवदर्थावबोधकत्वं वेदत्वम्' का सिद्धान्त स्थापित होता है।

भगवान् शंकराचार्यने **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** इस सिद्धान्तको मानते हुए भी कर्म और उपासनाकी उपादेयताको स्वीकार किया है। पर—

'व्यवहारे भाट्टनयः।' व्यवहारकी सिद्धिके लिये कुमारिल भट्टने जिन प्रमाणोंको माना उनको शंकरने भी माना है। (सनातन-धर्मके इतिहासमें वेदके कर्मकाण्ड-भागका उद्धार कुमारिल भट्टने और ज्ञानकाण्ड-भागका उद्धार भगवान् शंकरने किया।)

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'—इस ब्रह्मसूत्रका भाष्य लिखते हुए शंकरने 'अथ' शब्दका अर्थ साधनचतुष्टय-सम्पन्न—ऐसा किया है। नित्यानित्य वस्तुविवेक, इहामुत्रफलभोगविराग तथा शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधान—ये छः साधनसम्पत्ति और मुमुक्षुत्व—इन चारोंको ब्रह्म विचारके पूर्व अनिवार्य माना है। ये साधन उसीके अन्तःकरणमें उत्पन्न होते हैं जो निष्काम कर्मानुष्ठान करता है—

स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसा हरितोषणात्।
साधनं प्रभवेत् पुंसां वैराग्यादिचतुष्टयम्॥
(अपरोक्षानुभूति ३)

अपने वर्ण एवं आश्रमके लिये विहित कर्मरूप धर्मका तपस्याके भावसे अनुष्ठान करके श्रीहरिको संतुष्ट—प्रसन्न करनेवाले मनुष्यके अन्तःकरणमें ही वैराग्यादि चार साधन प्रकट होते हैं।

परंतु आजकल बहुत-से लोग कर्मकी उपेक्षा करके उपासना और ज्ञानकी साधनामें प्रवृत्त होना चाहते हैं; जबकि यह नियम है कि क्रियामें शुद्धि नहीं है तो भाव और विचारकी शुद्धि टिक नहीं सकती। उदाहरणके लिये मान लीजिये कि आपकी किसीसे मित्रता है, पर आप मित्रके परोक्षमें उसका अहित करते हैं या उसके अनिष्टकी बात सोचते हैं तो स्वाभाविक रूपसे आपकी मित्रताकी भावना समाप्त हो जायगी। आजके भारतीय जीवनमें विचारों और भावोंकी उच्चताकी चर्चा

चारित्र्यके आचार्य—जगद्गुरु श्रीशंकराचार्य

मात्र होती है । हम उच्च कोटिके भावराज्यका चिन्तन करते हैं, यहाँतक कि कभी-कभी हम ब्रह्मविचार करने भी बैठ जाते हैं; किंतु चारित्रिक धरातलके निम्न रहनेके कारण यह सब मात्र कल्पनाकी उड़ान बनकर रह जाता है । इसलिये कठोपनिषद्में कहा है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

'दुश्चरित्रसे विरत न होनेवाला, मन और इन्द्रियोंको संयममें न रखनेवाला, चित्तकी स्थिरताका अभ्यास न करनेवाला एवं विक्षिप्त मनवाला मनुष्य केवल बुद्धिबलसे आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता ।'

इसलिये यह आवश्यक है कि हमारा चरित्र उज्ज्वल हो । जीवनमें दैवी सम्पत्तिके लक्षण आवें । जो सिद्धोंका स्वभाव होता है, वही साधकोंकी साधना बन जाता है । अतः हम गीतामें स्थितप्रज्ञके लक्षण पढ़ें । गुणातीत और भगवत्प्रियके लक्षण पढ़ें । दैवी सम्पत्तिके लक्षण पढ़ें । रामायणमें श्रीरामचरित्र पढ़ते समय उनके गुणोंपर दृष्टिपात करें । श्रीरामचरितमानसमें जो संतोंके लक्षण बताये गये हैं, उनको देखें और उन्हें अपना आदर्श बनायें । दर्पणको आदर्श कहते हैं । जैसे मनुष्य दर्पणके सामने खड़े होकर स्वयंको सजाता-सँवारता है, वैसे ही इन गुणोंको सम्मुख रखकर हमें अपने चरित्रको परिष्कृत करना चाहिये । आत्म-समीक्षा करके देखना चाहिये कि हम कहाँतक इन सद्गुणोंको अपने अन्तःकरणमें ला सके हैं—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किंनु मे पशुभिस्तुल्यं किं वा सत्पुरुषैरिति ॥

'मनुष्य प्रतिदिन अपने चरित्रकी परीक्षा करे कि वह मुझमें पशुओंके तुल्य कितना है और कितना सत्पुरुषोंके तुल्य है ।'

हमारे उज्ज्वल चरित्रसे न केवल हमारा लाभ, किंतु समाज, राष्ट्र और विश्वका भी उससे अभ्युदय होगा । हमारा पवित्र जीवन, उज्ज्वल चरित्र हमारे समाजका घटक होनेके नाते समाजका ही होगा—जैसे वृक्ष-वृक्षसे वन बनता है । यदि एक वृक्ष विकसित, पल्लवित, फलित होता है तो वह वनश्रीकी ही अभिवृद्धि करता है । इसी प्रकार समाजका एक-एक व्यक्ति चरित्रवान् होकर पूरे समाजको चरित्रवान् बनानेमें योग दे सकता है । यदि उनसे प्रेरणा पाकर दूसरोंने भी अनुसरण करना प्रारम्भ किया तो वह पूरे समाजका कायापलट कर सकता है ।

आजकल लोग शङ्का करते हैं कि 'वर्तमान सामाजिक परिस्थितिमें सच्चरित रहना, धर्मका पालन करना क्या सम्भव है ? इस समय वातावरण ही ऐसा है कि मनुष्यको न चाहते हुए भी अधर्मके मार्गपर चलना पड़ता है ।' किंतु यदि हमारी समझमें यह बात आती है कि यह अधर्मका मार्ग व्यक्तिके और समाजके कल्याणका नहीं है तो हमें दूसरोंकी ओर न देखकर स्वयं ही साहस करके सत्यके मार्गपर आगे बढ़ना चाहिये और उसमें आनेवाली कठिनाइयोंका सामना करना चाहिये । कठिनाइयाँ आयेंगी, किंतु यदि हमने अपने सत्यपथको न छोड़ा तो वे सब समाप्त हो जायँगी । कदाचार, भ्रष्टाचार, अनैतिकताको समाप्त किये बिना न तो लौकिक अभ्युदय हो सकता है न पारमार्थिक कल्याण । यद्यपि धर्मका उद्देश्य तो महान् है, फिर भी आजकी समस्याओंका हल अगर हो सकता है, चारित्रिक उत्थान हो सकता है, नैतिकता बढ़ सकती है तो धार्मिक भावनाओंसे ही बढ़ सकती है । अतः धार्मिक भावनाओंके सदाचारकी प्राथमिक आवश्यकता है । चरित्र-साधनका यही प्रथम सोपान है ।

आह्निक सदाचार

(श्रीकाञ्चीकामकोटिपीठाधीश्वर जगद्गुरुशंकराचार्य अनन्तश्रीविभूषित स्वामी श्रीजयेन्द्रसरस्वतीजी महाराजका शुभाशीर्वाद)

भगवान् आदि शंकराचार्यने—**'जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतो पुंस्त्वं ततो विप्रता, तस्माद्वैदिकधर्ममार्गपरता विद्वत्त्वमस्मात् परम्।'** (विवेकचूडा० २) —इत्यादिमें मनुष्य-जन्मको अत्यन्त दुर्लभ बतलाया है। पापकर्म करनेसे हीन योनि मिलती है। पुण्यसे देवलोक या मनुष्य-जन्म मिलता है। मनुष्यजन्ममें पाप-पुण्य दोनों होते हैं। पापके कारण कष्ट और चिन्ता होती है और पुण्यसे भगवद्-भक्ति, प्रसन्नता तथा सद्भावना मिलती है।

मनुष्य-जन्म साधनसम्पन्न है। मनुष्य-जन्ममें अनेक बाधाएँ भी हैं। पर उसे भक्ति, धर्माचरणादि करनेका अवसर प्राप्त रहता है। अन्य प्राणियोंको यह सुलभ नहीं है। अन्य प्राणियोंमें बुद्धिक्रम और विद्याभ्यास भी नहीं रहता। अन्य जीव मनुष्यकी ही तरह खाते हैं, सोते हैं, परंतु मनुष्यकी तरह धर्मका ज्ञान उन्हें नहीं होता। उनको जो कष्ट होता है उससे बचनेका उपाय सोचनेकी विवेकशक्ति भी उनमें नहीं है। मनुष्य विवेकशील है और वह लोक-परलोक आदिके सम्बन्धमें सोच-विचार सकता है। उसे इतना उत्तम शरीर भगवान्ने इसीलिये दिया है कि अच्छे काम करके अपना जीवन सुख-शान्तिमय बना सके। इसी जन्ममें अपने प्रयत्नोंसे दुःखकी समाप्ति की जा सकती है और मनुष्य जन्म-मरणके चक्रसे मुक्ति भी पा सकता है। पर यह तभी सम्भव है, जब वह भगवद्-भजन करे। भगवान्की अनन्यभावसे उपासना करनेवाले कभी जन्म-मरणके बन्धनमें नहीं पड़ते। इसके विपरीत यदि हम अच्छा कार्य नहीं करते तो कुछ उलटा-पुलटा नीच काम करनेसे नीचे गिर सकते हैं; क्योंकि—**'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।'** (गीता ३।५)

भगवान्ने मनुष्यको भले-बुरे—दोनों संयोग दिये हैं। पाप-पुण्य, अच्छा-बुरा साथ-साथ दिये हैं। मनुष्यको विवेकसे पाप-कर्म छोड़कर अच्छे और धार्मिक काम करने चाहिये—'संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार'।

भगवद्भक्ति, भगवद्गुणगान, सत्प्रवृत्ति, धर्माचरण, —ये कभी स्व-पर-कष्टके कारण नहीं बनते। जो कार्य रागयुक्त इन्द्रियोंद्वारा होते हैं, वे कष्टदायक होते हैं। आचरणकी शुद्धि मनुष्यको ऊँचा उठाती है। भगवान्ने यह मनुष्य-जन्म इसलिये दिया है कि वह भगवद्भक्ति, सत्प्रवृत्ति, स्वधर्म-आचरण करता हुआ सभी प्राणियों, मनुष्यों और देशकी सेवा-सहायता करे। इसे सार्थक बनानेके लिये भगवान्को नमस्कार कर सदा अच्छे काम करने चाहिये। जीवनमें होनेवाले दुःखोंको कम करने तथा उनका समूल नाश करनेके लिये प्रातःकाल उठते ही इस प्रकार स्मरण करना चाहिये—

कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती।
करमूले तु गौरी स्यात्* प्रभाते करदर्शनम्॥
समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥
गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

* आह्निकों तथा आचारप्रदीप आदिमें—'करमूले स्थितो ब्रह्मा', 'करपृष्ठे च गोविन्द' तथा 'करोमि करदर्शनम्।' ऐसा भी मिलता है।

इसके बाद स्नान करते समय निम्न श्लोक पढ़े—

वक्रतुण्डमहाकाय कल्पान्तदहनोपम !
भैरवाय नमस्तुभ्यं ह्यनुज्ञां दातुमर्हसि ॥
गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् सन्निधिं कुरु ॥

भोजन करनेसे पहले—

अन्नपूर्णे सदापूर्णे शंकरप्राणवल्लभे ।
ज्ञानवैराग्यसिद्ध्यर्थं भिक्षां देहि च पार्वति ॥

—ऐसा कहे और रात्रिमें शयनसे पूर्व यह श्लोक पढ़े—

अच्युतं केशवं विष्णुं हरिं सोमं जनार्दनम् ।
हंसं नारायणं कृष्णं जपेत् दुःस्वप्नशान्तये ॥

प्रतिदिन पूजा-पाठादिमें स्तोत्रादिका परायण करते समय निम्न श्लोक पढ़े—

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥
अगजाननपद्मार्कं गजाननमहर्निशम् ।
अनेकदन्तं भक्तानामेकदन्तमुपास्महे ॥

गजाननं भूतगणादिसेवितं
कपित्थजम्बूफलसारभक्षितम् ।
उमासुतं शोकविनाशकारणं
नमामि विघ्नेश्वरपादपङ्कजम् ॥
ब्रह्ममुरारिसुरार्चितलिङ्गं
निर्मलभासितशोभितलिङ्गम् ।
जन्मदुःखविनाशकलिङ्गं
तत्प्रणमामि सदाशिवलिङ्गम् ॥
करचरणकृतं वा कर्मवाक्कायजं वा
श्रवणनयनजं वा मानसं वापराधम् ।
विहितमविहितं वा सर्वमेतत्क्षमस्व
शिव शिव करुणाब्धे श्रीमहादेव शंभो ॥

प्रतिदिन इसी प्रकार स्नान-संध्या, नित्यकर्म-धर्म सम्पन्नकर संध्या-समय भी स्नानसंध्यादि कर भोजनके बाद भी देवस्मरण करते हुए शयन करना चाहिये । चारित्र्यको उन्नत करनेवाले ये आह्निक सदाचार अवश्य पालनीय हैं ।

चरित्र

(—ऊर्ध्वाम्नाय श्रीकाशीसुमेरुपीठाधीश्वर अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरुशंकराचार्य स्वामी श्रीशंकरानन्दसरस्वतीजी महाराज)

वर्तमानमें समस्त विश्व चारित्रदौर्बल्य-व्याधिसे पीडित है । भारतवर्ष भी इस रोगके जबडेके आभ्यन्तरमें उत्तरोत्तर ग्रस्त होता जा रहा है । आये दिन समाचार-पत्रोंके पन्ने घटित वीभत्स दुर्घटनाओंके समाचारोंसे ओत-प्रोत रहते हैं ।

रत्नकोषकारके—**'निष्ठा च शीलं चारित्रं शास्त्रं चरितं तथा'**—इस वचनके आधारपर शील, चरित्र, चारित्र और चरित—ये सब शब्द समानार्थक हैं । अमरकोशके—**'शुचौ च चरिते शीलम्'**—(१ । ७ । २६) इस वचनके आधारपर सुस्वभाव ही शील या चरित्र शब्द-वाच्य **है, 'एकं सुस्वभावस्य'** (रामश्रयी टीका) । इस प्रकार चरित्र शब्दका अर्थ सुस्वभाव या समीचीन कर्म किया जाना उचित है । स्वभावमें सुष्ठुत्व शास्त्रानुसारित्व है । अतः शास्त्रानुकूल कर्म या व्यवहार चरित्र है । तदनुसार स्वभावमें, व्यवहारमें समीचीनता क्रमशः वृद्धिगत होती रहती है । अतएव भगवान् कृष्णने गीतामें—**'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ'** (१६ । २४)—इस उक्तिके द्वारा कर्तव्य-कर्मका शास्त्रके द्वारा ही नियन्त्र्य निर्धार्य बतलाया है । अतः शास्त्रके अनुकूल कायिक, वाचिक एवं मानस क्रिया-कलाप चरित्र हैं ।

व्यक्तियोंसे समाज तथा समाजसे देश—राष्ट्रका निर्माण होता है । उन्नतिशील समाज तथा राष्ट्रके लिये व्यक्तियोंका चरित्रशील होना आवश्यक है । प्राचीन

भारतमें व्यक्तिके चरित्रका सम्मान था, धनका नहीं; अतएव भारतवर्षमें भगवान् राम तथा भगवती सीताका सदाचार त्रिकालाबाधित सत्यकी भाँति मान्य है—स्वर्ण-मयी लङ्काके स्वामी रावणका नहीं।

अस्तु! हम 'कल्याण'के महत्त्वपूर्ण इस अङ्ककी सफलता चाहते हैं तथा भगवान् विश्वनाथसे कामना करते हैं कि भारतराष्ट्र चरित्रपरायण होकर विश्वमें अपना अप्रतिम स्थान पुनः बनाये।

चरित्र-निर्माणके सरल उपाय

(—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

चरित्र-निर्माणके लिये बहुत-से साधक भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सदाचार आदि साधनोंको करना चाहते हैं; किंतु उनसे साधन भलीभाँति बन नहीं पाता। इसपर उन्हें गहराईसे विचार करना चाहिये कि साधन क्यों नहीं बन पाता। विचार करनेपर यही प्रतीत होता है कि अन्तः-करणमें राग-द्वेष, अहंता-ममता और कामना आदि अनेक दोष भरे हुए हैं, जिनके कारण अन्तःकरण अपवित्र हो रहा है, जिससे साधनमें बाधा हो रही है। अतः अन्तः-करणको शुद्ध करनेके लिये निष्कामभावसे शौचाचार, सदाचार, जप, तप, सात्त्विक भोजन और सत्य व्यवहार आदिकी बहुत आवश्यकता है; क्योंकि ये आत्मकल्याणमें परम सहायक हैं।

आजकल लोग शौचाचार, सदाचार सात्त्विक भोजन और सत्य व्यवहारकी अवहेलना करने लगे हैं। यह उनके लिये घोर पतनकारक है। ख्याल करना चाहिये कि इनके पालनमें न तो अधिक पैसोंका खर्च है, न अधिक परिश्रम है, न अधिक समय ही लगता है पर इनसे लाभ अत्यन्त महान् है। इसलिये मनुष्यको इनके पालनके लिये विशेषरूपसे प्रयत्न करना चाहिये।

(१) विधिपूर्वक मिट्टी और जलके द्वारा शौच-स्नानादिसे शरीरको पवित्र रखना तथा वस्त्र और स्थान आदिको स्वच्छ रखना चाहिये।

(२) नित्य प्रातःकाल बड़ोंके चरणोंमें निष्काम भावसे आदरपूर्वक नमस्कार करना चाहिये।

(३) नित्य निष्कामभावसे बलिवैश्वदेव करके ही भोजन करना चाहिये। बलिवैश्वदेवमें पञ्चमहायज्ञ आंशिकरूपसे आ जाते हैं। अग्निमें जो पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं, वह (होम) 'देवयज्ञ' है। पितरोंके लिये जो अन्न दिया जाता है, वह 'पितृयज्ञ' है। मनुष्यादिके लिये जो अन्न दिया जाता है, वह 'मनुष्ययज्ञ' है। ऋषियोंके वचन मानकर वेदमन्त्रोंका जो उच्चारण किया जाता है, वह 'ऋषियज्ञ' है तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंको जो अन्न दिया जाता है, वह 'भूतयज्ञ' है। बलिवैश्वदेवका अर्थ ही है सारे विश्वको अन्न देकर फिर स्वयं भोजन करना। इससे बड़ा भारी लाभ है।

(४) अपने अधिकारके अनुसार संध्योपासन और गायत्री-जप करना बहुत ही उत्तम है। इतना न बने तो कम-से-कम श्रीसूर्यभगवान्‌को अर्घ्य दिये बिना तो मनुष्यको भोजन ही नहीं करना चाहिये। भगवान् सूर्यको अर्घ्य शूद्र भी दे सकता है। सभीके लिये सूर्यार्घ्यका पौराणिक मन्त्र यह है—

एहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते।
अनुकम्पय मां भक्त्या गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥

(५) अपना खान-पान सब प्रकारसे शुद्ध और सात्त्विक रखना चाहिये। वर्तमान समयमें लोगोंका खान-पान भ्रष्ट हो जानेसे उनका पतन हो गया और हो रहा है। बहुत-से लोग होटलोंमें भोजन और मदिरा, मांस, अंडा आदि अपवित्र घृणित अखाद्य वस्तुओंको खाने

लगे हैं। यह महान् पाप है। इससे अन्तःकरण दूषित होता है और अपवित्रताकी वृद्धि होकर आत्माका पतन हो जाता है। अतः इनका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। अंडा, मांस, मदिराकी तो बात ही क्या, मनुष्यको लहसुन-प्याज भी नहीं खाना चाहिये। राजसी और तामसी भोजनका सर्वथा त्याग करना चाहिये। राजसी भोजनका वर्णन गीतामें यों बताया गया है—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥
(गीता १७।९)

'कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक और दुःख, चिन्ता तथा रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार अर्थात् भोजन करनेके पदार्थ राजस पुरुषको प्रिय होते हैं।' तामसी भोजनका लक्षण यह है—

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥
(गीता १७।१०)

'जो भोजन अधपका, रसरहित, दुर्गन्धयुक्त, बासी और उच्छिष्ट है तथा जो अपवित्र भी है वह भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है।' अतः इनका कतई त्याग कर देना चाहिये।

(६) खेल-तमाशा देखना, जुआ खेलना, हँसी-मजाक करना, अश्लील कामोत्तेजक पुस्तकें पढ़ना और क्लब-थियेटर, बायस्कोप-सिनेमा आदिमें स्वयं जाना तथा निर्लज्ज हो अपनी स्त्रीको साथ ले जाना—ये महान् हानिकर हैं। इनसे मनुष्यका पतन हो जाता है। अतः इनका भी सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।

(७) अन्यायपूर्वक धनोपार्जन करनेसे भी अन्तः-करण दूषित होता है, इसलिये झूठ, कपट, चोरी-बेईमानी, छल-विश्वासघात आदिको छोड़कर सचाईके साथ न्यायपूर्वक धनार्जन करना चाहिये।

(८) आमदनीसे अधिक खर्च करना भी मनुष्यके पतनमें हेतु होता है। अधिक खर्च करनेवाला मनुष्य धनका दास हो जाता है और फिर वह झूठ, कपट, चोरी-बेईमानी, छल-विश्वासघातसे धन कमाने लगता है। किंतु जो खर्च कम लगाता है, सादगीसे रहता है, उसको धनका दास नहीं बनना पड़ता। जब वह धनको महत्त्व नहीं देता, तब वह पाप क्यों करेगा?

(९) वर्तमान समयमें लोगोंको अन्नके बिना महान् कष्ट हो रहा है। अन्नके भाव बहुत अधिक हो जानेके कारण लोगोंको अपना जीवन-निर्वाह करनेमें बड़ी कठिनाई हो गयी है। अतः इस समय लोगोंके हितके लिये तन, मन और धनसे अपनी शक्तिके अनुसार अन्नके द्वारा उनकी सेवा करना सबसे उत्तम धर्म है। श्रीतुलसीदासजी भी कहते हैं—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥
(रा०च० मा० ७।४०।१)

(१०) वैश्यका परोपकार-बुद्धिसे क्रय-विक्रयरूप व्यापार करना कर्तव्य है। गीतामें भगवान्‌ने बताया है—

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥
(१८।४४)

'खेती, गोपालन और क्रय-विक्रयरूप सत्य व्यवहार—ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं तथा सब वर्णोंकी सेवा करना शूद्रका भी स्वाभाविक कर्म है।'

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
(गीता १८।४५)

'अपने-अपने स्वाभाविक कर्मोंमें तत्परतासे लगा हुआ मनुष्य भगवत्प्राप्तिरूप परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है। अपने स्वाभाविक कर्ममें लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकारसे कर्म करके परम सिद्धिको प्राप्त होता है, उस विधिको तू सुन।'

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
(गीता १८। ४६)

'जिस परमेश्वरसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत व्याप्त है, उस परमेश्वरकी अपने स्वाभाविक कर्मोंद्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धिको प्राप्त हो जाता है।' तुलाधार वैश्यका केवल न्यायपूर्वक सत्य व्यापारसे ही कल्याण हो गया था। (देखिये महाभारत शान्तिपर्व अ० २६१ से २६४)।

अतः वर्तमान अन्न-संकटके समय यदि अनाज खरीदकर बिना मुनाफाके ही कर्तव्यबुद्धिसे सबमें भगवद्भाव करके लोगोंको कम-से-कम दाममें निष्काम-भावसे अन्न दिया जाय तो वह बहुत ही श्रेष्ठ है।

(११) संसारके पदार्थोंको, धन-सम्पत्तिको और विषयभोगोंको क्षणभङ्गुर, नाशवान् और दुःखरूप मानकर मनको उनसे हटाना चाहिये। उन्हींमें रचे-पचे नहीं रहना चाहिये। गीतामें भगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(५। २२)

'जो ये इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न होनेवाले सब भोग हैं, वे यद्यपि विषयी पुरुषोंको सुखरूप भासते हैं तो भी दुःखके ही हेतु हैं और आदि-अन्तवाले अर्थात् अनित्य हैं। इसलिये हे अर्जुन! बुद्धिमान् विवेकी पुरुष उनमें नहीं रमता।'

इसलिये वैराग्यपूर्वक संसारके ऐश-आराम और विषय-भोगोंका त्याग करके सत्य व्यवहार, सत्यभाषण, दूसरोंकी सेवा और ब्रह्मचर्यका पालन आदि सदाचारका निष्कामभावसे सेवन करना चाहिये। इससे अन्तःकरण बहुत शीघ्र शुद्ध होता है।

(१२) काम-क्रोध, लोभ-मोह, मद-मत्सर आदि दुर्गुण और झूठ-कपट, चोरी-व्यभिचार, अभक्ष्यभक्षण आदि दुराचार अन्तःकरणको अधिकाधिक अपवित्र और दूषित बनानेवाले हैं। अतः इन सबका तो अवश्य त्याग कर देना चाहिये।

(१३) दुर्गुण-दुराचारकी अपेक्षा दूसरोंकी निन्दा करना-सुनना, दूसरोंके दोषोंको देखना और मनसे उन दोषोंका चिन्तन करना भी महान् हानिकारक है। इससे पाँच दोष होते हैं—

(क) दूसरोंके दोषोंको यदि कोई कानसे सुने, वाणीसे कहे, नेत्रोंसे देखे और मनसे मनन करे तो उस पापरूपी मलसे ये कान, वाणी, नेत्र और मन—सभी दूषित हो जाते हैं और उन दोषोंके संस्कार चित्तपर अङ्कित हो जाते हैं, जो भविष्यमें उससे भी वैसे ही पाप करानेमें सहायक हो जाते हैं।

(ख) दूसरोंकी निन्दा करने-सुननेसे उनकी आत्माको दुःख पहुँचता है, उसका भी पाप लगता है।

(ग) दूसरेका दोष देखनेसे उसके प्रति घृणाबुद्धि हो जाती है, यह भी पाप है, जो अन्तःकरणको विशेष दूषित करनेवाला है।

(घ) दूसरेका दोष देखनेसे अपनेमें अच्छेपनका अभिमान बढ़ता है, यह भी महान् पतनकारक है।

(ङ) पापीके पापकी चर्चा करनेसे उस पापीके पापका अंश उस चर्चा करनेवाले व्यक्तिको भोगना पड़ता है। अतः आत्माका उद्धार चाहनेवाले मनुष्यको इन सबसे भी बहुत दूर रहना चाहिये।

उपर्युक्त सभी साधन निष्काम भावसे करनेपर मनुष्यका परम कल्याण करनेवाले हैं और यदि भगवदर्पण या भगवदर्थबुद्धिसे किये जायँ तब तो कहना ही क्या है। फिर तो बहुत ही शीघ्र कल्याण हो जाता है। अर्पणके सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे बताया है—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(गीता ९।२७)

'अर्जुन! तू जो कर्म करता है, जो खाता है, जो हवन करता है, जो दान देता है और जो तप करता है वह सब मुझे अर्पित कर।'

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि॥
(गीता ९।२८)

'इस प्रकार जिसमें समस्त कर्म मुझ भगवान्‌के अर्पित होते हैं—ऐसे संन्यासयोगसे युक्त चित्तवाला तू शुभाशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त हो जायगा और उससे मुक्त होकर मुझको ही प्राप्त होगा।'

इसी प्रकार भगवदर्थ कर्मके सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि॥
(गीता १२।१०)

'यदि तू उपर्युक्त योगके अभ्यासमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो जा। इस प्रकार मेरे निमित्त कर्मोंको करता हुआ भी मेरी प्राप्तिरूप सिद्धिको ही प्राप्त होगा।' इस प्रकार भगवदर्पण या भगवदर्थ-बुद्धिसे साधन करना चाहिये।

संसारमें मुख्यरूपसे दो ही बातें सार हैं—(१) अपनेपर किसी घटना, परिस्थिति आदिका प्राप्त होना और (२) स्वयं कोई भी कर्म करना। इनमेंसे (१) जो कुछ भी अनुकूल या प्रतिकूल सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय आदि आकर प्राप्त हो, उसे कर्मयोगके अनुसार अपने पूर्वकृत कर्मोंके फलरूप प्रारब्धका भोग मानकर हर्षके साथ निष्कामभावसे स्वीकार करे। ज्ञानयोगके अनुसार उसे स्वप्नवत् मिथ्या मानकर निर्विकार रहे और भक्तियोगके अनुसार उसे भगवान्‌का विधान या भगवान्‌की लीला या भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार मानकर परम प्रसन्न रहे। (२) जो नया कर्म करना है, उसे सिद्धि-असिद्धिमें समभाव रखते हुए आसक्ति और फलकी इच्छाका सर्वथा त्याग करके शास्त्रविधिके अनुसार निष्कामभावसे करे—यह कर्मयोगका साधन है और सच्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें एकीभावसे नित्य स्थित रहते हुए ही सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बरत रहे हैं, ऐसा समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाले सम्पूर्ण कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर उन शास्त्रविहित कर्मोंको करे—यह ज्ञानयोगका धन है। इसी प्रकार सब कुछ भगवान्‌का समझकर श्रद्धा-भक्तिपूर्वक मन, वाणी और शरीरसे सब प्रकार भगवान्‌के शरण होकर उनके स्वरूपका निरन्तर चिन्तन करते हुए उनकी प्रसन्नताके लिये उनकी आज्ञाके अनुसार उनकी सेवाके रूपमें समस्त शास्त्रविहित कर्मोंको करे—यह भक्तियोगका साधन है।

मनुष्य कर्मफलभोगमें सर्वथा परतन्त्र है, किंतु कर्म करनेमें परतन्त्र होते हुए स्वतन्त्र भी है। इसलिये किये जानेवाले कर्मोंको बहुत सावधानीके साथ करना चाहिये। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(गीता २।४७)

'अर्जुन! तेरा कर्म करनेमें ही अधिकार है, उसके फलोंमें कभी नहीं। इसलिये तू कर्मोंके फलका हेतु मत हो तथा तेरी कर्म न करनेमें भी आसक्ति न हो।' निष्कर्ष यह कि जो कुछ आकर प्राप्त हो, उसमें हर समय परम प्रसन्न रहे और किये जानेवाले कर्तव्य-कर्मको बहुत सावधानीसे न्यायपूर्वक निष्कामभावसे करे तो शीघ्रातिशीघ्र भगवत्प्राप्ति हो सकती है, किंतु जो अपने शास्त्रविहित कर्तव्यकर्मका त्याग करके मनमाना आचरण करता है, उसे कहीं भी सुख नहीं।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
(गीता १६। २३)

'जो पुरुष शास्त्रविधिको त्यागकर अपनी इच्छासे मनमाना आचरण करता है, वह न सिद्धिको प्राप्त होता है, न परमगतिको और न सुखको ही।'

इसलिये मनुष्यको सावधान होकर अपने शास्त्र-विहित कर्तव्यकर्मका निष्कामभावसे आचरण करना चाहिये।

ऊपर जो ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि बहुत-से उपाय बताये गये हैं, उन सभीको गीतादि शास्त्रोंमें सरल, सुगम और सर्वोत्तम बताया गया है तथापि वर्तमान कलियुगमें भक्तियोगकी बहुत प्रशंसा की गयी है और उसे अत्यन्त सुगम बताया गया है। श्रीवेदव्यासजीने कहा है—

यत्कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेन तत्।
द्वापरे तच्च मासेन ह्यहोरात्रेण तत्कलौ॥
तपसो ब्रह्मचर्यस्य जपादेश्च फलं द्विजाः।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम्॥
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञैस्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्॥
(विष्णुपुराण ६। २। १५—१७)

'हे द्विजगण! जो फल सत्ययुगमें दस वर्ष तपस्या, ब्रह्मचर्य और जप आदि करनेसे मिलता है, उसे मनुष्य त्रेतामें एक वर्ष, द्वापरमें एक मास और कलियुगमें केवल एक दिन-रात साधन करनेसे प्राप्त कर लेता है। इसी कारण मैने कलियुगको श्रेष्ठ कहा है। जो फल सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञोंके अनुष्ठानसे और द्वापरमें देवपूजासे प्राप्त होता है, वही कलियुगमें केशवके नाम-गुणोंका कीर्तन करनेसे मिल जाता है।'

महामुनि पराशरजी भी कहते है—

अत्यन्तदुष्टस्य कलेरयमेको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥
(विष्णुपुराण ६। २। ३९)

'इस अत्यन्त दुष्ट कलियुगमें यही एक महान् गुण है कि इस युगमें केवल भगवान् श्रीकृष्णके नाम-गुणका संकीर्तन करनेसे ही मनुष्य संसार-बन्धनसे मुक्त हुआ परमपदको प्राप्त कर लेता है।' इससे मिलता-जुलता श्लोक श्रीमद्भागवतमें भी आता है—

कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥
(१२। ३। ५१)

'परीक्षित्! यह कलियुग दोषोंका खजाना है, परंतु इसमें एक बहुत बड़ा गुण है। वह गुण यही है कि कलियुगमें भगवान् श्रीकृष्णका संकीर्तन करनेमात्रसे ही सारी आसक्तियाँ छूट जाती हैं और परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।'

श्रीतुलसीदासजीने भी कहा है—

कलिजुग सम जुग आन नहिं जौं नर कर बिस्वास।
गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास॥
(रा० च० मा० उत्तर० १०३)

कलिजुग केवल नाम अधारा। सुमिरि सुमिरि भव उतरहु पारा॥

इस प्रकार शास्त्रोंमें कलियुगमें भगवान्‌की भक्तिकी बड़ी भारी महिमा बतायी गयी है।

इन सब बातोंपर ध्यान देकर हमलोगोंको कटिबद्ध हो तत्परतासे साधन करना चाहिये। समय बीता जा रहा है; मनुष्यको शीघ्र सचेत हो जाना चाहिये। नहीं तो, समय शनैः-शनैः बीत जायगा और मृत्यु अचानक आ प्राप्त होगी तो फिर पहलेके अभ्यासके बिना उस समय कुछ भी साधन नहीं बन सकेगा और पश्चात्ताप करना पड़ेगा, पर पश्चात्ताप करनेसे कोई लाभ न होगा। इसलिये हजार काम छोड़कर उस कामको पहले करना चाहिये, जिसके लिये यह मनुष्य-शरीर मिला है। यह मनुष्य-शरीर आत्माके उद्धारके लिये ही मिला है। इसको जो मनुष्य विषय-भोगोंमें बिता देगा उसे घोर पश्चात्ताप करना पड़ेगा। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

*

सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ ॥

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तनु पाइ बिषयँ मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥
ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई। गुंजा ग्रहइ परस मनि खोई॥

जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृत निंदक मंदमति आत्माहन गति जाइ ॥
(रा० च० मा० उत्तर० ४३, ४३ । १-२, ४४)

इसलिये मनुष्य-शरीर पाकर विषयभोगोमें मन न लगाकर उसे भगवान्‌में ही लगाना चाहिये । यह सबसे बढ़कर सार बात है । इसमें न पैसा खर्च होना है, न परिश्रम है और न समय ही लगता है । हरेक मनुष्य इसे कर सकता है एवं यह निश्चय ही कल्याण करनेवाला है । वह बात है—हर समय भगवान्‌को स्मरण रखना । भगवान्‌ने गीतामें बताया है—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(८ । १४)

'अर्जुन ! जो पुरुष मुझमें अनन्यचित्त होकर सदा ही निरन्तर मुझ पुरुषोत्तमको स्मरण करता है, उस नित्य-निरन्तर मुझमें युक्त हुए योगीके लिये मैं सुलभ हूँ अर्थात् उसे सहज ही प्राप्त हो जाता हूँ ।'

इस प्रकार चरित्र-निर्माताको चाहिये कि निर्दिष्ट विधिसे साधना कर जीवनको सार्थक बनावे ।

सच्चारित्र्य और नियम

(लेखक—अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती महाराज)

भगवान् श्रीकृष्णका उपदेश है—**'मामनुस्मर युद्ध्य च'**—'मेरा अनुस्मरण करो और युद्ध करते चलो ।' सर्वसामान्यके लिये लक्षणासे यहाँ युद्धका तात्पर्य है—कर्म करना; अर्थात् भगवान्‌का स्मरण करते चलो और अपने कर्तव्यका पालन करते चलो । भगवान् तो हमारा स्मरण करते ही हैं । उनकी दृष्टिमें सारी सृष्टि है । उनके एक रोमकूप अनन्त ब्रह्माण्ड हैं । हम सब उनकी आँखोके सामने है । हम उनको नहीं देख पाते, वे हमको देखते है । उनको हम अपनी गोदमें नहीं बैठा पाते, वे हमको हमेशा अपनी गोदमें ही रखते है । उन्हींकी साँसमें हम साँस लेते हैं । उन्हींकी नींदमें सोते है । उन्हींके जागनेसे जागते हैं । परमात्माके साथ हमारा अविच्छिन्न सम्बन्ध है । इसे परमात्मा भी चाहे तो तोड़ नहीं सकते। अपने स्वरूप-को कोई तोडकर कैसे अलग कर सकता है ? परंतु परमात्माके साथ इतना घनिष्ट सम्बन्ध होनेपर भी इस जीवनमें दुःख कहाँसे आता है? बस, अनुस्मरण न होनेसे।

श्रीकृष्णका जीवन और परिस्थिति—आप श्रीकृष्णके जीवनको देखे। कम-से-कम यह समझे कि सबके जीवनमें चढ़ाव-उतार आता है । सबके जीवनमें सुख-दुःख आता है । सबके जीवनमें अनुकूल-प्रतिकूल परि-स्थितियाँ आती है । अपने हृदयको भगवत्स्मरणमें युक्त रखा जाय, बस सब परिस्थितियाँ ठीक हो जाती हैं ।

रक्षत रक्षत कोशं कोशानामपि कोशं हृदयम् ।
यस्मिन् सुरक्षिते कोशे सर्वं खलु रक्षितं भवति ॥

'यदि हृदय सुरक्षित रहेगा तो देश-कालकी विषम परिस्थितियाँ, वस्तुएँ दुखी न कर सकेंगी, कोई दुःखी नहीं कर सकेगा ।'

लोग श्रीकृष्णके जीवनका केवल एक पक्ष ही देखते हैं; यथा—जब वे बालक थे, तब माखन-चोरी करते थे, गोपियोंसे छेड-छाड़ करते थे, ग्वालोसे खेलते थे । पर इस बातपर भी दृष्टि जानी चाहिये कि वे एक ऐसे माँ-बापसे पैदा हुए थे, जो जेलखानेमें हथकड़ी और बेड़ीमें जकड़े हुए थे । जन्मते ही पराये घरमें जाकर पलना

पड़ा। देखें, एक ओर श्रीकृष्णके जन्मकी परिस्थिति, दूसरी ओर धर्मराज्यकी स्थापना और द्वारकाका वैभव। यह उन्हीं कृष्णके जीवनमें है, जो जेलखानेमें पैदा हुए थे और जिनके माँ-बापने जा करके जन्मके बाद उन्हें एक ग्वालेके घरमें पहुँचा दिया था। कहाँ-से-कहाँ पहुँच सकता है जीवन—इसपर ध्यान दें। छठीके पहले ही जहर पीना पड़ा, पूतना आ गयी। तीसरे महीनेमें बैलगाड़ी गिर गयी। चौथे वर्षमें पेड़ गिर पड़े। सातवें वर्षमें इन्द्रका कोप हुआ, व्रज डूबने लग गया। अपने मामाको अपने हाथोंसे मारना पड़ा। ये सब अच्छी बातें तो नहीं हैं, पर श्रीकृष्णके जीवनमें ये सब आयीं। शत्रुने मथुरापर सत्रह बार चढ़ाई की। अठारहवीं बार मथुरा छोड़कर नंगे पाँव भागना पड़ा—मथुरासे जूनागढ़-तक। एक पीताम्बर उनके शरीरपर था और साधुओंके आश्रममें जाकर रहे, वहाँ प्रसाद पाते और सत्सङ्ग करते। न कोई सामग्री थी, न पाँवमें जूता था, न सिरपर टोपी थी, न उनके पास छाता था। वहाँसे उतरकर गये द्वारका। आपका ध्यान इधर जाता है? द्वारकामें उनके खास ससुरजीके घरमें डाका पड़ा और वे मारे गये। श्रीकृष्णको चोरी लगी कि उन्होंने स्वयं स्यमन्तकमणि चुरा ली है। यहाँतक कि बलरामजीके मनमें भी शङ्का हो गयी कि श्रीकृष्णने जान-बूझकर मणिको हमसे छिपा लिया है। यह बात भागवतमें है—

किंतु मामग्रजः सम्यङ् न प्रत्येति मणिं प्रति।

श्रीकृष्ण पछताते हैं कि 'हाय! मैं क्या करूँ, मेरे बड़े भाई इस मणिके बारेमें मेरे ऊपर विश्वास नहीं करते।' मैं उनको कैसे विश्वास दिलाऊँ? शम्बरासुर श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नको अपहृत करके ले गया। अनिरुद्धका अपहरण हो गया। द्वारकामें फूट पड़ गयी। महाभारतमें एक पक्षमें श्रीकृष्ण थे और दूसरे पक्षमें सेना चली गयी थी। आप सोचते हैं कि श्रीकृष्ण बड़े आनन्दमें रहते होंगे। कभी-कभी ऐसी फूट पड़ती कृतवर्मा, विकद्रु, सात्यकि, उद्धव और बलराममें कि गीताके 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' से मा शुचः' तक उपदेश देनेवाले साक्षात् श्रीकृष्ण स्वयं चिन्तित हो जाते। इतना ही नहीं, उनके सब बेटे तो क्या, हमको तो अबतक एक भी न दीखा, जो उनकी बात मानता हो। श्रीकृष्ण और बलराम तो साधुओंपर विश्वास करते थे, परंतु बेटे उनकी परीक्षा लेते थे। खाने-पीनेमें भी श्रीकृष्णकी बात कोई न मानते थे। पीढ़ी-दर-पीढ़ी बदलती गयी। यह सब होते रहनेपर भी श्रीकृष्णके हृदयका जो प्रसाद था, मुखकी प्रसन्नता थी, वाणीका माधुर्य था, उनके वदनमण्डलपर जो मुस्कान थी, उनकी आँखोंमें जो प्रेम था, वह कभी उनके जीवनसे दूर न हुआ। मृत्यु भी क्या बढ़िया हुई? क्या ध्यान लगाकर हुई? नहीं, एक बहेलियेने बाण मारा और संसार छोड़ देना पड़ा, चले गये अपने धाममें।

यह बात हमलोगोंके लिये कितनी और कैसी शिक्षा देती है कि जब श्रीकृष्णके जीवनमें भी ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं तो हमलोगोंके जीवनमें यदि कोई छोटी-मोटी ऐसी परिस्थिति आ जाय तो उससे घबरानेका क्या काम? अपने हृदयका आनन्द बनाये रखें और परिस्थितियोंका सामना करें।

गीता श्रीकृष्णके जीवनकी पोथी है, वह उनके अनुभवकी डायरी है। यह बताती है कि कुछ व्यक्तियोंके कारण हम अपना कर्तव्य न छोड़ दें, कुछ परिस्थितियोंके कारण हम अपना कर्तव्य न छोड़ दें, किसीके दबावमें आकर अपना कर्तव्य-पालन न छोड़ दें।

एक पुराणमें वर्णन आता है कि श्रीकृष्णका जाम्बवतीसे विवाह हुआ था। पर उसके बच्चा ही नहीं होता था। दस वर्षतक बच्चा न हुआ, तब श्रीकृष्णने सूर्य भगवान्की आराधना की। सूर्यदेवताकी कृपासे साम्बका

जन्म हुआ। महाभारतके खिलभाग हरिवंशपर्व, भविष्यपर्व ७३से९० तकके अध्यायोंमें कथा आती है कि रुक्मिणीको पुत्र नहीं हो रहा था। कृष्णने शिवकी आराधना की, तब प्रद्युम्नका जन्म हुआ। तात्पर्य यह कि जीवनकी परिस्थितियोंको देखकर हताश न होना चाहिये, निराश भी नहीं होना चाहिये। श्रीरामचन्द्रजीके जीवनको जब हम देखते हैं तो पता लगता है कि कहाँ तो बाजे बज रहे हैं—राज्याभिषेकके लिये, कौसल्याजी हवन कर रही है, सीताजी मङ्गल मना रही है और आदेश हो गया कि पेड़की छाल पहनो तथा नंगे पाँव चौदह वर्षोंके लिये वनमें चले जाओ। परंतु श्रीरामचन्द्रपर उसका क्या प्रभाव पड़ा? क्या वे निराश हो गये? क्या उदास हो गये? क्या उनके जीवनमें उन्नति-प्रगति नहीं हुई?

निर्भय हो, आगे बढ़ो—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्ननिहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति॥

'तुच्छ लोग भयसे कार्यारम्भ ही नहीं करते। वे सोचते हैं—'यह काम करेंगे तो वे बिगड़ जायँगे, यह काम करेंगे तो ये छूट जायँगे।' मध्यम लोग काम शुरू तो कर देते हैं, पर विघ्न आते ही कामको छोड़ देते हैं। पर उत्तम कोटिके लोग बार-बार विघ्न आनेपर भी कार्य नहीं छोड़ते, अपने भगीरथ-प्रयत्नसे उसे पूरा ही करते हैं।' अतः भगवान् कृष्णने कहा है—'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ'—क्लीबताको छोड़ पौरुषका आश्रय लो। इस प्रकार हमको, आपको भी सफलता प्राप्त करनी चाहिये। आपलोग तो बड़े-बड़े लोगोंके इतिहास पढ़ते होंगे। हमने भी कई सेठोंके विषयमें सुना है कि जब राजस्थानसे वे निकले तो उनके पास मात्र पाँच रुपये, एक झोला तथा एक लोटा-डोरी थी; पर बुद्धि और पौरुषसे वे बहुत सम्पन्न हो गये। हमारे एक रिटायर्ड मित्र बम्बईमें रहते हैं, वे भारतीय विद्याभवनमें प्राध्यापक थे। बचपनमें उनके घरमें पढ़नेके लिये रोशनीतकका प्रबन्ध न था। वे म्युनिसिपैलिटीकी रोशनीमें रातको पढ़ा करते और महाभारतकी चौपाइयाँ बनाया करते। बनारसमें भार्गव प्रेसवाले उनको खानेके लिये दो रुपया रोज देते थे और महाभारतकी चौपाई ले लेते थे। उन्होंने उन्हीं दो-दो रुपयोंसे एम्० ए० तक पास कर लिया। फिर गोरखपुर गीताप्रेसमें आकर कुछ दिन काम करनेके बाद भारतीय विद्याभवनमें अध्यापक हो गये थे। बादमें रेडियो आदिपर गाने लगे और अब उनके लड़के विदेशोंमें बहुत अच्छे ढंगसे काम करते हैं। अतः निराश नहीं होना चाहिये।

अब काशीके कुछ पण्डितोंकी बात देखें। पण्डित शिवकुमार शास्त्री इस शताब्दीके वहाँके सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठित विद्वानोंमेंसे रहे। संस्कृतका ऐसा दिग्गज विद्वान् भारतवर्षमें नहीं हुआ तो दूसरे देशोंमें तो कल्पना भी क्या हो सकती है। वे बहुत दिनोंतक अपने चाचाके पास एक गाँवमें रहकर भैंस चराते रहे। बादमें 'क' 'ख' सीखनेके लिये उन्होंने कहींसे एक किताब प्राप्त कर ली। एक दिन वे उससे यह 'क' है, यह 'ख' है, यह 'ग'—सीख रहे थे कि उनकी भैंस दूसरेके खेतमें चली गयी। उसने आकर उनके चाचाको उलाहना दी और जब चाचाने उन्हें किताब पढ़ते देखा तो बड़े जोरसे एक थप्पड़ उनके गालपर मारा और कहा कि 'तू पाणिनि-पतञ्जलि बनना चाहता है या भैंस चराता है? उस समय वे चुप लगा गये। परन्तु सबेरे आकर चाचासे उन्होंने कहा कि 'चाचाजी! अब मैं जा रहा हूँ और मैं पाणिनि-पतञ्जलि बनकर ही घर लौटूँगा। यदि पाणिनि-पतञ्जलि न हुआ तो घर न लौटूँगा।' अब वे काशी आ गये और केवल व्याकरणमें ही नहीं

सभी दर्शनों, सभी वेद-वेदाङ्गोंमें अपने समयके अद्वितीय विद्वान् बन गये। आजकलके व्याकरणके पण्डित उन्हें पाणिनि-पतञ्जलिसे कम नहीं मानते। बनारसमें ही उनका विवाह हुआ। बनारसमें ही उनके चार-पाँच पक्के मकान बने। उनके वंशधरको बहुत प्रतिष्ठा मिली।

कौन-सा साधन, कौन-सा उपकरण उनके पास था? उनके चित्तमें केवल एक दृढ़ निश्चय था। ऐसा दृढ़ संकल्प, ऐसा दृढ़ निश्चय कि उसके विरुद्ध जो कुछ था, सो सब त्याग दिया और पूरे मनोयोगसे जो अपना अभीष्ट था उसमें अपनी शक्ति लगा दी।

ऐसे ही हमारे सामने एक बंगालके पण्डित थे; हाराणचन्द्र शास्त्री। वे अपने पिता-माताकी मृत्यु हो जानेपर मामाके घर रहते और ठीक भोजनतक नहीं पाते थे। उनका एक आठ बरसका छोटा भाई था। एक दिन दोनों चुपचाप चलकर अपने पिताजीके एक जज मित्रके घर चले गये। जजने उन लोगोंको खिलाया-पिलाया, आदरसे रखा। परंतु पण्डितोंकी जब सभा हुई तो उसमें दूसरे पण्डितोंको तो पाँच-पाँच रुपया दिया और उनको दो रुपया दिये। इसपर उन्होंने कहा—'सबको पाँच-पाँच रुपये देते हो तो हमको भी पाँच रुपये दे दो।' उन्हें कहा गया—'जब तुम पढ़-लिख लोगे तब तुमको भी पाँच रुपये मिलेंगे। फिर दोनों भाई रातको चुपकेसे जज साहबके यहाँसे निकल पड़े। भूखे-प्यासे चले जा रहे थे। एक मुसलमानने उनको देखा, उनपर दया आ गयी। उन्हें वह अपने घर ले गया। कुम्हारके घरसे मटका और अहीरके यहाँसे दूध मँगाकर गोशालामें खीर बनवायी और उन्हे खिलाया। वहाँसे भागकर वे शिवकुमार शास्त्रीजीके घर काशीमें पहुँचे और अध्ययन किया। उनको भी सन् बयालीसमें ब्रिटिश सरकारने सम्मानित करके महामहोपाध्यायकी सर्वोच्च उपाधिसे विभूषित किया। वे बड़े विद्वान् थे। उनकी रचना 'कालतत्त्वदर्शिनी' संस्कृत भाषामें अद्भुत पुस्तक है।

(क्रमशः)

चरित्र-निर्माणमें वेदज्ञान—ब्रह्मचर्यका योगदान

(—महामहोपाध्याय पं० श्रीगिरिधरजी शर्मा, चतुर्वेदी)

आदि सत्ययुगमें सम्पूर्ण ऋषिमण्डली स्वायम्भुव मनुसे धर्म-श्रवण करने गयी। मनुकी आज्ञासे उनके शिष्य भृगुने सब प्रकारके धर्म सुनाये। उस समय ऋषिमण्डलीने एक प्रश्न अकालमृत्युके कारणके सम्बन्धमें भी किया। भृगुजीने उसका उत्तर देते हुए कहा था—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥
(मनुस्मृति ५।४)

यहाँ अकालमृत्युके चार कारण बताये गये हैं—(१) वेदोंका अभ्यास न करना, (२) आचारका परित्याग, (३) आलस्य और (४) अन्न-दोष। जब हम विचारते हैं कि ये कारण आजकल हममें, हमारे समाजमें कहाँतक फैले हुए हैं और फिर अपनी दशाकी ओर देखते हैं तो हृदय काँप उठता है। जिस आपत्तिका कारण ढूँढ़ निकालनेके लिये हम इधर-उधर भटक रहे हैं, जिसकी खोजके लिये हैरान हैं, उसका निर्णय तो हमारे पूर्वजोंने सहस्रों वर्ष पहले कर रखा था। करुणावश उसे हमें बताया भी था। अब हम उसे न देखें, उसकी कुछ परवाह न करें, उधरसे आँख ही बंद कर लें तो दोष किसके सिरपर मढ़ा जायगा।

इतिहासों, पुराणोसे यह स्पष्ट होता है कि युगादिमे अकालमृत्यु नहीं होती थी। यहाँ सभी समृद्धिशाली, विद्वान्, हृष्ट-पुष्ट थे। वे न केवल सुखी थे, किंतु अपने सुखके सामने इन्द्र-भवनकी सम्पदाओंको तुच्छ समझते थे। देवता भी इनके शक्ति-पराक्रमको देखकर भारतमें जन्म लेनेके लिये तरसते थे। पर आज इन बातोपर विश्वास नहीं होता। आज किस देशमें, किस नगरमें, किस ग्राममें, किस घरमें अकाल-मृत्यु-पिशाचीने अपना पंजा जमा नहीं रखा है? कितने पिता आज पुत्रोके वियोगमें तड़प रहे हैं। कितनी बालविधवाओका करुणक्रन्दन भारतके आकाशको फाड़ रहा है। प्लेग, हैजा आदि कैसे-कैसे दुष्ट रोग भारतको अपना घर बना रहे है और भारतवासियोंको अपनी करनीका फल दे रहे हैं। जो आज जीते है, वे मरेसे बढ़कर है। पैदा होते ही रोग शरीरके साथ लग जाता है, बल और बुद्धिका कहीं पता भी नहीं। भारतके नवयुवकोके आज मुखकमलको देखिये—क्यों इनपर यह अकालमें ही तुषार पड़ गया!

मनुस्मृतिमें अकालमृत्युके जो चार कारण बताये हैं, उनमे पहला है—वेदका अभ्यास न करना जिसमें—**'भूतं भवद् भविष्यच्च सर्वं वेदात् प्रसिद्ध्यति।'** 'भूत, भविष्य, वर्तमान—सब कुछ वेदोंसे ही जाना जाता है। ऋषि-मुनियोका कानून था—

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥

'जो द्विज अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य वेद न पढकर अन्य बातोमें श्रम करता है, वह वंशसहित जीता शूद्र-कोटिमें गणना-योग्य हो जाता है।' यहाँ आज कितने वेदज्ञ ब्राह्मण है? अङ्गोंसहित वेदोंको पढना और समझना ब्राह्मणका सहज धर्म था—**'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।'** आज वेदोंके पढनेकी चर्चा आते ही पेटकी बात आगे आ पड़ती है। 'वेद-शास्त्र पढ़ेंगे तो खायेंगे क्या?' आज पेटकी ज्वाला इतनी बढ़ गयी है कि उसे ही बुझानेमें सारा जीवन समाप्त हो जाता है, किंतु फिर भी वह बढ़ती ही जाती है। 'ब्राह्मणों'में कथा है कि भरद्वाज ऋषि बाल्य, यौवन, जरा तीनो अवस्थाओमें वेद ही पढ़ते रहे और जब इन्द्रने उनसे पूछा कि 'आपको चौथी अवस्था और मिले तो आप क्या करेंगे?' उसपर भी उन्होंने यहीं उत्तर दिया कि 'ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाभ्यास करते ही उसे भी बिता दूँगा। पाँचवीं और मिलेगी तो वह भी वेद पढ़नेमें ही जायगी।' किंतु आज अवस्थाकी तो कौन कहे, कुछ वर्ष भी, कुछ मास भी, कुछ दिन भी ब्राह्मण-नामधारियोके भी वेद पढ़नेमें खर्च नहीं होते। सौभाग्यवश लोग वेद पढ़ते भी है' पर वे—

स्थाणुरयं भारहारः किलाभू-
दधीत्य वेदं यो न विजानात्यर्थम्।
(निरुक्त २१)

'यह केवल बोझ ढोनेवाले गर्दभके समान है, जो वेद पढ़कर उसका अर्थ नहीं जानता'। साङ्ग सार्थ वेद पढ़कर उसके द्वारा अलौकिक विद्याओको जाननेवाला आज भारतमें कौन है?

वेद ज्ञानका दावा आज जगत्में बहुत बढ़ गया है कि 'वेदमें यह नहीं, वह नहीं' इत्यादि; किंतु जब पूछा जाय—'बाबूसाहब! आपने किससे कितने कालतक वेद पढा है' तो उत्तर यही होगा कि 'उर्दू या अंग्रेजीमे उसका तर्जुमा देखा है।' जिस सखर वेदको पढ़नेके लिये दर्शनोके आचार्य, मुनि और ऋषि बीसों वर्ष ब्रह्मचर्य रखते थे, फिर भी यावज्जीवन उसके अर्थ-ज्ञानका निरन्तर यत्न ही करते रहते थे, उसका ज्ञान हम अनुवादोके आधारपर प्राप्त करना चाहते हैं, इससे अधिक और शोककी बात क्या होगी! इससे अधिक क्या अधःपात होगा!

निरुक्तकार यास्क मुनि कहते हैं—**'गतेषु प्रत्यक्ष-कृतधर्मस्वृषिष्वरापरस्मै ग्रन्था—**

बिना तपके मन्त्रोंका यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। यह तप जाने कहाँ चला गया। वेदोंमें है क्या, जिसके लिये हम ही नहीं, सारी सृष्टि उनकी गौरव-गाथा गाया करती है। किन्तु वेद-ज्ञानकी जो दुर्दशा भारतमें हुई है, उसका विचार करनेसे आँखोंके आगे अन्धकार छा जाता है। जब वेद-ज्ञान ही न रहा तो धर्मज्ञान कहाँसे हो और आचारका पालन क्यो न सूखे वृक्षके फलके समान हो जाय। जब आचार जानेंगे, तब न आचार-का पालन करेंगे। आचार जाननेका साधन वेद-शास्त्र जब छोड़ दिया तो आचार-पालन कहाँसे हो? और जब आचार-पालन ही नहीं तो चरित्र कहाँसे बने?

हमारे पूर्वजोंने अनेकों वर्ष जंगलोंमें भटककर राज्य-तकका सुख छोड़कर जो सम्पत्ति प्राप्त की थी और परम करुणावश जो उपदेशके रूपमें दी थी, उस सम्पत्तिको, उस रत्नराशिको हमने बन्दरका काँच समझ लिया है। मूर्ख जौहरीके लड़केके समान कूड़े-करकटमें उन अमूल्य रत्नोंको फेंक रहे हैं। हम तनिक भी विचार-दृष्टिसे काम लें तो ज्ञात होगा कि हमारे आचारोंमें कितना तत्त्व भरा हुआ है। सैकड़ों वर्षोंकी खोजसे वैज्ञानिक जिन बातोंको जान पाया है, उन्हें आचारके रूपमें हमारे घरोंकी अनपढ़ स्त्रियाँ भी जानती रही है। आज हम अपने आचारोंपर हँसा करते हैं, किंतु उन्हीं बातोंको जब विदेशी वैज्ञानिकोंके मुखसे सुनते हैं तो सिर झुकाकर मान लेते हैं। अपने पूर्वजोंकी बातोंपर विश्वास नहीं, किंतु विदेशियोंकी बातोंपर पूर्ण विश्वास है—इतना अधःपात किस जातिका होगा! मानो आत्मिक बल निःशेष हो गया। हमारे घरोंमें गोबरका चौका लगानेकी पुरानी रीति है, किंतु नवशिक्षित बाबू सज्जन भला इसे कब पसंद करते? इससे घृणा करते, हँसते थे। किंतु आज वैज्ञानिकोंकी राय हुई कि गोबरपर कीटाणु आदि बाहरी दोषोंका संक्रमण नहीं हो सकता, तो अब बहुत-से डाक्टरोंके भी घरमें गोबरका चौका लगने लगा। वैष्णव हिंदू सदासे अपने घरोंमें तुलसी रखते आये हैं, भला बाबुओंके बँगलेमें इस बेचारीको कहाँ स्थान मिलता; किंतु अंग्रेज डाक्टरोंने अनुभव करके बता दिया कि मलेरियाका उपाय इससे अच्छा कोई नहीं, तो अब तुलसीके भी उच्च ग्रह आये। जगह-जगह इसका प्रचार होने लगा। तात्पर्य यह कि हम केवल दूसरोंकी दृष्टिसे देखते हैं। पाश्चात्त्य शिक्षासे हम सर्वथा दृष्टवादी हो गये हैं, अदृष्ट-धर्म-अधर्मपर हमारा विश्वास जाता ही नहीं। डाक्टरोंके कहनेसे यह दृढ विश्वास है कि प्लेगका असर समीप रहनेवालोंपर हो जाता है, अतः प्लेगके रोगीसे यहाँतक डरते हैं कि पुत्र पिताके पास नहीं जाता, पुरुष स्त्रीके पास नहीं जाते। किंतु तामसी, नीच व्यक्ति व पापियोंकी संगतिसे तमोगुण, व पापका भी असर होता है—इस ऋषिवाक्यको नहीं मानते। अदृष्टवादको जाने दीजिये, जिनका फल प्रत्यक्ष है, उन आचारोंको भी कौन मानता है? प्रातःकाल उठनेके लाभोंको कौन नहीं जानता? किंतु कितने सज्जन ब्राह्म-मुहूर्तमें उठते हैं? शौच-विधि, दन्तधावन, नित्य-स्नान आदिका फल तो प्रत्यक्ष है, फिर भी कितने नवशिक्षित इन्हें निभाते हैं? बस '**आचारस्य च वर्जनात्**' यह मनुस्मृतिका कहा हुआ दूसरा अकाल मृत्युका कारण भी यहाँ पूरा उपस्थित है, इसमें कोई संदेह नहीं।

तीसरे हेतु आलस्यके विषयमें कुछ कहना ही व्यर्थ है। आलस्यका तो भारतमें साम्राज्य है। काम कुछ न करेंगे, किंतु कहेंगे यही कि फुरसत नहीं। दिनभर व्यर्थ बिता देनेवालोंकी हमारे यहाँ कमी नहीं। इसे जो विशेष जानना चाहें, विदेशीय सज्जनोंकी कार्यपरताका अपनेसे मुकाबला कर देख लें।

अब रहा चौथा हेतु अन्न-दोष। इसके विषयमें कुछ न पूछिये। जिस जातिके पूर्वजोंने मद्य, मांसके सेवनको महापाप माना था, उस जातिमें आज होटलोंमें

बड़े आनन्दसे अंडे और ब्राण्डी उड़ती है। बुद्धि यह हो गयी है कि खाने-पीनेका धर्मसे सम्बन्ध ही क्या ! धर्मको इन सज्जनोंने दुनियासे बाहरकी वस्तु मान रखा है—जिसका आचार-व्यवहारसे कोई सम्बन्ध नहीं। शास्त्रने निर्णय किया था—**'अन्नमयं हि सौम्य मनः'** जो हम भोजन करते हैं, उसके तीन भाग होते है। स्थूल भाग मलरूपमें निकल जाता है, मध्यभाग रस, रुधिर, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, शुक्र—इन सात धातुओंको क्रमसे बनाता है और जो अत्यन्त सूक्ष्म सार भाग होता है उसका मन बनता है। पुरुष जैसा अन्न खायेगा, वैसा ही उसका मन होगा। सात्त्विक अन्नसे सात्त्विक मन बनेगा तो ईश्वर-भक्ति, परोपकार, दान, दया आदिके विचार होंगे। तामस अन्न खानेसे तामस मन बनेगा तो परद्रोह, कुचाल, छल, हिंसा आदिके विचार होंगे। इसी आधारपर शास्त्रने भोजनमें बड़ा विवेक रखा। शुद्ध अन्न हो, शुद्ध कमाईका हो, शुद्धि-पूर्वक बनाया जाय, वह भोजन करना। पर आज न अन्नका विचार, न कमाईका। भक्ष्याभक्ष्यका विवेक वैज्ञानिक बुद्धिमें ही नहीं समाता। चरित्र क्यो न गिरे, अकाल मृत्यु क्यों न हो !

अब जब चारो कारण अकाल मृत्युको हमारे यहाँ उपस्थित करते है, तो मानना चाहिये कि इन्हीं कारणोसे दुर्दशा हो रही है और यदि हम अपना शुभ चाहे तो इन्हीं कारणोको दूर करें।

शास्त्रोंने ब्राह्मणके लिये चार आश्रमोंके पालनका उपदेश दिया है—सबसे प्रथम ब्रह्मचर्य, फिर गार्हस्थ्य, फिर वानप्रस्थ और अन्तमें संन्यास। पहली सीढ़ी ब्रह्मचर्याश्रमके बिगड़ जानेसे सभी आश्रम अस्त-व्यस्त हो गये। ब्राह्मण-का ८ वर्षका बालक, क्षत्रियका ११ वर्षका और वैश्यका १२ वर्षका उपनयन-संस्कार होकर आचार्यके घर जाकर निवास किया करता था। 'उपनयन' शब्दका अर्थ ही यह है कि आचार्य उसे अपने समीप ले जाता था। उपनयन द्विज-मात्रका आवश्यक कर्म है। क्या सुन्दर प्रथा थी, कैसा उच्च आदर्श था कि कोई द्विज-बालक अपनी पूर्वावस्थामें घर रह ही न सके, आचार्योंके घर जाकर पहले विद्या पढ़े तब गृहस्थाश्रममें प्रवेश करे।

आचार्यगृहमें वेदका 'चरण' अर्थात् अध्ययन करना होता था। उसे ही कहते थे 'ब्रह्मचर्य'। साङ्गवेदके अध्ययनके साथ-साथ उससे आचारोके पालनका पूरा अभ्यास कराया जाता था। दण्ड-कमण्डलु लिये, मेखला बाँधे, कौपीन लगाये, साधारण वेषसे रहना होता था। यह आवश्यक न था कि स्कूलमें जाकर भर्ती होते ही कोट, पतलून, कमीज, नेकटाई और बूटका अनावश्यक खर्च पिताके सिरपर पड़े। भोजन भी भिक्षान्नका करना होता था—जिससे शौक पैदा न हो, जैसा मिले, वैसा साधारण भोजनका अभ्यास हो। मान-अपमानके सहनेकी शक्ति पैदा हो और सबसे बढ़कर यह बुद्धि हो कि मैं देशका अन्न खा रहा हूँ, देशका मुझपर ऋण हो रहा है, अपनी विद्याद्वारा देशकी सेवा कर यह ऋण मुझे चुकाना है। आचार्यमें पिता-बुद्धि होती थी, सहपाठियोंमें भ्रातृभाव होता था, स्त्रीमात्रको माता कहनेकी आदत होती थी। जरा हम सोचें कि क्या वह आदर्श था। क्यों न उस रीतिसे शिक्षा पाकर जगत्में भ्रातृभाव उत्पन्न हो ! वे आँखें जो सबको मातृ-दृष्टिसे देख चुकी हैं, फिर किसीपर क्यों बुरी तरह पड़ेंगी ! वहाँ आचारोंकी न केवल वाचिक शिक्षा होती थी, किंतु प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्तमें उठनेसे लेकर शयनपर्यन्तके सभी सदाचार गुरुकी निरीक्षकतामें पालन करने होते थे। सन्ध्या, हवन आदि आचारोंका पालन, परिश्रमसे शास्त्रोंका अध्ययन, भिक्षा लाना, गुरुके घरका सब कार्य करना—इतने आवश्यक कृत्य रहनेपर आलस्यको स्थान ही कहाँ ! अन्नका परिपूर्ण विचार वहाँ करना होता था। भक्ष्यका पूर्ण विवेक था। ऐसी स्थितिमें पूर्वोक्त चारो दोषोमेंसे एक भी दोष नहीं उत्पन्न होने पाता था। जब वेद-विद्या समाप्त कर चुके, तब आचार्यको दक्षिणा देकर उनकी आज्ञा लेकर घरा-

वर्तन होता था; समावर्तन अर्थात् घर लौटना। विना विद्या समाप्त किये कोई घर नहीं लौट सकता, विवाहका नाम भी नहीं ले सकता। समावर्तनके पीछे विवाह कर धर्मसे गृहस्थाश्रमका पालन करता हुआ, अवस्थानुसार वानप्रस्थ और संन्यासका अधिकारी होता था।

अब आप आजकी दशापर विचार कीजिये। जिस शिक्षाकी आज भारतमें प्रधानता है, उसमें न अपनी भाषाका स्थान है, न अपना वेष रहता है, न अपने भाव ही। संसारभरके शिक्षित मनुष्य इस बातपर एकमत हैं कि अपनी भाषाद्वारा दी हुई शिक्षा ही शिक्षाका सच्चा फल दे सकती है। जैसे बालकके शरीर-पोषणके लिये माताका दूध ही प्राकृतिक आहार है, अन्य आहार विकृति ही उत्पन्न करते हैं, ऐसे ही मानस भावोंके पोषणके लिये मातृभाषाका विज्ञानरूपी दुग्ध ही प्राकृतिक सामग्री है। अन्य भाषाद्वारा दी हुई शिक्षा-भावोंके पोषणके स्थानमें उन्हें विकृत ही करती है। इसीसे तो सब देशोंके नेता अपने बालकोंकी शिक्षाका प्रबन्ध अपनी भाषामें ही करते हैं। किंतु हमारी शिक्षा ही निराली है। यहाँ उच्च शिक्षित कहानेवाले भी, अपनी शिक्षाकी डींगके आगे संसारकी बुद्धिको तुच्छ समझनेवाले भी, अपनी मातृभाषामें अपना नामतक लिखना नहीं चाहते, अपने धर्मग्रन्थ वेदकी भाषाकी बात ही कौन कहे, देव-वाणी संस्कृतको भी एक तरफ रखिये, जब उन्हें अपनी सभ्यताका या अपने धर्मका ज्ञान ही नहीं, तो उनपर उन्हें श्रद्धा कैसे होगी? अपने धर्म आदिकी बात जाननेके लिये जो कुछ वे पढ़ते हैं, उसका भी उन्हें मार्मिक ज्ञान नहीं होता। विदेशीय भाषाद्वारा प्राप्त की गयी शिक्षा अन्तःकरणपर नहीं जमती। प्रत्यक्ष ही देखिये, लाखों छात्र कालेजोंमें पढ़ते हैं, किंतु उनमेंसे कितने यथार्थ वैज्ञानिक बनते हैं, कितने राजनीतिके विद्वान् होते हैं, कितने अर्थशास्त्रपारंगत होते हैं, कितनोंको उच्च कक्षाकी इञ्जीनियरी आती है? अपनी भाषामें जब शिक्षा हो, तब ही सच्चा विषय-ज्ञान हो सकता है, यह निर्विवाद सिद्धान्त है।

कहाँतक कहा जाय, जबतक उसमें आचार-शिक्षाकी प्रधानता न रहेगी, जबतक शिक्षित और सदाचारी ये दोनों शब्द समानार्थक न बना दिये जायँगे, जबतक शिक्षाके साथ व्यायामका समुचित प्रबन्ध कर नवयुवकोंको बलिष्ठ न बनाया जायगा, तबतक देशोन्नतिका नाम ही नाम रहेगा। यथार्थ उन्नति इन बातोंसे ही हो सकती हैं। ये सब बातें अवलम्बित हैं—पुराने आदर्शके ब्रह्मचर्याश्रमकी रक्षापर। इनके पालनसे ही चरित्र-निर्माण-का पावन कार्य हो सकता है।

यह है ब्रह्मचर्यका आदर्श। चिन्त्य है कि हमने आज उस ब्रह्मचर्याश्रमकी परिपाटीको नाटकका रूप दे दिया है। जैसे रामलीलावाले भगवान् रामचन्द्रके वर्षोंके चरित्रोंको कुछ दिनोंमें करके दिखाया करते हैं, ऐसे ही हमारे घरोंमें यह ब्रह्मचर्यकी लीला घंटोंमें ही समाप्त हो जाती है। उसी समय एक वेदीपर उपनयन और दूसरी वेदीपर समावर्तन हो जाता है। वेदका आरम्भ और उसकी समाप्ति साथ-ही-साथ होती है, लड़का पढ़ने काशी, कश्मीर चलने लगता है तो विवाह-का लालच देकर रोक दिया जाता है। ब्रह्मचर्यका नाश कर बाल-विवाहकी कुप्रथाको हमने स्थान दिया, अब बल और बुद्धि कहाँसे हो? वीर्य ही शरीरका बल है, और उससे ही आगे मन-बुद्धिकी पुष्टि होती है। इसकी रक्षापर जब प्राचीनोंका ध्यान था, बिना परिपक्व हुए स्त्रीकी इच्छातक मनमें न आने देते थे और गृहस्थाश्रममें भी सन्तानोत्पत्तिके लिये शास्त्रोक्त विधिसे ऋतु-कालमें स्त्री-प्रसङ्गके अतिरिक्त वीर्यकी पूर्ण रक्षा करते थे—तभी वह बल और बुद्धि भारतमें थी। आज वह सब कुछ स्वप्न-सा प्रतीत होता है। उनकी कथाएँ सुनकर आश्चर्य-समुद्रमें डूब जाना पड़ता है, झट उन्हें असत्य कह डालते हैं। भीष्म आचार्य

ब्रह्मचारी थे, जिन्हें आज सनातन-धर्मावलम्बी पितामह कहते हैं। वृद्धावस्थामें जिनके बलके सामने बडे-बडे तरुण वीर, भीमार्जुन-जैसे धनुर्धर हवास भूल जाते थे; जगन्नियन्ता श्रीकृष्णने भी जिनके आगे अपनी प्रतिज्ञा तोड दी, किंतु भीष्मकी, उनको शस्त्र-ग्रहण करानेकी प्रतिज्ञा न टूट सकी। टूटे कैसे? भीष्मका नियम भी कैसा दृढ था—

परित्यजेयं त्रैलोक्यं राज्यं देवेषु वा पुनः।
यद्वाप्यधिकमेताभ्यां न तु सत्यं कदाचन॥
त्यजेच्च पृथिवीगन्धमापश्च रसमात्मनः।
ज्योतिस्तथा त्यजेद्रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत्॥
प्रभां समुत्सृजेदेको धूमकेतुस्तथोष्णताम्।
त्यजेच्छब्दं तथाकाशं सोमः शीतांशुतां त्यजेत्॥
विक्रमं वृत्रहा जह्याद्धर्मं जह्याच्च धर्मराट्।
न त्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवसेयं कथंचन॥

'मै तीनों लोकोको छोड़ सकता हूँ, देवताओंका राज्य या इससे भी बड़ी कोई वस्तु हो तो उसे भी छोड़ सकता हूँ, किंतु सत्यको कदापि नहीं छोड़ सकता। चाहे पृथ्वी गन्ध छोड़ देवे, जल अपना रस छोड़ देवे, प्रकाश चाहे रूप छोड़ दे, हवाका स्पर्श चाहे पृथक् हो जाय, सूर्य चाहे कान्ति छोड़ दे, अग्नि गर्मी छोड़ दे, आकाशमें चाहे शब्द न रहे, चन्द्रमाकी किरणोंसे शीतलता निकल जाय, इन्द्र चाहे पराक्रम छोड़ देवे, धर्मराज चाहे धर्म छोड़ देवे—किंतु मैं कभी सत्य छोड़नेका संकल्प भी नहीं कर सकता।' यह थी ब्रह्मचारीकी सत्यनिष्ठा, जिससे परमेश्वर भी हार मानते थे। रोम-रोममें बाण चुभे रहनेपर भी, अनन्त रुधिरकी धारा शरीरसे गिरती रहनेपर भी जिनने धर्मका रहस्य सुनाया था। आज हम उनकी बातोका क्या विश्वास करेंगे, जिनने ब्रह्मचर्यकी कभी कदर ही न जानी। इसका विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं। सभी बुद्धिमान् ब्रह्मचर्यके लाभोको जानते व मानते हैं, किंतु आत्मिक दुर्बलताके कारण अनुष्ठान नहीं करते।

सनातनधर्मके मान्य स्मृति, पुराण सब ही ब्रह्मचर्यकी महिमा गा रहे है। भगवान् शंकराचार्यकी ब्रह्मचर्यकी कथा प्रसिद्ध है। इस गिरी दशामें भी—अविद्याका साम्राज्य होनेपर भी—बहुत-से सनातनधर्मी पण्डितोके घरोमें ब्रह्मचर्याश्रम हुआ करते थे और उनसे देशको लाभ होता था। किंतु आज भीषण-कालने वह भी न रहने दिया। फलतः चरित्रका स्तर गिर गया है। यदि हमें चरित्रको उठाना है, राष्ट्रमें चरित्रबल लाना है तो हमे ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करना होगा।

आद्य चरित्रकाव्य रामायणमें चरित्र-निर्माणके प्रेरक प्रसङ्ग

(—श्रीमज्जगद्गुरु रामानुजाचार्य वेदान्तमार्तण्ड स्वामी श्रीरामनारायणाचार्यजी महाराज)

सप्तद्वीपा वसुमतीके अन्तर्गत धर्मप्राण भारतवर्षमें ही भगवान् नारायण एवं शिवादि देवताओके अवतार होते हैं। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने चार भाइयोके रूपमें अवतीर्ण होकर वेद-प्रतिपादित समस्त धार्मिक नियमो एवं सदाचारोंका अनुष्ठान किया। मानव-जातिके सर्वाङ्गीण अभ्युदय तथा निःश्रेयसके लिये सामान्य-विशेष रूप धर्मोंको जीवनमें उतारा। वेदवेद्य परमात्मा- द्वारा मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामके रूपमें अवतरित होनेपर उनके गुणगानके लिये श्रीवाल्मीकिके द्वारा साक्षात् वेद श्रीरामायणके रूपमें प्रादुर्भूत हुए। यही महाकाव्य सब कवियोंका प्रेरणास्रोत रहा है। देवर्षि नारदसे धीरोदात्त-नायक श्रीराममें सोलह गुणोंका समन्वय सुनकर महर्षि प्रसन्न हो जाते हैं। उन गुणोंमें—'चारित्रेण च को युक्तः' इत्यादिके अनुसार 'सदाचारसम्पन्न होना' एक विशेष गुण है। सदाचार—सच्चरित्रताके आधारपर ही मनुष्योंका पशुओंसे पार्थक्य सिद्ध होता है। क्योंकि

इस महाकाव्यमें प्रमुख पात्रोंके समस्त चरित्र शास्त्रीय मर्यादामें आबद्ध आदर्श अत्यन्त समादरणीय एवं अनुकरणीय हैं ।

देशके सभी समागत सामन्तों, राजाओं तथा नगरकी सारी प्रजाओं और वसिष्ठ, वामदेव आदि गुरुजनों एवं सुमन्त आदि सचिवोंके समक्ष सर्वसम्मतिसे दूसरे दिन ही आनेवाले पुष्य नक्षत्रमें श्रीरामको युवराज-पदपर अभिषिक्त कर देनेका प्रस्ताव पारित होता है । महाराज दशरथ उन्हें बुलाकर 'श्वस्त्वामहमभिषेक्ष्यामि'—'मैं कल तुम्हें राज्यपदपर अभिषिक्त करूँगा' कहते हैं । तब वे गुरु वसिष्ठको उनके भवनपर भेजते हैं । वसिष्ठजी उन्हें सीतासहित नियमपालन एवं उपवास करनेका आदेश देते हैं । पर इधर रात्रिमें कोप-भवनके अंदर कैकेयीको सशपथ वरदान देनेके कारण राजा स्वयं किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं । प्रातःकाल बुलानेपर मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम आकर उन्हें प्रणाम करते हैं । पिताजीको उदास एवं खिन्न देख माता कैकेयीसे उसका कारण पूछते हैं । कैकेयीद्वारा 'यदि राजाकी कही हुई बात सुनकर पालन कर सको तो मैं तुमसे स्पष्ट बता दूँगी, वे स्वयं तुमसे उन अप्रिय बातोंको नहीं कहेंगे'—यह सुनकर वे कहते हैं—'अहो धिक्कार है, आपको ऐसा नहीं करना चाहिये; देवि ! मैं राजाके आदेशसे आगमें भी कूद सकता हूँ, तीक्ष्ण विषका भी भक्षण कर सकता हूँ तथा समुद्रमें भी डूब सकता हूँ ।[1] महाराज मेरे पूज्य पिता और हितैषी हैं । मैं उनकी आज्ञासे सब कुछ कर सकता हूँ, अतः देवि ! तुम राजाके मनकी बात मुझे सुनाओ । मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, उसे पूर्ण करूँगा, राम दो तरहकी बात नहीं करता ।'[2] श्रीरामकी इन प्रतिज्ञासे आजके युवकवर्गको प्रेरणा लेकर पिताकी अभीष्ट-सिद्धिके लिये रामकी तरह अपने प्राणोंकी बाजी न सही, यथाशक्ति श्रद्धा-भावना तो लगानी ही चाहिये ।

राजाने देवासुर-संग्राममें कैकेयीको दो वर दिये थे । तदनुसार कैकेयीने भरतका राज्याभिषेक एवं रामके लिये १४ वर्षोंतक दण्डकारण्यवासकी इच्छा उनके साथ रखी । श्रीरामने इसे सुनकर कहा—'मुझे एक ही दुःख है कि भरतके अभिषेककी बात महाराजने मुझसे न कही । मैं अपने भाई भरतके लिये राज्यको, सीता एवं प्रिय प्राणोंसहित सारी सम्पत्तिको भी प्रसन्नतापूर्वक स्वयं ही दे सकता हूँ । आज ही ननिहालसे भरतको बुलानेके लिये दूत भेजे जायँ । मैं अभी दण्डकारण्य जा रहा हूँ । इसपर कैकेयी कहने लगी—'राम ! जबतक तुम इस अयोध्यासे वनको नहीं चले जाते, तबतक तुम्हारे पिता स्नान और भोजन कुछ न करेंगे ।' कैकेयीके इस अप्रिय एवं कठोर वचनको सुनकर भी श्रीरामके मनमें कोई क्लेश न हुआ । वे बोले—'देवि ! मैं धन-(राज्य-) का लोभी कहलाकर संसारमें नहीं रहना चाहता । मुझे ऋषियोंकी ही भाँति शुद्ध धर्ममें पूर्ण आस्थावान् समझो ।'[3] वे सीता एवं लक्ष्मणको साथ लेकर पिताजी एवं माताओंको

१–यदि त्वभिहितं राज्ञा त्वयि तन्न विपत्स्यते । ततोऽहमभिधास्यामि न ह्येष त्वयि वक्ष्यति ॥
(वा० रा० २ । १८ । २३)

२–अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः । अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके ॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ॥
तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम् । करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते ॥
(वा० रा० २ । १८ । २८–३०)

३–नाहमर्थपरो देवि ! लोकमावस्तुमुत्सहे । विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम् ॥
(वा० रा० २ । १९ । २०)

प्रणाम करके वनको निकल पड़ते हैं। मन्त्रियोंसे सलाह लिये बिना कैकेयीको वरदान देनेकी अपनी त्रुटिपर महाराज दशरथ दुःख-संतप्त हो पश्चात्ताप करते हैं। वे श्रीरामसे कहते हैं—'वत्स ! मैं कैकेयीको दिये गये वरोंके कारण किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गया हूँ। तुम मुझे कारागारमें डालकर आज ही अयोध्याका राजा बन जाओ।'[1] इन बातोंको सुनकर भी सीता-लक्ष्मणसहित श्रीराम वनको प्रस्थित होते हैं। विचारणीय बात यह है कि महाराज दशरथ उनके वनगमनका निषेध कर रहे हैं। परंतु अपने पिता महाराज दशरथको धर्म-संकटमें देखकर विमाताके प्रति चरम निष्ठा रख वे वनवासको चल देते हैं। इस प्रकार सुन्दर युवावस्थामें दारुण क्लेशका सामना करनेके लिये श्रीरामका प्रस्थित हो जाना नवयुवकसमाजके लिये यह शिक्षा प्रदान करता है कि अपने सुख-सौभाग्य सौन्दर्य आदिपर ही ध्यान नहीं देना चाहिये, अपितु अवसर पड़नेपर अपने माता-पिताके लिये सब कुछका परित्याग कर देना चाहिये।

पिताके दिवंगत हो जानेपर अन्त्येष्टि क्रियाके पूर्ण अधिकारी होनेपर भी श्रीरामकी दृढ़ प्रतिज्ञतासे परिचित होनेके कारण उन्हें चित्रकूटसे न बुलाया गया। दस दिनोंतक व्यतीत होनेवाली दूरीवाले ननिहालसे भरतको ही बुलाया गया तथा उन्हींके द्वारा पितृकर्म कराया गया। मन्त्रियोंके सामने उस समय भरतजीके अतिरिक्त राजपदपर आसीन करने योग्य कोई दूसरा विकल्प न था। फिर भी भरत आदर्श भ्रातृप्रेम और परम्परागत धार्मिक कुल-मर्यादाकी सुरक्षा-हेतु राजकीय वैभवके साथ वनमें जाकर वहीं श्रीरामको राजपदपर अभिषिक्तकर लौटा लानेके लिये गुरुजनो, सचिवों एवं प्रमुख नागरिकों-सहित चित्रकूटके लिये प्रस्थान करते हैं। बीचमें श्रीरामका अभिन्न मित्र निषादराज मनमें यह सोचकर कि श्रीरामसे युद्ध करके उन्हें समाप्तकर निष्कण्टक राज्यकी इच्छासे तो कहीं भरत वन नहीं जा रहे हैं, मार्ग रोकता है। किंतु उनके सम्पर्कमें आनेपर जब उसे पता लगता है कि ये तो श्रीरामको राजा बनाने-हेतु उनकी अनुनय-विनय कर उन्हें लौटानेके लिये जा रहे हैं, तब भरतजीकी श्रीरामके प्रति अनुकरणीय भ्रातृभक्तिसे प्रभावित होकर वह कह उठता है—'भरतजी ! आप धन्य हैं, आप-जैसा छोटा भाई मुझे भूमण्डलके साद्यन्त इतिहासमें कहीं भी नहीं दिखता। जिस चक्रवर्ती साम्राज्यके लिये बड़े-बड़े लोग जीवनभर संघर्ष करते हैं, ऐसे अनायास-प्राप्त महनीय साम्राज्यका आप त्याग कर रहे हैं।'[2]

भरतकी अपार सेनाको देखकर भरद्वाज-जैसे तपोधन महर्षिको भी यह शङ्का हो जाती है कि सम्भवतः दुर्भावनासे ही भरत वनमें रामकी ओर जा रहे हैं, परंतु जब भरतजीद्वारा उनके हृदयका परिचय प्राप्त कर लेते हैं तो वे अत्यन्त प्रसन्न होते हैं तथा भरतजीका आतिथ्य आधिदैविक शक्तियोंद्वारा करते हैं।

वहाँसे अब वे सैनिकों, परिजनों एवं गुरुजनोंके साथ दुःखसे संतप्त होकर चित्रकूटकी ओर चलते हैं तो अपने साथ चलनेवाले दुःखसन्तप्त लोगोंको सान्त्वना प्रदान करते हुए कहते हैं कि आपलोग चिन्ता न करें—

> यावन्न चरणौ भ्रातुः पार्थिवव्यञ्जनान्वितौ।
> शिरसा प्रग्रहीष्यामि न मे शान्तिर्भविष्यति॥
> (वा० रा० अयो० ९८। ९)

'जबतक मै ज्येष्ठ भ्राता राघवेन्द्र श्रीरामके राजकीय चिह्नचिह्नित चरणोंको अपने सिरपर नहीं धारण कर

१–अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः। अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम्॥
(वा० रा० २। ३४। २६)

२–धन्यस्त्वं न त्वया तुल्यं पश्यामि जगतीतले। अयत्नादागतं राज्यं यस्त्वं त्यक्तुमिहेच्छसि॥
(वा० रा० अयो० ८५। १२)

दूँगा, तबतक मुझे शान्ति न मिलेगी। जबतक पिता-पितामहके राज्यपर उसके वास्तविक अधिकारी श्रीराम प्रतिष्ठित होकर अभिषेकके जलसे आर्द्र न हो जायँगे, तबतक मेरे मनको शान्ति नहीं।' इस प्रकार उन्हें राजा बनानेके उद्देश्यसे जब भरतजी चित्रकूट पहुँचते हैं, तब वसिष्ठ आदि गुरुजनों, मन्त्रियों और प्रजाजनोंके बीच अनुनय-विनय करते हुए श्रीरामसे राजा बनने एवं अयोध्या लौट चलनेके लिये उनकी शरणागति करते हुए कहते हैं—'इन मन्त्रियोंके साथ मैं आपका छोटा भाई शिष्य एवं क्रीत साष्टाङ्ग प्रणामपूर्वक याचना करता हूँ—'रघुकुलकी मर्यादा एवं धर्मके अनुसार बड़ा भाई ही राज्यका अधिकारी होता है। आप मेरी माँग पूरी करें।' पर उनके तर्कको श्रीरामने स्वीकार नहीं किया और कहा—'पिताजीने मुझे वनवास दिया है, मुझे उनकी आज्ञाका पालन करना है। तुम्हें भी उनकी आज्ञा माननी चाहिये। अतः चौदह वर्षोंतक तुम राज्यकार्य करो। मैं उसके बाद ही अयोध्या लौट सकूँगा। सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामकी यह बात सुनकर जब किसी भी स्थितिमें उन्होंने श्रीरामको अयोध्या लौटते हुए न देखा, तब स्वर्णभूषित चरणपादुकाको श्रीरामजीके समक्ष श्रीभरतजीने रख दिया तथा कहा—'आप इनपर अपने चरणोंको रख दें; इन्हें ही राज्यका अधिकार दें। ये ही सम्पूर्ण जगत्‌के योग-क्षेमका भार वहन करेंगी।' श्रीरामने वैसा ही कर दिया। श्रीभरतजीने पादुकाको प्रणामकर श्रीरामसे कहा—'मैं चौदह वर्षोंतक जटा-वल्कल धारणकर फल-मूलपर ही जीवन व्यतीत करता हुआ आपकी प्रतीक्षामें नगरके बाहर ही रहूँगा।' श्रीरामचन्द्रजीने भी 'अच्छा' ऐसा कहकर स्वीकृति दे दी। भरतजी प्रसन्न होकर चरणपादुकाको सिरपर रख प्रसन्नतापूर्वक शत्रुघ्नसहित रथपर बैठ गये तथा वसिष्ठ वामदेवादिको आगे कर अयोध्याकी ओर चल दिये।

अयोध्या लौटते समय भरतजी भरद्वाज महर्षिके आश्रमपर पहुँचते हैं। भरद्वाजजी जब उन्हें मस्तकपर चरणपादुका धारण किये देखते हैं तो उनकी भ्रातृभक्ति एवं कुलमर्यादाकी निष्ठाको सोचकर कहते हैं—'तुम्हारे पिता महाराज दशरथ सभी प्रकारसे उऋण हो गये, जिनको तुम्हारे समान धर्मप्रेमी एवं मूर्तिमान् धर्मस्वरूप पुत्र है।' इस प्रकार भरद्वाज महर्षिसे प्रशंसित हो चरणपादुकाको ले जाकर राजसिंहासनपर प्रतिष्ठित कर वे स्वयं भोगोंसे बहुत दूर रहकर सचिवकी भाँति चौदह वर्षोंतक राज्यका संचालन करते हैं। भरतके इस लोकोत्तर भ्रातृप्रेम, आदर्श चरित्रको आजका भौतिकवादी मनुष्य यदि अपनी बुद्धिका विषय एवं अपने आचरणका लक्ष्य बना ले तो देशमें हो रहे गृहकलहको कहीं स्थान न मिले।

बहुतसे भक्त भगवत्सौन्दर्योपासक, बहुतसे श्रीविग्रहके उपासक, बहुतसे गुणके उपासक होते हैं, परंतु भरतजी भगवान् श्रीरामकी चरणपादुके उपासक थे, जिससे उनकी दूरदर्शिताका प्रमाण मिलता है। चरणपादुकाका राज्य इक्ष्वाकुकुल-परम्पराका एक आदर्शभूत निरुपद्रुत राज्य था। कोई भी नरेश इस दृष्टिसे भी उन दिनों आक्रमण नहीं कर सकता था कि शत्रुकी खड़ाऊँसे जाकर कौन टकराये? श्रीरामसे सम्बन्धित चरणपादुकाकी सेवा करनेके कारण ही उन्हें विशेषतर धर्म-पालकके रूपमें स्वीकार किया जाता है।

लक्ष्मणको विशेष धर्मका उपासक इसलिये कहा गया कि पिताके जीवित रहते हुए श्रीरामको परब्रह्म परमात्माकी भावनासे अनन्य अनुरागी बन उन्हींको अपना सर्वविध बन्धु समझकर उनकी उपासनामें अपने सम्पूर्ण जीवनको समर्पित कर दिया। गङ्गा पार करनेके बाद श्रीरामने लक्ष्मणजीको माताके सुरक्षाहेतु लौट जानेका विशेष आग्रह किया, जिसे सुनकर लक्ष्मणजीने उत्तर दिया—'ज्ञात होता है आप ऊपरी मनसे अयोध्या लौट जानेके लिये कहते हैं। हृदयसे जिस दिन आप

मेरा और सीताजीका परित्याग कर देंगे, उस दिन हमलोग जलसे विलग हुई मीनके समान मुहूर्त्तमात्र भी जीवित न रह सकेंगे।'[1] लक्ष्मणके इन भावोंको माँ सुमित्रा समझती थीं, इसीलिये उन्होंने वनवासके लिये जाते समय लक्ष्मणसे कहा था—'तात! तुम्हारी सृष्टि वनवासके लिये ही हुई है; क्योंकि रामके अनन्य अनुरागी होनेके कारण उनसे अलग होकर तुम नहीं रह सकते। जब राम वन जा रहे है, ऐसी स्थितिमें तुम भी उनके साथ अवश्य जाओ और ध्यान रखना कि श्रीरामके वनमे चलते समय उनके गमन-सौन्दर्यपर ही कहीं ध्यान न चला जाय अन्यथा आगे-पीछे चलकर कण्टकाकीर्ण मार्गमें उनकी सेवा नहीं कर सकोगे।'[2] लक्ष्मणकी इस अनन्य प्रीतिके कारण ही श्रीराम कभी अपनेसे अलग नहीं करते थे। लक्ष्मणजीके बिना पुरुषोत्तम श्रीराम न तो निद्रा ही लेते थे और न ही मधुर-मिष्टान्न सेवन करते थे। खेल-कूदमें भी लक्ष्मण विपक्षीदलमे नहीं रहते थे। कहीं भी जाते समय वे उनका अनुगमन किया करते थे।

विशेषतम धर्मका पालन करनेवाले वे भगवद्भक्त होते हैं, जो भगवान्‌के भक्तोंकी परिचर्यामे ही अपना, सर्वस्व समर्पित कर देते हैं। भरतजीके ननिहाल जाते समय शत्रुघ्नजी उनके साथ होते है। १२ वर्षों तक उनके साथ ही रहते हैं तथा साथ ही लौटते भी है। वे उनसे कभी भी वियुक्त नहीं रहना चाहते। भक्तिकी दो धाराएँ है—१—भगवत्-चरणारविन्दोमे अनुराग तथा २—भागवत-चरणारविन्दोमें अनुराग। भक्तिस्वरूपा सुमित्रा माँ दो पुत्रोको उत्पन्न कर एकको तो भगवान्‌के चरणों तथा दूसरेको (शत्रुघ्नको) भगवद्भक्त भरतके चरणोंमें अर्पित कर अपनेको धन्य एवं भाग्यशालिनी मानती हैं।

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामकी अनपायिनी पत्नी सीताजीने, जैसा श्रीरामका अनुगमन किया, अन्यत्र कहीं किसीके प्रसङ्गमें ऐसा दृष्टान्त देखनेको नहीं मिलता। लङ्काकी अशोकवाटिकामें १० महीनोतक निवास करनेपर भी सुवर्णमयी लङ्का, नन्दनवनोपम सुषमा तथा भयङ्कर राक्षसियोकी विकराल वासनाओंसे भी विचलित न होकर अपने सतीत्वपर ही अचल-प्रतिष्ठ रहीं। श्रीरामके द्वारा प्रेषित हनुमान्‌से संवाद एवं अशोकवाटिका-विध्वंसके पश्चात् लङ्कादहनके प्रसङ्गमें एक राक्षसीके द्वारा जब संवाद पहुँचानेवाले लाल मुखवाले बन्दर-(हनुमान्-) की पूँछमें आग लगा दिये जानेका समाचार प्राप्त करती हैं तब सीताजी अपने अमोघ चारित्रिक बलका परिचय देते हुए कहती हैं—

यद्यस्ति पतिशुश्रूषा यद्यस्ति चरितं तपः।
यदि वा त्वेकपत्नीत्वं शीतो भव हनूमतः॥
(वा० रा० सु० ५३। २७)

'अग्निदेव! यदि मैंने पतिकी सेवा की है और यदि मुझमे कुछ भी तपस्या तथा पातिव्रत्यका बल है तो तुम हनुमान्‌के लिये शीतल हो जाओ।' उनके ऐसा कहते ही हनुमान्‌की पुच्छकी आग बर्फके समान ठण्ढी हो गयी।

सीताजीके इस आदर्श पातिव्रत्यसे आधुनिक नारियोको शिक्षाग्रहण करनी चाहिये। आज भी मन, वाणी, शरीरसे नारियाँ पतिकी सेवा करें तो वह सतीत्वकी शक्ति प्राप्त करने तथा अग्निको शीतल करने, सूर्यके रथको रोक देनेके चमत्कार उनके समक्ष

१—न च सीता त्वया हीना न चाहमपि राघव। मुहूर्तमपि जीवावो जलान्मत्स्याविवोद्धृतौ॥
(वा० रा० अयो० ५३। ३)

२—सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने। रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति॥
(वा० रा० अयो० ४०। ५)

हाथ जोड़कर दासकी तरह एक पंक्तिमें खड़े हो सकते हैं।

वनमें राज्य करते हुए श्रीरामने लोकापवादके भयसे भगवती सीताका परित्याग कर गर्भिणी-अवस्थामें ही वाल्मीकिके आश्रमपर आज्ञाकारी लक्ष्मणद्वारा जब भेज दिया उस समय सीताजीने कहा—'लक्ष्मण! आज ही मैं तुम्हारे समक्ष गङ्गाजीमें कूदकर प्राणोंका परित्याग कर देती, परंतु मैं इसलिये ऐसा नहीं कर रही हूँ कि मेरे नष्ट होनेपर रामका वंश सदैवके लिये नष्ट हो जायगा।'

इस घटनासे आजकी नारियोंको शिक्षा लेनी चाहिये कि किसी विषम परिस्थितिके कारण यदि पत्नीका परित्याग भी पति कर देता है तो पत्नीको चाहिये कि उस समय वह पतिके गौरव, उसके वंश एवं सास-ससुरालकी कुलमर्यादाओंकी रक्षा करे तथा समाजके समक्ष एक आदर्श नारीके रूपमें उपस्थित हो।

मानवके चरित्रका उत्थान एवं पतन उसके मनपर आधृत है

(—अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य श्री श्रीजी, श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्यजी महाराज)

अनन्तकृपाकोश भगवान् श्रीसर्वेश्वरके कृपाप्रसाद एवं जीवके बहुजन्मार्जित पुण्योंके फलस्वरूप उसे देवदुर्लभ मानवशरीर उपलब्ध होता है। ऐसे दुष्कर मानवशरीरमें यदि सच्चारित्र्यका दर्शन न हो तो यह मानवताका वास्तविक स्वरूप नहीं है। उज्ज्वल-चारित्र्य ही मानवताका द्योतक है। इसीसे उसके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान जाना जा सकता है। केवल उदर-पोषणादि कार्य उसके 'इदमित्थम्' लक्ष्य नहीं है। यह सब तो समस्त प्राणि-मात्रमें भी विद्यमान है।

देवर्षिवर्य्य श्रीनारदजीने अपने 'नारदभक्ति-सूत्र'में 'लोकोऽपि तावदेव किंतु भोजनादिव्यापार-स्त्वाशरीरधारणावधिः'—इस सूत्रके उत्तरार्द्धवचनसे भोजनादि व्यापारको जबतक प्राकृतिक शरीर है, ताव-न्निखिल प्राणियोंके जीवननिर्वाहका एक साधन बताया है; क्योंकि इसके बिना जीवनका स्थिरत्व नहीं होता। परंतु भोजनादि व्यापारको जीवनका मूल लक्ष्य नहीं माना जा सकता। जीवनका प्रमुख उद्देश्य है—अपने सत्स्वरूपमें प्रतिष्ठित रहकर विवेकपूर्वक वेदादिशास्त्रानुमोदित धर्मका अनुपालन और यही सच्चारित्र्यका भी वास्तविक स्वरूप है—यह 'धर्मं चर', 'सत्यं वद', 'नानृतम्', 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः', 'मातृदेवो भव', पितृदेवो भव', 'आचार्य-देवो भव',—'मातृमान्-पितृमान्—आचार्यवान् पुरुषो वेद' इत्यादि औपनिषद्-वचनोंसे स्पष्ट ही है। 'ईशावास्योपनिषद्'के इस प्रथम मन्त्रसे कितना सुन्दरतम उद्बोधन मिल रहा है कि—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

विविध विचित्र संस्थान-सम्पन्न चेतनाचेतनात्मक इस अनन्त जगत्में जो भी कुछ समग्र दृष्टिगत हो रहा है, वह उन्हीं निखिलजगदभिन्ननिमित्तोपादानकारण, क्षराक्षरातीत, जगजन्मादिहेतु, सर्वद्रष्टा, सर्वनियामक, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक भगवान् सर्वेश्वरसे ही ओत-प्रोत है। अतः इन अनन्तकृपासिन्धु अकारणकरुणा-वरुणालय श्रीप्रभुसे प्रदत्त वस्तुका ही सेवन करें। इतर जनोंके धनादि पदार्थोंकी लिप्सा न करें। विष्णुपुराणकी यमगीतामे भी उपर्युक्त प्रकथनका बड़ा सुन्दर निदेश है—

हरति परधनं निहन्ति जन्तून्
वदति तथानृतनिष्ठुराणि यश्च।
अशुभजनितदुर्मदस्य पुंसः
कलुषमतेर्हृदि तस्य नास्त्यनन्तः॥
न सहति परसम्पदं विनिन्दां
कलुषमतिः कुरुते सतामसाधुः।
न यजति न ददाति यश्च सन्तं
मनसि न तस्य जनार्दनोऽधमस्य॥

'जो दूसरोंका धन हरण करता है, पशु-पक्षी आदि जीवोंकी हिंसा करता है तथा असत्य-भाषण और कठोर वचन बोलता है, ऐसे अशुभकर्मजनित दुर्मदान्ध पापमति पुरुषके हृदयमें अनन्तस्वरूप भगवान् श्रीसर्वेश्वर निवास नहीं करते। जो असाधु पापबुद्धि दूसरोंकी सम्पत्ति चुराता या लूट-खसोट करता है एवं पुण्यश्लोक साधु पुरुषोंकी निन्दा करता है, न तो यज्ञादि उत्तम कर्म करता है तथा न किसी प्रकारका दान ही करता है, ऐसे अधम पुरुषके मनमें जनार्दन भगवान् श्रीराधामाधव कभी निवास नहीं करते।'

इस प्रकार शास्त्रोंके अगणित वचन सच्चारित्र्य या धर्मकी ओर अग्रसर होनेका उपदेश करते हैं। धर्मविमुख उत्तमकर्तव्यपराङ्मुख मानव कथमपि सुख-शान्तिकी अनुभूति नहीं कर सकता। धर्म-सेवनसे ही उसके जीवनमें सच्चारित्र्यका उदय हो सकता है। धर्माभिरुचि एवं पवित्र चरित्रसंवलित जीवन तभी सम्भव है, जब मानवका मन इस ओर प्रवृत्त हो। मनुष्यका मन बड़ा चञ्चल है। इसीके कारण वह बन्धन एवं मोक्षको प्राप्त होता है—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।' अभ्यास-वैराग्यसे इसका निरोध होता है (योगदर्शन २ । ५, गीता ६ । ३५)। श्रीमद्भागवतमें भी 'मनःपूतं समाचरेत्'का आदेश है। श्रीमद्भागवतमें ही जगन्नियन्ता भगवान् श्यामसुन्दर श्रीगोविन्दने उद्धवको उपदेश करते हुए अवन्तिकापुरीके द्विजके द्वारा—जिसने जागतिक पीड़ाओंसे त्रस्त होकर वैराग्य धारण किया था, अनुभूतिपूर्ण मनोरूप निदेशक विचार व्यक्त कराये हैं, वे सदा हृदयमें अवधार्य हैं। इनमेंसे कुछ इस प्रकार हैं—

'मेरे सुख-दुःखके हेतु न तो ये मनुष्य और न देवता ही तथा न यह शरीर एवं न ये ग्रह, कर्म, कालादिक ही हैं। वेद-वचन और सन्तवचन मनको ही प्रमुख कारण मानते हैं और इस सारे संसार-चक्रको मन ही प्रेरित करता है। यथार्थमें यह मन प्रबल पराक्रमी है। इसीने विषय एवं कर्मके कारण गुणों तथा तत्सम्बन्धी वृत्तियोंकी उत्पत्ति की है और उन वृत्तियोंके तत्सम ही सात्त्विक, राजस, तामस आदि विविध प्रकारके कर्म हैं—

'मनः परं कारणमामनन्ति
　　संसारचक्रं परिवर्तयेद् यत्॥
मनो गुणान् वै सृजते बलीय-
　　स्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि।
(श्रीमद्भा० ११ । २३ । ४३-४४)

उन कर्मोंके क्रमानुसार ही प्राणीकी नानारूपसे गतियाँ होती रहती हैं—समग्र चेष्टाएं मन ही किया करता है। सर्वदा उसके सङ्ग रहनेपर भी ज्ञानशक्ति-प्रमुख यह आत्मा निष्क्रिय ही है। जब वह मनके अनुकूल होकर विषय-भोक्ता बन जाता है, तब वह कर्मोंके साथ तीव्रासक्ति होनेसे उनसे बँध जाता है। दान, स्वधर्मपालन, नियम, यम, वेदाध्ययन, सत्कर्म तथा ब्रह्मचर्यादि उत्तम व्रतोंका सर्वान्तिम फल यही है कि मन तन्मय होकर श्रीहरिमें प्रवृत्त हो जाय। ऐसा समाहित मन ही उच्चतम योगका परिणाम है। जिसका मन सर्वदा शान्त और समाहित है, उसे दानजनित सम्पूर्ण सत्कर्मोंका फल मिल गया। इसलिये अब उसे कुछ प्राप्त करना शेष नहीं है। और, जिसका मन अस्थिर है अथवा आलस्यपूर्ण है, उसे इन दानादिक श्रेष्ठ कर्मोंसे अद्यावधि कुछ भी लाभ न मिला। समस्त इन्द्रियाँ मनके वशीभूत हैं। किंतु मन किसी भी इन्द्रियके वशमें नहीं है। वस्तुतः यह मन बड़ा ही प्रबल एवं अतिभयकर देव है। इसको वशमें करनेवाला इन्द्रियसमूहका परम विजेता ही वास्तवमें देव-देव है—

दानं स्वधर्मो नियमो यमश्च
　　श्रुतं च कर्माणि च सद्व्रतानि।
सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ताः
　　परो हि योगो मनसः समाधिः॥
मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा
　　मनश्च नान्यस्य वशं समेति।

भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्
युञ्ज्याद् वशे तं स हि देवदेवः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २३ । ४६, ४८)

वस्तुतः मानवके चरित्रनिर्माणमें प्रमुखतया मूल है— उसका मन । यदि उसका यह मन शास्त्रव्यवस्थानुकूल व्यवस्थित है, नियन्त्रित है, धर्मरत है, तो फिर उसके चरित्रमें किसी भी प्रकारका विकार नहीं आ सकता । पर च कथंचित उसका चञ्चल मन विविध विकारपुञ्ज-जन्य अविचारझंझावात समाक्रान्त है तो फिर स्वाभाविक है कि उसका चरित्र भी अपावन, अनाचरणीय विकृत और अति निन्दनीय बन जाता है । इसीलिये इन समग्र दृष्टियोंने चरित्र-निर्माणमें मन ही नितान्तरूपसे प्रमुख आधार है । तभी तो श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीप्रभुने अर्जुनको—'मन्मना भव मद्भक्तः', 'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते', 'मय्येव मन आधत्स्व' इत्यादि वचनोंसे मन-विषयक उपदेश किया ।

अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीसुदर्शनचक्रावतार श्रीमन्निम्बार्क भगवान्ने अपने 'ब्रह्मसूत्र'के 'वेदान्त-पारिजात-सौरभ' भाष्यमें एवं आपहीके पट्ट शिष्य श्रीनिवासाचार्यजीने 'वेदान्तकौस्तुभ भाष्यके आनुमानाधिकरण प्रकरणमें कठोपनिषद्के (१ । ३-३-९) मनोविषयक औपनिषद मन्त्र उद्धृत किये हैं; वे मननीय हैं—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

सभी शास्त्रोंने सर्वकारण-कारण इस मनको ही निश्चित किया है । प्रत्यक्षमें भी अनुभवदृष्टिसे सुस्पष्ट है कि सर्वदा-सर्वत्र क्षेत्रमें मन ही सर्वेन्द्रियोंका एकमात्र आधार है । 'अध्यात्मरामायण'के उत्तरकाण्डमें शरणागत-वत्सल भगवान् श्रीराम लक्ष्मणजीको उपदेश करते हैं—

विविक्त आसीन उपारतेन्द्रियो
विनिर्जितात्मा विमलान्तराशयः ।
विभावयेदेकमनन्यसाधनो
विज्ञानदृक्केवल आत्मसंस्थितः ॥
(अध्या० रा० उ० का० स० ५, श्लो० ४६)

परमात्मचिन्तनपरायण मुमुक्षु साधकका कर्तव्य है कि वह एकान्तस्थलमें इन्द्रियोंको विषय-रहित कर अन्तःकरणको अधीन कर आत्मामें स्थित हुआ इतर साधना-रहित विशुद्ध चित्तसे केवल ज्ञानदृष्टिके द्वारा एकमात्र परमात्माकी ही भावना करे । 'अध्यात्मरामायण'के अरण्यकाण्डमें भी कबन्धने गन्धर्वरूप धारण करनेके बाद विनयावनत हो भगवान् श्रीरामचन्द्रकी स्तुति करते हुए मनको श्रीप्रभुके स्वरूपचिन्तनमें अग्रसर करनेपर ही इङ्गित किया है—

यदस्मिन् स्थूलरूपे ते मनः संधार्यते नरैः ।
अनायासेन मुक्तिः स्यादतोऽन्यन्नहि किंचन ॥
(अध्या० रा० अ० का० स० ९ श्लो० ४६)

'यदि मानव आपके मङ्गलमय अनुग्रह-विग्रहरूपमें अपने मनको प्रवृत्त कर दे तो वह बिना प्रयासके मोक्षको प्राप्त हो जाता है । अतः हे राम ! आपके इस नयनाभिराम मनोहर मङ्गलमय स्वरूपके अतिरिक्त और कोई भी पदार्थ नहीं है ।' 'श्रीरामचरितमानस'में भगवान् श्रीराम अपने प्रिय सखा श्रीसुग्रीवजीको उपदेश कर रहे हैं—

निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा ॥

श्रीमानसमें ही अन्यत्र जीवके मनमें रहनेवाली ममता आदिकी आलोचना है—

ममता तरुन तमी अँधिआरी। राग द्वेष उलूक सुखकारी ॥
तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रबि नाहीं॥
(श्रीराम च० मा० ५ । ४६)

श्रीनिम्बार्कपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीमत्परशुरामदेवाचार्यजी महाराजने अपने 'परशुराम-सागर'में मनोविषयक श्रेष्ठ उपदेश दिया है—

मनही चञ्चल मन चपल, मन राजा मन रंक।
परसा मन हरि सौं मिले, तौ हरि मिले निसंक॥

इसी प्रकार श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यजी महाराजने भी अपनी सरस वाणीमें मनको सावधान किया है—

मनुवाँ हरि हरि हरि भजन भला।
धूम धाम मैं द्यौस गमायौ यह जग-धन्धा जला॥
सुत बन्धू सब स्वारथ पागे तू क्यों जाय रला।
गोविंदसरन चित चेत सबेरा क्यों दुख लेत डला॥
(श्रीगोविन्दशरणदेवाचार्यवाणी-पृ०२८ प० १००)

रसिक भक्तशिरोमणि किशनगढ़के महाराज श्रीनागरीदासजीने अपनी बृहद् 'वाणी'में मनकी स्थितिका बड़ा भावग्राही चित्रण किया है। वे कहते हैं—

पाप सपीटत जनम गयो।
चित तैं थकि विश्राम न कीनो अधिक-अधिक दुख भयो॥
ज्यौं-ज्यौं तन यह जीरन है हीं मन है नयो-नयो।
नागरीदास बसो वृन्दावन नित सुख रहै छयो॥
(श्रीनागरीदास वाणी-पृ० २११ प० ५७)

तात्पर्य यह कि सर्वविधरूपसे इस विषयासक्त चञ्चल मनका पूर्ण निग्रह किया जाय। निगृहीत मन मानवके चरित्र-निर्माणमें सहायक होगा। आजके युगमें मानवके निर्मल चरित्रका जो अभाव हो रहा है, इसके मूलमें कारण मनकी उच्छृङ्खलता ही है। यदि मन व्यवस्थित एवं सुनियन्त्रित है तो उज्ज्वल चरित्रका निर्माण स्वाभाविक है। अतः शास्त्रोंके चिन्तन-मनन एवं महापुरुषोंके सत्सङ्गमें रहकर स्थिर-बुद्धिसे मनको पवित्रतापूर्वक सर्वेश्वर श्रीराधामाधव प्रभुके पदाम्भोजमकरन्द पानेके लिये अग्रसर करें। स्वतः ही हमारा चरित्र पवित्र होकर आदर्शरूप बन जायगा। यही सर्वात्मना आचरणीय है।

मानवके लिये आचरणीय कर्तव्य

(—नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय श्रीभाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

परब्रह्म परमात्मा सबमें निर्दोष तथा समभावसे सदा स्थित है। परंतु व्यवहार-संसारमें भेद अनिवार्य है। विशाल हाथीका आकार बहुत बड़ा है और नन्हीं-सी चींटीका बहुत ही छोटा। हाथी और गायका आहार है—घास-पात, अन्न; मछली आदिका जल और श्वापदोंका मांस आदि। हाथीके आहारका परिमाण भी विशाल है और क्षुद्र चींटीका आहार अत्यन्त अल्प। हाथीपर राजा-महाराजा सवार होकर गौरव-लाभ करें, गायपर सवारी करनेमें पापकी भीति रहे और कहीं कुत्तेकी सवारी करनेको कह दिया जाय तो घोर अपमानका बोध हो—और कुत्तेकी सवारी सम्भव भी नहीं। गायका दूध भी सदाचारी लोगोंको अत्यन्त प्रिय और पुष्टिकर, पर कुतियाका दूध किसीको प्रिय नहीं। गो-दुग्धके बदलेमें किसीको कुतियाका दूध पीनेकी बात कहकर देखा जाय, उसको कितना अप्रिय लगेगा। हाथीकी बड़ी कीमत, चींटी बेचारीकी कोई कीमत नहीं, कहीं आ जाय तो निकालकर दूर फेंकनेका सहज प्रयत्न। विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण सनातन शास्त्रानुसार सबका पूज्य और चाण्डालमें पूज्यताका अभाव। ब्राह्मणमें सहज सात्त्विक भाव तथा चाण्डालमें सहज तामसिक भाव। इनके आकार-प्रकार, आचार-विचार, आहार, उपयोग, मूल्य, सम्मान, उपकारिता आदिमें पर्याप्त अन्तर है। इन्हें कभी कहीं मिटाया ही नहीं जा सकता। पर आत्मभावसे ये सब सर्वत्र समान हैं। जो आत्मा हाथीमें, वही चींटीमें, वही ब्राह्मणमें, वही चण्डालमें, वही गौमें और वही कुत्तेमें भी वर्तमान है।

देश-जाति या व्यक्तिविशेषमें आचार-व्यवहारका भेद रहता है। इन भेदोंको कभी भी मिटाया नहीं

जा सकता। सबके शरीरका गठन एक-सा नहीं, सबका रूप भी एक-सा नहीं, सबका स्वभाव, सबकी बुद्धि, सबमें प्रज्ञाका प्रकाश समान नहीं। सबकी प्रतिभा एक-सी नहीं, सबमें भाषणपटुता एक-सी नहीं, सबकी रुचि एक-सी नहीं और सबकी पाचन-शक्ति भी एक-सी नहीं है। ऐसी दशामें सब बातोंमें सर्वत्र सम व्यवहार-की सम्भावना निरा-पागलपन है। सृष्टिकी उत्पत्ति ही तब होती है, जब प्रकृतिके गुणोंमें विषमता आ जाती है और जबतक सृष्टि है, तबतक विषमताका रहना सर्वथा अनिवार्य है। प्रकृति, स्वभाव, व्यवहार आदिकी इस अनिवार्य विषमतामें भी जो समता देखता है, व्यवहार-भेद होनेपर भी जिसके मनमें राग-द्वेष या मोह-घृणाका अभाव है, देश, जाति, व्यक्ति, योनि आदि तमाम भेदोंको जो एक ही शरीरके विभिन्न अङ्गों तथा अवयवोंके भेदोंकी भाँति मानकर सबके सुखमें सुखी तथा सबके दुःखमें दुखी होकर यथायोग्य तथा यथासाध्य अपने—निजके दुःख-निवारणकी भाँति ही दूसरोंका दुःख-निवारण तथा अपने—निजके सुख-सम्पादनकी भाँति ही दूसरोंका सुख-सम्पादन करता है—वही यथार्थ मानव है।

मानव-नामधारी प्राणी जब अनेक नाम-रूपोंमें अभिव्यक्त प्राणियोंको एक आत्मभावसे न देखकर पृथक्-पृथक् देखता है, तब अपने और पराये सुख-दुःख-को भी पृथक्-पृथक् मानता है। इससे वह अपने दुःख-निवारण तथा अपने सुख-सम्पादनके लिये सचेष्ट और सक्रिय होता है और यह व्यष्टि-सुखसंचयकी इच्छा तथा प्रयत्न दूसरोंके सुखहरण और घोर दुःखोत्पादनका कारण बनता है। जितना-जितना मानवका 'स्व' संकुचित होता है, उतना-उतना ही उसका स्वार्थ संकुचित होता है तथा जितना-जितना 'स्व' विस्तृत होता जाता है, उतना-उतना ही स्वार्थ भी महान् होता जाता है। संकुचित स्वार्थ एक स्थलपर एकत्र पड़े जलकी भाँति सड़ जाता है, उसमें दुःखरूपी कीड़े पड़ जाते हैं और विस्तृत स्वार्थ प्रवाहित जलधाराकी भाँति पवित्र, कीटाणुरहित, नीरोग होकर सबको स्वास्थ्य-सुख प्रदान करता है। जब मानवका 'स्व' व्यापक, विस्तृत होकर प्राणिमात्रमें फैल जाता है, तब उसे सर्वत्र एकात्मभावके दर्शन होते हैं। तब व्यवहारमें भेद रहते हुए भी उसके पृथक् व्यवहार-भेदके विभिन्न अवयवोंके समान हित करने तथा उसको समान सुखी करनेवाले शरीरधारीकी भाँति प्राणिमात्रके लिये हितकर तथा सुखोत्पादक हो जाते हैं। अखिल विश्व-ब्रह्माण्डका सुख और हित ही उसका सुख और हित बन जाता है। संसारमें जो भय, संदेह, उपद्रव, अशान्ति, दुःख, क्लेश आदिका उद्भव तथा विस्तार होता है, इसमें प्रधान कारण इस 'स्व' का—'मैं' का संकोच ही है। एक शरीर और नामसे जकड़ा हुआ 'मैं' दूसरोंके लिये भयानक भय और दुःखोंकी सृष्टि करता रहता है और यह दुःख-परम्परा संकुचित 'स्व'के साथ सुदूर कालतक चलती रहती है। मानव-शरीर ही इसीलिये दिया गया है कि वह सब प्राणियोंको अपनी आत्मा समझे और अपनी आत्माको सब प्राणियोंमें देखे तथा इस एकात्म-ज्ञानके साथ 'आत्मौपम्य' व्यवहार कर सुख-शान्ति देता तथा प्राप्त करता हुआ अन्तमें भगवान्‌को प्राप्त हो जाय। इस प्रकार जगत्‌के लघु-विशाल समस्त प्राणियोंमें आत्मानुभूति कर सबको सुख पहुँचानेका प्रयत्न करनेवाला सच्चरित्र मानव 'ज्ञानी मानव' है। उसकी मानवता यथार्थ तथा धन्य है।

उसकी एक दूसरी सुन्दर अनुभूति है। इस अनुभूतिमें हम सभी प्राणियोंमें अपने परम इष्टदेव, अपने परमाराध्य श्रीभगवान्‌के दर्शन करते हैं तथा इस दृष्टिसे प्राणिमात्रको सदा-सर्वदा परम पूज्य, परम सम्मान्य, परम आदरणीय तथा नित्य सेवनीय मानते हैं। ऐसा चरित्र-निष्ठ अपनेको अनन्य सेवक और प्राणिमात्रको अपने स्वामी श्रीभगवान्‌का स्वरूप समझकर सदा सबके

नमस्कार, पूजन तथा सेवामें लगा रहता है। सबके सामने सदा नत रहकर अत्यन्त विनय-विनम्रताका व्यवहार करता है, सबका सम्मान-सत्कार करता है और अपने सब कुछको भगवान्‌की सम्पत्ति मानकर सर्वस्वके द्वारा उनकी सेवा करता रहता है। इस सेवा-स्वीकारको वह उनकी कृपा मानता है। सेवा-बुद्धि प्रदान करने, सेवामें निमित्त बनाने तथा सेवा स्वीकार करनेमें भगवान्‌की कृपाको ही कारण समझकर वह सदा-सर्वदा कृतज्ञ हृदयसे श्रीभगवान्‌का स्मरण-चिन्तन करता रहता है। उसके पवित्र तथा मधुर अन्तःकरणमे सदा निर्मल समर्पणकी पवित्र मधुर सुधा-धारा बहती रहती है। वह केवल चेतन प्राणीमें ही अपने भगवान्‌को नहीं देखता, जड़ प्राणियोमे भी वह अपने भगवान्‌के नित्य दर्शन करके प्रणाम, पूजन तथा समर्पण आदिके द्वारा उनकी सेवा करता रहता है। ऐसा मानव 'भक्त मानव' है। इसकी मानवता सर्वथा आदर्श तथा महान् है।

व्यवहारमें भेद न रखना मूर्खता या पशुता है। व्यवहारमें भेद रखे बिना जगत्‌का चक्र चल ही नहीं सकता। माता और पत्नी दोनों स्त्री-जाति हैं। दोनोंके अङ्ग-अवयव एक-से हैं, परंतु मनुष्य दोनोंमें भेद मानेगा ही। वरं इस भेदका मनपर विलक्षण प्रभाव होता है। माताको देखकर मनमें कुछ और ही भाव आते हैं और पत्नीको देखकर कुछ और ही। आत्माके नाते परस्पर भेद समझना और किसीसे घृणा करना 'आसुर भाव' है और अज्ञान है। किसी भी प्राणीपर क्रोध करना 'राक्षसपन' है।

मानवको सब कार्य यथाधिकार यथाविधि सुचारु-रूपसे करने चाहिये। कार्यमें कहीं त्रुटि न हो, जो कार्य जहाँ जैसा करना विधेय हो, वैसा ही सम्यक् प्रकारसे करना चाहिये, परंतु करना चाहिये आसक्ति न रखकर जगन्मङ्गलके लिये, अथवा भगवान्‌की प्रसन्नता या प्रीतिके लिये। कर्म साङ्गोपाङ्ग हो, परंतु कहीं ममता-आसक्ति न रहे। जैसे अभिनेता नाटकमें नाट्यमञ्चपर अपने स्वाँगके अनुसार विधिवत् अभिनय करता है। जहाँ जिस रसकी अभिव्यक्ति आवश्यक है, वहाँ वह उसीकी अवतारणा करता है। रोनेकी जगह रोता है, हँसनेकी जगह हँसता है। दर्शक-समुदाय उसके सफल अभिनयसे प्रभावित होकर रोने-हँसने लगता है, परंतु वह रोता-हँसता हुआ भी वस्तुतः न रोता है, न हँसता है। वह तो केवल अभिनय करता है और उस अभिनयके द्वारा नाटकके स्वामीको प्रसन्न करता है। नाट्यमञ्चपर वह किसीका स्वामी बनता है, किसीकी पत्नी बनता है, किसीका नौकर बनता है, किसीका मालिक बनता है, किसीका पुत्र बनता है, किसीका पिता बनता है और ठीक उसीके अनुरूप सम्बोधन करता है, व्यवहार-बर्ताव करता है। बहुमूल्य राजपोशाक तथा आभूषणादि पहनकर राजाका अभिनय करता है और फटा-चिथड़ा लपेटकर फकीरका। परंतु वह जानता है कि मैं न तो यहाँके किसी सम्बन्धसे किसीके साथ सम्बन्धित हूँ, न पोशाक-गहने ही मेरे हैं तथा न मैं राजा या फकीर ही हूँ। इसी प्रकार मानव अपने कर्मक्षेत्रमें नाटकके अभिनेताकी भाँति कहीं भी ममता-आसक्ति किये बिना अपने कर्तव्यकर्मका सुचारु-रूपसे पालन करता रहे और उसमें लक्ष्य हो—'भगवान्‌की प्रसन्नता'। इस प्रकार जीवन बितानेवाला मानव न तो कभी अशान्तिमें पड़ता है और न दुःख भोगता है, न उसे चिन्ताग्रस्त रहना पड़ता है, न उसके द्वारा अपना या किसी भी दूसरेका कभी अहित ही होता है एव न उसे कर्मबन्धन ही मिलता है। उसके द्वारा स्वाभाविक ही जगत्-मङ्गलदायक कार्य होते रहते हैं। जैसे अमृतसे किसीकी मृत्यु नहीं होती, वैसे ही उसके कर्मसे किसी भी प्राणीका अहित नहीं होता। उसका संसारमें जन्म लेना और रहना केवल लोक-कल्याणके लिये ही

होता है, परंतु वह अभिमानपूर्वक लोक-कल्याणके लिये प्रवृत्त नहीं होता। उसका स्वरूप ही होता है— लोक-कल्याण। जैसे सूर्यदेवता प्रकाश देनेके लिये उदय नहीं होते, उनका स्वरूप ही प्रकाशमय है, अतः उनके उदय होते ही अपने-आप प्रकाशका सर्वत्र विस्तार हो जाता है, वैसे ही उस लोक-कल्याणरूप मानवके द्वारा सहज ही महान् लोक-कल्याण होता रहता है।

भगवान् समस्त प्राणियोंमें सदा वर्तमान हैं। सबकी पूजा, सबको सुख पहुँचाना भगवान्‌की ही पूजा है। जो लोग भगवान्‌की पूजा करना चाहते हैं और सर्वप्राणियोंमें सदा स्थित परमात्माकी मोहवश उपेक्षा करते हैं, उनसे द्रोह करते हैं, उनके द्वारा बड़े विधि-विधान तथा प्रचुर सामग्रियोंसे की हुई पूजासे वस्तुतः भगवान् प्रसन्न नहीं होते। जो मानव समस्त प्राणियोंमें आत्मारूपसे वर्तमान भगवान्‌का द्रोह करता है, वह वास्तवमें भगवान्‌से ही द्रोह करता है। इसलिये वही मानव बुद्धिमान् तथा अपना हित करनेवाला है, जो समस्त प्राणियोंके हित तथा सुखका आचरण करके भगवान्‌की पूजा करता है। पूजाके लिये अपना कर्म ही प्रधान है, भाव भगवत्-पूजाका होना चाहिये। यही स्वकर्मके द्वारा भगवान्‌का पूजन है। पाप वही है, जिससे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका अहित हो। पुण्य वह है, जिससे परिणाममें अपना तथा दूसरोंका हित हो। पाप-पुण्यकी इस परिभाषाके अनुसार यह निश्चय करना चाहिये कि जिससे दूसरोंका अहित होता होगा, उससे कभी अपना हित होगा ही नहीं और जिससे दूसरोंका हित होता है, उससे अपना हित निश्चय ही होगा। अतएव सदा-सर्वदा परहितमें ही अपना यथार्थ हित समझकर उसीमें प्रवृत्त रहना चाहिये।

सबसे श्रेष्ठ मानव वह है, जो परार्थको ही अपना स्वार्थ मानकर अपनी हानि करके भी दूसरेको लाभ पहुँचाता है। उससे नीचा वह है, जो अपनी हानि न करके दूसरेका लाभ करता है। तीसरा वह है, जो अपना लाभ हो तो दूसरेका लाभ करता है, केवल दूसरेके लाभपर ध्यान नहीं देता। चौथा वह है, जो केवल अपना लाभ ही देखता है, दूसरेके बाबत कुछ नहीं सोचता। पाँचवाँ वह है, जो अपने लाभके लिये दूसरेकी हानि करनेमें नहीं हिचकता। छठा वह है, जो अपना लाभ न होनेपर भी दूसरेको नुकसान पहुँचाना चाहता है और सातवाँ वह है, जो अपनी हानि करके भी दूसरेकी हानि करता है। यह सबसे निकृष्ट मानव है। ऐसे मानवोंकी संख्या जब बढ़ने लगती है, तब सब ओर दानवता छा जाती है। मानव मानवका शत्रु हो जाता है तथा एक-दूसरेसे लड़कर सभी विनाशके मुखमें जाने लगते हैं।

मानवके पालनके लिये भगवान् देवर्षि नारदने तीस आचरणीय धर्म बतलाये हैं—सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितिक्षा, उचित-अनुचितका विचार, मनका संयम, इन्द्रियोंका संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष, समदर्शिता, महापुरुषोंकी सेवा, धीरे-धीरे सांसारिक भोगोंसे निवृत्ति, मौन, आत्मचिन्तन, प्राणियोंमें अन्न आदिका उचित विभाजन, सब जीवोंमें अपने आत्मा या इष्टदेवकी भावना, संतोंके परम आश्रय भगवान्‌के नाम-गुण-लीला आदिका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, उनकी सेवा, पूजा, नमस्कार उनके प्रति दास्य, सख्य और आत्मसमर्पण। ये तीस प्रकारके आचरण मानवमात्रके लिये परम धर्म हैं, इनके पालनसे सर्वात्मा भगवान् संतुष्ट होते हैं—

> नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः।
> त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥
> (श्रीमद्भा० ७। ११। १२)

वस्तुतः इनके आचरणके प्रयत्नकी सफलतामें ही मनुष्य-जीवनकी कृतार्थता है।

गीतामें चरित्र-निर्माण

(भगवान्‌की सम्मुखता)

(लेखक—परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

मनुष्यशरीर केवल परमात्माकी प्राप्तिके लिये ही मिला है। इसलिये एक परमात्मप्राप्तिका निश्चय हो जाय तो मनुष्य परमात्माके सम्मुख हो जाता है। परमात्माके सम्मुख होनेसे उसमें सद्गुण-सदाचार स्वतः आने लगते हैं, जिससे उसके चरित्रका ठीक निर्माण होने लगता है। परंतु जब मनुष्य परमात्मप्राप्तिको भूलकर सांसारिक पदार्थोंका सग्रह करने और भोग भोगनेमे लग जाता है, तब उसका चरित्र गिर जाता है। जिसका चरित्र नीचे गिर जाता है, वह मनुष्य कहलानेके योग्य भी नहीं रहता।

भगवद्गीताका पूरा उपदेश चरित्र-निर्माणके लिये ही है। अर्जुनका भाव पहले युद्धका ही था, इसलिये उन्होंने भगवान्‌को निमन्त्रित किया और युद्धक्षेत्रमें युद्ध करनेके लिये तैयार भी हो गये। परन्तु भगवान्‌का विचार अर्जुनका उद्धार करनेका था। अर्जुनने कहा कि दोनों सेनाओंके बीचमें रथको खड़ा कीजिये; मै देखूँ कि मेरे साथ दो हाथ करनेवाला कौन है? भगवान्‌ने वैसे ही दोनो सेनाओके बीच रथको खड़ा करके कहा कि इन कुरुवशियोको देख (१। २१–२५)। कुरुवंशियोंको देखनेकी बात सुननेसे अर्जुनको शरीरकी प्रधानतावाला अपना कुटुम्ब याद आ गया। ये सब मर जायँगे—इस विचारसे वे घबरा गये और अपने कर्तव्यसे विमुख होकर बोले कि मै युद्ध नहीं करूँगा। कर्तव्यसे विमुख होना ही चरित्र-निर्माणमें बाधक होता है। भगवान्‌ने कहा—अरे! क्या करता है तू? युद्ध करना तो तेरा कर्तव्य है। इस लिये मोह और कायरताको त्यागकर युद्धके लिये खड़ा हो जा (२। २-३)।

मनुष्यको कर्तव्य पथपर प्रवृत्त करनेके लिये ही भगवद्गीताका आविर्भाव हुआ है। अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन करनेसे ही चरित्रका निर्माण होता है और कर्तव्यसे च्युत होनेसे ही चरित्रका नाश होता है। भगवान् 'न त्वेवाहं जातु नासम्……' (२। १२)—यहाँसे उपदेश आरम्भ करते हैं और पहले देह और देही, विनाशी और अविनाशीका विवेचन करते है। तात्पर्य यह है कि विनाशी वस्तुकी ओर ध्यान न देकर अविनाशीकी ओर ध्यान दिया जाय। ऐसा होनेसे ही चरित्र-निर्माण होता है।

एक मार्मिक बात है कि अविनाशीका लक्ष्य होनेसे विनाशी वस्तुएँ स्वतः आयेंगी। उनके लिये दुःख नहीं पाना पड़ेगा। परंतु विनाशीका लक्ष्य होनेसे अविनाशी तत्त्वकी प्राप्ति नहीं होगी, और विनाशी वस्तुओंके लिये भी चिन्ता करनी पड़ेगी एवं परिश्रम उठाना होगा। आगे चलकर भगवान्‌ने कहा कि यदि स्वधर्मको देखें तो भी क्षत्रियके लिये धर्मयुक्त युद्ध करनेमें ही लाभ है (२। ३१)। तात्पर्य है कि अपने कर्तव्यका पालन करनेसे ही मनुष्यकी उन्नति होती है और अकर्तव्यकी ओर जानेसे ही पतन होता है। कर्तव्य-पालनमें कामना, ममता और आसक्तिका त्याग मुख्य है। इनके त्यागका यह अभिप्राय है कि जड़का उद्देश्य नहीं रखना है। शरीर आदि वस्तुएँ पहले हमारी नहीं थीं, पीछे हमारी नहीं रहेंगी और अब भी प्रतिक्षण हमसे वियुक्त हो रही हैं। ऐसी जागृति रहेगी तो जड़का उद्देश्य नहीं रहेगा और स्वतः इन्द्रियोंका, अन्तःकरणका संयम होगा। सयममें ही चरित्र-निर्माण होता है। असंयमसे प्रवृत्तियाँ उच्छृङ्खल हो जाती हैं एवं उनसे चरित्र गिर जाता है।

तीसरे अध्यायके आरम्भमें अर्जुन पूछते हैं कि मुझको घोर कर्ममें क्यो लगाते हैं? भगवान् बताते हैं—'ऊपरसे

घोर कर्म दीखनेपर भी स्वार्थ, ममता, अहंता, कामनाका त्याग करके कर्तव्य क्रिया जाय तो वह घोरपना नहीं रहता, केवल क्रिया ही रहती है। क्रिया तो वर्ण और आश्रमके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है, पर जो घोरपना, तीक्ष्णपना, मलिनता, पतन करनेकी बात होती है, वह कामनाके कारण होती है। कामना रख करके पारमार्थिक ग्रन्थ पढ़ें, दूसरोंको सुनायें तो (लक्ष्य पैसा आदिकी इच्छा रहनेसे) आसुरी-सम्पत्तिसे, पापोंसे बच नहीं सकते; क्योंकि कामनासे ही सब पाप होते हैं (३ । ३७)। कहने-सुननेपर भी सच्चरित्रता नहीं आ सकती। परंतु परमात्माका लक्ष्य हो तो लौकिक कर्तव्य-कर्म करते हुए भी स्वतः सच्चरित्रता आ जाती है। इसलिये तीसरे अध्यायमें भगवान्‌ने कामनाका त्याग कर कर्तव्य-कर्म करनेपर बहुत जोर दिया है। ऐसे ही चौथे अध्यायमें बताया कि जब अपनी कामना नहीं रहती, कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता, तो सब कर्म अकर्म हो जाते हैं अर्थात् कर्मोंको करते हुए भी मनुष्य बँधता नहीं; क्योंकि उसका उद्देश्य परमात्माकी ओर बढ़नेका है, अग्रसर होनेका है। पाँचवें अध्यायमें भी अपने कर्तव्यका पालन करनेकी बात बतायी—

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥
(५ । १२)

'जो युक्त (योगी) होता है, वह कर्मफलका त्याग करके नैष्ठिकी, सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है और जो अयुक्त होता है, अर्थात् जिसके मन-इन्द्रियाँ वशमें नहीं होते, वह कामनाके कारण फलमें आसक्त होकर बँध जाता है।' फल (पदार्थ) तो उत्पन्न और नष्ट होनेवाला है, पर उसमें जो कामना है, वही बन्धनका कारण है। कामनासे चरित्र गिरता है। चरित्र गिरनेसे अशान्ति पैदा हो जाती है और चरित्र-निर्माणसे शान्ति मिलती है। मनमें दुर्भाव उत्पन्न होते ही अशान्ति हो जाती है और सद्भाव होते ही शान्ति होने लगती है।

यदि ध्यान दें तो यह प्रत्येक मनुष्यका अनुभव है कि जितना-जितना वह नाशवान्‌की कामनाका त्याग करता है, उतनी-उतनी शान्ति, आनन्द, समता, सद्‌गुण उसमें आते रहते हैं और जितनी-जितनी नाशवान् वस्तुओंकी कामना करता है, उतनी-उतनी अशान्ति, विषमता, दुःख, सन्ताप, जलन, दुर्गुण आते रहते हैं।

छठे अध्यायमें भी परमात्मामें तत्परतासे लगनेकी बात कही है। वह परमात्मा सब जगह परिपूर्ण है। उस परमात्माको जो सब प्राणियोंमें देखता है और सब प्राणियोंको परमात्माके अन्तर्गत देखता है, उससे परमात्मा अदृश्य नहीं होते और वह परमात्मासे अदृश्य नहीं होता—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
(६ । ३०)

जो मनुष्य दूसरोंके दुःख-सुखको अपने शरीरके दुःख-सुखके समान समझता है, वह परमयोगी होता है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥
(६ । ३२)

किसीको भी दुःख न पहुँचे—ऐसा जिसका हृदय है, वह परमात्मतत्त्वको प्राप्त हो जाता है। सबका दुःख दूर कैसे हो ! सभी सुखी कैसे हो जायँ !—ऐसे भाववालेका चरित्र सबसे ऊँचा होता है। आगे मनको वशमें करनेकी बात आयी तो अभ्यास और वैराग्यको बताया (६ । ३५), अर्थात् वहाँ भी भगवान्‌की ओर लगने और संसारसे हटनेकी बात कही। परलोकमें गतिके विषयमें भी यही बात है। जो परमात्माकी ओर चलता है, उसका साधन बीचमें ही छूट जाय और वह मर जाय तो उसका भी उद्धार ही होता है, दुर्गति नहीं होती (६ । ४०)। कल्याणकारी काम करनेवालेका

काम अधूरा रहनेपर भी उसको लाभ ही होता है। जो भगवान्‌में ही मन और बुद्धिको लगा देता है, वह योगियोंमें श्रेष्ठ योगी माना गया है (६।४७)। भगवान्‌की ओर लगना ही श्रेष्ठता है।

जो भक्ति नहीं करते, उनको भगवान् दुष्कृती बताते हैं (७।१५) और जो भक्ति करते हैं, उनको सुकृती बताते हैं (७।१६)। तात्पर्य यह कि परमात्माकी तरफ चलनेवाले सुकृती और संसारकी ओर चलनेवाले दुष्कृती हैं। आगे बताया कि जिनके कर्म पवित्र हैं, जिनका चरित्र बढ़िया है, वे दृढ़व्रत होकर भगवान्‌का भजन करते हैं (७।२८)।

भगवान्‌की ओर चलनेमें स्मृतिकी बात मुख्य है। आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके प्रश्न करनेपर भगवान्‌ने कहा कि जो अन्त समयमें मेरा स्मरण करते हुए जाता है, वह मुझको प्राप्त होता है—इसमें संदेह नहीं (८।५); कारण कि मनुष्य जिस-जिस भावको स्मरण करते हुए शरीरका त्याग करता है, उस-उसको ही प्राप्त होता है (८।६)। इसलिये भगवान् कहते हैं कि तू सब समयमें मेरा स्मरण कर—'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर' (८।७)। फिर भगवान्‌ने विशेष बात बतायी कि जो निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उसके लिये मैं सुलभ हूँ—

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥
(८।१४)

भगवान्‌का स्मरण करना दैवी-सम्पत्तिका, सच्चरित्रताका वास्तविक मूल है। स्मरण करनेका तात्पर्य है—भगवान्‌के साथ अपना जो वास्तविक सम्बन्ध है, उसको स्मरण करना कि मेरा तो भगवान्‌के साथ ही सम्बन्ध है, संसारके साथ सम्बन्ध नहीं है। संसारके साथ सम्बन्ध केवल माना हुआ है, इसलिये यह सम्बन्ध टिकता नहीं। प्रत्यक्ष देखते हैं कि इस जन्ममें जो सम्बन्धी हैं, वे पहले जन्ममें नहीं थे और आगेके जन्ममें भी नहीं रहेंगे। अभी बाल्यावस्थामें भी जो दशा थी, वह अभी नहीं रही और जो अभी है, वह आगे नहीं रहेगी। इस प्रकार संसार तो निरन्तर बदल रहा है, पर परमात्मा वे ही हैं और 'मैं' भी वही हूँ। इसलिये परमात्माके साथ मेरा सम्बन्ध नित्य है। इस बातकी याद रहना ही स्मृति है। चिन्तन तो संसारका भी हो सकता है, पर स्मृति भगवान्‌की ही होती है। ऐसी स्मृति रहनेसे सच्चरित्रता स्वतः आती रहती है।

जो केवल भगवान्‌की ओर चलता है, वह सबसे श्रेष्ठ हो जाता है। वेद, यज्ञ, तप, दान, तीर्थ, व्रत आदिसे जो लाभ होता है, उससे अधिक लाभ भगवान्‌का उद्देश्य रखकर भगवान्‌की ओर चलनेवालेको होता है (८।२८)। इसलिये भगवान्‌की तरफ चलनेको सब विद्याओंका राजा, सब गोपनीयोंका राजा, अति पवित्र, अति उत्तम, प्रत्यक्ष फलवाला, धर्मयुक्त, करनेमें बड़ा सुगम और अविनाशी बताया गया है (९।२)। भगवान् अपने-आपको इतना सुगम बताते हैं कि 'जो भक्तिपूर्वक पत्र, पुष्प, फल, जल आदि मेरे अर्पण कर देता है, उसका मैं भोजन कर लेता हूँ' (९।२६)। 'इसलिये चलना-फिरना, खाना-पीना, सोना-जगना आदि सब कुछ मेरे अर्पण कर दे तो सब पुण्यों और पापोंसे मुक्त होकर मुझको प्राप्त हो जायगा' (९।२७-२८)।

मनुष्य दुराचारी है या सदाचारी है—इसकी कोई चिन्ता नहीं। विशेष बात है कि वह भगवान्‌में लग जाय। भगवान्‌में लगनेपर उसका दुराचार टिक ही नहीं सकता। 'वह बहुत शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और निरन्तर रहनेवाली शाश्वती शान्तिको प्राप्त हो जाता है' (९।३०-३१)। 'दुराचारी, पापयोनि

(पशु आदि), स्त्री, वैश्य, शूद्र, क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि किसी जाति, वर्ण, आश्रम, देश आदिका कोई क्यों न हो, भगवान्‌में लग जाय तो उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है' (९ । ३२-३३)। जितनी जातियाँ, वर्ण आदि हैं, उनमें बाहरसे तो प्रकृतिकी भिन्नता है, पर भीतरसे सब परमात्माके अंश हैं। इसलिये संसारके व्यवहारमें तो अपने वर्ण आदिके अनुसार चलनेकी मुख्यता है, पर पारमार्थिक मार्गमें वर्ण आदिकी मुख्यता नहीं है; क्योंकि परमार्थरूपसे (परमात्माका अंश होनेसे) सबका स्वरूप शुद्ध है और सबका परमात्मापर समानरूपसे अधिकार है। भगवान् कहते हैं कि 'मुझमें मनवाला हो, मेरा ही भक्त बन, मेरा ही पूजन कर, मेरेको ही नमस्कार कर' (९ । ३४)। तात्पर्य है कि केवल मेरी तरफ लग जा।

दसवें अध्यायमें अर्जुनके द्वारा प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने अपनी विभूतियों और योगशक्तिका वर्णन किया। उसमें सार बात यह कही कि 'मैं सब संसारमें व्यापक हूँ। जहाँ-जहाँ तुम्हें विशेषता दीखे, वहाँ-वहाँ मेरे तेजके अंशकी ही अभिव्यक्ति जान' (१० । ४१)। विशेषता तो मेरे कारणसे ही है। तात्पर्य है कि जहाँ जो कुछ विशेषता, अधिकता, विलक्षणता दीखे, वहाँ भी भगवान्‌की ही तरफ वृत्ति जानी चाहिये। फिर कहते हैं कि 'तुझे बहुत जाननेसे क्या, मैं सम्पूर्ण संसारको एक अंशसे व्याप्त करके स्थित हूँ' (१० । ४२)। ऐसी बात सुनकर अर्जुनने, जिसके एक अंशमें सब संसार है, वह विश्वरूप देखना चाहा। उसे देखनेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्य चक्षु दिये।* विश्वरूप देखकर अर्जुन चकरा गये, भयभीत हो गये, मोहित हो गये। तब भगवान्‌ने कहा कि यह तेरी मूर्खता है। मैं तो वही हूँ। फिर तू भयभीत क्यों होता है?

बारहवें अध्यायमें अर्जुनने पूछा कि 'जो ज्ञानमार्गसे चलते हैं और जो भक्तिमार्गसे चलते हैं, उन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है?' भगवान्‌ने भक्तिमार्गसे चलनेवालोंको श्रेष्ठ बताया (१२ । २)। ज्ञानमार्गमें तो स्वयं (अपने बलपर) चलते हैं, पर भक्तिमार्गमें भगवान्‌के आश्रित हो जाते हैं। ज्ञानमार्गमें तो दैवी-सम्पत्तिके गुणोंका, विवेक-वैराग्य आदिका उपार्जन करना पड़ता है, पर भक्तिमार्गमें प्रभुके चरणोंकी शरण होनेपर दैवी-सम्पत्तिके सद्गुण-सदाचार स्वतः-स्वाभाविक आते हैं। ऐसे शरणागत भक्तोंका भगवान् बहुत जल्दी उद्धार करते हैं (१२ । ७)। इस वास्ते भगवान् कहते हैं कि 'तू अपने मन-बुद्धि मुझको ही दे दे, मेरे ही परायण हो जा!' ऐसे भगवत्परायण पुरुषके लिये भगवान् कहते हैं कि वह मुझे बहुत प्यारा है। ऐसे तो संसारके सम्पूर्ण जीव भगवान्‌को प्यारे हैं, पर जो भगवान्‌के शरण हो जाते हैं, वे भगवान्‌को बहुत प्यारे होते हैं। केवल भगवत्परायण होनेसे सद्गुण-सदाचार बिना कोई प्रयत्न किये आप-से-आप आ जाते हैं।

तेरहवें अध्यायमें भगवान् जब ज्ञानका वर्णन करते हैं तो उसमें अमानित्व आदि सद्गुणोंका वर्णन करते हुए अव्यभिचारिणी भक्तिकी बात कहते हैं—**'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।'** (१३।१०)। चौदहवें अध्यायमें भी भक्तिकी बात कहते हैं कि 'जो भक्तियोगके द्वारा मुझको भजता है, वह तीनों

* भगवान्‌ने अर्जुनको विश्वरूप दिव्यदृष्टिसे अपने शरीरके एक अंशमें दिखाया है, ज्ञानदृष्टिसे समझाया नहीं है। इस विषयमें भगवान्, अर्जुन और संजय—तीनोंके वचन प्रमाण हैं; जैसे-भगवान् कहते हैं—'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्। मम देहे गुडाकेश ·····' (११ । ७); अर्जुन कहते हैं—'पश्यामि देवांस्तव देव देहे' (११ । १५), और संजय कहते हैं—'तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा। अपश्यद् देवदेवस्य शरीरे········' (११ । १३)।

गुणोंको अतिक्रमण कर जाता है' (१४ । २६)। गुणोंके सङ्गसे ही आसुरी सम्पत्ति आती है, जिससे ऊँच-नीच योनियोंमें जन्म होता है।* भगवान्‌की ओर चलनेसे उन गुणोंका अतिक्रमण हो जाता है।

पद्रहवें अध्यायमें भगवान्‌ने अपना विशेष प्रभाव बताया और कहा कि 'क्षर (नाशवान्) और अक्षर (अविनाशी जीव)—इन दोनोंसे उत्तम पुरुष मैं हूँ' (१५ । १६–१८)। जो मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सर्वविद् है अर्थात् सब कुछ जाननेवाला है और सर्वभावसे मेरा ही भजन करता है। जो भगवान्‌का भजन करते है, उनमें दैवी-सम्पत्ति स्वाभाविक प्रकट होती है। इस वास्ते सोलहवें अध्यायमें भगवान्‌ने दैवी-सम्पत्तिका वर्णन किया। परंतु 'जो भगवान्‌से विमुख होकर अपने ही शरीरको पुष्ट करना, भोगोंको भोगना और संग्रह करना चाहते हैं, उनमें आसुरी सम्पत्ति आती है।' उस आसुरी सम्पत्तिका भगवान्‌ने सोलहवें अध्यायमें बहुत विस्तारसे वर्णन किया। 'दैवी सम्पत्तिसे मुक्ति होती है (१६ । ५)। आसुरी सम्पत्तिसे बन्धन होता है (१६ । ५), चौरासी लाख योनियोंकी प्राप्ति होती है (१६ । १९), और नरकोंकी प्राप्ति होती है' (१६ । २०)।

सत्रहवें अध्यायमें सात्त्विक, राजस और तामस—तीन प्रकारके भावोंका वर्णन किया। इसमें भी देखें तो संसारसे विमुख और परमात्माके सम्मुख होनेवालोंमें ही सात्त्विक भाव होते हैं। वे राजस और तामस भावोंसे ऊँचा उठ जाते है। 'परमात्माके लिये किये हुए यज्ञ, तप, दान आदि कर्म सात्त्विक और मुक्ति देनेवाले हो जाते हैं' (१७ । २५)। परंतु संसारके लिये अर्थात् मान, बड़ाई, सुख, आराम आदिके लिये तथा प्रमाद और मूढतापूर्वक किये हुए यज्ञ, तप, दान आदि कर्म राजसी-तामसी हो जाते हैं।

अठारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने सन्यास (सांख्ययोग) और त्याग-(कर्मयोग-) का विस्तारसे वर्णन किया। अन्तमें भगवान्‌ने यह निर्णय दिया कि सब धर्मोंका आश्रय छोड़कर केवल एक मेरी शरणमें आ जा—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८ । ६६)

संसारके जितने काम हैं, जितनी सिद्धियाँ है, जितनी उन्नति है, वे सब-की-सब इस एक ही बात-(शरणागति-) में आ जायँगी। भगवान् कहते है कि जितने पाप हैं, दुर्गुण-दुराचार हैं, उनसे मै मुक्त कर दूँगा। तू चिन्ता मत कर। मेरी कृपासे दैवी-सम्पत्ति आप-से-आप आ जायगी।

जैसे बालक माँकी गोदीमें रहता है तो उसका स्वाभाविक ही पालन-पोषण हो जाता है, ऐसे ही एक प्रभुका आश्रय ले लिया जाय तो सब-के-सब सद्गुण-सदाचार बिना जाने ही आ जायँगे। आपसे-आप ही चरित्र-निर्माण हो जायगा। चरित्र-निर्माणकी कुंजी भगवत्-शरणागति है।

इस तरह गीताभरमें देखा जाय तो एक ही बात है—परमात्माकी तरफ चलना अर्थात् परमात्माके सम्मुख होना। परमात्माकी ओर चलनेका उद्देश्य ही चरित्र-निर्माणमें हेतु है और संसारकी ओर चलनेका उद्देश्य ही चरित्र गिरनेमें हेतु है। सांसारिक भोग और संग्रहकी इच्छासे ही सब दुर्गुण-दुराचार आते हैं। सबसे अधिक पतन करनेवाली वस्तु है—रुपयोंका महत्त्व और आश्रय। इससे मनुष्यका चरित्र गिर जाता है। चरित्र

* दैवी और आसुरी सम्पत्तिके विस्तृत विवेचनके लिये गीताप्रेससे प्रकाशित 'गीताकी सम्पत्ति और श्रद्धा' नामक पुस्तक देखनी चाहिये।

गिरनेसे उसकी मनुष्योंमें निन्दा होती है, अपमान होता है। चरित्रहीन मनुष्य पशुओं तथा नारकीय जीवोंसे भी नीचा है; क्योंकि पशु और नारकीय जीव तो पहले किये हुए पाप-कर्मोंका फल भोगकर मनुष्यताकी तरफ आ रहे हैं, पर चरित्रहीन मनुष्य पापोंमें लगकर पशुता तथा नरकोंकी तरफ जा रहा है! ऐसे मनुष्यका संग भी पतन करनेवाला है। इसीलिये कहा है कि—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ बिधाता॥
(मानस ५। ४६। ४)

अब अपना चरित्र सुधारनेके लिये भगवान्‌के सम्मुख हो जायँ कि मैं भगवान्‌का हूँ, भगवान् मेरे हैं। मैं संसारका नहीं हूँ, संसार मेरा नहीं है।

परन्तु मनुष्यसे भूल यह होती है कि जो अपने नहीं हैं, उन सांसारिक वस्तुओंको तो अपना मान लेता है और जो वास्तवमें अपने हैं, उन भगवान्‌को अपना नहीं मानता। वास्तवमें देखा जाय तो सदुपयोग करनेके लिये ही सांसारिक वस्तुएँ अपनी हैं और अपने-आपको देनेके लिये ही भगवान् हैं; कारण कि वस्तुएँ संसारकी हैं, इसलिये उन्हें संसारकी सेवामें अर्पित करना है और मनुष्य स्वयं भगवान्‌का है, इसलिये स्वयंको भगवान्‌के अर्पित करना है। न तो संसारसे कुछ लेना है और न भगवान्‌से ही कुछ लेना है। अगर लेना ही है तो केवल भगवान्‌को ही लेना है।

सांसारिक वस्तुओंकी कामनासे संसारके साथ सम्बन्ध जुड़ता है। कामना ममतासे उत्पन्न होती है अर्थात् शरीर, स्त्री, पुत्र, धन आदिको अपना माननेसे कामना उत्पन्न होती है। अब विचार करें कि जिन शरीर, स्त्री, पुत्र, धन आदिको अपना मानते हैं, उनपर अपना स्वतन्त्र अधिकार है क्या? उनको जितने दिन चाहें, उतने दिन रख सकते हैं क्या? खुद उनके साथ सदा रह सकते हैं क्या? अगर कहा जाय कि नहीं, तो फिर उनमें अपनापन छोड़नेमें क्या कठिनता है? उनमें भूलसे माना हुआ अपनापन छोड़नेसे कामना नहीं उत्पन्न होगी। कामना उत्पन्न न होनेसे भगवान्‌में स्वतः अपनापन होगा; क्योंकि वे अपने हैं और नित्यप्राप्त हैं। भगवान्‌में अपनापन होनेसे सब आचरण और भाव स्वतः ही शुद्ध हो जायँगे।

शरीर, स्त्री, पुत्र, धन, मकान आदि पदार्थ सत् हैं या असत् हैं—यह तो विकल्प हो सकता है, पर उनके साथ हमारा सम्बन्ध असत् है—इसमें सन्देहकी सम्भावना ही नहीं है। असत्‌को असत् जान लेनेपर असत्-सम्बन्धका त्याग सुगमता-पूर्वक हो जाता है, और भगवान्‌की सम्मुखता होनेपर भगवान्‌का नित्य सम्बन्ध स्वतः जाग्रत् हो जाता है। फिर मनुष्यमें सच्चरित्रता स्वतः आ जाती है और वह चरित्र-निर्माणका आचार्य बन जाता है अर्थात् उसका चरित्र दूसरोंके लिये आदर्श हो जाता है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, दूसरे लोग भी (उसके आचरणोंको आदर्श मानते हुए) वैसा-वैसा ही आचरण करने लगते हैं; और वह जो प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार बर्ताव करने लग जाता है।'

इस चरित्र-निर्माणमें किंचिन्मात्र भी परतन्त्रता नहीं है। इसमें सब-के-सब स्वतन्त्र हैं।

चरित्र क्या है ?

(लेखक—पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

चरित्र शब्द शील-स्वभावका वाचक है। इसके पूर्व सद् विशेषण लगानेसे 'सच्चरित्र' बनता है। साधारणतया 'चरित्र' भी सदाचारका ही वाचक है। सत्पुरुषों-जैसे आचार-विचार रखनेवालेको सदाचारी कहते हैं। मनुष्यकी कुलीनता उसके चरित्रसे अभिव्यञ्जित होती है। कुलीनता चरित्रकी जननी है। व्यक्तिकी कुलीनता उसके नित्यके जीवनसे प्रकट होती है। मनुष्योंके आन्तरिक भावोंसे, कर्मोंसे तथा वाणीसे उसके चरित्रकी पहचान होती है। वाल्मीकिजीने नारदजीसे जो प्रश्न किया—

चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः॥[1]

उसके उत्तरमें बतलाये समस्त गुण चरित्रके—सदाचारके अन्तर्गत आ जाते हैं। यद्यपि 'चारित्रेण च को युक्तः' उनका एक अलग प्रश्न भी था। चरित्र ऐसा व्यापक शब्द है, जिसमें धर्म, सदाचार एवं सभी सद्गुणोंका समावेश हो जाता है। हृदयके भाव छः बातोंसे परिलक्षित होते हैं—वचन, बुद्धि, स्वभाव, चरित्र, आचार तथा व्यवहारसे[2]। इस प्रकार हम देखते हैं—चरित्र शब्द कहीं केवल सदाचारके अर्थमें प्रयुक्त होता है, कहीं कर्म करनेकी शैलीके अर्थमें, कहीं धर्मके अर्थमें और कहीं स्वभावके अर्थमें। जहाँ वर्णाश्रमधर्मका वर्णन आता है, वहाँ इसे भी 'स्वभावज' कहा है। जैसे—शम, दम, तप, शौच, शान्त, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक्य—ये ब्राह्मणके स्वाभाविक गुण हैं। शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धसे न भागना, दान, ईश्वरभाव—ये क्षत्रियके स्वभावज गुण हैं। कृषि, गोरक्षा, व्यापार—ये वैश्यके स्वभावज गुण हैं और परिचर्या अर्थात् तीनों वर्णोंकी सेवा करते रहना—यह शूद्रोंका स्वभावज गुण है।[3] स्वभावजका तात्पर्य यह है कि जन्मसे ही उनके चरित्रमें ये सहज स्वाभाविक गुण रहते हैं।

बालक (सत्यकाम) जाबाल गुरुकुलमें पढ़ने गया। गुरुने पूछा—तुम्हारा गोत्र क्या है ? बालकने कहा—मैंने अपनी मातासे गोत्र पूछा था। उसने कहा—'मैं सदा सेवाकार्यमें निरत रहती थी, अतः तुम्हारे पितासे मैं गोत्र नहीं पूछ सकी।' आचार्यने कहा—'निश्चय ही तुम ब्राह्मण हो।' ब्राह्मणके अतिरिक्त इतनी सत्य बात दूसरा कोई कह नहीं सकता। तुम जबालाके पुत्र हो, अतः तुम्हारा नाम सत्यकाम जाबाल हुआ।'

१–महर्षिने नारदजीसे पूछा था—'इस समय संसारमें गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ, कृतज्ञ, सत्यवक्ता, दृढ़प्रतिज्ञ, चरित्रवान्, सर्वभूतहितरत, विद्वान्, समर्थ, प्रियदर्शन, आत्मवान्, जितक्रोध, कान्तिमान्, अनसूयक, युद्धमें किसीसे भी न डरनेवाला कौन है ?

२–(क) वचनेषु च बुद्धौ च स्वभावे च चरित्रतः। आचारे व्यवहारे च शायते हृदयं नृणाम्॥
(उज्ज्वलनीलमणि)

(ख) आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च। नेत्रवक्त्रविकारैश्च गृह्यतेऽन्तर्गतं मनः॥
(गरुडपुरा० १ । १०९ । ५२, शिवपुरा० शतक ३९ । १९, विष्णुधर्मो० २ । १५ । ३७, वेतालपं० १ । ८, मनु० ८ । २६, पञ्चतन्त्र १ । ४५ आदि)

३–शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥
कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्। परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥
(श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ४२-४४)

इन दिनों सच्चरित्रता प्रायः नष्ट हो गयी है; नहीं तो पहले लोग वचनोंसे-स्वभावसे, आचार-विचारसे पता लगा लेते थे, ये किस स्वभावके किस वर्णके हैं।

बहुत पहलेकी बात है; कुम्भका मेला लगा था। चार साधु पृथक्-पृथक् बैठे तपस्या कर रहे थे। कुछ मित्रोंकी मण्डली आयी। वे कहने लगे—ये साधु किस-किस वर्णके हैं, पूछना चाहिये। एकने कहा—'देखो भाई! साधुसे जाति नहीं पूछनी चाहिये। बुटी दवा और मुंडे, बाबाजीकी जातिका पता नहीं लगता।' दूसरेने कहा—'वाणीसे, स्वभावसे, आचार-विचारसे मनोगत भाव प्रकट हो जाते है (पूर्वोक्त मनु० ८।२६)।' चलो इनसे बात-चीत करें; पता लग जायगा। यह निश्चय करके वे पहले साधुके पास गये और दण्ड-प्रणाम करके बोले—'महाराज! कुछ उपदेश कीजिये।' साधु बाबा बोले—

राम नाम लड्डू, गोपाल नाम घी।
हरिको नाम मिश्री घोर घोर पी॥

यह सुनकर वे लोग वहाँसे चल दिये और बोले—निश्चय ही ये ब्राह्मण हैं, क्योंकि 'ब्राह्मणो मधुरप्रियः। अब लोगोंने दूसरे साधुके पास जाकर उपदेश करनेकी प्रार्थना की। साधुने कहा—

राम नाम की खड्ग बनाकर, कृष्ण कटारा बाँध लिया।
हरी नाम की ढाल बनाकर, यमका फन्दा काट दिया॥

मित्र-मण्डली उठ आयी। बोले—'निश्चय ही ये क्षत्रिय हैं; क्योंकि 'जल शूर ब्राह्मण रण शूर क्षत्रिय।' अब तीसरे साधुके पास जाकर लोगोंने उपदेशकी प्रार्थना की। साधुने कहा—

यह जग सबही हाट है, मोदी श्रीभगवान्।
जैसे जाके कर्म हैं, तौलि देइ सामान॥

मित्र-मण्डली उठ आयी। बोले—'ये महात्मा वैश्य कुलावतससे दीखते हैं; क्योंकि तोलना-जोखना वैश्यका स्वाभाविक कर्म है।' अब सब मिलकर चौथे साधुके पास जाकर उपदेश करनेकी प्रार्थना करने लगे। साधुने कहा—

राम झरोखे बैठिके, सबको मुजरा लेयँ।
जैसी जाकी चाकरी, तैसो ताकूँ देयँ॥

मित्र मण्डलीने उठकर निर्णय किया कि ये कोई शूद्र कुलोत्पन्न साधु है; क्योंकि नौकरी-चाकरी तो उसका मूल्य लेनेके लिये ही की जाती है। तात्पर्य यह है कि यह सब जन्मजात स्वभावज-चारित्रका फल है। एक तो चरित्र स्वाभाविक होता है, दूसरा सत्सङ्गसे, साधु-पुरुषोंकी सेवासे निर्माण किया जाता है। स्वाभाविक जन्मजात गुण-दोषोंका छूटना तो अत्यन्त ही कठिन है। किंतु सत्संगतिद्वारा चरित्र सुधारा जा सकता है।

चरित्र दो प्रकारका होता है। एक तो अनुभवात्मक दूसरा लीलात्मक।[४] साधारणतया चरित मानव कृतियोंका होता है। लीला अवतारी पुरुषोंके चरितको कहते हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजी यद्यपि अवतार हैं, फिर भी वे मर्यादा-पुरुषोत्तम हैं। उन्होंने अवतार होकर भी मानवोचित चरित्र किये। श्रीकृष्णने भी मानवोचित चरित किये, किंतु उन्होंने अवतारोचित लीलाएँ भी कीं। जैसे गोवर्धन धारण लीला, रासलीला आदि। इन लीलाओंको अवतारी पुरुष ही कर सकते हैं। मनुष्योंको इनका अनुकरण नहीं करना चाहिये। हाँ, वे जो उपदेश करें मानवोचित चरित्र करें उनको हमें करना चाहिये। इसीलिये भागवतकार कहते हैं—ईश्वरोंके-अवतारियोंके वचन-उपदेश तो सत्य हैं, पर उनके सभी आचरण अनुकरणीय नहीं हैं। उनके जो आचरण हों, शुद्ध

४-अनुभावस्य लीला चेत्युच्यते चरितं द्विधा॥ (—उज्ज्वलनीलमणि)

चरित्रयुक्त हों वे ही अनुसरणीय हैं। इसलिये बुद्धिमान् पुरुषको उनके युक्त वचनोंका ही आचरण करना चाहिये।[5] चरित्र-निर्माण साधु-सङ्गसे, भगवत्कथा श्रवणसे, भगवन्नाम सकीर्तनसे, अपने वर्णाश्रमधर्मके पालनसे तथा भगवद्-भक्तिसे होता है। संसारमें जो चरित्रवान् हैं, सदाचारी हैं, वे ही धन्य हैं। उन्होंने मानवजीवनका फल पाया है। जो चरित्रसे हीन हैं, स्वेच्छाचारी हैं वे तो सूकर-कूकरादिके सदृश हैं। अत. मुमुक्षु पुरुषको चरित्र-निर्माणके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये।

योगका तात्पर्य और चरित्र-निर्माण

(लेखक—गोरक्षपीठाधीश्वर महन्त श्रीअवेद्यनाथजी महाराज)

योगके सामान्य धरातलपर उसकी साधनाके षडङ्ग, अष्टाङ्ग, पञ्चदशाङ्ग आदि भेद निर्दिष्ट हैं। पर ये सभी स्तर मानव-जीवन और मानवके चरित्र-निर्माणके लिये अचल आधार हैं। इनमें यम-नियमके संयमपूर्वक सेवनसे चरित्र उदात्त, पवित्र और प्रसादयुक्त होकर श्रेयकी प्राप्तिमें महनीय भूमिकाकी स्थापना करता है। योगरूप प्रधान विद्युत्शक्तिकेन्द्र, अलखनिरंजन परमात्माके सत्-स्वरूपसे, निरंजनसे जीवनकी कल्याणमयी मङ्गलज्योति प्रवाहित होती रहती है और योगसाधनाएँ तथा यम-नियमादि योगके विभिन्न अङ्ग-उपाङ्ग सभी उस केन्द्रीय शक्ति-गृहसे युक्त होकर मानवको कल्मषरहित पुण्य जीवनयापन तथा आत्मदर्शन और परमात्म-साक्षात्कारकी प्रेरणा देते रहते हैं। चरित्र-निर्माणकी दिशामें यही योगका परम तात्पर्य अथवा श्रेयस्कर कार्य है। महायोगी गोरखनाथजीने एक सबदीमें चरित्र-निर्माणका सम्पूर्ण रहस्य योगसाधकके लिये भर दिया है। उनका यह अमृतवचन सम्पूर्ण मानवताके लिये पवित्र चरित्रकी प्रेरणा देता है। यह गोरखवानी ७वीं सदीकी है जो इस प्रकार है—

हसिबा खेलिबा रहिबा रंग। काम क्रोध न करिबा संग।
हसिबा खेलिबा गाइबा गीत। दिढ़ करि राखि आपना चीत॥

योगीको सदैव आत्मसंयम करना चाहिये। योगका आधार ही नहीं, स्वरूप भी चित्तवृत्तिका निरोध है। संसारमें जन्म लेनेवाले प्राणीके लिये यह उचित है कि वह आनन्दपूर्वक समस्त दुःखोंका भोग करता हुआ भी उनमें अनासक्त रहे। इससे उसकी आत्मस्वरूपमें स्थिति निरन्तर बनी रहती है। उसे काम और क्रोधसे दूर रहना चाहिये; क्योंकि काम और क्रोधसे ही प्राणी अविद्या-अन्धकार और ममत्वके बन्धनसे आसक्त होनेपर आत्मविस्मरणका शिकार हो जाता है। जीवनको व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये। मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह जीवनकी सत्यतासे, कर्तव्य-पालनसे, विमुख न हो, अनासक्त भावसे जीवनके समस्त ऐश्वर्य-वैभवका भोग करता हुआ भी आत्मसंयममें रहे और मनपर नियन्त्रण रखे। यही गीताकी भाषामें—**'योगः कर्मसु कौशलम्'** कार्य बन्धनसे बच निकलनेका मार्ग और युक्ताहारविहारमय निर्द्वन्द्व सतुलित स्थितिरूप 'समत्वयोग' है। यह समत्वयोग ही चरित्र-निर्माणका केन्द्रीय प्रकाशगृह है। इससे सङ्ग अथवा आसक्तिका अपने-आप त्याग हो जाता है और जीवनमें निर्मलताका अमृत प्रवाहित होता है। यही योगस्थ कार्यसम्पादन है, जिससे चरित्रनिर्माणमें सहायता सुलभ होती है। भगवान् कृष्णका कथन है—

५–ईश्वराणां वचः सत्यं तथैवाचरितं क्वचित्। तेषां यत् स्ववचोयुक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत्॥
(श्रीमद्भा० १० । ३३ । ३२)

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
× × ×
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥
(गीता २ । ४८, ५०)

मनुष्य-जीवनकी सार्थकता यही है कि उसका उचित सदुपयोग हो, वह व्यर्थ और निष्फल न चला जाय। जन्मसे लेकर मरण-पर्यन्त समस्त संस्कारोंको शास्त्रसम्मत ढंगसे अपने जीवनमें प्रस्तुत करते हुए अनासक्त होकर जीवात्मा परमात्माके ध्यान और स्वरूप-चिन्तनमें तत्पर रहे। नाथ-पथके सिद्धान्त-मार्गमें योगभावनागत पवित्र चरित्र-निर्माणका यही अमृत फल है कि मनुष्य परमात्मपद—परमात्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाय। हमारे मतमें पवित्र चरित्रके द्वारा नाथ-स्वरूप अथवा शिवस्वरूपकी प्राप्ति ही लक्ष्य है।

नाथयोगमें चरित्र-निर्माणकी दिशामें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, धृति, क्षमा, आर्जव, मिताहार और शौचस्वरूप दस यमोंका निर्देश है तथा इन यमोंके संयमनकी दिशामें साधक अथवा मनुष्यमात्रके लिये तप, संतोष, आस्तिक्य, दान, ईश्वरपूजन, सिद्धान्त-वाक्यश्रवण, ह्री, मति, जप और हवन दस नियम आवश्यक हैं। नाथयोगके अप्रतिम साधनाग्रन्थ हठयोग-प्रदीपिकामें यम-नियमकी चरित्र-निर्माणके लिये स्थापना की गयी है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ॥
तपः संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च जपो हुतम् ।
नियमा दश सम्प्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ॥
(हठयोगप्रदीपिका १ । १७-१८)

ये दस यम-नियम योगके शेष छः उपाङ्गोंके पोषक हैं। आसनसिद्ध योगी अथवा साधक अथवा मनुष्य शीत-उष्ण, क्षुत्पिपासा और आलस्य-तन्द्रा आदि द्वन्द्वोंपर विजय पा लेता है। श्वास-प्रश्वासकी गतियोंका विच्छेद ही प्राणायाम है। इसके द्वारा मनको स्थिर करनेकी शक्ति प्राप्त होती है और शरीरमें चैतन्यका प्रवाह अनवरत होता रहता है। सतर्कतापूर्वक मन और इन्द्रियोंको बाह्य-विषयोंके संस्पर्शसे दूर रखकर आन्तरभावमें उन्हें प्रयुक्त करना ही प्रत्याहार है। धारणा, ध्यान और समाधिको अनेकविध बाह्य-आन्तर क्रियाओंमें प्रयुक्त करके विभिन्न प्रकारकी सिद्धियाँ और उपलब्धियाँ प्राप्त की जाती हैं। किसी निश्चित वस्तुपर ध्यानको केन्द्रित करनेकी प्रक्रियाको 'धारणा' कहते हैं। जब चित्त सभी प्रकारकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तियोंसे मुक्त हो जाता है, तब धारणा ध्यानकी स्थितिमें परिवर्तित हो जाती है। ध्यानकी प्रगाढ स्थिति ही समाधि है। निःसंदेह योगके इस साधना-मार्गसे चरित्र-निर्माणकी प्रक्रियाकी सम्पूर्ण सिद्धि होती है।

हमारे पुण्यश्लोक भारत-देशके मनीषियों, महर्षियों और सिद्धों तथा महायोगियोंने सारे विश्वके मानवोंको वेदविहित वर्णाश्रमसम्मत आचार-विचारको जीवनमें उतारकर सार्वभौम श्रेयकी प्राप्तिकी सत्प्रेरणा प्रदान की है। गोरक्षमहायोगी गोरखनाथने अपने अनुभव-सिद्ध 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' नामक योगशास्त्रमें कहा है—
सदाचाररतत्त्वे ब्राह्मणास्तिष्ठन्ति, शौर्ये क्षत्रिया, व्यवसाये वैश्याः, सेवाभावे शूद्राश्च।
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ३ । ६)

इसका आशय यह है कि सदाचार, शौर्य, व्यवसाय और सेवाभाव ही समग्र मानवके लिये स्वधर्म हैं जिनके द्वारा जीवनकी उन्नति होती है, चरित्रका निर्माण और विकास होता है। ब्राह्मणसे शूद्र अनुक्रममें किसी वर्णकी हीनता या विशेष प्रतिष्ठाका द्योतन नहीं है, यह एक मानवीय क्रम है, जिसमें जो मनुष्य सदाचारी है, जो शौर्यमें लगता है, जो व्यवसायकर राष्ट्रकी समृद्धि बढ़ाता है और अपनी सेवाके द्वारा सामाजिक श्रेयका

प्रतिपादन करता है, वही चरित्रवान् है। वही संस्कृत और शिष्ट है। मनुष्यमात्रमें वर्गीय अथवा जातीय भेदभावकी स्थापना तो निरर्थक है, सार्थकता यह है कि सभी मनुष्य एक-दूसरेके आत्मसम्बन्धी है और सभीके हृदयमें परमात्मा और उसकी ज्योति प्रकाशित है। वास्तवमें यही कर्मयोग है, जिसमे सत्यकी पूर्ण प्रतिष्ठा है। कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग सव एक दूसरेसे सम्बद्ध है और इनमें सत्य-प्राप्तिकी प्रतिष्ठा है। महायोगी गोरखनाथजीने कहा है—

सत्यमेकमतं नित्यमनन्तं चाक्षमं ध्रुवम्।
ज्ञात्वा यस्तु वदेद्धीरः सत्यवादी स कथ्यते॥
(सिद्धसिद्धान्तपद्धति ६। ६०)

जीवनके चरित्रमें सत्य ही अमृत है। इस सत्यसे ही चरित्र-निर्माणका तात्पर्य सम्पादित होता है।

यदिदं किं च तत्सत्यमित्याचक्षते।
(तैत्तिरीयोपनिषद् २।६।१)

सत्य सर्वाश्रय है, परमात्मा अक्षय और सनातन है; यही चरित्र-निर्माणका सर्वोपरि शक्तिकेन्द्र है, जिससे जीवात्मा अमृतत्वमें प्रतिष्ठित होता है। सत्यप्राप्ति ही चरित्रकी गरिमा है।

श्रीसुमित्राम्बाका आदर्श चरित

(श्रीलक्ष्मण-किलाधीश स्वामी श्रीसीतारामशरणजी महाराज)

श्रीसुमित्राम्बा चक्रवर्ती महाराज श्रीदशरथकी द्वितीय राजमहिषी तथा शेषावतार श्रीलक्ष्मणकुमारकी वन्दनीया महामहिमामयी करुणामयी माता थीं। इनके अनुपम त्याग, तप एवं सेवाकी पवित्र सुरभिसे श्रीराम-कथा सुरभित हो रही है। जननी सुमित्राजीने ही भगवान् श्रीरामके दक्षिण बाहु एवं बहिः प्राणस्वरूप श्रीलक्ष्मणकुमारको प्रकट कर अपने मातृत्वको सफल किया—

रामस्य दक्षिणो बाहुः बहिःप्राण इवापरः॥
(वाल्मी० रामा०)

कहा भी है—

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुतु होई॥

श्रीमद्रामायणमें पायसवितरण-प्रसङ्गसे इनकी कथा प्रारम्भ होती है। श्रीवाल्मीकिरामायणमें स्पष्ट है कि जब महाराज दशरथने पुत्रेष्टि-यज्ञ किया, तब उस यज्ञकुण्डसे एक विशालकाय प्रकाशमय पुरुष प्रकट हुआ। प्रजापतिकी आज्ञासे समागत प्राजापत्य पुरुषने देवनिर्मित पायस प्रदान किया तथा उसे यथायोग्य पत्नियोंको प्रदान करनेको कहा। महाराजने देवान्नसे परिपूर्ण स्वर्णपात्रको अपने सिरपर धारण किया तथा अन्तःपुरमें जाकर अपनी पत्नियोंको वह पायस प्रदान किया। राजा दशरथने उस पायसका आधा भाग महारानी कौसल्याको दिया। पुनः अवशिष्ट आधे भागके उन्होंने दो भाग किये। इनमेंसे एक भाग उन्होंने महारानी सुमित्राको प्रदान किया तथा पुनः उस भागमेंसे एक भाग महारानी कैकेयीको दिया और अवशिष्ट अष्टमांश कुछ सोच-विचारकर चक्रवर्ती नरेशने पुनः सुमित्राजीको ही दे दिया—

कौसल्यायै नरपतिः पायसार्धं ददौ तदा।
अर्धादर्धं ददौ चापि सुमित्रायै नराधिपः॥
कैकेय्यै चावशिष्टार्धं ददौ पुत्रार्थकारणात्।
प्रददौ चावशिष्टार्धं पायसस्यामृतोपमम्॥
अनुचिन्त्य सुमित्रायै पुनरेव महामतिः।
एवं तासां ददौ राजा भार्याणां पायसं पृथक्॥
(वा० रा० १।१६।२७-२९)

श्रीरामचरितमानसका पायसवितरण-प्रसङ्ग वाल्मीकि-रामायणसे कुछ पृथक् है। गोस्वामीजीने लिखा है कि महाराजाने पायसका अर्धभाग श्रीकौसल्याजीको दिया। पुनः उन्होंने आधेके दो भाग किये, जिसमेंसे एक

श्रीकैकेयीजीको दिया, जो बचा उसके पुनः दो भाग हुए। श्रीकौसल्या एवं कैकेयीजीके हाथोंमें वह एक-एक भाग रखकर प्रसन्नमनसे वे दो भाग श्रीसुमित्राजीको दिये। वाल्मीकिरामायणके अनुसार श्रीकौसल्याजीके पश्चात् जो पायसका भाग श्रीसुमित्राम्बाको दिया गया, उससे श्रीलक्ष्मणकुमार प्रकट हुए, इसलिये वे श्रीरामानुगामी रामानुज कहलाये तथा श्रीकैकेयी महारानीके पश्चात् जो पायसका भाग प्रदान किया गया, उससे श्रीशत्रुघ्नकुमार प्रकट हुए। अतः वे भरतानुजके नामसे विख्यात हुए। **'अनुचिन्त्य सुमित्रायै'**—इस पङ्क्तिका यही अर्थ है कि श्रीलक्ष्मणकुमार रामानुज श्रीशत्रुघ्नकुमार भरतानुज होंगे, ऐसा सोचकर ही उन्होंने तदनुरूप पायसका वितरण किया था। सभी महारानियोंने पायसको प्राप्तकर स्वयंको सम्मानित अनुभव किया—**'सम्मानं मेनिरे सर्वाः।'** इससे स्पष्ट है कि पायसके विभाजन एवं विभाजित वितरणमें किसी रानीको कोई आपत्ति न हुई।

यहाँ श्रीमद्वाल्मीकिरामायणके सुप्रसिद्ध व्याख्याता श्रीगोविन्दराजका मत इस प्रकार है—'श्रीराम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्नके श्रीविग्रह पायसके परिणाम थे। मानवोचित शुक्र-शोणितके परिणाम नहीं; क्योंकि पायस प्राशन—(भक्षण-)के पश्चात् ही महारानियोंने गर्भधारण किये। महर्षिके स्पष्ट वचन हैं—**'गर्भान् प्रतिपेदिरे तदा।'** भगवान्‌की मूर्ति प्राकृत नहीं होती। उनके श्रीविग्रह पञ्चभूतके विकार नहीं होते। पायस भी भगवान्‌का षड्गुण-सम्पन्न श्रीविग्रह ही था। उसकी (गर्भकी) वृद्धि (पोषणादि) अन्न-जलादिसे नहीं हुई, किंतु भगवान्‌के अपने सत्यसंकल्पके अनुसार ही हुई—

'रामादिमूर्तयश्च पायसपरिणामाः, न तु शुक्रशोणितपरिणामाः, तत्प्राशनानन्तरं गर्भधारणवचनात्, न तस्य प्राकृता मूर्तिः। न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मन इत्यादिस्मरणात्। पायसं च भगवतः षाड्गुण्यविग्रह एव तद्वृद्धिश्च नान्नपानादिकृता, किंतु इच्छाकृतेत्यादिकं सर्वमवधेयम्।' (-भूषणटीका)

अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत् सुतौ।
सर्वास्त्रकुशलौ वीरौ विष्णोरर्धसमन्वितौ॥
(वा० रा०)

श्रीसुमित्राम्बाने श्रीलक्ष्मण एवं श्रीशत्रुघ्न इन दो पुत्रोंको प्रकट किया। ये दोनों अस्त्र-विद्याओंमें कुशल, धीर, वीर तथा साक्षात् भगवान् विष्णुके अर्धभागसे सम्पन्न थे। यहाँ अर्ध शब्द अंशमात्रका वाचक है। भूषणकारके अनुसार लक्ष्मण-शत्रुघ्न दोनों भ्राता क्रमशः पायसके चतुर्थ भाग एवं अष्टम भागसे प्रकट हुए। महर्षि वाल्मीकि कहते हैं—श्रीरामभद्रको श्रीकौसल्याम्बाने लोककल्याणके लिये प्रकट किया—**'कौसल्या लोकभर्तारं सुषुवे यं मनस्विनी।'** किंतु श्रीलक्ष्मणकुमारको माता सुमित्राने केवल श्रीराम-सेवाके लिये ही प्रकट किया था—**'सृष्टस्त्वं वनवासाय।'**
(वाल्मी० २)

चक्रवर्ती नरेश महाराज दशरथकी द्वितीय राजमहिषी होनेपर भी श्रीसुमित्राम्बा श्रीरामराज्याभिषेकका समाचार सुनकर अपने करकमलोंसे मणिमय सुन्दर चौक पूरनेका कार्य करती हैं, जो दास-दासियोंद्वारा भी सम्पन्न हो सकता था। इससे स्पष्ट है कि इन्हें राजमहिषी होनेका किंचित् भी गर्व न था। निरभिमानिताकी मूर्ति श्री माता सुमित्राने—

चौकें चारु सुमित्रा पूरीं। मनिमय बिबिध भाँति अति रूरीं॥

जिस प्रकार श्रीअवधके राजकाजमें श्रीलक्ष्मणकुमारकी प्रधानता थी, उसी प्रकार राजमहलके अभ्यन्तरकी व्यवस्था श्रीसुमित्राम्बाके अधीन थी। तभी तो जब श्रीरामभद्र राजमहलमें पधारते हैं तब श्रीसुमित्राम्बाका अन्वेषण करते हैं। गीतावलीमें श्रीकौसल्याम्बा कहती हैं—'आज श्रीराम हँसकर यह नहीं पूछते कि श्रीसुमित्राम्बा कहाँ हैं'—

बूझी हौं न बिहँसि मेरे रघुबर 'कहाँ री! सुमित्रा माता?'।
(गीतावली २।५१)

इससे अन्तःपुरमें श्रीसुमित्राम्बाकी प्रधानता सूचित होती है। सेवकोंपर श्रीलक्ष्मणकुमारका वर्चस्व था। अतएव माता श्रीकैकेयी मंथरासे कहती हैं कि ऐसा प्रतीत होता है कि लक्ष्मणकुमारने तुम्हे दण्ड दिया है—

हँसि कह रानि गाल बड़ तोरे। दीन्ह लखन सिख अस मन मोरे॥

श्रीसुमित्राम्बाके त्यागमय आदर्श चरित्रकी पराकाष्ठाका दर्शन तब होता है, जब उन्होने—'लालन जोग लखन लघु लोने'—लाडिले सुकुमार श्रीलक्ष्मणकुमारको प्रभुके साथ वन जानेकी सहर्ष आज्ञा दी। प्रभुने श्रीलक्ष्मणकुमारसे कहा कि वनगमनके लिये मातासे आज्ञा लेकर शीघ्र आओ। श्रीलक्ष्मणकुमार माताके चरणोंमें प्रणाम कर समस्त वृत्तान्त सुना देते हैं—

जाइ जननि पग नायउ माथा। मन रघुनंदन जानकि साथा॥
पूँछे मातु मलिन मन देखी। लखन कही सब कथा बिसेखी॥

श्रीसुमित्राम्बाने धैर्य धारण कर मधुर वाणीसे श्रीलक्ष्मणकुमारको जो उपदेश दिया है, वह मननीय है। माता कहती हैं—

तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइ दिवस जहँ भानु प्रकासू॥

महर्षि वाल्मीकिने भी श्रीसुमित्राम्बाका यह उपदेश समादरके साथ लिखा है—

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम्।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम्॥
(वाल्मी० रामा०२।३३)

वे श्रीलक्ष्मणकुमारका ही नहीं, अपना भी सौभाग्य समझती हैं कि उनका पुत्र श्रीरामकी निष्काम सेवामें दत्तचित्त है—

भूरि भाग भाजन भयहु मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छल कीन्ह राम पद ठाउँ॥

श्रीसुमित्राम्बाका यह उपदेश कि—

पुत्रवती जुबती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुतु होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बिआनी। राम बिमुख सुत तें हित जानी॥
तुम्हरेहिं भाग राम बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥
सकल सुकृत कर बड फल एहू। राम सीय पद सहज सनेहू॥

—नारीमात्रके लिये प्रेरणादायक है। वास्तवमें भक्त पुत्र प्राप्तकर ही माता धन्य होती है। महापुरुषोंने रामवनगमनके अनेक कारण प्रस्तुत किये है, जिनमें साधुपरित्राण मुख्य है तथा असुरविनाश गौण है। इन दो कारणोके अतिरिक्त श्रीनिषादराज, श्रीशबरीजी, श्रीसुग्रीव, विभीषणादि भक्तोपर प्रभुकी कृपा तथा ऋषि-मुनियोके आश्रममें जा-जाकर सुख प्रदान करना भी है—

सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह।

किंतु माता सुमित्राको इन कारणोसे पृथक् कारण दिखायी दे रहा है, अतः वे कहती हैं—'तुम्हारे कारणसे ही प्रभु वनमें जा रहे हैं, दूसरा कोई हेतु नहीं है।' जब श्रीअवधमें प्रभु रहते थे, तब उनकी सेवामें अनेक भक्त एवं सेवकगण तत्पर रहते थे, अतः सम्पूर्ण सेवा श्रीलक्ष्मणकुमारको कैसे प्राप्त हो सकती थी? वाल्मीकिरामायणमें श्रीदशरथजी कहते हैं—'जिनके भोजनके समय कुण्डलधारी रसोइयागण 'मैं पहले बनाऊँगा, मै पहले', इस प्रकार परस्परमें विवाद करते थे—

यस्य चाहारसमये सूदाः कुण्डलधारिणः।
अहंपूर्वाः पचन्ति स्म प्रसन्नाः पानभोजनम्॥
(वा० रा० २।१२।९६)

—पर वनमें तुम्हें यह अवसर प्राप्त हो गया।

पूर्वाचार्योंने श्रीसुमित्राम्बाको आचार्यके रूपमें भी स्मरण किया है। यद्यपि श्रीलक्ष्मणका प्रभुपादारविन्दमें सहज स्नेह था किंतु आचार्य-स्वरूपा श्रीसुमित्राम्बाके उपदेशद्वारा उनकी प्रभु-पदप्रीति और दृढ़ की गयी। यह वैदिक परम्पराका प्रामाणिक उदाहरण है। श्रुति कहती है—'आचार्यवान् पुरुषो वेद।' 'प्राप्य वरान् निबोधत' आचार्योंके समीप जाकर ही तत्त्वज्ञान

प्राप्त करना चाहिये । 'तद्विद्धि प्रणिपातेन' से गीता भी इसी बातका प्रतिपादन करती है । आचार्यका उपदेश जो श्रीलक्ष्मणकुमारको प्राप्त हुआ है, वह अत्यन्त ही मनन करने योग्य है । माता कहती हैं—

रागु रोषु इरिषा मदु मोहू । जनि सपनेहुँ इन्ह के बस होहू ॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई । मन क्रम बचन करेहु सेवकाई ॥

यहाँ श्रीसुमित्राम्बाका उपदेश ध्यान देने योग्य है । वे कहती हैं—राग-रोष, ईर्ष्या, मद, मोह आदि विकारोंके वशमें स्वप्नमें भी नहीं होना चाहिये । जाग्रत्-अवस्थाकी तो बात ही क्या है ? जिस प्रकार श्रीसीतारामजीको वनमें सुख हो, वही सेवा तुम करना । यह माताका श्रीलक्ष्मणकुमारके लिये उपदेश है । साथ ही माता, पिता, परिवार तथा अवधके आनन्दकी स्मृति भी प्रभुको न आये, ऐसी सेवाका भी वे उपदेश दे रही हैं—

उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं ।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं ॥
तुलसी प्रभुहि सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई ।
रति होउ अबिरल अमल सिय रघुबीर पद नित नित नई ॥

माताने श्रीलक्ष्मणकुमारको वन जानेकी आज्ञा तथा प्रभुकी सेवा करनेकी शिक्षा दी एवं श्रीसीतारामजी-के श्रीचरणोंमें नित्य-नवीन प्रीति हो, ऐसा आशीर्वाद भी दिया । श्रीमद्वाल्मीकिरामायणमें श्रीसुमित्राम्बाने वनगमनके समय श्रीलक्ष्मणकुमारको प्रणाम करते देखकर उनका मस्तक सूँघा एवं कहा—'तुम अपने परम सुहृद् श्रीराघवेन्द्रके परम अनुरागी हो । विधाताने तुम्हारी सृष्टि वनवासके लिये ही की है अथवा मैंने तुमको वनवासके लिये ही प्रकट किया है । अपने ज्येष्ठ भ्राता-के वनमें विचरण करते समय उनकी सेवामें प्रमाद मत करना—

सृष्टस्त्वं वनवासाय स्वनुरक्तः सुहृज्जने ।
रामे प्रमादं मा कार्षीः पुत्र भ्रातरि गच्छति ॥
(वाल्मी० रा०)

'भ्रातरि गच्छति'का तात्पर्य है कि श्रीजनकनन्दिनी-के साथ जब प्रभु वनकी शोभाका अवलोकन करते हुए चलेंगे, तब उनके गमनकालिक सौन्दर्यमें आकृष्ट होकर उनकी रक्षामें असावधान नहीं होना । प्रभु संकटमें हों अथवा समृद्धिमें, वे ही एकमात्र तुम्हारी गति हैं । संसारमें सत्पुरुषोंका यही धर्म है कि सदा अपने ज्येष्ठ भ्राताकी आज्ञाके अधीन रहे । इस कुलका सनातन धर्म यही है—दान देना, यज्ञमें दीक्षित होना और युद्धमें शरीर-परित्याग करना । श्रीलक्ष्मणकुमारसे ऐसा कहकर सुमित्राम्बाने 'पुत्र ! जाओ-जाओ' इस प्रकार बारंबार उन्हें शीघ्र जानेकी प्रेरणा दी । अन्तमें श्रीसुमित्राजीके अद्भुत त्यागका प्राकट्य उस समय होता है, जब श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा श्रीलक्ष्मणकुमारकी मूर्च्छाका समाचार प्राप्त होता है । गीतावलीमें गोस्वामीजीने इस प्रसङ्गका वर्णन करते हुए करुणाकी धारा प्रवाहित कर डाली है—

'सुनि रन घायल लषन परे हैं ।
स्वामिकाज संग्राम सुभटसों लोहे ललकारि लरे हैं ॥
सुवन-सोक, संतोष सुमित्रहि, रघुपति-भगति बरे हैं ।
छिन छिन गात सुखात, छिनहि छिन हुलसत होत हरे हैं ॥
कपिसों कहति सुभाय, अंबके अंबक अंबु भरे हैं ।
रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर, जद्यपि धनु दुसरे हैं ॥
'तात ! जाहु कपि सँग,' रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं ।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं ॥
अंब-अनुजगति लखि पवनज-भरतादि गलानि गरे हैं ।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं ॥
(गीतावली ६ । १३)

पुत्र श्रीलक्ष्मणकुमारके युद्धमें घायल होनेका समाचार सुनकर माता सुमित्रा अपने स्वामी श्रीरामके कार्यमें सुभट मेघनादसे युद्धमें ललकारकर बाण एवं शक्तिसे लड़नेवाले घायल पुत्रके लिये शोकाभिभूत हो उठीं; किंतु साथ ही इस बातसे वे संतुष्ट भी हो जाती हैं कि मेरा पुत्र श्रीरघुनाथजीकी भक्तिको अङ्गीकार किये हुए

है। उनका शरीर पुत्रशोकसे क्षण-क्षणमें सूखता है और फिर वह घाव श्रीरामकी भक्तिमें हुआ है, यह विचारकर क्षण-क्षणमें उल्लसित होता है तथा उनके शरीरके सम्पूर्ण अङ्ग हरे-भरे हो जाते हैं। श्रीसुमित्राम्बाके नेत्र अश्रुजलसे पूरित हैं। वे स्वभावसे ही श्रीहनुमान्‌जीसे कहती हैं कि रघुकुलके आनन्दवर्धन श्रीराम इस कुअवसरमें बिना भाईके हो गये हैं। पुनः मनमें सोचती हैं कि मेरे पास एक धन (सम्पत्ति) रूप दूसरे पुत्र श्रीशत्रुघ्न भी हैं (अतः श्रीराम भ्रातारहित कैसे हुए ?) ऐसा सोचकर समीपमें बैठे हुए शत्रुघ्नकुमारसे कहती हैं—'तात ! तुम वानरराज श्रीहनुमान्‌जीके साथ जाओ। यह सुनकर श्रीशत्रुघ्नजी हाथ जोड़कर खडे हो गये। वे शरीरसे पुलकित होकर ऐसे प्रसन्न हैं, मानो विधाताके किये हुए संयोगसे (उनके) पासे पूरे दॉवपर सुन्दर ढारसे ढरे हैं अर्थात् पूरे-पूरे दाँव पड़ गये हैं। माता सुमित्रा और छोटे भाई श्रीशत्रुघ्नकी यह दशा देखकर श्रीपवनकुमार और श्रीभरत आदि ग्लानिमें गले जाते हैं। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि उस समय माता श्रीसुमित्राजीको सभीने समझाकर सचेत किया। ऐसा था श्रीसुमित्राम्बाका धैर्य एवं अगाध श्रीरामभक्ति।

चारों भ्राताओंके सुन्दर सलोने नन्हें शिशुरूपको देखकर श्रीसुमित्राम्बा प्रेमसे पुलकित हो जाती थीं तथा सव शिशुओको हृदयसे लगाकर कहतीं कि तुम चारो भैया कव अपने पैरोसे चलोगे—

पगनि कब चलिहौ चारौ भैया ?
प्रेम-पुलकि, उर लाइ सुवन सब, कहति सुमित्रा मैया ॥
(गीतावली १। ९)

वात्सल्य-प्रेमसे ओतप्रोत जैसा माता सुमित्राका कोमल हृदय था वैसा ही उनका लोकोत्तर वैदुष्य भी था। उनकी प्रखर एवं प्रतिभासम्पन्न बुद्धिका दर्शन श्रीराम-वनगमनके पश्चात् होता है। वाल्मीकिरामायणमे महर्षि वाल्मीकिने स्पष्ट किया कि जब महारानी कौसल्या प्रभुके वियोगमें पुत्रशोकसे विह्वल हो विलाप करने लगीं, तब धर्मपरायणा देवी सुमित्राने धर्मयुक्त वचनोंद्वारा महारानी कौसल्याको आश्वासन दिया—

विलपन्तीं तथा तां तु कौसल्यां प्रमदोत्तमाम्।
इयं धर्मे स्थिता धर्म्यं सुमित्रा वाक्यमब्रवीत् ॥
(वाल्मी० रा० २। ४२)

श्रीसुमित्राम्बा बोलीं—श्रीराम धर्ममें स्थित हैं, पिताको सत्यवादी बनानेके लिये ही वे वनमें गये हैं। निष्पाप लक्ष्मण भी समस्त प्राणियोंके प्रति दयावान् हैं तथा श्रीरामके प्रति सदा उत्तम व्यवहार करते हैं, अतः लक्ष्मणकुमारके लिये भी यह लाभप्रद अवसर है। विदेहनन्दिनी सीता भी उचित विचारका आश्रय लेकर तुम्हारे धर्मात्मा पुत्रका अनुसरण कर रही हैं। श्रीरामकी भगवत्ता प्रकट करते हुए देवी सुमित्राने पुनः कहा—'श्रीरामके पवित्र और उत्तम माहात्म्यको जानकर निश्चय ही सूर्य उन्हे अपनी किरणोंद्वारा संतप्त नहीं करेंगे। सुखद मङ्गलमय वायु उनकी सेवा करेगी। रात्रिमें शीतल चन्द्रमा सोये हुए श्रीरामका अपने किरणरूपी करोंसे आलिङ्गन और स्पर्श कर उन्हें आह्लाद प्रदान करेंगे, रघुनन्दन श्रीराम अतुल बलशाली हैं। देवि ! श्रीराम सूर्यके भी सूर्य (प्रकाशक) और अग्निके भी अग्नि, प्रभुके प्रभु, लक्ष्मीके लक्ष्मी एवं क्षमाके भी क्षमा हैं। वे देवताओंके भी देवता, भूतोंके भी उत्तम भूत हैं। वे वनमें रहें या नगरमें, उनके लिये कौन-से चराचर प्राणी क्लेशावह हो सकते है'—

सूर्यस्यापि भवेत् सूर्यो ह्यग्नेरग्निः प्रभोः प्रभुः।
श्रियाः श्रीश्च भवेदग्र्या कीर्त्याः कीर्तिः क्षमाक्षमा ॥
दैवतं देवतानां च भूतानां भूतसत्तमः।
तस्य के ह्यगुणा देवि वने वाप्यथवा पुरे ॥
(वाल्मीकिरामा० २। ४६)

जिन अपराजित नित्यविजयी वीरके पीछे-पीछे सीताके रूपमें साक्षात् लक्ष्मी हो गयी हैं, उनके लिये विश्वमें क्या दुर्लभ हो सकता है—'सीतेवानुगता लक्ष्मीस्तस्य किं नाम दुर्लभम्।' तुम शीघ्र ही वनवासकी अवधि पूर्ण होनेपर यहाँ आये हुए अपने सुन्दर पुत्रको देखोगी, अतः शोक और मोहका परित्याग कर दो—'जहि शोकं च मोहं च देवि सत्यं ब्रवीमि ते'। शोक शरीरमें ही विलीन हो गया—जैसे शरद् ऋतुका थोड़े जलवाला बादल शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो जाता है।

परम विदुषी तत्त्वज्ञा श्रीसुमित्राजी स्वयं भी असूया-रहित स्नेहमयी राजरानी हैं। अपनी सपत्नी महारानी कौसल्याके प्रति उनका भगिनी-सदृश स्नेह है, इसलिये कवितावलीमें वे श्रीकौसल्याजीके प्रति 'जीजी' शब्दका प्रयोगकर उन्हें आश्वस्त करती हैं—

कीजै कहा, जीजी जू! सुमित्रा परि पायँ कहै,
तुलसी सहावै बिधि सोई सहियतु है'.........
(कविता०)

इस प्रकार अयोध्यानरेशकी द्वितीय राजमहिषी श्रीसुमित्राजी अनेक उत्तम गुणोंसे समलङ्कृत हैं। उनका उदात्त आदर्श चरित्र आज भी अध्यात्म-जगत् एवं व्यवहारमें नारीमात्रके लिये अनुकरणीय है। अतः इस आधुनिक परिवेशमें मण्डित स्त्रियोंको भी सुमित्राम्बाका धैर्य, त्याग, स्नेह एवं तपोमय जीवन युग-युगान्तनक पथ-प्रदर्शन करता हुआ अपने आभामय प्रकाशपुञ्जरूप गुणसमूहोंसे आलोकित करता रहेगा—ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

सुमिरि सुमित्रा नाम जग, जे तिय लेहिं सुनेम।
सुवन लखन रिपुदवन से, पावहिं पति पद प्रेम॥
(रामाज्ञाप्रश्न ३। २)

चरित्र-निर्माणकी आवश्यकता और उसके मूल तत्त्व

(योगिराज अनन्तश्री देवरहवा बाबाके उपदेश)

वर्तमान समयमें समाजकी दशा देखते हुए यह कहना पड़ता है कि मनुष्यमें मानवताके गुण न रहकर दानवताके दुर्गुण बढ़ते जा रहे हैं। सज्जनोंकी संख्या घटती जा रही है और धर्मकी कमीके कारण दुर्जनोंकी संख्याकी वृद्धि हो रही है।

किसी भी शहर या गाँवको लीजिये और वहाँके निवासियोंकी गणना गुणोंके अनुसार करवाइये तो आपको यही मानना पड़ेगा कि धर्मकी जगह अधर्म, सज्जनकी जगह दुर्जन अधिक मात्रामें हैं। हर जगह उनके अमानुषिक कर्म हो रहे हैं।

आये दिन धर्मके नामपर शान्ति-व्यवस्था बिगड़ जाती है। उसका एकमात्र कारण होता है कि लोगोंके अंदर सच्ची धर्म-भावना न है। उनके अंदर अहिंसादि सच्चे धर्मका प्रभाव नहीं होता है। राष्ट्रिय सांस्कृतिक चेतना एवं वास्तविक धार्मिक भावना भी उनमें नहीं रहती है। इससे राष्ट्र-चरित्र गिरता जा रहा है। इससे देशकी व्यवस्थामें भारी गड़बड़ी आती जा रही है। यह बात चिन्तनीय है।

हमें जहाँ अपने सभी कर्मोंमें धर्मको अपने आगे रखना चाहिये वहाँ हमलोगोंने उसे पीछे कर दिया है। धर्मका कोई भी विचार हम नहीं रखते। शास्त्रकारोंने कहा है कि यदि हमारे सभी कार्य धर्मसे सम्बद्ध हों तो वे ही सदाचार हो जाते हैं और यदि हमारे कार्य धर्मसे विरुद्ध हों तो वे सभी दुराचार या कदाचार हो जाते हैं। यही क्यों? यहाँतक कहा गया है कि धर्मसे हीन मनुष्य पशुके समान हैं—'धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः।' धर्म ही मानवका विशिष्ट गुण है।

धर्मके पालन न करनेसे महान् हानि होती है और धर्मके पालन करनेसे रक्षा होती है। अतएव हमें धर्मको किसी प्रकार छोड़ना न चाहिये; अन्यथा विनाशका भय है।

इस प्रकार सदाचार ही चरित्र-निर्माण है। —**'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'**—आचारहीन व्यक्तिको वेद भी शुद्ध नहीं कर सकते। अतएव सदाचारकी विशेष महत्ता हमारे शास्त्रकारोने बतलायी है। अपने शास्त्रोंने महान् व्यक्तियोके आचरण देखकर चलनेका उपदेश दिया है।

धर्मका भव्य भवन धर्मकी आधार-शिलापर टिका हुआ है। मन, वाणी और कर्ममें जो-जो दिव्य कर्म हैं या होते हैं, उन्हींसे धर्मका कार्य पूरा होता है। ईश्वरीय नियमोंका पालन, सदाचारके नियमोंका अनुष्ठान, सामाजिक शुभ व्यवहार—ये सब दिव्य कर्म हैं, जिनसे धर्म ऊपर उठता है और इसी कार्यको सरल और सुलभ करनेके लिये शास्त्रकारोने मार्ग बतलाये हैं, जिन्हें मनुष्यमात्रको आचरित करना चाहिये और अपने-अपने चरित्रमें उन्हे उतारकर अपने जीवनको सुखी-समृद्ध बनाना चाहिये।

चरित्र-निर्माणकी इच्छावाले व्यक्तिको कष्टमें धैर्य, व्यवहारमें क्षमा चाहिये। मनको विषयोकी तरफ जानेसे रोकना चाहिये, अस्तेय माने अन्यायसे किसीका धन हड़पना नहीं चाहिये, मिट्टी और जलसे अपना शरीर शुद्ध करना चाहिये। विषयोंकी तरफ जानेसे नेत्रोंको रोकना चाहिये। शास्त्रका ज्ञान, यथार्थ कहना और सत्य बोलना तथा क्रोध न करना चाहिये। ये ही दस लक्षण धर्मके बतलाये गये हैं, जो परस्पर व्यवहारमें सदाचारके मूल सोपान हैं। ऐसा जो आचरण करता है, वही विद्वान् है। उसकी जो भी प्रशंसा की जाय, वह थोड़ी है। सभी शास्त्र और पुराणोंका यही विधान है। इसीसे व्यष्टि एवं समष्टिकी उन्नति होगी।

सारांश यह है कि जिसका आचरण श्रेष्ठ होता है, वही श्रेष्ठ पुरुष गिना जाता है। गीतामें स्वयं भगवान् कृष्णने कहा है कि उसीके अनुसार लोक भी चलता है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनु वर्तते॥

अतएव श्रेष्ठ बनो और अपने आचरणको दूसरोंके लिये प्रमाण कर दो।

(प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी एडवोकेट)

श्रीरामचन्द्रके चरित्रमें संयमका योगदान

(लेखक—पूज्यपाद श्रीरामचन्द्रजी डोंगरेजी महाराज)

श्रीरामचन्द्रजीके पाँच व्रत हैं। वे हैं—एकवचनी होना, साथ ही एकदान, एकबाण, एकस्थापन और एकव्रतका पालन।* आपने जिस तरह एकवाणी, व्रतका पालन किया—एक बार ही सुग्रीवादिकी स्थापना की, उसी प्रकार एकपत्नी व्रतका भी सम्पूर्ण पालन किया है। शास्त्रोमें एकपत्नीव्रतकी बडी महिमा है। जिन स्त्री-पुरुषोका देव, ब्राह्मण और अग्निको साक्षीमें रखकर विवाह हुआ हो, उन्हीं पति-पत्नीका परस्पर दाम्पत्य भाव रखकर धार्मिक मर्यादाका पालना गार्हस्थ्य है। अन्य सब स्त्री-पुरुषोको जो निष्कामभावसे या सीतारामजीकी भावनासे या भगवद्भावसे देखता है, वह गृहस्थ होता हुआ भी साधु और सच्चरित्र है। वह ब्रह्मचारी और सदाचारी भी है। बिगड़े हुए मनको एक खूँटेसे बाँधनेके लिये विवाह होता है। विवाह कामका विनाश करनेके लिये है, विलासभावके

* द्विशरो नाभिसंधत्ते द्विःस्थापयति नाश्रयान्। द्विर्ददाति न चार्थिभ्यो रामो द्विर्नाभिभाषते॥ (महानाटक०)

लिये नहीं। यह धर्म्यकृत्य ही इस कामभावको एक जगह केन्द्रित कर कामका विनाश करता है। यही भारतीय विवाहका प्रयोजन है। इसीसे हमारी संस्कृतिमें विवाहको धार्मिक संस्कार और पत्नीको 'धर्मपत्नी' कहा गया है।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीका चरित्र प्रसिद्ध है। वे पत्नीमें विशेष आसक्त थे। जगत्की अन्य सब स्त्रियोंको वे मातृभावसे देखते थे। उनका मन पवित्र था, अतः उनके पत्नीप्रेमकी निष्ठा आगे चलकर साधनाकी निष्ठामें परिणत हुई। एक दिन पत्नीको माँके यहाँसे बुलावा आया। पत्नी पीहर चली गयी। महाराज घर आये तो खबर मिली कि पत्नी पीहर गयी है। उनसे पत्नीका वियोग सहन नहीं हुआ। वे उससे मिलनेके लिये मध्यरात्रिमें ससुराल जा पहुँचे। चौमासे-(वर्षाऋतु-) की भयंकर रात्रि थी। नदीमें बाढ़ आ गयी थी। तुलसीदासने शवको लकड़ी समझकर उसे पकड़कर नदी पार किया। श्वशुरके मकानके पास आये। मकानमें प्रवेश करनेके लिये पेड़के ऊपर चढ़े। लटकते सर्पको डोरी समझ बैठे। उसके आधारसे मकानमें प्रवेश किया। वेदान्तमें रज्जुसर्पका दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है। अन्धकारमें—अज्ञानमें मनुष्य डोरीको सर्प समझ बैठता है। मिथ्याको सत्य समझ लेता है। यहाँ तो अतिशय आसक्तिमें तुलसीदासजीको सर्पमें डोरी दिखी। तुलसीदास बहुत कष्ट सहन कर, संकट काटकर पत्नीके पास पहुँचे। उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने चेतावनी दी—

> हाड़ माँस की देह मम तामें जैसी प्रीति।
> तिसु आधी जो राम प्रति अवसि मिटति भवभीति॥

'इस शरीरमें क्या सुन्दर है? शरीर तो हाड़-माँसका लोथड़ा है। इस शरीरसे मिलनेके लिये आपने इतना कष्ट उठाया! इतनी आसक्ति मुझमें? इससे इसकी आधी रामजीमें रखते तो आपका कल्याण हो जाता।' तुलसीदासजीको ज्ञान हुआ। जितनी आसक्ति पत्नीमें थी, उतनी प्रभुमें हो गयी।

मनपर कुटेव पड़ी हुई है। सुन्दर वस्तु देखते ही यह उसके पीछे दौड़ता है, उसका चिन्तन करता है। अनेक बार मन ऐसा समझता है कि मैं जिसका चिन्तन करता हूँ, वह वस्तु मुझे मिल नहीं सकेगी। पर मन उसका चिन्तन करता है—पाप करता है। सनातन-धर्मकी यह मर्यादा है कि पुरुष बिना कारण किसी स्त्रीकी ओर देखे नहीं; और स्त्री भी पुरुषको न देखे। आँखसे भले ही कोई दीख पड़े परंतु मनसे किसीको नहीं देखना चाहिये। स्त्री पुरुषका चिन्तन करे, पुरुष परस्त्रीका स्मरण करे—यह व्यभिचार-जैसा ही पाप है। उसका विहित दण्ड मिलता है। कुछ लोग समझते हैं कि शरीरसे पाप करनेपर ही सजा मिलती है, मनसे पाप करे उसकी सजा नहीं मिलती। कारण कि मनके पाप कोई देख नहीं सकता। पर यह समझ खोटी है। मनसे किये हुए पापकी भी सजा होती है। सर्वशक्तिमान् ईश्वर सबको देख रहा है। यह तो शरीरको भी जानता है और मनको भी जानता है। मनसे किये पापकी खबर जगत्को भले ही न मिले, परंतु ईश्वरको अवश्य मिल जाती है। तनके और मनके पापोको देखनेवाला और उसकी सजा देनेवाला ईश्वर बैठा है। चारित्र्यमें शरीर और मन दोनोंसे हुए पवित्र कार्य ही सहायक होते हैं।

श्रीरामजी सदाचार-संयमकी मूर्ति हैं। संयम कैसा होना चाहिये, श्रीरामजीने अपने चरित्रसे जगत्को शिक्षा दी—'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्' (श्रीमद्भा०)। आँखका संयम, जीभका संयम, कानका संयम—सर्व इन्द्रियोंका संयम पालन करके रामजीने बताया है। मनुष्यको सम्पत्ति थोड़ा सुख देती है, परंतु इन्द्रियोका संयम बहुत सुख देता है। चरित्रका आधार संयम है।

इन्द्रियाँ तो नौकर हैं। इन नौकरोके अधीन होना ठीक नहीं! आप जहाँ जाते हैं, वहाँ नौकर आता है अथवा नौकर जहाँ जाता है वहाँ आप? इन्द्रियोंके

अधीन होनेसे इन्द्रियाँ शत्रु सिद्ध होंगी—परंतु इन्द्रियाँ अधीन रहेंगी तो वे मित्र बनी रहेंगी। रामजी कभी किसी स्त्रीको आँख ऊँची कर नहीं देखते थे—

रामचन्द्रः परान् दारान् चक्षुषा नाभिवीक्षते।
(वा० रा०)

रामचन्द्रजीका आँखका संयम अधिक था। आँखोंमें बहुत शक्ति होती है। पर उस शक्तिका दुरुपयोग ही पाप तथा सदुपयोग ही पुण्य है। मानवकी इन्द्रियोंमें प्रभुने बहुत शक्ति दी है, परंतु मनुष्य उसका दुरुपयोग करता है। सनातनधर्मकी मर्यादा है कि पुरुष पर-स्त्रीको और स्त्री पर-पुरुषको आँख उठाकर न देखे। आँखसे देखी बात मनमें आती है। वह चित्र मनमें बस जाता है। आँखें बंद रहें तो व्यवहार चलेगा नहीं। अतः दृष्टि शुद्ध करनी चाहिये। दृष्टि दो प्रकारकी है—सापेक्षात्मक और उपेक्षात्मक। कहीं रास्तेमें पड़ा हुआ कचड़ा दिखायी देता है; उस कचड़ेके ऊपर नजर तो गयी होगी, परंतु कचड़ेको सभी उपेक्षाभावसे देखते हैं। इस जगत्‌को महापुरुष ऐसे ही उपेक्षाभावसे देखते हैं; सन्तजन अपेक्षात्मक दृष्टि केवल ईश्वरमें रखते हैं। किसी स्त्री अथवा पुरुषको आप अपेक्षाभावसे देखेंगे कि यह बहुत सुन्दर है, इससे सुख मिलेगा तो इससे आपका मन बिगडेगा। कोई स्त्री सुन्दर नहीं, कोई पुरुष सुन्दर नहीं, सुन्दर तो श्रीराम हैं। जगत् कदाचित् सुन्दर हो सके, परंतु जगत्‌का सौन्दर्य बहुत टिकता नहीं। फूल सुन्दर दीखता है। वह दो-चार घंटे बाद कुम्हला जाता है। फिर क्या वह पूर्ववत् सुन्दर लगता है? फूल जैसे कुम्हलाता है उसी तरह जगत् कुम्हलाता है। जगत्‌में केवल एक श्रीराम नहीं कुम्हलाते। देखिये—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकत-
स्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे
सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥

रामजीको कहा गया था कि आनेवाले कालमें आपका राज्याभिषेक होना है। यह सुनकर रामजी प्रसन्न नहीं हुए और राज्याभिषेकके मुहूर्त्तमें वनमें गये तो तनिक भी उदास न हुए।

छोटी-छोटी बातोंमें मुखकी कान्ति कुम्हला जाती है। रामजीसे कहा गया कि आपको कल पृथ्वीका राजा बनना है। वैसा सुनकर रामजीकी मुखश्रीमें वृद्धि नहीं हुई और राज्याभिषेकके मुहूर्त्तमें जब वनवास मिला, तब उसकी मुखश्री कुम्हलाई नहीं।

श्रीरामजी सुन्दर हैं। उनका सौन्दर्य स्थायी है; जगत् नहीं। कदाचित् यह सुन्दर दीखे भी तो वह स्थिर रहनेवाला नहीं। रामजी किसीपर दृष्टि नहीं डालते। कदाचित् किसी स्त्रीपर नजर जाय तो रामजी उसमें मातृभाव रखते हैं अर्थात् वह हमारी माता है। प्रत्येक स्त्रीको जो मातृभावसे देखता है वह रामजीको सुहाता है। जगत्‌के स्त्री-पुरुषोंको कामभावसे देखनेवाला ईश्वरको तनिक भी नहीं सुहाता। वह चरित्रशील नहीं हो सकता।

परमात्माने आँख तो सबको समानरूपसे ही दी है। धन देनेमें कदाचित् विषमता की हो, पर गरीब-श्रीमन्त—सबको प्रभुने आँख तो एक समान ही दी है। भक्तिमें आँख मुख्य है। पापका आरम्भ आँखसे ही होता है और भक्तिका आरम्भ भी आँखसे ही होता है। परमात्मा सुन्दर हैं, ऐसा जिसको विश्वास हो गया है, वह भक्ति करता है और संसार सुन्दर है, ऐसा जो समझता है, वह पाप करता है। जगत् खराब नहीं, परंतु वह बहुत सुन्दर भी नहीं। श्रीरामचन्द्रजी किसी-पर भी दृष्टि नहीं डालते, बिना कारण किसीको नहीं देखते थे। रामजी प्रत्येक स्त्रीमें मातृ-भाव रखते

हैं। यही तो उनकी मर्यादा थी और इसीसे वे पुरुषोत्तम हो सके।

रामजी इतने अधिक शुद्ध हैं कि जो रामजीका स्मरण करता है, वह भी शुद्ध हो जाता है। रामायण अनेक हैं। उनमें महापुरुषोंने अनेक भाँतिके रामजीका वर्णन किया है। श्रीएकनाथ महाराजकी भावार्थ-रामायण बहुत बड़ी है। अनेक रामायण पढ़कर एकनाथ महाराजने इसकी रचना की है। उस रामायणमें पैंतालीस हजार मराठी पद हैं। किष्किन्धाकाण्डमें वे कहते हैं कि 'इतनी कथा मैंने श्रीहनुमान्‌जीको सुनायी है। अब उसके पीछे श्रीरामजीकी प्रेरणासे यह कथा करता हूँ।'

लंकाका युद्ध चालू था। रावणके बड़े-बड़े महारथी युद्धमें मारे जा चुके थे। कुम्भकर्ण सोया हुआ था, तब युद्ध करनेके लिये रावणने उसको जगाया। कुम्भकर्णको खूब मदिरा पिलायी, खूब मांस खिलाया; कुम्भकर्ण रावणसे मिलने आया। उसने रावणसे पूछा—'मुझे क्यों जगाया है?' रावणने कहा—'रामजीके साथ युद्ध करनेके लिये तुमको जगाया है।' कुम्भकर्णने पूछा कि 'रामजीके साथ क्यों युद्ध हो रहा है।' रावणने बहुत बातें कीं। कहा—'सीताजीके लिये युद्ध हो रहा है।' कुम्भकर्णने रावणको समझाया कि 'लंकामें अनेकानेक देव-गन्धर्व-कन्याएँ हैं। फिर भी सीताजीकी चोरी करने क्यों गया? तुमने चोरी की। यह बड़ा खोटा काम किया। यह तेरी भूल है। तू सीताको किसलिये लाया है?'

रावणने कहा—'लङ्कामें बहुत-सी देव-गन्धर्व-कन्याएँ तो हैं, परंतु सीताजी-जैसी एक भी नहीं। सीताजी अति सुन्दर हैं। इनकी तुलनामें आ सके, ऐसी कोई नहीं। इस कारणसे मैं सीताजीको ले आया हूँ।' कुम्भकर्णने पूछा—'तू सीताजीको ले आया तो तेरी इच्छा पूरी हुई कि नहीं?' रावणने कहा—'मेरी इच्छा पूरी होती नहीं, सीताजी महान् पतिव्रता हैं। वे आँख ऊँची करके किसीको सामने देखती भी नहीं।'

जब कुम्भकर्णने रावणको सलाह दी कि तू नकली राम बनकर सीताजीके पास जा, तब रावणने कहा—मैंने करके देखा है। परंतु कुम्भकर्ण! मैं तुमसे क्या कहूँ—

कर्तुश्चेतसि रामरूपममलं दूर्वादलश्यामलं
तुच्छं ब्रह्मपदं परं परवधूसंगप्रसंगः कुतः॥

'कुम्भकर्ण! जब-जब मैं नकली राम बनता हूँ, तब-तब मेरे मनमें काम रहता ही नहीं।'

मायावी रावण कामरूप होनेकी शक्ति है, पर जब वह नकली राम बनता है, तब अन्य स्त्रीमें उसका मातृ-भाव हो जाता है। परस्त्रीमें अतिशय कामभाव रखनेवाले उस राक्षसके मनमें भी काम नहीं रह जाता। नकली रामकी ऐसी स्थिति है तो असली राममें कैसी होगी!

रामजीका चरित्र अति शुद्ध है। रामजी सम्पूर्ण रूपसे एकपत्नीव्रतधारी हैं। दशरथ महाराजसे थोड़ी भूल हुई। दशरथ महाराजने अनेक स्त्रियोंके साथ विवाह किया था। उनके राज्यमें एक पुरुष अनेक स्त्रियोंके साथ विवाह कर सकता था। श्रीरामजीको यह अच्छा नहीं लगा। श्रीरामजीने यह रीति सुधारी। राम-राज्यमें एक पुरुष एक ही स्त्रीसे विवाह कर सकता था, जगत्‌की अन्य प्रत्येक स्त्रीमें मातृ-भाव रखता था। रामजीको बहुपत्नी-प्रथा योग्य नहीं लगी फिर भी 'मेरे पिताजीने भूल की है'—ऐसा रामजी कभी बोले नहीं। पिताजीकी भूल रामजीने बहुत विवेक-युक्तिसे सुधारी। मैं एकपत्नीव्रतपालन करूँगा। मेरी प्रजा भी एक-पत्नीव्रतका पालन करे। यह था, रामका चारित्रिक आदर्श।

बड़ोंकी कोई भूल हो तो उसका अनुकरण करना ठीक नहीं। पिताजी प्याज खाते हो, गुरुजी तम्बाकू

खाते हों इसलिये पुत्र-शिष्य भी खाय, यह उचित नहीं। पिता अथवा गुरु जो पवित्र आचरण करते हों, उनका ही अनुकरण पुत्र अथवा शिष्यको करना चाहिये।

चार वर्षतक गुरुकुलमें रहकर ब्रह्मचारीके वेदशास्त्रोंके अध्ययनकर गुरुजीकी वन्दना करके कहा—'अब मुझे अन्तिम उपदेश दीजिये।' तब गुरुजीने कहा—'बेटा! अब तुझे घर जाकर विवाह करना है। मुझे आनन्द है, परंतु मेरा तुझे उपदेश है कि विवाह होनेके बाद याद रखना है कि तेरी माँ परमात्मा हैं, तेरे पिता परमात्मा हैं।' संसारमें ऐसा दीखता है कि विवाह होनेके बाद छोकरोंका माता-पिताके प्रति प्रेम धीरे-धीरे कम हो जाता है। सत्यपरामर्शदाता कोई न मिले तो नियत बिगड़ सकती है। अतः गुरुजी शिक्षा देते हैं—'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव'। बेटा! तेरे गुरुजीका क्रम तीसरा है। चार वर्षतक तू मेरे आश्रममें रहा है। मेरी कितनी ही भूलें तूने देखी होंगी। जीवमात्र भूल करता है। निर्दोष तो एक परमात्मा ही हैं। मैंने कोई भूल की हो, उस भूलको तू नहीं करना—'यान्यस्माकमनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि, यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।' 'मेरे जो पवित्र आचरण हैं उनका ही तुझे अनुकरण करना है। मैंने किसी समय क्रोध किया हो, मुझसे कोई पाप हुआ हो, उसका अनुकरण तू न करना। राम-राज्यमें प्रजा भी एक-पत्नीव्रतधारी थी। वे प्रजा-सहित सभी प्रकार चरित्रशील एवं सुखी थे। चरित्रवान् सर्वत्र सुखी ही रहते हैं।

उपनिषदोंमें चरित्र-शिक्षा

(लेखक—अनन्तश्री यतिचक्रचूड़ामणि काशी श्रीमत्पीठाधीश्वर जगद्गुरु स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य श्रीशिवरामाचार्यजी महाराज)

> यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं
> यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
> तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं
> मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

इस जगत्में सभी दुःखके त्याग और सुखकी इच्छा करते हैं। उसमें भी निरतिशय सुखमें सबका अधिक प्रेम होता है। आधुनिक समयमें लोग जिस किसी प्रकारसे भी इन्द्रिय-तृप्तिको ही वर्तमान जन्मकी परम सफलता मानते हैं। इस इन्द्रिय-तृप्तिके साधनभूत विषयोंके उपभोगमे ही मनको लगाये रखते है। वे इसके साधनभूत धनराशिको किसी भी उपायसे अर्जित करना परम पुरुषार्थ समझते हैं। ये उससे बढ़कर दूसरी कोई वस्तु नहीं मानते। दूसरी ओर कुछ विशिष्ट लोग विषयभोगोको अति तुच्छ समझते हुए उसके साधनभूत धनादिकको तृणके समान मानकर सच्चरित्र-निर्माणको सर्वोत्कृष्ट सुखका साधन मानते हैं। ये दो प्रवृत्तियाँ आज भी देखनेको मिलती हैं। किंतु वस्तुतः सुख तो धर्मानुष्ठान या चरित्र-निर्माणसे ही हो सकता है। प्राचीनकालमें ऋषि, मुनि, महात्मा, आचार्य शिक्षा-समाप्तिपर छात्रोंको तैत्तिरीयोपनिषद् अनुवाक् ११के अनुसार उपदेश दिया करते थे।

वहाँ कहा गया है कि—

'सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो। स्वाध्यायसे प्रमाद न करो। आचार्यकी आज्ञासे स्त्री-परिग्रह कर संतान-परम्पराका पालन करो। सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। धर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। कुशल (आत्मरक्षाके उपयोगी) कर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। देनेवाले माङ्गलिक कर्मोसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। ऐश्वर्य-स्वाध्याय और प्रवचनसे प्रमाद नहीं करना चाहिये।

देवकार्य और पितृकार्यमें प्रमाद नहीं करना चाहिये। तू माताको देवता मानो, पिताको देवता मानो, आचार्यको देवता मानो और अतिथिको देवता मानो। जो अनिन्द्य कर्म हैं, उन्हींका आचरण करना चाहिये; दूसरोंका नहीं। हमारे-(गुरुजनों-)के जो शुभ आचरण हैं, तुझे उन्हींकी उपासना करनी चाहिये। दूसरे प्रकारके कर्मोंकी नहीं। जो कोई हमारी अपेक्षा श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं, उनका आसनादिके द्वारा तुझे आश्वासन (श्रमापहरण) करना चाहिये। श्रद्धापूर्वक (दान) देना चाहिये—अश्रद्धासे नहीं देना चाहिये। अपने ऐश्वर्यके अनुकूल देना चाहिये, लज्जासे देना चाहिये। भयसे देना चाहिये; संवित्—मैत्रीसे भी देना चाहिये। यदि तुझे कर्म या आचारके विषयमें कोई संदेह हो तो वहाँ जो विचारशील कर्मसे नियुक्त, आयुक्त (स्वेच्छासे कर्मपरायण), अरुक्ष (सरलमति) एवं धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, वे उस प्रकरणमें जैसा व्यवहार करें, वैसा ही तू भी कर। यही अनुशासन है—

'ये तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः युक्ता आयुक्ता अलूक्षा धर्मकामाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन् तथा तत्र वर्तेथाः। एष उपदेशः। एषा वेदोपनिषत्। एतदनुशासनम्।'

इसी प्रकार जिनपर संशययुक्त दोष आरोपित किये गये हों उनके विषयमें, वहाँ जो विचारशील, कर्ममें नियुक्त अथवा आयुक्त (दूसरोंसे प्रेरित न होकर स्वतः कर्ममें परायण), सरलहृदय और धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, वे जैसा व्यवहार करें, तू भी वैसा ही कर। यह आदेश-विधि है, यह वेदका रहस्य है और ईश्वरकी आज्ञा है। इसी प्रकार तुझे उपासना करनी चाहिये। ऐसा ही आचरण करना चाहिये। इस श्रुति-वाक्यमें आचार्य विद्यार्थि-वर्गको सत्य बोलने और धर्माचरण करनेके लिये दो-चार उपदेश देते हैं।

इससे इस बातका भी ज्ञान होता है कि प्राचीन भारतवर्षमें सत्य और धर्मकी सत्ता रही है। भारतमें बौद्धिक चेतनाके शाश्वत स्रोत हमारे चिन्तक दार्शनिक तथा साहित्यद्रष्टा प्रकृतिकी गोदमें ही निवास कर अनन्त ऊर्जा तथा अलौकिक प्रतिभाको प्राप्त किया करते थे। चक्रवर्ती राजालोग भी वनोंमें ऋषि-मुनियोंके चरणोंमें बैठकर ही सुख और शान्ति लिया करते थे। इस देशके बालकोंकी शिक्षामें सच्चरित्र-निर्माणकी आज नितान्त आवश्यकता है।

चरित्रबल और ब्रह्मचर्य ही भारतीयोंके चिर-स्वातन्त्र्यके मूल उत्स हैं

(लेखक—डॉ० श्रीनीरजाकान्तजी चौधुरी देवशर्मा, विद्यार्णव, एम्० ए०, एल्-एल्० बी०, पी-एच्० डी)

कालके प्रबल प्रवाहमें अनेक सुमेरु, अक्कड़, मिस्र, ईरान, ग्रीस, रोम आदिकी प्राचीन सभ्यताएँ नष्ट-भ्रष्ट तथा लुप्त हो गयीं। किंतु भारतकी सर्वप्राचीन एवं सर्वोत्कृष्ट वर्णाश्रमकी व्यवस्था आज भी स्वदेशमें प्रतिष्ठित है। विचारणीय है कि उसकी यह चिर अमर-जीवनी-शक्तिके मूल उत्स और कारण क्या है? हमारा दृढ़ विश्वास है कि भारतीयोंकी धर्मानुवर्तिता, चरित्रबल एवं विशेषरूपसे ब्रह्मचर्य ही इसका प्राणकेन्द्र है। यहाँ वेद तथा तन्मूलक शास्त्रोंके आधारपर इस विषयका विवेचन किया जा रहा है। ब्रह्मचर्य अप्रतिहत वीर्य तथा ब्रह्मलोक-ब्रह्मविद्या-प्रापक है। योगशास्त्रमें इसकी बड़ी महिमा है; यथा—**'अहिंसासत्यास्तेय-ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।'** (साधनपाद ३०) **'ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।'** (वही ३८)। तात्पर्य यह कि सुदुर्लभ ब्रह्मविद्या भी ब्रह्मचर्यद्वारा प्राप्त हो सकती है। भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें ब्रह्मचर्यको शारीरिक

तपस्या कहा है (अ० १७ । १४) । महर्षि सनत्सुजातने महाराज धृतराष्ट्रके पास ब्रह्मचर्यके माहात्म्यका विस्तृत वर्णन किया है । यहाँ उसका मात्र एक श्लोक दिया जा रहा है—

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं
यन्मां पृच्छन्नतिहृष्यतीव ।
बुद्धौ विलीने मनसि प्रचिन्त्या
विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या ॥

(महा० उद्योग० सनत्सुजात० ४४ । २)

'राजन् ! आपने मुझसे जो ब्रह्मविद्याका विषय पूछा, वह त्वरायुक्त मानवको लभ्य नहीं है । मन प्रलीन होनेपर बुद्धिमें वह विद्या अवभासित होती है । ब्रह्मचर्यसे ही उसको लाभ करना सम्भव है ।' ब्रह्मचर्यका अर्थ स्त्रीसंग-त्याग है । परन्तु उसे नारीसङ्गी पुरुषसे भी दूर रहना चाहिये । छान्दोग्य-उपनिषत्-(सामवेद-छान्दोग्य-शाखा-)का कथन है—'अथ यद् यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दतेऽथयदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वात्मानमनुविन्दते ॥' (छा० अ० ८ । ५ । १) अर्थात् 'जिसे 'यज्ञ' कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है । कारण जो 'ज्ञाता' अर्थात् शास्त्रोंका मर्माभिज्ञ है, वह भी ब्रह्मचर्यद्वारा ही उस ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है और जिसको 'इष्ट' वा उपासना कहते हैं, वह भी ब्रह्मचर्य ही है । कारण लोग ब्रह्मचर्यके अनुष्ठानद्वारा ही आत्माको अर्थात् ब्रह्मलोकको प्राप्त करते हैं ।' (महामहोपाध्याय दुर्गाचरण, सांख्य-वेदान्ततीर्थके अनुवादका सारांश ।)

मुण्डकका भी कथन है—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा
सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् ।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो
यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

(३ । १ । ५)

'शुद्धचित्त यतिगण जिन्हें दर्शन करते हैं, वह ज्योतिर्मय शुभ्र आत्मा ही निरन्तर सत्य, तपस्या, सम्यक् ज्ञान एवं ब्रह्मचर्यद्वारा ही लाभ होता है ।' कठोपनिषद्की श्रुतिमें यमराज ब्राह्मणबालक नचिकेतासे कहते हैं—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत् ॥

(१ । ५)

'समस्त वेद जिस वाञ्छिततम वस्तुको उत्तमरूप प्रतिपादित करते हैं, निखिल तपस्या भी जिसको लाभ करनेका उपाय है तथा जिसकी अभिलाषा कर लोग ब्रह्मचर्यका आचरण करते हैं, तुझे मैं उस परमप्राप्य पदकी कथा संक्षेपमें कहता हूँ—वह है 'ओम्' । यह स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्यद्वारा ही पूर्ण शारीरिक स्वास्थ्य, असाधारण शक्ति, वीर्य एवं आयुका लाभ होता है । फिर, ब्रह्मचारीको योगकी सारी विभूतियाँ, यहाँतक कि अप्रतिहत अणिमादि अष्ट सिद्धियाँ मिल जाती हैं । ब्रह्मविद्या, आत्मज्ञान, पर एवं अपर ब्रह्म—सब ब्रह्मचारीको ही प्राप्त होते हैं ।'[1]

ब्रह्मचर्य-आश्रम—वेद अनादि एवं अपौरुषेय हैं । ये ईश्वर-निःश्वसित एवं स्वतःप्रमाण हैं । वेदोंके कई मन्त्रोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चार वर्णों तथा कई संकर जातियोंके भी उल्लेख हैं ।[2] वेदमन्त्रकी

१—महात्मा श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथकी पुस्तक 'विरक्त पूजा' (१३—७२ पृ०)में भी ब्रह्मचर्यकी महिमाका विस्तृत विवरण है ।

२—जन बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसाम् ॥ (अथर्ववेदसंहिता)

अधिकार केवल प्रथम तीन वर्णको उपनयन-दीक्षाके पश्चात् होता है। जिन वर्णों या जातियोंका उपनयन नहीं होता उन्हें इसमें अधिकार नहीं है। कारण, उनका उपनयनद्वारा वैदिक मन्त्रोंमें दीक्षा वर्जित है।

वर्णाश्रमी भारतीय समाजमें चार आश्रमोंमें अधिकार निम्नरूप हैं[3]। (१) ब्राह्मणके चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास। (२) क्षत्रियके तीन आश्रम है—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य और वानप्रस्थ। (३) वैश्यके दो आश्रम—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, एव (४) शूद्रका एक आश्रम—गार्हस्थ्य मात्र निर्दिष्ट हैं। वर्णाश्रमके अनुसार तीन वर्णों या समुदायके बालक गुरुगृहमें ब्रह्मचर्य-पालन करते थे। ब्राह्मण-माणवक ५वर्षसे ३६, कोई-कोई ४८ वर्ष तक ब्रह्मचारी रहते थे। क्षत्रिय ११वर्षसे, वैश्य थोड़ी और देरसे उपनयन लेते थे और उनका समावर्तन शीघ्र होता था। ये सभी ब्रह्मचारी बालक भूमिपर कुश एवं मृगचर्मपर सोते थे। ब्राह्म-मुहूर्तमें उठकर शौच आदि एवं स्नानके अनन्तर संध्या-गायत्री-जपादि नित्य-कर्म करते थे। हवनके लिये समिधा—काष्ठादि आहरण, भिक्षाटन करना पड़ता था और तीन बार स्नानका नियम था। कठोर संयम, नाना व्रत, उपवास, फल-मूल आहार, त्रिकालसंध्या, दीर्घ उपासना, तपस्या आदिसे स्वाभाविकतया उनके चरित्र बाल्यकालसे ही ठोस आध्यात्मिक भित्तिपर गठित होते थे और वे धार्मिक बन जाते थे। शूद्र और अन्य जातिके लोग उच्च वर्णके शारीरिक ब्रह्मचर्यका अनुसरण करते थे।

विवाहितका ब्रह्मचर्य—शास्त्रका आदेश है कि सर्व-जातिके विवाहित स्त्री-पुरुष केवल सन्तानार्थ ऋतुकालमें (प्रथम ४ दिन छोड़कर) प्रतिमास मात्र एक बार दैहिक सम्पर्क करेंगे। यद्यपि यह असिधारा व्रतसे भी कठिन है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि इस नियमका उच्च आदर्श प्राचीन भारतके अधिकतर परिवारोंमें पालित होता था। यही है विवाहितका ब्रह्मचर्य। पशु भी मात्र ऋतुकालमें ही संगति करता है और एक बारमें गर्भ रह जाता है। ठीक उसी प्रकार यौवन पर्यन्त अस्खलित ब्रह्मचर्य रहनेपर पति-पत्नीका एक बार दैहिक संयोग होनेसे ही गर्भाधान हो जाता है। विवाहित जीवनकालमें २४। २५ वर्षमें मात्र १०-१२ बार पति-पत्नीका दैहिक मिलन होता होगा, कारण दोनो ही अखण्ड ब्रह्मचर्यद्वारा अमोघ-वीर्य बन जाते थे। अतएव संतान-संख्या स्वाभाविक ही स्वल्प होती थी। संयम ही संतान-निरोधक था।

एक पुत्र तथा तीन-चार संतान होनेपर पति-पत्नी भ्राता-भगिनीवत् रहते थे। यह प्राचीन आदर्श आज भी भारतमें पालित हो सकता है। गाँधीजीका भी उपदेश इसी प्रकारका रहा। बनेड़ा-(उदयपुर-) के राजकुमार मानसिंहजीकी माता रानी साहिबाने इस आदर्शको अपनाया था। ठाकुर रामकृष्ण परमहंस, माँ शारदादेवी, माँ आनन्दमयी आदिने विवाहित होनेपर भी अखण्ड ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया—यह प्रसिद्ध है।

वानप्रस्थमें ब्रह्मचर्य—वानप्रस्थ आश्रममें केवल ब्राह्मण और क्षत्रियका अधिकार है। वानप्रस्थी गृह त्यागकर वनमें रहता है। साथमें स्त्री रह सकती है, परंतु पूर्ण ब्रह्मचर्यव्रत रखना चाहिये—भूमिपर सोना, फल-मूल-नीवारादि अकृष्टपच्य आहार, नित्य हवन-व्रतादिका पालन इत्यादि। इस आश्रममें नखच्छेद, केश-वपन आदि निषिद्ध है।

भगवान् श्रीरामने जगन्माता सीतादेवी और लक्ष्मणके साथ वनवासमें इसी वानप्रस्थ नियमका पालन किया था।

३-ब्राह्मणस्याश्रमाश्चत्वारः क्षत्रियस्याद्यास्त्रयो वैश्यस्य द्वावेव। तदाश्रमिणश्चत्वारः ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुरिति॥ (वामनपुराण, १४ तथा वैखानसधर्मसूत्र ८। १। १०-१३)

आपने लंका-विजयके बाद भी पुरी प्रवेश नहीं किया। पाण्डवोंने भी द्रौपदीके साथ इसी प्रकार वानप्रस्थ १२ वर्ष किया था।

आदर्श ब्रह्मचारी श्रीलक्ष्मण—श्रीलक्ष्मणजीने श्रीराम-सीताके साथ १४ वर्ष वनवासके समय साथ रहकर अहर्निश उनकी सेवा की थी। रावणद्वारा आकाश-पथमें सीताको ले जाते समय सीतादेवीने रामको सकेतके लिये कुछ आभूषण ऋष्यमूक पर्वतपर नीचे गिरा दिये थे। वानरराज सुग्रीवने उन्हें उठाकर रख लिया था। श्रीरामने ऋष्यमूक पर्वतमें उन आभूषणोंको पहचाननेके लिये जब कहा तो लक्ष्मणजीने कहा—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥
(वा० रा० कि० ६)

'मैं केयूर तथा कुण्डलको पहचान नहीं सकता, परंतु नित्य सीतादेवीकी चरणवन्दना करनेसे नूपुरद्वयको मै उत्तमरूपसे जानता हूँ।' यहाँ उन्होंने ब्रह्मचर्यकी मर्यादा तथा कीर्तिमान इस उत्तरमें सर्वकालके लिये स्थापित कर दिया। परमाश्चर्यकी बात होनेपर भी यह सत्य है। दीर्घ काल—१४ वर्ष अनुश्रव साथ रहकर लक्ष्मणजी उनकी सेवा करते रहे। किंतु उन्होंने अपनी भौजी सीतादेवीके चरणसे ऊपरके किसी भी अङ्गपर कभी दृष्टि नहीं डाली। कठोर ब्रह्मचर्य पालन करनेके प्रभावसे ही लक्ष्मणजीने मेघनादके वधकी शक्ति प्राप्त की थी। इसी प्रकार महात्मा देवव्रतने पिता महाराज शान्तनुके सुखके लिये राज्य त्यागकर आमरण ब्रह्मचर्यको वरण किया। हनुमान्‌जी पूर्ण ब्रह्मचारी है एवं इसीलिये अमर है। भारतके इतिहासमें ब्रह्मचर्यके महान् आदर्श कभी म्लान नहीं हुए।

संन्यासमें ब्रह्मचर्य—मात्र ब्राह्मणको ही संन्यास-आश्रमका अधिकार है। क्षत्रिय भी संन्यास ग्रहण नहीं कर सकता। संन्यासीको सुकठोर ब्रह्मचर्य व्रत करना पड़ता है। स्त्री-चिन्तनतक उनके लिये निषिद्ध है। इस प्रकार सिद्ध है कि ब्राह्मण ५ वर्षके वयसे आजीवन ब्रह्मचारी ही रहता था।

नारीका ब्रह्मचर्यव्रत—वैदिक शास्त्रानुसार रजोदर्शनके पहले ही कन्याओका विवाह होना चाहिये। इस देशमें पहले प्रेम, बादमें विवाह कभी नहीं था। मुस्लिम आक्रमणके समयतक वर्णाश्रमके नियम यथावत् पालित होते रहे। लेखकने देखा है कि विदर्भ देश-(वरार-) में कई गाँवोंका नाम 'तपोन' है। यह 'तपोवन' का अपभ्रंश है। भास, कालिदास आदिके नाटकोमे तपोवनके जो चित्र हैं, वे सब निराधार कविकी कल्पना मात्र नहीं है। २३,०० वर्ष पूर्व ग्रीक राजदूत मेगास्थनीजके वर्णनसे प्रमाणित होता है कि ब्राह्मण ब्रह्मचारी ३७ वर्ष (मनुके आदेशानुसार ३६ वर्ष) तक गुरुगृहमें ब्रह्मचर्य रहा करते थे। अनूढ़ा कन्या विवाहकालपर्यन्त पितृगृहमें कुमारी ब्रह्मचारिणी रहती थी।[४] ५५ वर्ष पहले विधर्मी अंग्रेज

४—वेदमें कुमारी कन्याके ब्रह्मचर्यका मन्त्र है—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। (अथर्व सं० ११।५।१८)

'अत्रापि ब्रह्मचर्यं प्रशस्यते। (कन्या) अकृतविवाहा स्त्री ब्रह्मचर्यं चरति तेन (ब्रह्मचर्येण) (युवानं) युवत्वगुणोपेतमुत्कृष्टं (पतिं) (विन्दते) लभते।' (सायणभा० का साराश) अर्थात् 'यहाँ ब्रह्मचर्यकी प्रशंसा की गयी है। कुमारी कन्या ब्रह्मचारिणी रहती है और उसके प्रभावसे उत्कृष्ट युवा पति लाभ करती है।'

सरकारने १४ वर्षके पूर्व कन्याका विवाह निषिद्ध किया। अब तो जनता-सरकारने मनमाना १८ सालके नियमको बाँध दिया है। ये सब अधिनियम नारीकी चरित्र-शुद्धिके घातक हैं। इनसे नारी-चरित्रका गठन नहीं हो सकता।

भारत सतियोंकी भूमि है। यहाँ विधवा होनेपर पतिव्रता सती सहमरणीय मानी जाती रही। १८२८ में कानूनद्वारा सहमरण बंद किया गया। परंतु आज भी सहमरण कभी-कभी हो ही जाता है। १८५६ में विद्यासागर द्वारा विधवा-विवाह-विधि सिद्ध करनेका अनुचित प्रयत्न किया गया। भारतीय जातिमें विधवा स्त्री आमरण ब्रह्मचारिणी रहती है। शास्त्रों तथा इतिहासमें कहीं विधवा विवाहका एक भी उदाहरण नहीं मिलता। हिन्दू कोडद्वारा सगोत्र विवाह, विवाह-विच्छेद आदि सिद्ध कर सनातनधर्मके ऊपर भीषण कुठाराघात किया गया है। सहशिक्षा, नारी-नृत्य, स्त्री-पुरुषके एकत्र गीत-नाटकादिको प्रोत्साहन दिया जा रहा है। सिनेमा, क्लब, पार्टी, खेल-कूदमें अविकल पाश्चात्य सभ्यताकी नकल हो रही है। फिर भी भारतमें साधारण चरित्र दूसरे देशोंसे सर्वाधिक पवित्र है और हमारा दृढ़ विश्वास है कि यह आगे भी रहेगा।

भारतीय जातिके ब्रह्मचर्य-व्रत तथा चरित्र आज भी पृथ्वीभरमें श्रेष्ठ हैं। भारतीय वर्णाश्रमी समाजका गठन इतना उत्तम था और यहाँका वैयक्तिक नैतिक चरित्र आज भी इतना उच्च है कि दूसरे देशोंसे इसकी तुलना नहीं की जा सकती है।

आयुर्वेदके मतमें —

निर्मल चरित्रसे बिना ओषधि रोगमुक्ति

(लेखक—वैद्य श्रीज्ञाननिधिजी अग्रवाल, आयुर्वेदाचार्य)

आयुर्वेदके आर्षग्रन्थोंमें सुन्दर स्वास्थ्यके लिये चरित्रकी निर्मलता आवश्यक बतायी गयी है। सच्चरित्रको कभी गम्भीर रोग नहीं होता; हो भी जाय तो शीघ्र मिट जाता है। सुदृढ़ स्वास्थ्यके साथ-साथ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-रूपी चतुर्वर्ग भी चरित्रवान्को सरलतासे प्राप्त हो जाते हैं। अतः चरित्रकी अनिवार्यता स्पष्ट है।

आयुर्वेदके तीनों महर्षियोंने स्वस्थ रहनेके लिये सद्वृत्त—सच्चरित्र-पालनकी आवश्यकता बतायी है। ईर्ष्या, भय, क्रोध आदि विकारोंकी स्थितिमें साधारण भोजन भी दूषित हो जाता है। अच्छी संगतिसे, शुद्ध संस्कृतिसे पवित्र संस्कार बनते हैं। धर्माचरणयुक्त संस्कार ही भावी चरित्रका निर्माण करते हैं। अच्छे चरित्रसे मन निर्मल रहता है। समाज, ईश्वर और कानूनका भय ही मानवको दुश्चरित्र होनेसे रोकता है। सच्चरित्रवान् दूसरोंको निर्भय बनाता है।

चरित्रवान् व्यक्तिके रक्तचाप, हृदयकी दुर्बलता, मधुमेह, केन्सर, टी० बी० आदि बीमारियाँ नहीं होती हैं; हो भी जायँ तो कष्टदायक नहीं होतीं। उन्हें मृत्युका भय नहीं रहता। खान-पानमें असंयम रखनेसे बीमारीका भय रहता है। यह बीमारीका भय भी शुद्ध चरित्रके निर्माणमें सहायता करता है। ममता और कामना मनको दुर्बल, विक्षिप्त करती हैं। कर्म करते समय स्वार्थकी भावनाका त्याग करनेसे मनको शक्ति मिलती है। प्रयत्न इच्छाके और इच्छा ज्ञानके अधीन है। इच्छा कर्मकी जननी है। ज्ञान इच्छाका जनक है। त्यागसे ज्ञान मिलता है।

इच्छा और कामना ही सम्पूर्ण रोगोंकी जननी है। दृष्ट, अदृष्ट, प्राप्त और अप्राप्त कर्मफल भी पुनीत चरित्रसे कष्टदायक नहीं रहते। अपनेसे शरीरको अलग समझनेसे पीड़ाका बोध उतने समयतक कम हो जाता है। इसके लिये ही चरित्रकी निर्मलता और त्याग आवश्यक है।

चारित्रिक प्रेरणाके मूल स्रोत-वेद

(लेखक—श्रीजगन्नाथजी वेदालंकार)

राजर्षि मनुने धर्मका मूल स्तोत्र बतलाते हुए वेदको सर्वप्रथम स्थान दिया है—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥
(मनु० २ । ६)

'समस्त वेद, वेदके जाननेवालोंकी स्मृतियाँ और उनका शील, धार्मिकोंका आचार और अन्तरात्माकी आन्तरिक तुष्टि—ये धर्मके मूल हैं ।' चारित्र्यका निर्माण करनेवाले दैवी तत्त्व वेदमें कूट-कूट कर भरे हैं । यहाँ उनका कुछ दिग्दर्शन कराया जा रहा है—

सत्यमूचुर्नर एवा हि चक्रुरनु स्वधामृभवो जग्मुरेताम् । (ऋ० ४ । ३३ । ६)

'नर सदा सत्य ही बोलते आये हैं और उन्होने सदा सत्यका ही आचरण किया है और इससे उन बुद्धिमान् जनोंने सर्वसमर्थ आत्मिक शक्ति प्राप्त की ।'

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय
सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत् सत्यं यतरद् ऋजीय-
स्तदित् सोमो अवति हन्त्यासत् ॥
(ऋ० ७ । १०४ । १२; अथर्व० ८ । ४ । १२)

'मनुष्य जब सत्य और श्रेष्ठ ज्ञानकी खोजमे होता है तब उस विवेकशील पुरुषके सामने सत्य और असत्य वचन दोनों स्पर्धा करते हुए आते हैं । उन दोनोंमेंसे जो सत्य है, उसका सोम परमेश्वर रक्षा करते हैं और असत्का नाश कर देते हैं ।'

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥
(ऋ० ८ । २ । १८, अथ० २० । १८ । ३)

'देवलोग श्रेष्ठ और निःस्वार्थ यज्ञ-कर्म करनेवालेको ही चाहते है, निद्राशील आलसियोको नहीं । स्वयं आलस्यरहित वे गलती एवं भूल करनेवालेका नियमन करते हैं ।'

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः ।
मान्तः स्थुर्नो अरातयः ॥ (ऋ० १० । ५७ । १; अथर्व० १३ । १ । ५९)

'परमेश्वर ! हम सन्मार्गको छोड़कर न चलें । ऐश्वर्यशाली होते हुए भी हम यज्ञका मार्ग छोड़कर न चलें । हमारे अंदर काम, क्रोध आदि शत्रु न रहे ।'

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् ।
यज्ञं दधे सरस्वती ॥ (ऋ० १ । ३ । ११)

'सची और प्यारी वाणीको प्रेरित करती हुई और अच्छी बुद्धियोंको चेताती हुई सरस्वती देवी हमारे जीवन-यज्ञको धारे हुए चल रही है ।'

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं बृहस्पतिर्मे तद्दधातु । शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥
(यजु० ३६ । २)

'मेरी ऑख आदि बाह्य इन्द्रियोका जो छिद्र एवं दोष है, उनकी जो त्रुटि एवं न्यूनता है, मेरे हृदयका, मन या बुद्धिका, जो गहरा छिद्र एवं दोष है, उसे इस बृहत् विश्वका ज्ञानमय रक्षक परमेश्वर ठीक कर दे । भुवनका स्वामी हमारे लिये कल्याणकारी हो ।'

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज ।
उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृताँ अनु ॥(यजु० ४ । २८)

'मेरे जीवन-यज्ञके अग्रणी अग्निदेव ! मुझे दुश्चरितसे सब ओरसे बचा और सुचरितमें मेरी प्रीति और भक्ति हो । मै उसीका सेवन करूँ । देवो और देवोपम मानवोंका अनुसरण कर मै अपने जीवनमें उत्थानके मार्गपर आरूढ होऊँ और फिर सजीवनसे, सर्वाङ्गसुन्दर जीवनसे उच्च स्तरपर प्रतिष्ठित हो जाऊँ ।'

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि। नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चारित्रांस्ते शुन्धामि॥
(यजु० ६। १४)

'मैं तेरी वाणीको शुद्ध करता हूँ, तेरे प्राण, तेरे नेत्र और श्रोत्रको शुद्ध करता हूँ। मै तेरी नाभि, उपस्थेन्द्रिय और गुदाको शुद्ध करता हूँ, मै तेरी सभी इन्द्रियोंके चरित्र, व्यवहार और वर्तनको शुद्ध करता हूँ।'* जब शरीरकी समस्त इन्द्रियोका व्यवहार सर्वथा शुद्ध पवित्र होता है, तभी मनुष्य चरित्रवान् और सच्चरित्र कहा जाता है। यदि किसी एक भी इन्द्रियका व्यवहार अयोग्य, अशुद्ध और अपवित्र है तो मनुष्य चरित्रहीन है।

प्रतिष्ठायै चरित्राय अग्निष्ट्वाऽभि पातु।
(काठकसंहिता ३९। २३; यजु० १३। १९)

'तेरे जीवन-यज्ञका पुरोहित अग्नि तेरी प्रतिष्ठा और चरित्रको बनाये रखनेके लिये तेरी रक्षा करे।'

चरित्रांस्ते मा हिंसिषम्।
(यजुर्वेदीय काठकसंहिता ३, २२)

(माता, पिता और आचार्य) पुत्र एवं शिष्यके चरित्रको, आचरणोको किसी प्रकार भी बिगड़ने या नष्ट होने न दे।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभि-
र्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
(ऋ० १। ८९। ८; यजु० २५। २१; साम०उ० ९। ३। ९)

'यजनीय देवो! हम कानोसे भद्रका ही श्रवण करे, आँख आदि इन्द्रियोसे भद्रको ही देखे एवं अनुभव करें। अपने दृढ़ अङ्गोंसे, अपने सुदृढ़ शरीरोसे सदा स्तुति-पूजा करते हुए हम ईश्वर-प्रदत्त आयुको प्राप्त कर लें।'

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति
यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम्।
द्वौ सं निषद्य यन्मन्त्रयेते
राजा तद् वेद वरुणस्तृतीयः॥
(अथर्व० ४। १६। २)

'जे मनुष्य खड़ा है या चलता है, जो दूसरोंको ठगता है, जो छिपकर कुछ करतूत करता है, जो दूसरोंको भारी कष्ट देकर अत्याचार करता है और जब दो आदमी मिलकर, एक साथ बैठकर जो कुछ गुप्त मन्त्रणाएँ करते हैं उन्हें भी सर्वश्रेष्ठ वरुण परमेश्वर तीसरा होकर जानता है।'

जुहुरे वि चिन्तयन्तो अनिमिषं नृम्णं पान्ति।
आ दृढां पुरं विविशुः॥ (ऋ० ५। १९। २)

'जो ज्ञानपूर्वक स्वार्थ त्याग करते हैं और लगातार जागते हुए अपने आत्मबलकी रक्षा करते रहते हैं; वे परमात्माकी दृढ़ अभेद्य नगरीमे प्रविष्ट हो जाते हैं।'

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयो-
तान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया
श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥
(अथ० ११। ५। ४)

ब्रह्मचारी शरीरकी समिधासे, शरीरके त्याग और बलिदानसे स्थूल पृथिवीलोकको तृप्त और परिपूर्ण करता है, मनकी समिधासे, मानसिक तेजके अर्पणसे अन्तरिक्षलोकको तृप्त करता है और आत्मप्रकाशसे द्युलोकको। वह मेखलासे, कटिबद्धतासे, श्रमसे और तपसे तीनो लोकोंका, संसारके सब लोगोका पालन-पोषण करता है और उन्हे पूर्णता प्रदान करता है।

अश्मन्वती रीयते सं रभध्व-
मुत्तिष्ठत प्र तरता सखायः।
अत्रा जहाम ये असन्नशेवाः
शिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान्॥
(ऋ० १०। ५३। ८, यजु० १५। १०, अथर्व० १२। २। २६)

* कात्यायनकी यजुरनुक्रमणिका तथा सायण आदिके अनुसार यह मन्त्र अश्वमेधके अश्वप्रोक्षणीमें विनियुक्त है।

'पत्थरों-शिलाओंवाली संसार-नदी वेगसे बह रही है। हे साथियो! हे सखाओ! उठो, मिलकर एक दूसरेको सहारा दो और इस नदीको प्रबलतासे पार कर जाओ। जो हमारे अकल्याणकर संग्रह हैं, व्यर्थके बोझिल परिग्रह हैं, उन्हे हम यहीं छोड़ देवे और कल्याणकारी सुख, बल तथा धनको पानेके लिये हम इस नदीके पार हो जायँ।'

क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगमा शुचे।
मृळा सुक्षत्र मृळय। (ऋ० ७। ८९। ३)

'परम तेजोमय! परम पवित्र परमेश्वर! दीनता, दुर्बलताके कारण मै अपने संकल्पसे, प्रज्ञासे, कर्तव्यसे उलटा चला जाता हूँ। शुभशक्तिशालिन्! मुझपर कृपा कर, मुझे सुखी करो।'

यदन्तरं तद् बाह्यं यद् बाह्यं तदन्तरम्।
(अथर्व० २। ३०। ४)

'जो तेरे अंदर हो वही बाहर हो और जो बाहर हो वही अंदर।'

'केवलाघो भवति केवलादी' (ऋ० १०। ११७। ६)

'अकेला खानेवाला मनुष्य केवल पापको ही भोगनेवाला होता है।'

अनागसो अदितये स्याम।
(ऋ० १। २४। १५; यजु० १२। १२; साम०पू० ६। ३। १०। ४; अथर्व० ७। ८३। ३)

अखण्ड-अनन्त-चित्स्वरूपा जगज्जननी अदिति माताके सामने हम निष्पाप, निष्कलङ्क होकर रहे—उनका अखण्ड चैतन्य और असीम विशालता प्राप्त करनेके लिये।

उद्यानं ते पुरुष नावयानम्॥ (अथर्व० ८। १। ६)

'ओ मनुष्य! तेरा उत्थान ही हो, उन्नति ही हो, नीचे पतन कभी नहीं हो।'

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः॥
(ऋ० ४। ३३। ११)

'बिना स्वयं परिश्रम किये, बिना थके देवोंकी मैत्री एवं सहायता नही मिलती।'

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
(अथर्व० ७। ५२। ८)

'मेरे दाये हाथमे कर्म पुरुषार्थ है और मेरे बायें हाथमे विजय रखी हुई है।'

शुद्धाः पूता भवत यज्ञियासः (ऋ० १०। १८। २; अथर्व० १२। २। ३०)

'बाहरसे शुद्ध, अंदरसे पवित्र और यज्ञमय जीवनवाले हो जाओ।'

उद्वयं तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥
(ऋ० १। ५०। १०, अथर्व० ७। ५। ५३)

'हम अन्धकारसे ऊपर ऊँचे उठकर, अधिक उच्च प्रकाशको देखते हुए, सब प्रकाशोंके प्रकाशक, सब देवोंके देव, सर्वप्रेरक महासूर्यको, सबसे उत्तम ज्योतिको प्राप्त करे।'

गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम्।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि॥
(ऋ० १। ८६। १०)

'मरुत्-देवो! प्राणशक्तियो! हृदय-गुहाके अँधेरेको विलीन कर दो। सब खा जानेवालोको, राक्षसी शक्तियोंको दूर भगा दो। जिस दिव्य ज्योतिकी हम कामना कर रहे हैं उसे प्रकाशित कर दो।'

उदीर्ध्वं जीवो असुर्न आगादप
प्रागात्तम आ ज्योतिरेति।
आरैक् पन्थां यातवे सूर्याया-
गन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥
(ऋ० १। ११३। १६)

'मनुष्यो! उठो, हमारे लिये नवजीवनका प्राण आ गया है। तामसी निद्राका अन्धकार हट गया है। नयी दिव्य उषाकी ज्योति आ रही है। उसने सूर्यका मार्ग प्रशस्त कर दिया है। हम उस अवस्थामे पहुँच गये है जहाँ जीवन-शक्तियाँ जीवनको बढाती ही हैं।'

परो पेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परे हि न त्वा कामये वृक्षाँ वनानि
सं चर गृहेषु गोपु मे मनः॥
(अथर्व० ६। ४५। १)

'ओ मेरे मनके पाप ! दूर हट जा। क्यों निन्दित सलाहें दे रहा है? परे हट जा, मैं तुझे नहीं चाहता। वनोंमें, वृक्षोंपर जा विचर। मेरा मन तो घरके धन्धोंमें तथा अन्य लोकोपकारक कार्योंमें व्यस्त है।'

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्
त्वा हृदा शोचता जोहवीमि।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं
यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति॥
(अथर्व० २। १२। ३)

'सोमपायी इन्द्रदेव ! सुनिये, मैं आपका ध्यान करता हुआ आपसे पुकार-पुकारकर कह रहा हूँ; जो भी मेरे मनकी हत्या करने आयेगा, मुझे पतनकी ओर ले जानेका प्रयत्न करेगा, उसे काट डालूँगा, जैसे कुल्हाड़ीसे वृक्षको काटा जाता है।'

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्रम॥
(अथर्व० २। ११। ५)

'मेरे आत्मन् ! तू पवित्र है तू तेजोमय आनन्दस्वरूप और ज्योतिर्मय है। तू मनुष्यके सामान्य स्तरको अतिक्रम करके उच्चतर कल्याणको प्राप्त कर ले।'

'अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः।'
(अथर्व० १९। ५१। १)

'मैं परिपूर्ण हूँ, मै अखण्ड हूँ। मेरी आत्मा अखण्ड है, चक्षु-शक्ति अखण्ड है, श्रीशक्ति अखण्ड है। मेरे प्राण विश्वात्माके प्राणसे संयुक्त हैं, मेरे श्वासोच्छ्वास भी विश्वपुरुषके श्वास-प्रश्वाससे संबद्ध हैं। मेरी आत्मा विश्वात्मासे विभक्त नहीं है। मेरी सम्पूर्ण सत्ता उससे अविभक्त एवं अखण्ड है।'

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मां धेहि य पवमानामृते
लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥
(ऋ० ९। ११३। ७)

'आनन्दघन, अमृतस्वरूप सोमदेव ! परम पावन ! सोमरसकी अनन्त धाराओंके साथ मुझ आत्माके लिये स्रवित होओ, मुझे उस अक्षय अमृतलोकमें प्रतिष्ठित कर दो जिसमे शाश्वत ज्योति है और अनन्त आनन्दका साम्राज्य है।

ॐ भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥
(ऋ० ३। ६२। १०, यजु० ३। ३५)

'सच्चिदानन्द भगवन् ! सकल जगत्के उत्पादक और प्रेरक आप सवितादेवके परम वरणीय तेजका हम नित ध्यान किया करे और उसे अपने अंदर धारण करते रहें। आपकी वह ज्योति हमारी बुद्धियोंको, हमारे विचारो और कार्योंको सदा सन्मार्गपर प्रेरित करती रहे, हमारी मार्गदर्शक बनी रहे।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदोंमें चारित्र्यके उद्बोधक मन्त्र भरे पड़े हैं। यदि इन्हें हम अपना आदर्श बना ले तो हमारा चरित्र सम्पूर्णतया सुनिर्मित हो जाय और हम आदर्श चरित्रके प्रतीक बन जायँ। आज इसीकी राष्ट्रको और समाजको अपेक्षा है, आवश्यकता है।

सामवेदकी चारित्र्य-संयोजना

(ले०—डॉ० श्रीसियारामजी सक्सेना 'प्रवर')

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्।
ब्रह्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥
(सा० ३८८, १०, ७)

सामवेद गीतिमय सूक्तोंकी संहिता है। उसमें गीतिमय जीवनका उल्लास और गीतिमय चारित्र्यका अनुशासन है। अतः सामवेदकी मुख्य प्रेरणा यह है कि जीवनको संगीतमय—मधुर बनाया जाय, जिससे विश्वमें जीव-जीवके मध्य साम्यभावके स्थापन और प्रसारमें प्रचुर योगदान होनेका पथ प्रशस्त हो सके। ब्रह्मका व्यक्तोन्मुख आदिस्वरूप नाद है। अतः वाणीद्वारा ही उसकी उत्तम उपासना सम्भव है[1] इसीलिये सामवेदका साग्रह परामर्श है—**'उपास्मै गायता'**[2] परमेश्वरको संगीतमय वाणीके साथ स्मरण करना विशेष उपयुक्त है।[3] पुरुहूत इन्द्र,[4] अग्नि,[5] सोम[6], रुद्र[7] एवं महान् व्यापक ब्रह्मकी उपासनाके लिये सामगान करना चाहिये। पवित्रात्माओंका यशोगान सामके द्वारा करना चाहिये।[9] सामगानसे इन्द्र प्रसन्न होते हैं।[10] साथ ही यह भी निर्देश है कि ऋतरूप यज्ञ करते हुए बुद्धिमत्तापूर्ण, मधुर, प्रिय वचन बोलना चाहिये।[11] वाणीद्वारा सुष्टु अभिवर्धन होना है।[12] आशय यह कि हमे दूसरोको प्रेरणा देनेवाली एवं उनका सम्मान और अभिनन्दन करनेवाली वाणी बोलनी चाहिये। तभी जीवनमें संगीतमयता, समता, समरसता और सामञ्जस्यकी संस्थापना होगी।

सुखद साम्यकी प्रतिष्ठाके लिये ऋत-पथका अनुगमन,[13] तप,[14] कर्मण्यता[15] और सेवा-भावकी[16] चतुः-सूत्रीका अनुवर्त्तन बहुत हितकर है। ऋत-पथसंचरणमें परमात्माकी उपासना, ऋत और सत्यमय आचरण, सुमार्गगामिता, आत्मकल्याणका उपाय करना तथा भद्रभावना सम्मिलित हैं। तपमें आत्मशुद्धि, ज्ञान और भक्तिको भी लिया जा सकता है। कर्मण्यतामें कर्म, धर्म, यज्ञ और राष्ट्रभक्तिकी गणना है। सेवाभावके साथ दानको भी उसके सहायक कार्यके रूपमें लिया जा सकता है। ऋत और सत्यका समाश्रय परमात्मा है। यह सर्वस्रष्टा, सर्वधाता और सर्वपाता हैं।[17] इन्द्र (परमात्मा) विश्वेश्वर हैं—**'इन्द्रो विश्वस्य राजति।'**[18] सामवेदका निर्देश है कि परमेश्वरका अर्चन करो, जो सर्वसमर्थ सर्वविजयी, द्वेषभाव-

---

१–वाणीसे अर्चना करे ॥—सा० उ० ५ । ५ । १३, २–'उपास्मै गायता' ॥—सा० उ० १ २ । ५ । १८, ३–सा० पू० २ । ३ । १०; २ । ५ । १, १०; २ । ९ । ५; ४ । ४ । २; सा० उ० २ । १ । १, ४–सा० पू० २ । १३ । ४, ६, ५–अग्ने त्वा कामये गिरा ॥—सा० पू० १ । १ । ८; सा० उ० १८ । ६ । १२ (१); अग्निं नक्षन्तु नो गिरः ॥—सा० पू० १ । ५ । ३, ६–सोमाय गाथमर्चत ॥—सा० उ० १३ । २ । ३ (१), ७–स्तोम रुद्राय दृशीकम् ॥—सा० पू० १ । २ । ५, ८–प्रमहिष्ठाय गायत ॥—सा० पू० १ । १२ । १; सा० उ० ४ । ६ । १७ (१); विप्रमभिप्रगायत ॥—सा०उ० ९ । २ । ३ (२); इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत् ॥—सा० पू० ४ । ४ । ८, ९–पुनाभाय प्रगायत ॥—सा० पू० ५ । १० । २ पुनानमाभ प्रगायत ॥—सा० पू० ५ । १० । ३, १०–सा० उ० १२ । ६ । १९ (३), ११–सा० उ० १ । ५ । १९ (२), १२–त्वा' 'गिरो वर्धन्तु या मम ॥—सा० पू० ३ । २ । ८ ममेद् वर्धस्व सुष्टुतः—सा० उ० १४ । १ । ५ (३), १३–ऋतस्य पत्या अनु ॥—सा० उ० १८ । ३ । १४ (२) सुपथा कृणोतु वज्री ॥—सा० पू० ४ । १२ । ४, १४–तपिष्ठैरजरो दह ॥—सा० पू० १ । ३ । ४ तपसा रक्षसो दह ॥—सा० पू० १ । ११ । १०, १५–इन्द्र क्रतु न आ भर ॥—सा० पू० ३ । ३ । ७, १६–सिषासन्तो म्नामहे ॥—सा० उ० १ । ३ । ८ (३), १७–सा० पू० ३ । ९ । ९, १८–सा० पू० ४ । ११ । १०,

नाशक, ज्ञान-कर्म-शक्ति-सम्पन्न, सत्यस्वरूप और महान् हैं।[1] परमात्मासे बड़ा कोई नहीं है।[2] परमात्मा सब मनुष्योंके स्वामी हैं—'**त्वं राजा जनानाम्**।'[3] अतः केवल परमात्माका यशोगान करना चाहिये और उन्हींकी उपासना करनी चाहिये,[4] अन्य किसीकी नहीं।[5] यज्ञ करनेवाले साधक केवल इन्द्र-(परमात्मा-) का ही स्तवन करते हैं;[6] क्योंकि विश्वकर्मा, विश्वदेव सबसे महान् हैं।[7]

परमात्माका तेज सबमें व्याप्त है। अतः समस्त देव उनके सख्यकी कामना करते हैं।[8] हमे भी केवल परमात्मासे ही याचना करनी चाहिये; उनसे कौन नहीं माँगता है।[9] इन्द्रके दिव्य शासनमे हम सब सुखी रहते हैं।[10] उनके साथ हमारा (जीवात्माका) पिता-पुत्र या माँ-बेटेका सम्बन्ध है।[11] परमात्मा पिता और भ्रातासे अधिक माताके समान हैं। वे हमारे माता-पिता और सर्वस्व हैं।[12] अतः जैसे पुत्र पिताकी सेवा करते हैं, वैसे ही परमात्माकी उपासना करनी चाहिये।[13]

वे परमात्मा मनस्वियों और सुकृतियोंके सख्य हैं।[14] सख्यका अर्थ है तादात्म्य साम्य और सहानुभूति। सख्य साम्यकी प्रतिष्ठा है। सामवेदकी दृष्टि जीवनमें साम्य और संगीतकी प्रतिष्ठा की है; अतः परमात्माने अपना सख्यभाव सर्वत्र विस्तृत कर रक्खा है।[15] वे जीवोंके हित-तत्पर सखा हैं।[16] उसके अनुसार जीवोंको परमात्माका सख्य अभीष्ट है।[17] हमें उनके सख्यका वरण कर नित्यप्रति उनके सख्यभावमें रहना चाहिये।[18] सखा (परमात्मा) सखाओं-(जीवों)-के द्वारा स्तुत्य और पूज्य हैं।[19] अतः हमारी परमात्मासे प्रार्थना है कि वे भी हमें अपना सखा मानें[20] और हमारे वृद्धिकारक सखा बन जायँ।[21] परमात्मा और हमारे सख्यभावकी समस्त बाधाएँ हट जायँ।[22] जब परमात्मा माता-पिताके समान हमारे पथ-प्रदर्शक हैं, और सुहृद्के समान हितचिन्तक हैं, तो उनके निर्देशनमें हमारा आचरण ऋत—सत्यमय हो जायगा। '**ऋतस्य धीतिः**'[23] ऋतकी—कल्याण-भावनाकी प्रेरणा अग्निदेव (परमात्मा) करते हैं।[24] महान् तेजस्वी अग्निदेव ऋतयज्ञके अधिपति हैं[25] तथा सत्यधर्मा हैं।[26] इन्द्र सत्य-जात और सत्य-पालक हैं, अतः वे हमारे संस्तुत्य और अर्च्य हैं।[27] मित्र और वरुण भी सत्य-द्वारा ही प्राप्य हैं।[28] वस्तुतः सत्य ही धन है।[29] यज्ञ सत्यमय है,

---

१–सा० महानाम्न्यार्चिकः ६; सा० पू० ३ । ५ । ४, २–सा० उ० १ । ४ । ११ (२), ३–सा० उ० ११ । १ । ३ (३), ४–सा० पू० ३ । १ । १०, ५–वृणुते नान्यं त्वत् ॥—सा० उ० ६ । ३ । ७ (३), ६–सा० उ० ११ । २ । ६ (२), ७–सा० उ० ६ । ७ । २२ (२), ८–सा० उ० ६ । ७ । २२ (३), ९–क ईशानं न याचिषत् ॥—सा० पू० ३ । ८ । ५, १०–सा० उ० २० । ४ । १६ (३), ११–सा० पू० ३ । ४ । ५; ४ । १२ । ३; सा० उ० १३ । ३ । ६ (१), १२–त्वं हि नः पिता, वसो त्व माता शतक्रतो बभूविथ। अथा ते सुम्ममीमहे ॥—सा० उ० ८ । ६ । ३ (२), १३–सा० पू० २ । १३ । ५, १४–इन्द्रो मुनीना सखा ॥—सा० पू० ३ । ५ । ३, १५–तवेदं सख्यमस्तृतम् ॥—सा० पू० २ । १२ । ७, १६–इन्द्रः स नो युवा सखा ॥—सा० पू० २ । २ । ३, १७–यस्य त्वं सख्यमाविथ ॥—सा० पू० १ । १२ । २, १८–सखायस्त्वा ववृमहे ॥—सा० पू० १ । ६ । ८; तवाहं सोम रारण सख्य इन्दो दिवे-दिवे ॥—सा० पू० ५ । ५ । ६, १९–सखा सखिभ्य ईड्यः ॥ सा० उ० १५ । १ । १ (२) २०–सखित्व मा वृणीमहे ॥ सा० उ० ३ । १ । ५ (१), २१–भवा नः सुम्ने अन्तमः सखा वृधे ॥ सा० उ० २ । ३ । १२ (३); २२–सा० उ० ५ । ४ । ११ (१); २० । १२ । २१ (१-२), २३–सा० उ० १६ । २ । १० (३), २४–तिस्रो वाच ईरयति प्रवह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम् ॥ सा० पू० ५ । ६ । ३, २५–सा० पू० १ । (४२)। ४, २६–सा० पू० १ । ३ । १२, २७–सा० पू० २ । ६ । ४, २८–सा० उ० ३ । २ । ३ (२), २९–'सत्य श्नवसि' ॥ सा० उ० १९ । ३ । ११ (३)

और सत्य ही यज्ञ है।[१] हवियोंमें ऐसी सत्य-हवि वन्दनीय है।[२] सत्य-यज्ञसे विमुख व्यक्ति अव्रती और दस्यु हैं[३] तथा प्रमादी भी होते हैं।[४] कर्महीन अयज्ञिय व्यक्ति लोभी कुत्तेके समान हैं।[५]

सत्यानुयायियोंके लिये परमात्माके कल्याणमय दान होते हैं और वे सत्योपासककी कामनाको व्यर्थ[६] नहीं जाने देते।[७] हमारी विभूति सत्यमयी हो,[८] अतः उस परमदेवके सान्निध्यके लिये हमें अपनेमें देव-भाव जगाना चाहिये—**'देवं देवाय जागृवि।'**[९] इस प्रकार आत्म-सुधार करते हुए[१०] आत्म-कल्याणमें निरत रहना उपयुक्त है।[११] अतः हम सुमार्गगामी बनें[१२] और परमात्माकी भक्तियुक्त उपासना करें।[१३] प्रकाश-स्वरूप सद्ब्रह्मको अपने पवित्र हृदयासनपर विराजमान करना ही सच्चा भक्ति-भाव है।[१४] इस प्रकार हम उस विशेषरस-(आनन्द-) के पात्र बन सकते हैं—जो शिवतम है, परम कल्याणमय है।[१५] जीवनको संगीतमय बनानेके लिये, सामवेदके अनुसार, भद्रभावनाका विस्तार अपेक्षित है। उसका उपसंहृत स्वस्ति-वाचन यह है कि देवताओंकी कृपासे हम मङ्गलमय वचन सुनें, हमारे नेत्र कल्याणदर्शनमें समर्थ रहें, हमारे अङ्ग पुष्ट हों और हम विधाताद्वारा नियत आयु प्राप्त करें। पुण्यश्लोक, अविनाशी इन्द्र हमारा मङ्गल करें, विश्वविद् पूषा, अहिंसित आयुधधारी गरुत्मान् और देवाधिदेव बृहस्पति हमारा स्थायी कल्याण करें।[१६] इन्द्रके दान कल्याणमय हों—**'भद्रा इन्द्रस्य रातयः।'**[१७] सूर्य और इन्द्रका उपदर्शन कल्याणमय है—**'भद्रा सूर्य इवोपदृक्'**[१८] हमारी आयु, विद्या, धन, यज्ञ, और प्रशस्तियाँ सब भद्र हों।[१९] प्रभो! हमारे मनको भद्र करो—**'भद्रं मनः कृणुष्व।'**[२०] हमारे मन, अन्तःकरण और कर्म भद्रभावनामय हों।[२१] भद्रभावना-हेतु परमात्माके अनुदान हैं। एतदर्थ हमें दान-परायण होना चाहिये। वेदका आदेश है कि पहले सोमके द्वारा अन्न प्राप्त करो, और फिर उसका वितरण कर दो।[२२] अन्न देवता सब देवोंसे, ऋतसे भी, पहले जन्मे हैं। जो व्यक्ति अतिथियोंको अन्न देता है, वह मानो सबकी रक्षा करता है। जो लोभी दूसरोंको नहीं खिलाता, अन्नदेव स्वयं उस लोभीका ही भक्षण कर लेते हैं।[२३] युद्धोंको समाप्त करके, उनमें लगनेवाला धन हमें दो, अर्थात् समाजके हितमें लगाओ।[२४] इस प्रकार सामवेदने जीवन-संगीत-हेतु अहिंसा-भावका विस्तार किया है। उसका निर्देश है कि हम अहिंसनशील देवका वरण करें,[२५] उग्र वचन न बोलें—**'उग्रं वचो अपावधीः।'**[२६] हम किसीको हानि नहीं पहुँचायें और परमात्मा भी हमसे अप्रसन्न न हो।[२७] अहिंसाभावके साथ हममें अभय भी रहना चाहिये—**'नो अभयं कृधि।'**[२८] अहिंसाका पोषक तप है। तपका मुख्य उद्देश्य पाप-राक्षसका दहन है। अतः अग्निदेवसे प्रार्थना है कि वे

१—सा० पू० १। २। ७; सा० उ० ८। २। २ (३) **२**—सा० उ० ८। २। २ (२) **३**—सा० उ० ५। १। ३ (२); १२। ६। २० (३) **४**—सा० उ० १६। २। ९ (१) **५**—सा० उ० २। ६। २२ (३) **६**—सा० उ० १०। १०। १४ (२) **७**—विभूतिरस्तु सूनृता॥ सा० उ० १६। ३। १५ (२) **८**—सा० पू० ३। ३। ६ **९**—सा० पू० ३। ७। ८ **१०**—सा० पू० १। २। ४ (१) **११**—सा० उ० १। २। ५ (१) **१२**—सा० पू० १। ७। ७ **१३**—सा० पू० १। ३। ३ **१४**—सा० पू० २०। ७। १० (२) **१५**—सा० पू० २५। ५। ९ (२) **१६**—सा० उ० १०। १०। १४ (२) **१७**—सा० उ० १५। ४। १४ (३) **१८**—सा० पू० १। १२। ५; सा० उ० १५। ३। १० (१) **१९**—सा० उ० १५। ३। १० (२) **२०**—सा० पू० ४। ८। **२१**—सा० पू० ६। १। ८ **२२**—सा० पू० ६। १। ९ **२३**—सा० पू० २। २। १० **२४**—सा० पू० १। ३। १ **२५**—सा० पू० ४। १। २ **२६**—मा रिषण्यत॥ सा० पू० ४। ६। ३; सा० उ० ११। २। ५ (१) मा रिषामा वयं तव॥ सा० उ० ७। ३। ७ (१) **२७**—सा० पू० ३। ५। २, २८—सा० १। ३। ५, २,

पापोंसे हमारी रक्षा करें[1] और हमें प्रतिदिन शुद्ध करते रहें—**'अहरहः शुन्ध्युः ।'**[2] सरस्वती देवीसे प्रार्थना है कि वे हमें पवित्र बनायें ।[3] पावमानी ऋचाएँ हमे पवित्र करें,[4] तथा पाप-कर्म और निन्दासे हमारी रक्षा करे ।[5] परमात्मा हमें शुद्ध करें । शुद्ध (पवित्र) होनेसे सुख, ऐश्वर्य, आनन्द होते हैं, उत्तम कर्मोंमें आनेवाले विघ्न दूर होते हैं और हिंसाके दोष नहीं रहते हैं ।[6] शीघ्रकर्मा, बुद्धिमान् पुरुष कर्मोंद्वारा अन्न (जीवन-साधन) प्राप्त करते हैं ।[7] जो शरीर व्रतोंसे तपाये हुए नहीं हैं, उनमें मन्त्रेश व्याप्त नहीं होते । तपस्वीके अङ्गोंमें दिव्य दीप्ति हो जाती है और उसकी सर्वथा रक्षा होती है ।[8] अतः हमें सदा **'शुचिव्रताः'**[9] होना चाहिये । इस प्रकार अपने जीवनमें यज्ञ-भावका विस्तार करते हुए[10] अमृतत्वकी उपलब्धि[11] करनी चाहिये । अमृतत्व ज्ञानसे प्राप्त होता है । परमात्मा-प्रदत्त ज्ञानके द्वारा हम चिरकालतक सूर्यके दर्शन करते रहे ।[12] सूर्य, अग्नि और इन्द्र ज्योतिःस्वरूप हैं, ज्ञानमय हैं ।[13] सूर्य चराचरके आत्मा हैं—**'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ।'**[14] अतः हमें प्रतिदिन सूर्य-नमस्कार करना चाहिये ।

ऋत—सत्यके धारण करनेसे तथा अहिंसामय सर्वहित-भाव रखनेसे पुरुष सूर्यवत् तेजस्वी हो जाते हैं ।[15] अग्निदेव हमें ओज और तेज प्रदान करें[16] और अनुष्ठानों-द्वारा भी हमें तेज प्राप्त हो ।[17] हम जबतक जियें, ज्योति-दर्शन करते रहे—**'यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ।'**[18] हम तेज और पौरुषसे युक्त हों।[19] तेजके तीन रूप हैं और यह सुवर्ण, गौ तथा सत्यस्वरूप ब्रह्ममें स्थित है और ये क्रमशः (धन), आधिदैविक (सर्वहित) तथा आध्यात्मिक आधिभौतिक (आत्मदीप्ति) रूपमें विभक्त हैं । ये तीनों तेज हममें हों ।[20] इनके द्वारा हमें प्रभूत पराक्रमयुक्त धन तथा अन्न प्राप्त हों ।[21] शक्तिसे ही ऐश्वर्योंका धारण सम्भाव्य है—**'निम्णा दधान ओजसा'**[22] इससे हम अपराजेय और विजयी—**'जेतारमपराजितम्'**[23] होते हैं । ओज-(बल-) से बडे-बडे शत्रुओंको पराभूत किया जा सकता है ।[24] इसीसे हम भी इन्द्रके समान देवताओंके रक्षक और पापोंके नाशक—**'देवावीरघशंसहा'**[25] बन सकते हैं । तेजके साथ ही सुमति, सद्बुद्धि प्राप्त करनेके लिये हमें भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये ।[26] मनुष्य सुमतिमय नमन-(विनय-)से महिमा प्राप्त करता है ।[27] धी-(सुमति-) से मनुष्य विप्र (विशेष गुणयुक्त) हो जाता है ।[28] अतः श्रेष्ठ बुद्धिकी कामना करनी चाहिये ।[29] प्रभुकी कृपा-बुद्धिसे हमारी रक्षा हो[30] और हमें सुमति (सद्बुद्धि) प्राप्त हो ।[31] भगवान् हमें यशस्वी बनाये ।[32] हमें सब प्रकारसे—द्यावा-पृथिवीका, इन्द्र-बृहस्पति और आदित्य-सम्बन्धी यश प्राप्त हो; हीनभाव नहीं आये और हम श्रेष्ठतापूर्वक बोलनेवाले बने ।[33]

१–सा० उ० १२ । १ । १ (३) २–सा० पू० ४ । ५ । ६ ३–सा० पू० २ । ५ । ८ ४–सा० उ० १० । ७ । ६ (२–५) ५–सा० उ० १० । ८ । ९ (२) ६–सा० उ० १३ । ३ । ९ (१–३) ७–सा० उ० ४ । ४ । १३ (१) ८–सा० उ० ४ । ५।१६ (१-२) ९–सा० उ० १ । २ । ४ (२) १०–सा० पू० १ । ५ । २ ११–अमृतत्वाय घोषयन् ॥ सा० पू० १ । ४ । ९; ५।११।६, सा० उ० ५ । ६ । १७ (१) १२–सा० उ० ७।२।४ (६) १३–सा० उ० २० । ६ । ८ (१) १४–सा० पू० ६ । ५ । ३ १५–सा० पू० २ । ४ । ८ १६–सा० पू० १ । ९ । १ १७–सा० पू० १ । १२ । २ १८–सा० पू० ३ । ३ । ७; सा० उ० १३ । ३ । ६ (१) १९–सा० पू० ३ । ३ । ११ २०–सा० पू० ६ । ४ । १० २१–सा० पू० ५ । ४ । ५ २२–सा० उ० १० । २ । ३ (६) २३–सा० उ० ३ । ६ । १९ (२) २४–सा० पू० २ । ७ । ६ २५–सा० उ० १० । ५ । ६ (६) २६–सा० पू० २ । ६ । ७ २७–सा० पू० २ । ३ । ३ २८–सा० पू० २ । ३ । ९ २९–सा० पू० २ । ६ । ७ ३०–सा० पू० ३ । १ । ७ ३१–सा० उ० ६ । ३ । ८ (१) ३२–सा० उ० ३ । १ । २ (१) ३३–यशो मा द्यावा पृथिवी मेन्द्र बृहस्पती ।

यशोभगस्य विन्दतु यशो मा प्रतिमुच्यताम् । यशस्त्वस्याः संसदेऽहं प्रवदिता स्याम् ॥—सा० पू० ६ । ३ । १०

सुमति और यशकी प्रसूति 'काव्य' है। काव्य, अर्थात् वैचारिकता और मन्त्र-दर्शनका लक्ष्य विश्वहित है।[१] इसीसे वह प्रिय होता है।[२] सोम सुकर्मा, सुयज्ञिय होनेसे कवि है। परमात्माका काव्य देखिये कि उसकी महिमासे, जो आज मरता है, वह कल जन्म ले लेता है। आशय यह कि काव्य अमरत्व-प्रदायक है।

ऋतवान्, ऋत-(सत्य-) ज्योतिका प्रतिपालक, पवित्र कर्म 'धर्म' है। ऐसे धर्मकी हम नित्य कामना करते हैं।[३] विश्वरक्षक भगवान् विष्णुने धर्म-(यज्ञादि कर्मानुष्ठानो-) को पुष्ट किया है तथा त्रिलोकीमें अपने तीन चरणोंसे उसे दबाया अर्थात् सुरक्षित किया है।[४] मनुष्यको उनका अनुसरण करके धर्म-धारण करना चाहिये। धर्मका धारण बलवान् ही कर सकते हैं—**'वृषा धर्माणि दध्रिषे**[५]**।'** अतः हमें शूरवीर और दृढ़मति **'शूर उत स्थिरः'**[६] होना चाहिये। बल, शौर्य और स्थैर्य धारण करनेका वेदका आदेश है।[७] इन्द्र स्वयं कर्मशील—शतक्रतु हैं। अतः हमें भी कर्मशील होना चाहिये।[८] और, परमात्माकी योजना जानकर—**'विदाना अस्य योजना'**[१०] अपनी जीवनचर्या चलानी चाहिये, अपने कर्मोका स्वरूप निश्चित करना चाहिये। परमात्माकी चरण-रजमें सब संनिविष्ट हैं। उनकी महिमा समझकर कर्म और उपासना करो।[११] हम—**'मन्त्रश्रुत्यं चरामसि'** वेद-विहित कर्म करें, निषिद्ध कर्मोंसे बचें।[१२] हमारे सभी कर्म परमेश्वरको प्राप्त होते हैं।[१३] इन्द्र समस्त कर्मोंके धारण-कर्त्ता हैं और बहु-स्तुत भुवन-रक्षक हैं।[१४] वे ही हमें कर्म-फल प्रदान करते हैं।[१५] वे अकर्मण्यके मित्र नहीं होते।[१६] वे कर्मवानोंके संकट दूर करते हैं और सत्पुरुषोंके रक्षक हैं, साथ ही कर्महीनों और दस्युओंके उपद्रवोंको शत्रुओंसहित नष्ट करते हैं।[१७] वे सोमयागको सत्यसे पूर्ण करते हैं।[१८] अतः उस कल्याणरूप प्रभुको हम उत्तम, सुन्दर कर्मोंद्वारा चाहते हैं, उसकी उपासना करते हैं—**'चारु सुकृत्ययेमहे।'**[१९] मित्र और वरुणदेव कर्मफलके बढानेवाले और साधकपर कृपा करनेवाले एवं प्रकाशके पालनकर्त्ता हैं।[२०] उनका आह्वान करना चाहिये।[२१] शान्तभावसे कर्ममें लगा हुआ मनुष्य दिव्य गुणोंसे युक्त हो जाता है, और भगवान् उसकी रक्षा करते है। वह शत्रुओंको पापके समान लाँघ जाता है।[२३] हमें लोक-रक्षाके लिये हाथ बढाना चाहिये—सदा उद्यत रहना चाहिये तथा प्रकर—कुशलकर्मी और कर्म-परायण होना चाहिये।

इस प्रकार सामवेद अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनोंका उपाय बताता है और ऐसी योजना करता है कि जिससे सदा और सर्वत्र जीवन-संगीतकी मधुरिमा बनी रहे। 'यहाँ घी-दूध और वहाँ भी मधु[२२]' यह उसका मन्तव्य है। वरुणदेव हमारी इन्द्रियोंके घर-रूप देहको तथा पारलौकिक स्थानोको भी उत्तम ज्ञान-रससे सींचते हैं।[२३] इन्द्र परमानन्दके सार-रूप जलकी वर्षा करें।[२४] सत्य-

१—अभिविश्वानि काव्याः ॥—सा० उ० ३।१।१।(१); १८।४।१६ (१)—अभिप्रियाणि काव्याः॥ सा० उ० १९।५। १८ (२), २—सोमो यः सुक्रतुः कविः ॥—सा० उ० ३।१।१ (१); १८।४।१६ (१);—देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्यो ममार स ह्यः समान ॥—सा० पू० ३।१०।३, ३—सा० उ० १८।४।१९ (१), ४—सा० उ० १८।२।५ (२), ५—सा० पू० ५।४।८; सा० उ० ३।१।३ (१), ६—सा० उ० ३।६।१८ (१), ७—सा० पू० २।१२।९, ८—सा० पू० २।११।१, ९—सा० पू० ३।३।७, १०—सा० उ० ८।२।२ (१), ११—सा० पू० २।११।९, १२—सा० पू० २।७।२, १३—सा० पू० ४।१२।५, १४—इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः। भुवनस्य गोपाः ॥—सा० उ० १०।१।१ (१), १५—सा० उ० ५।३।३ (२), १६—सा० उ० १२।२।४ (२), १७—सा० उ० ४।२।८ (३), १८—सा० उ० ४।२।६ (२), १९—सा० उ० ४।१।३ (१), २०—सा० उ० ३।२।३ (२), २१—सा० पू० ४।२।६—सा० पू० २।११।४, २२—सा० पू० २।११।१०, २३—सा० उ० १।२।९ (१), २४—सा० उ० १३।१।१० (३);

पालनसे सुख होता है;[१] क्योंकि सत्य ही सच्चा धन है।[२]

परमात्म-प्रदत्त, न्यायार्जित धन और बलसे ही वृद्धि होती है।[३] अद्वेष्टाको भगवान्‌के द्वारा सब काम्य पदार्थ प्रदान किये जाते हैं।[४] धृतिशील उपासकको धन मिलता है।[५] धन स्थिरमति और दृढ पुरुषके पास आते और ठहरते हैं।[६] सामवेदका परामर्श है कि धनदाताओंके लिये बुरे शब्द नहीं कहे जाते। धन देनेवालेकी प्रार्थना या प्रशंसा न करनेवालेको धन नहीं मिलता। सोम-संस्कारके समय देय धनको सुन्दर स्तुति गानेवाला ही धनिक इन्द्रसे प्राप्त करता है।[७] परमात्मासे प्रार्थना है कि वे धन आदिको पवित्र करके हमें प्रचुर रूपमें प्रदान करें।[८] अग्निदेव हमारे लिये अतिस्पृहणीय, पवित्र, सुनीति-द्वारा अर्जित और सुयश-विस्तारक धनकी वृद्धि करे।[९] धन, बल, ज्ञान आदिकी प्राप्ति परमात्मा और विश्वकी सेवाके लिये है। सेवायोग्य परमात्मा हैं,[१०] विश्व-रूपमें भी उन्हींकी सेवा है। कर्मका विधान करनेवाले सोम स्वयं सेवा-कार्यमें संलग्न हैं।[११] परमात्माकी कृपासे प्राप्त समस्त यज्ञ-साधनोंके द्वारा हम परमात्माकी सेवा और स्तुति करें।[१२] गाय यज्ञका विशेष साधन हैं, अतः गोभक्त ही परमेश्वरका स्तोता हो सकता है—स्तोतामें (**'गो-सखा स्यात्**[१३])।' गोसखा होना जीवनमें संगीत-माधुरीका प्रवाह करना है। विश्व-सेवा ही यज्ञ-भाव है। यज्ञके लिये हमारे मनमें आदर हो।[१४] यज्ञ सत्यधर्मा होता है।[१५] यज्ञसे दिव्य (तेजस्वी) इन्द्रियों एवं दीप्ति और आयुका अभिवर्धन होता है। यज्ञका जिससे विस्तार हो उस विश्व-हित-भावको हमारी स्तुतियाँ बढ़ाये।[१६] यज्ञके हेतुसे इन्द्रकी शरणमें जानेवाले व्यक्ति पवित्र, निष्पाप, विश्वपोषक और दानादि गुण-युक्त हो जाते हैं।[१७] इस प्रकार दिव्य-गुण, आह्लाद और आनन्द प्राप्त करो।[१८] इसीलिये धीर (बुद्धिमान्) पुरुष प्रभुके व्रतोंको नहीं छोड़ते।[१९]

यज्ञसे देव-भाव प्राप्त होता है; और देव ही देवोंमें प्रशस्त होते हैं—**'देवा देवेषु प्रशस्ताः'**[२०] विश्व-सेवासे ही सूर्यदेव स्तुत्य हुए हैं। वे अन्नदानके कारण सबसे बड़े दानी, तेजस्वी होनेसे महान् और प्रकाश प्रदान करनेसे सबसे श्रेष्ठ हैं।[२१] अतः पिताके समान उत्पत्तिकर्त्ता, रक्षक और हितैषी मित्र वायुदेव हमें जीवन-यज्ञमें समर्थ बनायें और हमारे जीवनको ऐश्वर्य-सम्पन्न करें।[२२] सेवा-भावकी सघनता राष्ट्र-भक्तिमें व्यक्त होती है। राष्ट्र-भक्तिकी भावना सामवेदमे दृढ की गयी है। सामवेदके एक सूक्तकी टेक **'वस्वीरनु स्वराज्यम्'**[२३] है। एक अन्य मन्त्रमे भी यह है।[२४] **'अर्चन् ननु स्वराज्यम्'**[२५] की टेक भी एक सूक्तमें है। इन सबसे यह ध्वनित है कि राष्ट्रकी सेवा उपासना-भावसे होनी चाहिये। राज्य-(राष्ट्र-)की रक्षा करो[२६]—यह सामवेदका स्पष्ट निर्देश है। राष्ट्रकी रक्षाके लिये रक्षा-प्रणालीपर भी परस्पर विचार करना चाहिये।[२७] यदि राष्ट्र-रक्षा और दुर्ग्रेके दमनके लिये क्रोध किया जा रहा हो, तो ऐसा क्रोध भी श्रद्धेय है।[२८] इन कथनोंमें 'स्वराज्य'का

१–सा० पू० १।१।९, २–सा० उ० १९।३।११ (३), ३–सा० पू० ३।७।८, ४–सा० पू० ५।८।६, ५–सा० उ० ६।५।१४ (३), ६–सा० पू० २।१०।४, ७–सा० उ० ४।४।१३ (२), ८–तन्नः पुनान आ भर ॥–सा० उ० ६।४।१३ (१), ९–सा० पू० १।४।९, १०–सा० महानाम्न्यार्चिकः ९, ११–सा० पू० १।११।५, १२–सा० उ० १।३।८ (३), १३–सा० उ० २०।७।९ (१), १४–यज्ञाय सन्त्वद्रयः॥—सा० उ० १।५।१० (३), १५–सा० पू० १।५।१२, १६–सा० उ० २।१।४ (३), १७–सा० पू० ४।१०।६, १८–सा० उ० ५।७।२२ (१–२), १९–तस्य व्रतानि न मिनन्ति धीराः ॥ सा० उ० २०।३।११ (२), २०–सा० उ० ८।३।४ (२), २१–सा० उ० २०।२।९ (२), २२–सा० उ० २०।७।११ (२-३), २३–सा० उ० ६।५।१५ (१–३), २४–सा० उ० ११।१।२ (३), २५–सा० पू० ४।७।१–५, २६–सा० पू० ४।९।६, २७–सा० उ० १६।३।१५ (३), २८–सा० पू० ४।३।२।

आध्यात्मिक अर्थ भी है। 'स्व'के राज्यका आशय आत्मानुशासन, मनोजय, आत्म-शक्ति-वर्धन भी है। जहाँ 'राज्य' और 'राष्ट्र' शब्द हैं, वहाँ अभिप्राय 'राष्ट्र'से ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सामवेदमें चरित्र-विधानकी योजना जीवनके प्रत्येक क्षेत्र और अङ्गको परिव्याप्त करनेवाली है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक, आर्थिक और सामाजिक, मानसिक और नैतिक एवं राष्ट्रिक और राजनीतिक सभी स्तरोंपर चरित्र-निर्माणकी ऐसी विधि बतायी गयी है, जिससे दिव्य-संगीत मनुष्यके समग्र जीवनमें तरङ्गायमान हो जाय।
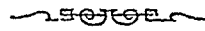
वैदिक चारित्र्य एवं ऋग्वेदके प्रेरणा-मन्त्र

(लेखक—डॉ० श्रीत्रिभोवनदास दामोदरदास शेठ)

ऋग्वेद ईश्वरको सर्वोच्च प्रेरणा-स्रोत मानकर भिन्न-भिन्न रूपोंमें उसकी स्तुति करता है। वैदिक चरित्र-निर्माणका पथ-प्रदर्शन करनेवाली अपौरुषेय वाणीका धाराप्रवाह हमारे चित्त एवं चिन्तनको पवित्रतासे परिपूर्ण वायुमण्डलमें लाकर मानवजीवनके अनुत्तम सत्यसे साक्षात् करा देता है। वेदोंकी यह विशेषता है कि वे ज्ञान और कर्मसे भावित कर्मको परिपुष्ट कर ईश्वरकी शरणागतिको ही श्रेयोमार्गमें महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वे ईश्वरसे प्रार्थना करते हैं कि ईश्वर हमें सन्मार्गपर लाये, हमारे अन्तः-करणको उज्ज्वल आत्मश्रेयके सर्वोच्च शिखरको प्राप्त करा दे। वेद आत्मविकासके लिये ईश्वरी कृपाको ही साध्य एवं साधन मानकर ईश्वरको ही पथप्रदर्शक आत्मबलदायक एवं प्रेरणादायी परम स्रोत मानते हुए प्रार्थना करते हैं कि वह हमें अपनाये। श्रेयोऽर्थीकी, भक्तोंकी यही इच्छा सर्वश्रेष्ठ मानी गयी है। ऋग्वेदके कई-कई प्रेरणामन्त्र आत्मश्रेयके लिये ईश्वर-कृपाकी याचनाकी निष्ठाके ज्ञापक हैं। उस आनन्दमयकी सेवारूप एवं ऋषि-संस्कृतिके क्रिया-स्वरूप चतुर्विध पुरुषार्थको प्राप्त कर अभ्युदय और निःश्रेयसको प्राप्त होकर, जीवनको सामर्थ्यसम्पन्न, ऐश्वर्यसम्पन्न एवं आत्मबलसम्पन्न बनाना हमारे चारित्रिक दृष्टिकोणका लक्ष्य है।

जीवन-दर्शनका स्पष्ट आदर्श समक्ष न होनेसे जनता भ्रामक विचार-प्रवाहमें बह जाती है। किंतु भारतीय संस्कृतिका ध्येय एवं उसकी प्राप्तिके श्रेयोमार्गका स्वरूप स्पष्ट है। वह नरको नारायण बनाती है। मानव-चरित्रको परिपूर्ण बनानेके लिये मानवकी वृत्तियों एवं प्रवृत्तियोंको भागवती चेतनामें ओतप्रोत और जीवनको ऐश्वर्य, चिदानन्द रस एवं माधुर्यको जगानेके लिये वैदिक संस्कृति सचेष्ट है।

ज्ञान और कर्मके अन्तिम परिणामरूप भक्ति और उस भक्तिके अन्तिम परिणामरूप उन विराट् विश्वरूप पुरुषोत्तमकी शरणागति—यही जीवात्माका कथित वैदिक चारित्र्यका सर्वोत्तम स्वरूप है। उत्तम पुरुष ज्ञान और कर्मके सुभग मार्गसे होकर परमानन्दके पथपर अग्रसर होनेका यत्न करता है। अन्तस्तलकी वृत्तिरूप पूजाकी रसानुभूतिमें रसात्ममय होकर पुरुष पुरुषोत्तमको प्राप्त करता है। ज्ञानकी पराकाष्ठापर भक्तिका उदय होकर भक्तिके सदा परिपूर्ण होनेसे, वृत्तिमें मुक्तिकी वासना भी नहीं उठती। ऐसा जीवन ही ऋषि-संस्कृतिका आदर्श है। हम संस्कृतिके प्रदानको समझें और उत्तम जीवन जीएँ—यही वेदोंकी भावना है।

वैदिक चारित्र्यका प्रारम्भ सदाचारसे होता है। निषिद्ध प्रवृत्तियोंमें मनका संयम ही सदाचारका कारक है। जिससे आचार एवं विचार एक हो, उसका मूल बीज मनका संयम है। इसके संयमसे ही मनोजय होता

है। मनःसंयमके लिये अपेक्षित सामर्थ्य ब्रह्मचर्यसे प्राप्त होती है। समस्त सदाचारोंकी सिद्धिका बीज ब्रह्मचर्यमें निहित है। जैसे बीजमें स्थित सूक्ष्मांशोसे वृक्ष फलता-फूलता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य एवं तज्जन्य जितेन्द्रियता या मनोजयसे समस्त आचरणोंमें सामर्थ्य, पवित्रता, चैतन्य एवं दिव्यताका संचार एव वहन होकर सिद्धि प्राप्त होती है। अतः चरित्र-निर्माणका आधारस्तम्भ ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्यके अभावमें कोई भी कर्म मङ्गलकारी नहीं बनता। ब्रह्मचर्य-संयमसे समस्त धार्मिक कर्म, मर्यादाएँ एवं श्रेय-प्रेयके कार्य सुगमतासे हल किये जा सकते हैं।

माता-पिताके धर्ममय शुभ संस्कारोंसे उत्पन्न हुई धर्मावलम्बन करनेवाली सतति-परम्परा वैदिक जीवनसे शिक्षा पाकर चरित्र-निर्माण करके श्रेयः साधनोंमें समर्थ होती है। व्यक्ति समाजका मूल है। वैयक्तिक चरित्रके निर्माणसे ही सामाजिक चारित्र्यका निर्माण सिद्ध किया जा सकता है। व्यक्तिसे परिवार, परिवारसे ग्राम एवं ग्रामसे राष्ट्रका निर्माण होता है। अतः वैयक्तिक उत्थानसे ही मानव-समाजका उत्थान सम्भव है। अतएव संस्कृति-निर्माणमें वैयक्तिक उत्थान ही मूल कारण है। अतः व्यक्तिको संस्कार-सम्पन्न बनाकर वैयक्तिक उत्थान-द्वारा सामाजिक क्रान्ति हमारे धार्मिक साहित्यकी साधना है। ऐसा होनेपर ही सामाजिक चारित्र्य दूषण-रूप नहीं; अपितु भूषण-रूप बनेगा। इसीलिये व्यक्तिके चित्त-वृत्तिरूप राज्यमें प्रतिपल पवित्र, वरेण्य एवं उर्वर विचार-सरिता निरन्तर बहती रहे, जिससे अन्तःकरण दैवी सम्पदाओंका केन्द्र बने।

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्।

(ऋ० ३। ६२। १०)

'सच्चिदानन्दस्वरूप परमात्मन्! आपके प्रेरणादायी विशुद्ध तेजःस्वरूपभूत दिव्यरूपका हम अपने हृदयमें नित्य ध्यान करते हैं। उससे हमारी बुद्धि हमेशा प्रेरित होती रहे। आप हमारी बुद्धिको अपमार्गसे रोककर तेजोमय शुभ मार्गकी ओर प्रेरित करें। उस प्रकाशमय पथका अनुसरण कर हम आपकी ही उपासना करें एवं आपको ही प्राप्त होवें। हमारी इस प्रार्थनाको आप पूर्ण करें; क्योंकि आप ही पूर्णकाम हैं, सर्वज्ञ हैं एवं परम शरण्य और वरेण्य हैं'—

न ह्यन्यं बन्धकरं मर्डितारं शतक्रतो। त्वं न इन्द्र मृडय॥ (ऋ० ८। ८०। १)

'विश्वरूप प्रभो! आपसे भिन्न अन्य कोई सुखदाता नहीं है। फिर हम अन्यत्र क्यों भटकें? हे सुखस्वरूप! सत्यतः आप ही सब सुखोंके मूल स्रोत हैं। हमें वही सुख चाहिये, जो साक्षात् आपसे प्राप्त हुआ हो। उसी सुखसे हमारा चित्त तुष्ट हो।'

हृदि स्पृशस्ते आसते सोम विश्वेषु धामसु।
अथ कामा इमे मम वसूयवो
वि वो वितिष्ठन्ते विवक्षसे॥

(ऋ० १०। २५। २)

'अमृतस्वरूप प्रभो! इस विश्वरूप धाममें सर्वत्र विराजमान, आपमे ही वासके इच्छुक हम उपासकोंकी, आपकी प्रसन्नतामें ही स्थित-स्थिर रहती हमारी हृदयस्पर्शी कामनाएँ विवृद्ध होकर महान् बने। सर्वदा एवं सर्व-स्थानोंमें आपको ही पानेकी और नित्य आपहीमें वास करनेकी हमारी कल्याणमयी इच्छासे आप प्रसन्न होकर उसे बढ़ावें। प्रभुके हृदयतक पहुँचानेवाली हमारी एकाग्रता वा जिज्ञासाका सहज स्वरूप ऐसा हो, जिससे उत्थित प्रत्येक कामना प्रभु-प्रीत्यर्थ बनें।

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते॥

(ऋ० १०। १९१। २)

'मनुष्यो! सम्यक् मार्गपर चलो। सम्यक् वाणीको बोलो। अपने मनसे ज्ञानको सम्यक् प्रकारसे जानो'—

जिस प्रकार सृष्टिके आरम्भसे देव अपने-अपने कर्तव्यको सम्यक्तया (अच्छी तरह) जानकर पूर्ण करते है। हम सन्मार्गपर, श्रेयोमार्गपर ऐसे मिलकर चले, जिससे परस्परका ऐक्य न टूटे। हमारी वाणी ऐसी होनी चाहिये, जिससे श्रेयके साथ-साथ पारस्परिक एकता बनी रहे। हमे सत्य ज्ञान इस तरह प्राप्त करना चाहिये जिस तरह पारस्परिक प्रीति बिगड़े नहीं।

यह संगठन या सम्भव सूक्त है। मनद्वारा जो ज्ञानकी एकता स्थापित होती है, वही सच्ची एकता है। अग्नि, वायु आदि देवता संसारके संचालनमें, अपने कर्तव्यमें प्राप्त कार्योंको अच्छी तरह समझकर परस्पर एक-दूसरेके अविरोधी बनकर, एक-दूसरेके पूरक बनकर, जैसे यथायोग्य रीतिसे सम्पन्न करते हुए कठिन कार्योंमें भी सफल होते हैं, उसी तरह मनुष्योंको भी करना चाहिये। परस्परकी एकता—यह दैवी प्रवृत्ति है।

मा चिदन्यत् विशंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा
सुते मुहुरुक्थ्या च शंसत॥
(ऋ० ८।१।१)

'हिताकाङ्क्षी उपासको! सब एकाग्र होकर प्रसन्न होनेपर अभीष्टको पूर्ण करनेवाले परमेश्वरकी ही स्तुति करो एवं उनके ही गुणों वा महिमाका बारम्बार चिन्तन करो, कीर्तन करो। परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीकी भी उपासना न करो, आत्मश्रेयका नाश न करो। हम भगवान्‌का ही अनन्याश्रय लेकर उनमे ही तन्मय बने।'

तन्तुं तन्वन्नजसो भानुमन्विहि
ज्योतिष्मतः पथो रक्ष धियाकृतान्।
अनुल्बणं वयत जोगुवामपो
मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्॥
(ऋ० १०।४।५३)

'मनुष्य! तू ज्ञानके प्रकाशक प्रभुका अनुगमन करता हुआ, उत्तम बुद्धिसे संतति-परम्पराका विस्तार करता हुआ; उनकी बनायी तेजस्वी प्रणालियोंकी रक्षा कर। जिज्ञासुओंके पर्व-कर्मोको यथायोग्य रीतिसे कर, मननशील बन और दिव्य संततिको उत्पन्न कर। हम आत्ममन्थनपूर्वक धर्ममार्गका अवलम्बन करते हुए ज्ञानज्योतिसे अनुप्राणित पवित्र बुद्धिसे श्रेष्ठ संतति उत्पन्न कर दैवी सम्पदाका विस्तार करे। वैदिक संस्कृतिकी मूलभित्ति त्याग और तपस्यापर आधृत है।'

नू अन्यत्रा चिदद्रिवस्त्वन्नो जग्मुराशसः।
मघवञ्छग्धि तव तन्न ऊतिभिः॥
(ऋ० ८।२४।११)

'भगवन्! संसारको धारण करनेवाले हमारी अभिलाषाएँ आपको छोड़कर अन्यत्र कहीं कदापि न गयी हैं, न जाती है; अतः आप अपनी कृपाद्वारा हमे सब प्रकार सामर्थ्यसे सम्पन्न करे। हम ईश्वरको अनन्य एकाग्रतासे, उपासनासे प्रसन्न करें और वह हमारे योग-क्षेमादिको सर्वदा सम्पन्न करे।'

सोम रारन्धि नो हृदि गावो न यवसे वा।
मर्य इव स्व ओक्ये॥
(ऋ० १।९१।१३)

जिस तरह जौके खेतमें गाये और अपने घरमें मनुष्य आनन्दपूर्वक रमण करता है, उसी प्रकार आप भी हमारे हृदयमे आनन्दपूर्वक रमण करे। हमारे हृदयमे नित्य ही निवास करके परम संतोष उत्पन्न करें, हमारी बुद्धिको प्रकाशित करें।

नह्यङ्ग नृतो त्वदन्यं विन्दामि राधसे।
राये द्युम्नाय शवसे च गिर्वणः॥
(ऋ० ८।२४।१२)

'जगत्‌को यन्त्रकी भाँति नचानेवाले! साधनाकी सिद्धिके लिये हम किसी अन्यका आश्रय नहीं लेते।

हे भजनीय ! सम्पत्तिके लिये, तेजके लिये एव सामर्थ्यके लिये हम किसी अन्यकी ओर नहीं देखते । हमारी जीवनसाधनाके एकमात्र आधार आप ही हैं ।'

नहि ते शूर राधसो
अन्तं विन्दामि सत्रा ।
दशस्या नो मघवन् नू चिद्,
अद्रिवो धियो वाजेभि राविध ॥
(ऋ० ८ । ४६ । ११)

शौर्यस्वरूप प्रभो ! तत्त्वतः आपके ऐश्वर्यका अन्त हम नहीं जान पाये हैं । अतः परम ऐश्वर्य-सम्पन्न ! अप्रतिहत सामर्थ्यवाले ! उसे हमें अवश्य प्रदान करके ज्ञानशक्तिसे हमारी बुद्धिकी एवं कर्मोंकी रक्षा करें ।'

यह तो ऋग्वेदके प्रेरणादायी मन्त्रोंकी एक झलक-मात्र है । वस्तुतः ऋग्वेदके सभी मन्त्र प्रेरणादायी हैं । उन मन्त्रोंकी दिव्य प्रेरणासे हमारे कर्म, हमारा चारित्र्य दिव्य बने, यही सेव्य है, उपास्य है ।

आयुर्वेदमें चारित्रिक उपदेश

(लेखक—वैद्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी, आयुर्वेदाचार्य (स्वर्णपदकप्राप्त) आयुर्वेद-बृहस्पति)

आयुर्वेदवाङ्मयमें स्वस्थ व्यक्तिके लक्षणोंमे आत्मा, मन एवं इन्द्रियोंकी प्रसन्नताका समावेश किया गया है । स्वास्थ्यका मूल हृदयकी पवित्रता है और इसके लिये जीवनमे चरित्र आवश्यक है । उत्तम चरित्रमें आत्मा एवं मनकी प्रसन्नता निहित है । इसी लक्ष्यको दृष्टिगत रखते हुए आचार्योंने पदे-पदे चारित्रिक उपदेशोंके माध्यमसे सुखायु और दीर्घायु-प्राप्तिके सूत्रोंका समुल्लेख किया है ।

चरित्रका निर्माण विचार, अनुभव, कर्म एवं संस्कारोंसे होता है । चरित्र नैतिक सदाचारका मुख्य अङ्ग है तथा यह आध्यात्मिकताका मार्ग प्रशस्त करता है । शंकराचार्यके वेदान्त (३ । १ । ९) भाष्यके अनुसार चरित्र, शील एवं सदाचार पर्यायवाची शब्द हैं—**'चरणं चारित्रमाचारः शीलमित्यर्थान्तरम् ।'** इसके अतिरिक्त अनुष्ठान, व्रतकर्म, स्वभाव, चेष्टा एवं लीला-शब्दोंको भी चरित्रके समानार्थ व्यवहृत किया जाता है । चारित्रिक गुणोंमे क्षमा, सत्यता, गुरुसेवा, नम्रता, अहिंसा, धैर्य, त्याग, अनासक्ति, ईश्वराराधन, दानशीलता तथा आत्म-संयमका प्रमुख स्थान है ।

महर्षि चरकने आयुर्वेदके प्रयोजनद्वय—स्वस्थके स्वास्थ्यरक्षण तथा आतुरके रोगशमनके लिये चरित्रकी आवश्यकतापर बल दिया है । आचार्यने **'निवृत्तिः पुष्टिकराणां श्रेष्ठम्'** कहकर स्पष्ट किया है कि शान्तचित्तता भी पुष्टिकारक है । पुष्टिका उद्देश्य स्वास्थ्यरक्षण है । इसी प्रसङ्गमे **'प्रशमः पथ्यानां श्रेष्ठम्'** कहकर यह निरूपित किया है कि रोग-निवारण-हेतु सर्वोत्तम पथ्य कामादि दोषोंका निराकरण है । चारित्रिक दुर्बलताएँ शारीरिक एवं मानसिक रोगोंको जन्म देती हैं । सदाचार अर्थात्—चरित्र ही प्रथम धर्म है । धर्मच्युत व्यक्ति कभी भी सुख एवं शान्तिको प्राप्त नहीं कर सकता । वाग्भटने इसी प्रयोजनसे धर्म-परायण होनेकी आज्ञा दी है—**सुखं च न विना धर्मात्तस्माद्धर्मपरो भवेत् ।** (अ० हृ० २ । २०)

अधर्ममूलक (अशुभ, अहितकर) कार्यादि करनेसे दुःख (रोग) उत्पन्न होता है । उसे दूर करने-हेतु जो उपाय किया जाता है, उसे प्रायश्चित्त कहते हैं । चरकने चिकित्सास्थानमे प्रायश्चित्तको भी भेषजके पर्याय-रूपमें प्रतिष्ठित किया है ।

आरोग्य-प्राप्तिके साधनोंमे चरित्रकी भूमिका प्रतिपादन करते हुए महर्षि चरकने स्पष्ट किया है—

नरो हिताहारविहारसेवी
समीक्ष्यकारी विषयेष्वसक्तः।
दाता समः सत्यपरः क्षमावा-
नाप्तोपसेवी च भवत्यरोगः॥
(च० सूष्टि० २। ४६)

—हितकारी आहार-विहार सेवन करनेवाला, शुभाशुभकी समीक्षा करनेवाला, विषयोंमे अनासक्त, दानशील, समतायुक्त, सत्यवादी क्षमाशील एवं गुरुजनोंकी सेवा करनेवाला मनुष्य आरोग्यकी प्राप्ति करता है। सुख देनेवाली मति, सुखकारक वचन एवं सुखकारक कर्म, अपने अधीन मन और शुद्ध पापरहित बुद्धि जिनके पास है तथा जो ज्ञान प्राप्त करने, तपस्या करने और योग-सिद्ध करनेमें तत्पर रहते हैं, उन्हें शारीरिक एवं मानसिक रोग नहीं होते। उत्तम चरित्रसे बुद्धि, धैर्य एवं स्मरणशक्तिका विकास होता है। इन तीनोंके क्षीण होनेकी अवस्थामें किये गये अनुचित कार्य प्रज्ञापराध कहलाते है। सभी आगन्तुक एवं मानसिक रोगोंका कारण प्रज्ञापराध ही है—

धीधृतिस्मृतिविभ्रष्टः कर्म यत्कुरुतेऽशुभम्।
प्रज्ञापराधं तं विद्यात्सर्वदोषप्रकोपनम्॥
(च० स० १)

आयुर्वेदोक्त रसायनका सेवन करनेसे दीर्घ आयु, स्मरण-शक्ति, मेधा, आरोग्य, यौवन, प्रभा, सुवर्ण, देहमे उत्तम बलकी प्राप्ति, वाक्-सिद्धि, नम्रता एवं कान्तिका अभ्युदय होता है। उपर्युक्त गुणोंके समुचित प्राप्तिहेतु अग्निवेशने रसायनाध्यायमे आचारका समावेश किया है। तदनुसार सत्य बोलनेवाले, क्रोध न करनेवाले मद्य एवं मैथुनसे निवृत्त, अहिंसक, अतिश्रम न करनेवाले, शान्त, प्रियवादी, जप और पवित्रतामे तत्पर, धीर, दानशील, तपस्वी, देवता, गौ, आचार्य, ब्राह्मण एवं वृद्धोंकी सेवामें तत्पर, क्रूरतासे विरत, अहंकार-रहित, उत्तम आचार-विचारवाले अध्यात्म-विषयोंमें प्रवृत्त, आस्तिक, धर्मशास्त्रको पढनेवाले तथा जितात्मा व्यक्ति सदा रसायनयुक्त होते है।

भगवान् आत्रेयने कहा है—मनुष्यको देवता, गौ, गुरुकी पूजा, प्रातः-सायं संध्या करना, सदा प्रसन्न रहना, दूसरोंपर आपत्ति आनेपर दया करना, सामर्थ्यके अनुसार दान देना, अतिथि-पूजा करना, समयपर हितकर मधुर एवं अल्प वचन बोलना तथा जितेन्द्रिय एवं धर्मात्मा होना चाहिये। दूसरेकी उन्नतिके कारणोमे ईर्ष्या करनी चाहिये; पर उनके फलमे ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये। निश्चिन्त, निडर, लज्जायुक्त, बुद्धिमान्, उत्साही, चतुर, क्षमायुक्त एवं आस्तिक होना चाहिये। जिनकी जीविकाका कोई साधन न हो तथा जो व्याधि और शोकसे पीड़ित हो, यथाशक्ति उनकी पीड़ाको दूर करनेका उपाय करना चाहिये। याचकोंको खाली हाथ नहीं जाने देना चाहिये। अभ्यागतके गृहागमनपर उसके बोलनेसे पूर्व ही कुशल-क्षेम पूछना चाहिये। गुणोमे श्रेष्ठ, दूसरेके स्वभावको जाननेवाले, शारीरिक एवं मानसिक दुःखोसे रहित, सुमुख और शान्त, प्राणिमात्रको अच्छे मार्गोंका उपदेश करनेवाले और जिनकी गाथा सुनने एवं दर्शन करनेसे पुण्य होता है, ऐसे महापुरुषोंका साथ करना चाहिये। मनुष्यको क्रोधी व्यक्तियोंको विनयके द्वारा प्रसन्न करनेवाला, भययुक्त व्यक्तियोंको आश्वासन देनेवाला, दूसरेके कठोर वचनोंको सहनेवाला तथा राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाले कारणोंका त्याग करनेवाला होना चाहिये। ऐसे ही व्यक्ति अपने चरित्रको सर्वत्र उज्ज्वल कर सकते हैं।

आचार्यने अहितकर कर्मोंका निषेध करते हुए स्पष्ट किया है कि मनुष्य असत्य न बोले, दूसरेके अधिकार, धन तथा स्त्रीकी कामना न करे, शत्रुतामे रुचि न ले, पाप न करे, पापीके साथ भी पापका दुर्व्यवहार

न करे और दूसरेके दोष न कहे। उत्तम पुरुषोंका विरोध न करे, नीच पुरुषोंके साथ न रहे न उनपर आश्रित रहे। अंधोंको भयभीत न करे। स्त्रियोंका अपमान न करे। अपवित्र होकर देवपूजन और अध्ययन न करे। मनुष्य समय नग्न न करे, किसी नियमको भङ्ग न करे। किसीका तिरस्कार न करे, गायोंपर डंडा न उठाये। भाईसे, प्रेम रखनेवाले और आपत्तिकालमें सहायता करनेवालेसे कभी सम्पर्क न तोड़े। सहसा कोई कार्य न करे, इन्द्रियोंके वशीभूत न हो तथा किसीके द्वारा किये गये अपने अपमानको बार-बार स्मरण न करे। इन सभी आयुर्वेदीय आदेशोंका पालन करनेसे उत्तम चरित्रका निर्माण होता है। शौच-मूत्रादि वेगोंको धारण करनेसे रोग प्रादुर्भूत होते हैं। इहलोक और परलोकमें भी अपना हित चाहनेवाले व्यक्तिको निम्न वेगोंको रोकना चाहिये—**१-मानसिक वेग**—लोभ, शोक, भय, क्रोध, अहंकार, निर्लज्जता, ईर्ष्या, अतिराग और दूसरेका धन लेनेकी इच्छा। **२-वाचिक वेग**—अत्यन्त कठोर वचन, चुगलखोरी, असत्य वचन और अकालयुक्त वचन बोलना। **३-शारीरिक वेग**—हिंसा, परपीड़न, परस्त्रीगमन एवं चोरी करना। इन वेगोंको रोकनेसे मनुष्यके मन, वचन और कर्म पापरहित हो जाते हैं; जिससे वह पुण्यका भागी होता है तथा सुखपूर्वक अर्थ, धर्म एवं कामको प्राप्त करके उसके फलोंका उपभोग करता है। सम्प्रति बढ रहे मानसिक रोगोंकी चिकित्सामें वेग धारणकी भूमिका बहुत महत्त्वपूर्ण है।

सुश्रुतने वैद्यके चारित्रिक पक्षको सबल बनानेकी दृष्टिसे चिकित्सकके गुणोंमें सत्य तथा धर्मपरायणताको सम्मिलित किया है। अष्टाङ्गहृदयमें हिंसा, चोरी, परस्त्रीगमन, चुगली, कटुवचन, असत्य, किसीको पीड़ा पहुँचानेका विचार, दूसरेके धनकी इच्छा तथा शास्त्रोंका विपरीत अर्थ लगाना—इन दस कर्मोंको पापकर्म कहा गया है। इनका मनसा-वाचा-कर्मणा त्याग करना चाहिये—

> हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशुन्यं परुषानृते।
> सम्भिन्नालापव्यापादमभिध्यादृग्विपर्ययम्॥
> पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत्।
> (अ० हृ० सू० २)

मद्यपानको गर्हित बताते हुए चरकने मत व्यक्त किया है कि रज एवं मोहसे जिनकी आत्मा पराजित है, ऐसे मूर्ख व्यक्ति महादोषवाले और बड़े-बड़े रोग उत्पन्न करनेवाले मद्यपानको सुख समझते हैं। शार्ङ्गधरके मतानुसार सभी मदकारी द्रव्यों (गाँजा, अफीम, भाँग, तंबाकू आदि) से बुद्धिका लोप होता है, अतः इनका त्याग करना चाहिये। सभी आयुर्वेदीय ग्रन्थोंमें रोगनिवारण तथा आरोग्य-प्राप्तिहेतु स्थान-स्थानपर चारित्रिक गुणोंकी आवश्यकताका प्रतिपादन किया गया है। निश्चय ही उत्तम चरित्र उत्तम स्वास्थ्यका मूल कारण है। अतः उत्तम स्वास्थ्य चाहनेवालेको अपने चरित्रकी पवित्रतापर विशेष ध्यान देना चाहिये।

चारित्रिक सद्व्रत

आर्द्रसंतानता त्यागः कायवाक्चेतसां दमः। स्वार्थबुद्धिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्व्रतम्॥
(अष्टा० हृ० सूत्रस्था० २। ४६)

'मनुष्यको करुणारससे सतत आर्द्र रहना चाहिये (अर्थात् परम कारुणिक होना चाहिये)। त्यागशील और शरीर-वाणी-चित्तपर नियन्त्रण रखना चाहिये तथा परमार्थको ही स्वार्थ समझना चाहिये। ये चार सच्चरित्रके आवश्यक कर्तव्य हैं।'

वेदोंमें चरित्र-निर्माणके उद्बोधक मन्त्र

(लेखक—याज्ञिकसम्राट् पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा, गौड, वेदाचार्य)

यह निर्विवाद है कि मानव-जीवन ही सर्वोत्तम जीवन है। मानव-जीवनकी उत्तमता शारीरिक अथवा आर्थिक उन्नतिसे नहीं होती, किंतु चारित्रिक उन्नतिसे होती है। चारित्रिक उन्नतिशील मनुष्य ही उन्नतिको प्राप्त कर सकता है और उसीका जीवन सर्वाङ्गपरिपूर्ण एवं प्रशंसनीय कहा जाता है। इसलिये मनुष्यको अपना जीवन उन्नत बनानेके लिये चारित्रिक उन्नतिका सम्पादन करना चाहिये। चारित्रिक उन्नतिका सम्पादन करना ही मनुष्यका परमधर्म और कर्तव्य है। जो मनुष्य चारित्रिक उन्नतिका सम्पादन करता है, उसीका जीवन सार्थक है। यही कारण है कि समस्त हिंदू-धर्मके ग्रन्थोमें चारित्र्य-निर्माण, चारित्र्य-वर्धन और चारित्र्य-संरक्षणकी आवश्यकता और महत्तापर विशेष बल दिया गया है।

मानव-जीवन क्षणभङ्गुर है। अतः इस जीवनको प्राप्तकर मनुष्यको सर्वप्रथम चरित्रवान् बनना चाहिये। जो मनुष्य चरित्रवान् है, उनका जीवन सार्थक और प्रशंसनीय है और जो मनुष्य चरित्रवान् नहीं है, उनका जीवन निरर्थक और निन्दनीय है। चरित्रवान् बननेसे मनुष्यको आत्मसंतुष्टि होती है और चरित्रहीन होनेसे आत्मसंतुष्टि न होकर आत्मग्लानि ही होती है। अतः जिस कर्म-(सुचरित्र-)को करनेसे मनुष्यको आत्म-संतुष्टि हो, उसीको सर्वदा करना चाहिये और जिस कर्मको करनेसे मनुष्यको आत्मसंतुष्टि न हो, उसको कभी नहीं करना चाहिये। ऐसे कर्म दुष्कर्म होते हैं। मनु महाराजकी यही आज्ञा है—

यत् कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत् प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत् ॥

(मनुस्मृति ४। १६१)

संसारमें चरित्रवान् मनुष्यका विशेष महत्त्व है, इसीलिये चरित्रवान्‌के कुलको उत्कृष्ट और चरित्रहीन-के कुलको निकृष्ट कहा गया है—

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः।
अन्तेष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥

(महाभारत, उद्योगपर्व ३६। ३०)

'चरित्रहीन मनुष्यका कुल श्रेष्ठ होनेपर भी वह निम्न श्रेणीका ही समझा जायगा और नीच कुलमें उत्पन्न मनुष्यका यदि चरित्र श्रेष्ठ है तो वह श्रेष्ठ माना जायगा।'

अतः स्पष्ट है कि जो मनुष्य पुत्र, पौत्र, धन आदि विविध सम्पत्तियोंसे विशेष सम्पन्न होनेपर भी चरित्रहीन हैं, उनकी गणना श्रेष्ठ कुलमें नहीं हो सकती और जो मनुष्य स्वल्प धनवाले होनेपर भी चरित्रवान् हैं, उनकी गणना श्रेष्ठ कुलमें हो सकती है। इसलिये चरित्रवान् मनुष्यका विशेष महत्त्व कहा गया है। अतः मनुष्यको अपने चरित्रकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये। महाभारतमें ही कहा है—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ॥

(महा० उद्योग० ३६। ३०)

'मनुष्य आचार-(चरित्र-)की यत्नपूर्वक रक्षा करे। धन तो आता-जाता रहता है। वित्तसे दुर्बल व्यक्ति यदि चरित्रवान् हैं तो वह क्षीण नहीं कहा जाता, किंतु वृत्त-(चरित्र-)से नष्ट होनेवाला तो सर्वथा नष्ट ही है।'

अब हम जीवनके मूल केन्द्र-बिन्दुपर दृष्टि डालते हैं। इस जीवनकी मूल आधार शिला क्या है, जिसके द्वारा इसका संवर्धन एवं विकास होता है। प्रत्येक प्राणी माता-पिताके संयोगसे उत्पन्न होता है, यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है; किंतु सूक्ष्म वैज्ञानिक दृष्टिसे विचार करनेपर

यह सिद्ध होता है कि प्रकृति और पुरुष ही सभी जीवोंके उत्पादक हैं। प्रकृति और पुरुषके संयोगमें भी अग्नि (तेजस्) तत्त्व मुख्य है, जो सर्वत्र समस्त चलाचल पदार्थोंमें व्याप्त रहता है। यही बात शुक्लयजुर्वेद-(१२। ३७) मे कही गयी है—

गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने।

'अग्निदेव! आप विश्वके सभी पदार्थोंमें व्याप्त हैं।' अतः स्पष्ट है कि मनुष्यको जो कुछ दृष्टिगोचर होता है, वह सब अग्नि ही है। इसलिये प्राणीके जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त जो कुछ भी भाव-विकार उत्पन्न होते हैं, वे सब अग्निके द्वारा ही होते हैं। अतएव प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपमें समस्त वैदिक एवं लौकिक कर्मोका आधार अग्निदेव ही हैं। यही कारण है कि ऋग्वेद-(१। १। १)में **'अग्निमीले पुरोहितम्'** और सामवेद-(पूर्वार्चिक १। १)में **'अग्न आ याहि वीतये'** के द्वारा सर्वप्रथम अग्निदेवका ही स्मरण और स्तवन किया गया है। अतः अग्निको मुख्य देवता मानकर उनसे ऋषियोंने दुश्चरित्रसे मुक्त होकर सुचरित्रमे लगानेकी प्रार्थना की है—

परि माऽग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज।
(शुक्लयजुर्वेद ४। २८)

'अग्निदेव! आप हमको दुश्चरितसे सर्वदा बचाते रहें और सुचरितमें सदा लगाते रहें।'

इस प्रकार वेदोके विभिन्न स्थलोंमें ऋषियोंने अग्निदेवसे अपनेको चरित्रवान्, समुन्नत, कल्याणकारी, समदर्शी और मेधावी बनानेकी पुनः-पुनः प्रार्थना की है। चरित्रवान् बननेके लिये मनुष्योंमें जिन सद्गुणोंकी आवश्यकता होती है, उनकी पूर्तिके लिये भी ऋषियोंने अग्निदेवसे प्रार्थना की है।

वेदोमे अग्निसे सम्बद्ध मन्त्र विशेषरूपसे प्राप्त होते हैं जो मनुष्योको चरित्र-निर्माणके लिये प्रेरित करते हैं। वेदोंमें इसी प्रकार चरित्र-निर्माणके सम्बन्धमें अन्य भी अनेक उद्बोधक एवं प्रेरक उपयुक्त मन्त्र और सुन्दर सूक्तियाँ उपलब्ध हैं, जिनमेंसे कतिपय महत्त्वपूर्ण वैदिक मन्त्रों और सुन्दर सूक्तियोंको उद्धृत किया जाता है उनके अनुसार आचरण करनेसे मनुष्यका चरित्र-निर्माण, चरित्र-वर्धन और चरित्र-संरक्षण सुनिश्चित और सुरक्षित है।

पहले हम यजुर्वेदको देखें—

अहमनृतात् सत्यमुपैमि। (१। ५)

'मैं असत्यसे सत्यको प्राप्त होता हूँ।'

वर्धयारयिम् (३। ४) अग्निदेव! हमको धनसे बढावें। (धनकी वृद्धिसे हमें समृद्ध करें)।

अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण। (३। १७)

'अग्निदेव! हमारे शरीरमें जो कमी हो, उसको आप पूर्ण करें।'

परि माग्ने उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृतां अनु॥
(४। २८)

'अग्निदेव! मुझे दुश्चरित्रसे सर्वदा सब प्रकारसे बचाते रहो और सुचरित्रमें सदा लगाते रहो, जिससे मैं उच्च जीवन और पवित्र जीवनके साथ देवताओंकी ओर उन्मुख हो सकूँ।'

ऋतस्य यथा प्रेत (७। ४५)—'सत्यके मार्गपर चलो।'

दधद्रयिं मयि पोषम् (८। ३८)

अग्निदेव! मुझ प्रार्थयितामें पोषण करनेवाला धन स्थापित करें।

अहं मनुष्येषु भूयासम्। (८। ३८)

'मैं मनुष्योमें अत्यन्त कान्तिमान् (तेजस्वी) बनूँ।'

अग्ने अच्छा वदेह नः। (९। २८)

'अग्निदेव! हमारे अभिमुख होकर आप हमारी अभिलाषाओंको पूर्ण करें।'

उद्बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳ सृजेथाम्। (१५। ५४)

'अग्निदेव! आप प्रबुद्ध (प्रज्वलित) होकर मुझे श्रौत स्मार्त कर्ममे प्रवृत्त करें।

मयि धेहि रुचा रुचम्। (१८ । ४८)

'अग्निदेव ! आप मुझे अपने तेजसे तेजस्वी बनाये।'

अग्नेः प्रजां बहुलां मे करोत्वन्नं पयो रेतो अस्मासु धत्त। (१९ । ४८)

'अग्ने ! आप हमारी प्रजाको, अन्नको तथा जीवनाधार रसको अत्यधिक रूपसे बढ़ावे।'

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च बोधयैनमुच्च तिष्ठ महते सौभगाय॥ (२७ । २)

'अग्निदेव ! आप इस प्रार्थीको महान् सौभाग्यके लिये प्रेरित करे।'

यां मेधां देवगणा पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥
(३२ । १४)

'अग्निदेव ! जिस मेधा-(उत्तम बुद्धि-)को देवगण और पितृगण सेवन करते हैं, उस मेधासे आप मुझे युक्तकर मेधावी (बुद्धिमान्) बनाये।'

वयं देवानां सुमतौ स्याम। (३४ । ७)

'हम देवताओकी कल्याणकारिणी बुद्धिको प्राप्त करें।'

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे (३६ । १८)

'हम सबको मित्रकी दृष्टिसे देखे।'

पावको अस्मभ्यꣳ शिवो भव। (३६ । २०)

अग्निदेव ! आप हमारे लिये कल्याणकारी बने।'

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्। (४० । १)

'किसीके धनपर मत ललचाओ।'

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्। (४० । १६)

'अग्निदेव ! हमको सन्मार्गके द्वारा धन-प्राप्ति करनेके लिये अग्रसर करो।'

यहाँ ऋग्वेदसे भी कुछ बानगी लीजिये

उत नः सुभगां अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि॥ (१ । ४ । ६)

'दुर्गुणों और पापोंको क्षीण करनेवाले प्रभो ! हमारे शत्रु भी हमें सच्चरितताके कारण श्रेष्ठ और सौभाग्यशाली कहे। हम सच्चरितताके द्वारा परमैश्वर्यशाली परमेश्वरकी कल्याणमयी भक्तिमें सर्वदा तत्पर रहें।'

देवानां सख्यमुप सेदिमा वयम्। (१ । ८९ । २)

'हम देवों-(विद्वानों-)की मैत्री प्राप्त करें।'

भद्रं भद्रं क्रतुमस्मासु धेहि (१ । १२३ । १३)

'प्रभो ! हम लोगोंके सुख और कल्याणमय उत्तम संकल्प, ज्ञान और कर्मको धारण करे।'

स्वस्ति पन्थामनुचरेम ।(५ । ५१ । १५)

'हम कल्याण-मार्गके पथिक बने।'

संगच्छध्वं संवदध्वम्। (१० । १९१ । २)

'आप सब मिलकर चले और मिलकर बोले।'

अब सामवेदकी सूक्तियाँ देखिये

जीवा ज्योतिरशीमहि। (पू० ३ । ५ । २)

'हम शरीरधारी प्राणी विशिष्ट ज्योतिको प्राप्त करें।'

कृधी नो यशसो जने। (पू० ५ । २ । ३)

'हमे अपने देशमे यशस्वी बनाये।'

मा कीं ब्रह्मद्विषं वनः। (उत्त० २ । २ । २)

'ब्राह्मणो (और वेद-पुराणों)से द्वेष करनेवालेसे दूर रहें।'

अथर्ववेद

मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम। (३ । १५ । १)

'अग्निदेव ! हम कभी भी हानिका अनुभव न करे।'

वयं सर्वेषु यशसः स्याम। (६ । ५८ । २)

'हम समस्त जीवो-(मनुष्यो-)में यशस्वी बने।'

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु। (१९ । १५ । ६)

'हमारे लिये सभी दिशाएँ कल्याणकारिणी हो।'

उपर्युक्त वैदिक भावनाएँ चरित्र-निर्माणकी सीढ़ियाँ है। इन भावनाओको क्रियान्वितकर मनुष्य श्रेष्ठ चरित्रवान् बन सकता है।

चरित्र-निर्माणके मूल वैदिक स्रोत

(अथर्ववेदमें चारित्र्य-विधान)

(लेखक—श्रीदीनानाथजी सिद्धान्तालङ्कार)

प्राचीन स्मृति-ग्रन्थोमे वेदको श्रुति कहा गया है; क्योकि गुरु-शिष्य-परम्परासे मन्त्र-ब्राह्मणात्मक इनका श्रवण किया जाता था। वेदोंको धर्मका मूल और आदिस्रोत कहा गया है। मनुस्मृतिके दूसरे अध्यायके कुछ वचनोको यहाँ इस कथ्यके समर्थनमे उपस्थित किया जाता है; यथा—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥
यः कश्चित्कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥
श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।
ते सर्वार्थेष्वमीमांस्ये ताभ्यां धर्मो हि निर्बभौ॥
योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः॥
वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥
(२। ६, ७, ९, ११, १२)

अर्थात्—'वेद समस्त धर्मोका मूल है और वेद-वेत्ताओंके लिये स्मृति, शील, श्रेष्ठ पुरुषोंका आचार और आत्मसंतोष—ये सहायक हैं। जिस किसी व्यक्तिके लिये मनुने जो कुछ धर्म बताया है, वह वेदमे कहा गया है; क्योंकि वेद समस्त ज्ञानयुक्त है। श्रुति वेदका नाम है, स्मृतियाँ धर्मशास्त्र हैं। उनमें कहे गये वचनोंको निःशङ्क ग्राह्य मानना चाहिये; क्योकि इन दोनोकी सहायतासे धर्म प्रकाशित होता है। जो द्विज केवल तर्कशास्त्रके आश्रयसे धर्मके इन दोनो मूलोंका अपमान करे, उस नास्तिकको शिष्टवर्गसे अलग कर दिया जाय; क्योंकि वह वेद-निन्दक (नास्तिक) है।'

चरित्र-निर्माणके अनेक साधनोंमें कुछ मुख्य साधन इस प्रकार हैं—(१) भगवद्भक्ति और सपर्या, (२) विश्वकल्याणकी भावना, (३) आत्मबल, आत्मज्ञानका चिन्तन, (४) जीवनका लक्ष्य यज्ञमय, (५) कामादि शत्रुओंका दमन, (६) पवित्र जीवन, (७) उन्नतिके मार्गका सतत अवलम्बन, (८) पाप-वासनाका त्याग, (९) श्रेष्ठ शुद्ध पारिवारिक जीवन, (१०) भक्तिगत सदाचारमय जीवन और (११) जीवनका अन्तिम लक्ष्य मोक्ष एवं उसके साधन।

अब हम चरित्र-निर्माणके इन साधनोपर क्रमशः अथर्ववेदके कुछ मन्त्र अर्थ-सहित उपस्थित कर रहे हैं—

भगवद्भक्ति और सपर्या—**यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥**
(अथर्व० १। ५। २, ऋग्वे० १०। ९। २)

'प्रभो! जो आपका आनन्दमय भक्तिरस है, हमें वही प्रदान करें। जैसे शुभ कामनामयी माता अपनी संतानको संतुष्ट एवं पुष्ट करती है, वैसे ही आप कृपा करें।'

२—यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥
(अथर्व० १०। ८। १)

'भगवन्! आप भूत, भविष्य, वर्तमान रूप तथा सब पदार्थों और प्राणियोके आधार हैं। आप सुख और कैवल्य-मोक्षके साधन हैं। आप महातम और श्रेष्ठतम ज्ञानस्वरूप ब्रह्मको हमारा नमस्कार है।'

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः। यदजः प्रथमं सम्बभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम्॥ (अथर्व० १०। ७। ३१)

'जो श्रेष्ठ प्रभुभक्त सूर्योदयसे पूर्व उषाकालमे उन सुप्रसिद्ध परमात्माको, उनके नामको पुकारता और जपता है, वह अवश्य ही स्वराज्य—मोक्षको प्राप्त करता है, जिससे उत्तम अन्य कुछ भी नहीं है।'

विश्व-कल्याणकी भावना—'**स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः। विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्** ॥ (अथर्व० १।३१।४)

'हमारे माता और पिताके लिये कल्याण हो, गौओंके लिये तथा समस्त जगत्‌के नर-नारियोंके लिये कल्याण हो। हमारे लिये सभी कुछ उत्तम स्थिति और उत्तम प्राप्तिवाला हो। हम सब जगत्‌के प्राणी चिरकालतक सूर्यके प्रकाशको देखनेवाले हों।'

अभयं नः करोत्वन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे। अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥
(अथर्व० १९।१५।५)

'प्रभो! हमे अन्तरिक्षसे भय न हो, द्युलोक और पृथिवी दोनों हमारे लिये अभयरूप हों। पीछेसे, सामनेसे, नीचे-ऊपरसे हम निर्भय रहें।'

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥
(अथर्व० १९।१५।६)

'प्रभो! हमे मित्रसे, अमित्रसे, जो सम्मुख हैं और जो हमे ज्ञात हैं, उन सबसे अभय कीजिये। हमारे लिये दिन और रात अभय हों, सब दिशाएँ मेरे लिये मित्र हों।'

आत्मबल, आत्मज्ञान और चिन्तन—'**शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि। आप्नुहि श्रेयांस मति समं क्राम**॥' (अथर्व० २।११।५)

प्रभु प्रेरणा देते हैं—'मनुष्य! तेरी आत्मा वीर्यवान्, तेजस्वी, आनन्दयुक्त और प्रकाशस्वरूप है। तू श्रेष्ठताको प्राप्त कर और दूसरोंसे आगे बढ़ जा।'

स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व। महिमा तेऽन्येन न संनशे॥
(यजुर्वेद २३।१५)

'वाजिन्! स्वयं अपने शरीरको शक्तियुक्त कर, स्वयं अपना जीवनरूपी यज्ञ कर और स्वयं ही सेवन कर तथा फल भोग। तेरा महत्त्व दूसरेसे किसी प्रकार तुलनामें कम नहीं है।'

पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद् दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्॥ (अथर्व० ४।१४।३)

'जगदीश्वर! मैं पृथिवीके पृष्ठसे ऊपर उठकर अन्तरिक्षपर चढ़ा हूँ; अन्तरिक्षसे द्युलोक आया हूँ। सुखयुक्त द्यौके पृष्ठसे मैं आनन्दमय प्रकाशको प्राप्त हुआ हूँ।'

जीवनका लक्ष्य यज्ञमय—'**उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय। आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय**॥' (अथर्व० १८।६३।१०)

'बृहस्पते! तू खड़ा हो जा! देवताओंको यज्ञद्वारा जाग्रत्‌कर और उत्तम आयु, प्राणशक्ति, उत्तम संतान, गौ आदि पशु-प्राप्ति, कीर्ति और यजमानकी वृद्धि कर।'

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत। अस्ति नु तस्मादोजीयो यद् विहव्येनेजिरे॥
(अथर्व० ७।५।४)

देवगण जो निज श्रेय हविद्वारा यज्ञ करते हैं, वह यज्ञ अत्यन्त ओजस्वी है; क्योंकि वह भगवच्चरणोंमें समर्पणसे किया जाता है।'

कामादि शत्रुओंका दमन—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्। सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥
(अथर्व० ८।४।२२, ऋग्वे० ७।१०४)

[मनुष्यको क्रोध, लोभ, मोह आदि छः मानसिक शत्रुओंके निवारणके लिये इस मन्त्रमें पशु-पक्षियोंकी उपमासे दमन करनेकी सम्मति दी गयी है।]

'इन्द्र! तू **उलूकयातुं** उल्लूकी चालवाले अर्थात् मोहको, **शुशुलूकयातुं**—उल्लूके बच्चेकी चालवाले, अर्थात् ईर्ष्या, द्वेषको, **श्वयातुं** अर्थात् कुत्तेकी चालवाले मत्सरवृत्तिको, **कोकयातुं** अर्थात्—कामवासनाको, **सुपर्णयातुं** अर्थात्—गरुडकी चालवाले अहङ्कारकी

गृध्रयातुं गृध्र—लोभ—लालचवृत्तिको (इस प्रकार इन छः प्रकारकी राक्षसीय भावनाओंको) तू प्रभुसे बल माँगकर पत्थरके सदृश कठोर साधनोंसे मसल दे ।'

पवित्र जीवन—**वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः । अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम ॥**

(अथर्व० १२ । २ । २८)

'पवित्रता और तेजके लिये उत्तम ज्ञान देनेवाली वेद-वाणीके द्वारा पवित्र जीवन बनाते हुए दूसरोंको भी पवित्र मार्गके लिये प्रेरणा दीजिये । पापप्रेरक कार्योंका अतिक्रमण करते हुए हम सौ वर्षतक पवित्रताके साथ आनन्दसे रहें ।'

उन्नतिके मार्गका सतत अवलम्बन—**उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि । आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥** (अथर्व० ८ । १ । ६)

'मानव ! तेरे जीवनका लक्ष्य ऊपरको चढ़ना है, नीचे जाना नहीं; उन्नति ही करनी है, अवनति नहीं । प्रभु प्रेरणा देते हैं—'मानव ! इस प्रकार जीनेके लिये मैं तुझे बल देता हूँ । इस जीवनरूपी सुखकारी रथपर सवार हो जा । इसके बाद तू प्रशंसित होकर दूसरोंको भी प्रेरणा दे ।'

पाप-वासनाका त्याग—**तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत संनह्यध्वं मित्रा देवजनायूयम् । इमं संग्रामं सजित्य यथालोकम् वितिष्ठध्वम् ॥**

(अथर्व० ११ । ९ । २३)

'मानव ! तुम अपने आत्मबलके साथ इस शरीर, मन, इन्द्रियोंके शासक हो । तुम हो जाओ । अपने सब श्रेष्ठ मित्र, पापपर विजय पानेके अभिलाषी होते हुए देवजनोंद्वारा निर्दिष्ट पाप-वासनाके सर्वथा त्यागके मार्गपर चलनेके लिये तैयार हो जाओ । इस पापके विरुद्ध संग्रामको जीतकर जीवनके अन्तिम लक्ष्य मोक्षपर प्रभुसे प्रार्थना करते हुए दृढ़तासे स्थिर हो जाओ ।'

श्रेष्ठ शुद्ध पारिवारिक जीवन—**अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः । जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥** (अथर्व० ३ । ३० । २)

प्रभु गृहस्थियोंको आदेश देते हैं—'पुत्र पिताके व्रतके अनुकूल व्यवहार करे, माताके साथ एक सदृश मन और विचारवाला हो, पत्नी पतिसे मीठी और शान्ति देनेवाली वाणी बोले, सबका श्रेय हो ।'

व्यक्तिगत सदाचारमय जीवन—**'सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः । अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥'**

(अथर्व० ३ । ३० । १)

प्रभु उपदेश देते हैं—'ओ मनुष्य ! तुम अपने जीवनमें एक-दूसरेके प्रति सदाचारके मार्गपर आरूढ होते हुए स्नेहयुक्त हृदयवाले, एक सदृश श्रेष्ठ उत्तम विचारोंवाले और वैरका सर्वथा त्याग करते हुए जीवन व्यतीत करो । तुम प्राणिमात्रसे ऐसा निःस्वार्थ प्रेम करो जैसे गौ अपने उत्पन्न बछड़ेको प्यार करती है ।'

मानव-जीवनका अन्तिम लक्ष्य—मोक्षपद—**'यस्मात् पक्वादमृतं सम्बभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव । यस्मिन् वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥** (अथर्व० ४ । ३५ । ६)

'पके हुए ओदनके सदृश तपःपूत जीवनसे मोक्ष उपलब्ध होता है । जो प्रभु-गुण गानेवाली गायत्री-द्वारा अपने जीवनकी आत्मशुद्धि कर स्वामी बन गया है, जिसने सब पदार्थोंका निरूपण करनेवाले ईश्वरीय ज्ञान वेदको जीवनमें पूर्णतः धारण कर लिया है, वही मानव इस वेदज्ञानरूपी पके हुए ओदनके ग्रहणसदृश मृत्युको पारकर मोक्षपद प्राप्त करता है ।' निष्कर्ष यह कि चरित्रका निष्ठा, नियमसे पालनकर मानव अपने अन्तिम लक्ष्य मोक्षको भी प्राप्त कर लेता है ।

सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थोंमें चरित्र-निरूपण

(लेखक—डॉ० श्रीओमप्रकाशजी पाण्डेय, एम्० ए०, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न)

गीतामे भगवान् श्रीकृष्णने स्वविभूतियोके अन्तर्गत सामवेदका सश्रद्ध उल्लेख किया है—**'वेदानां सामवेदोऽस्मि'** (१० । २२) । सामवेदका वैदिक-वाङ्मयमें सदासे असीम महत्त्व रहा है । 'बृहद्देवता'के अनुसार सामविद् ही वेदका वास्तविक तत्त्ववेत्ता होता है—**'सामानि यो वेत्ति स वेद तत्त्वम्'** (८ । ३०) ।

संहिताके साथ इस वेदके ब्राह्मणग्रन्थोकी विशाल राशि भी अपनी विपुल संख्या तथा प्रतिपाद्य विषयकी विशिष्टताके कारण महनीय रही है । सायणाचार्यके अनुसार सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थोंकी संख्या आठ है—**'अष्टौ हि ब्राह्मणग्रन्थाः'** (साम-भाष्य-भूमिका) । ये हैं—ताण्ड्य महाब्राह्मण (यह पञ्चविंश तथा प्रौढमहाब्राह्मणके नामोसे भी प्रसिद्ध है), षड्विंश ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण, आर्षेय ब्राह्मण, देवताध्याय ब्राह्मण, संहितोपनिषद् ब्राह्मण, छान्दोग्य ब्राह्मण (मन्त्र-ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद्को मिलाकर) तथा वंशब्राह्मण । ये सभी कौथुमशाखाके ब्राह्मण हैं । इनके अतिरिक्त पं० सत्यव्रत सामश्रमी, प्रो० कालन्द, डॉ०रघुवीर, सिमान तथा डॉ०वेलिमकोत्तु एवं रामचन्द्र शर्मा-सदृश विद्वानोंके प्रयत्नसे जैमिनीय शाखाके जैमिनीय ब्राह्मण तथा जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मणोंका भी प्रकाशन हो गया है । इस प्रकार कुल सामवेदीय ब्राह्मणोकी संख्या अब ११ हो गयी है । अभीतक इतने अधिक ब्राह्मणग्रन्थ किसी भी वेदके प्राप्त नहीं हुए हैं ।

इन ब्राह्मणोमे सोमयागोंके और सामगानविषयक सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण प्राप्त होते हैं । यही इनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है; किंतु स्थान-स्थानपर इनमें मानवीय चरित्रको ऊपर उठानेवाले (तथा उसे पतित करनेवाले) तत्त्वोंका उपादेय-हेय रूपेण निरूपण भी भूयशः हुआ है । मानवीय चरित्रको गरिमा प्रदान करनेवाले जिन गुणोकी आवश्यकता सामान्यतः समझी जाती है, उन सभीका इनमें उल्लेख है । इनका क्रमिक विवरण इस प्रकार है—

जीवनकी यज्ञरूपता—सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थोंके अनुसार वाणी यज्ञपुरुषकी होतृस्थानीय है, चक्षु अध्वर्यु है, मन ब्रह्मा है, श्रोत्र उद्गाता है, अन्य अङ्ग चमसाध्वर्यु (सहायक ऋत्विक्) हैं और चक्षुओंके मध्य विद्यमान आकाश ही सदस्य हैं (षड्०ब्रा० १ । ६ । २) । षड्विंशमें ही एक अन्य स्थानपर प्राणादिको होतृ-अध्वर्यु आदि कहा गया है । यज्ञमय जीवन बितानेका अभिप्राय है, समस्त प्रलोभनोंसे विरत रहकर त्यागपूर्ण जीवनका निरन्तर अभ्यास । जीवनका प्रत्येक कार्य एक यज्ञ—क्रतु है, उसके विधिवत् अनुष्ठानसे ही लौकिक और पारलौकिक सफलता प्राप्त हो सकती है—**'ते देवाः प्रजापतिमुपाधावन् कथं नु वयꣳस्वर्गं लोकमियाम इति । तेभ्य एतान् यज्ञक्रतून् प्रायच्छत् । एतैः लोकमेष्यथ'** (पञ्चविंश ब्राह्मण—१० । १ । १५) । इस यज्ञकी ज्वाला निरन्तर प्रदीप्त रहनी चाहिये । मानव-जीवन परमात्माकी समिधा है—**'अयं ते इध्मः'** । ताण्ड्यका वचन है—**'विहाय दौष्कृत्यम्'** (१ । १ । ३)—अर्थात् जैसे यजमान और ऋत्विक् सभी प्रकारके कुकृतियोको छोड़कर यज्ञशालामे प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार जीवनयज्ञके अनुष्ठाताओंको भी दुष्कर्मोंसे विरत होकर सत्कर्मानुष्ठानका निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये ।

सत्य, ज्ञान और तपका अनुष्ठान—सामवेदीय-ब्राह्मणोंकी पङ्क्ति-पङ्क्तिमे सत्य ज्ञान और तपस्यापर बल दिया गया है । ताण्ड्यब्राह्मणमें कहा गया है कि—**'ऋतपात्रमसि'** (१ । २ । ३)—सत्य-धारणके पात्र बनो; **'ऋतस्य सदने सीदामि'** (१ । २ । २)—

मैं सत्यके आगारमें आसीन होता हूँ, तथा—'ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः'—सत्यके धाम बनो, वह स्वर्गीय सुखका प्रकाशक है। षड्विंश ब्राह्मणमें कहा गया है कि—'त्रिसत्या हि देवाः' (१ । १ । ९) अर्थात् 'उन्होंने ही देवत्व प्राप्त किया, जिनके मन, वाक् और कर्म—तीनों ही सत्ययुक्त रहे हैं।' यज्ञके सर्वस्वभूता अग्निकी पत्नी स्वाहा देवी सत्यसे ही उत्पन्न हुई हैं—'स्वाहा वै सत्यसम्भूता' (५ । ७ । २)। जब देवगण असुरोंसे भयभीत हुए तो वे प्रजापतिके पास गये। प्रजापतिने उनके भयको दूर करनेके लिये मुख्यरूपसे ऋत, सत्य, ज्ञान, ओंकारोपासना और त्रिपदा गायत्रीके जपका उपाय बतलाया—'तस्य प्रजापतिरेतद् भेषजमपश्यत्। ऋतं च सत्यं च ब्रह्म चोंकारं च त्रिपदां च गायत्रीं ब्रह्मणो मुखमपश्यत्' (षड्० ब्रा० ५ । ५ । ३)।

'सामविधान ब्राह्मण'में कहा गया है कि—सत्यं वदेत्। अनार्यैर्न सम्भाषेत (१ । २ । ७)। 'सत्य बोलना चाहिये और असज्जनोंसे संभाषण नहीं करना चाहिये।' 'देवताध्याय-ब्राह्मण'में प्रार्थना की गयी है कि—ब्रह्म सत्यं च पातु माम् (१ । ४ । ५)—'ज्ञान और सत्य मेरी रक्षा करे।' 'ताण्ड्यब्राह्मण'के एक मन्त्रमें देवोंसे मनको तेज, ज्ञान, कल्याण-भावना और सत्यसे संयुक्त करनेकी प्रार्थना की गयी है, जिससे हम चारुतमा वाणी बोल सकें—संवर्चसा पयसा संतपोभिरगन्महि मनसा सꣳशिवेन संविज्ञानेन मनसश्च सत्यैश्च वोऽहं चारुतमं वदानीन्द्रो वो दृशे भूयास्मꣳ सूर्यश्चक्षुषे वातः प्राणाय सोमो गन्धाय ब्रह्म क्षत्राय(१ । ३ । ९)। वाणीकी शुद्धिके लिये सज्जन दीक्षितोंके पापका कथन भी नहीं करना चाहिये—यो वै दीक्षितानां पापं कीर्तयति तृतीयमेवांशं पाप्मनो हरति अन्यथा उसे तृतीयांश पाप मिल जाता है (वही ५ । ६ । १०)।

वाणीकी यह शुद्धि तभी सम्भव है, जब उसे मानसिक ध्यानकर प्रयुक्त किया जाय अर्थात् सोच-विचारकर बोला जाय, जैसा कि 'ताण्ड्यमहाब्राह्मण' (६ । ७ । ८) में कहा गया है— वाचं मनसा ध्यायेत । तथा—मनसा पूर्वं वाचो युज्यते मनो हि यद्धि मनसा-भिगच्छति तद्वाचा वदति (११ । १ । ३)। वाणी और मनकी एकतापर विचार करते हुए 'षड्विंश-ब्राह्मण'में कहा गया है कि ये दोनों इसी प्रकार परस्पराश्रित हैं, जैसे रथके दोनों पहिये। एक पहियेके अभावमें रथ गमन नहीं कर सकता—वाचि तन्मनः प्रतिष्ठापयति। तद्यथैकवर्तनिना रथेन न कांचन दिशं व्यश्नुते तादृगेतत् (१ । ५ । ५)।

जिसपर मिथ्याभाषणका आरोप लग जाता है, उसका मनुष्य ही नहीं, देवगण भी परित्याग कर देते हैं; वे उसके द्वारा प्रदत्त यज्ञाहुतिको स्वीकार नहीं करते—देवता वा एतं परिवृजन्ति यमनृतमभिशंसन्ति (१८ । १ । ११)। इसीलिये ताण्ड्यब्राह्मणमें ऋतपेय नामक एक एकाहके संदर्भमें उल्लेख मिलता है कि ऋत्विग्गण सदोमण्डपमें सत्य वचनोंका उच्चारण करते हुए ही प्रसर्पण करते हैं—ऋतमुक्त्वा प्रसर्पन्त्यृतेनैवैनं स्वर्गं लोकं गमयन्ति (१८ । २ । ९)।

सत्यके साथ ज्ञानकी भी महत्ता है। 'षड्विंश-ब्राह्मण'में कहा गया है कि ज्ञानके गौरवसे मनुष्य देवत्वकी कोटिमें पहुँच जाता है—अथ हैते मनुष्यदेवाः ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनूचानास्ते मनुष्यदेवाः (षड्विंशब्राह्मण १ । १ । २९)। ज्ञानपूर्वक यज्ञानुष्ठान करनेवालेका यज्ञ निर्दोष होता है—एवं विदुषो ह वै यज्ञो न व्यृध्यते (२ । ७ । ९)। 'सामविधानब्राह्मण'की एक आख्यायिकाके अनुसार मनुष्योंने जब प्रजापतिसे पूछा कि हम स्वर्गलोकको कैसे पहुँच सकते हैं तो प्रजापतिने उन्हें स्वाध्याय (वेदाध्ययन) और तपस्याका मार्ग बतलाया—कथं नु वा स्वर्गं लोकं नियाम। तेभ्य एतत्स्वाध्यायाध्ययनं प्रायच्छत्, तपश्चैताभ्यां

स्वर्गलोकमेष्यथेति—(१ । १ । १७) । स्वाध्यायकी श्रेणीमें ही सावित्री-(गायत्री-)की उपासना भी सम्मिलित है, जिससे मनके राग-द्वेषादि कलुषोंका विनाश हो जाता है—**दुष्टात् कुरूपयुक्तान्न्यूनाधिकाच्च सर्वस्मात् स्वस्ति** (देवताध्यायब्रा० १ । ४ । ३) ।

विद्याकी सब प्रकारसे सुरक्षा करनी चाहिये—वह निधि है । भले ही विद्याके साथ ही मर जाना पड़े, किंतु अनुर्वर स्थानपर कभी भी उसका वपन नहीं करना चाहिये—**विद्या सार्धं म्रियेत् । न विद्यामूषरे वपेत्** । (संहितोपनिषद् ब्रा० ३ । १०) । किंतु योग्य शिष्यको पाकर उसकी अवहेलना भी नहीं करनी चाहिये अर्थात् उसे विद्याका अध्यापन करना ही चाहिये—**सनश्च न विमानयेत्**—(वही ३ । १९) । शिष्यका भी यह कर्तव्य है कि वह कभी उस गुरुसे द्रोह न करे, उसे माता-पिता समझे, जिसने उसे विद्या-जैसा शिष्ट दान दिया है—

य आतृणोत्यवितथेन कर्णा-
वदुःखं कुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् ।
तं मन्येत पितरं मातरं च
तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्च नाह ॥
(संहितोप० ब्रा० ३ । १३ ।)

यह उल्लेखनीय है कि विद्यादानकी गणना अतिदानोंमें है—**त्रीण्याहुरतिदानानि गावः पृथिवी सरस्वती** (वही ४ । २) । इस अतिदानसे समस्त कामनाओंकी पूर्ति हो जाती है—**दानेन सर्वान् कामानवाप्नोति**—(वही ४ । १) ।

सत्य और ज्ञानके साथ ही इन ब्राह्मणग्रन्थोंमें तपस्याका भी गौरव भूयोभूयः निरूपित है । द्वन्द्वोंको सहन करनेकी शक्ति और कष्ट-सहिष्णुता मानवीय व्यक्तित्वको आपादशीर्ष माँजकर चमका देती है । तपोऽनुष्ठानसे मानवीय चारित्र्य नितरां समुज्ज्वल हो उठता है; क्योंकि इस भूतलपर जो कुछ है, वह सब तपस्यासे ही उत्पन्न हुआ है; जैसा कि षड्विंशमें कहा गया है—**देवा वै ······तपोऽतप्यन्त । तेषां तप्यमानानां रसोऽजायत । पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौरिति । तेऽभ्यतपन् । तेषां तप्यमानानां रसोऽजायत** (५ । १ । २); अर्थात्—'देवों अथवा दिव्यगुणयुक्त मनुष्योंकी तपस्या-साधनासे ही समस्त सारभूत तत्त्व (जल, समुद्रादि)-पृथ्वी आदि लोक, ऋग्वेदादि ज्ञानराशि, गार्हपत्यादि अग्नियाँ तथा अन्य सभी वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं ।' सत्य ही इस धरतीके अङ्कमें जो कुछ श्रेय और प्रेयोमूलक पदार्थ हैं, शिव और सुन्दर हैं, रमणीय और कमनीय हैं—वे सब उन्हीं तपस्वियोंके अवदान हैं, जिन्होंने लौकिक जीवनके प्रलोभनोंसे ऊपर उठकर अकर्मण्यताको तिलाञ्जलि देकर अथक साधनाके पथका वरण स्वेच्छया किया । ताण्ड्यके अनुसार—इसीलिये समस्त समृद्धियाँ सदैव तपोरत व्यक्तियोंको ही प्राप्त हुई—**तपश्चितो देवाः सर्वामृद्धिमार्ध्नुवन्**—(२५ । ५ । ३) ।

चरित्र-विधायक कुछ अन्य गुण—सामविधान ब्राह्मणके अनुसार यजमान या गृहपतिको अपने सेवकों और समागत अतिथियोंकी कदापि उपेक्षा नहीं करनी चाहिये । भोजनके समय सदैव पहले अतिथियों और भृत्योंको भोजन करा देना चाहिये; तत्पश्चात् अवशिष्ट अन्नको स्वयं ग्रहण करना चाहिये । अतिथियोंकी धनादिकी आवश्यकताको यथाशक्ति पूर्ण करना चाहिये और केवल अपनी पत्नीसे ही शारीरिक सम्बन्ध रखना चाहिये, वह भी मात्र ऋतुकालके समय । उपर्युक्त नियमोंका पालन करनेवाले जनोंका अग्निहोत्र कभी लुप्त नहीं होता, और उन्हें दर्शपूर्णमासके अनुष्ठानका फल प्राप्त होता है—

भृत्यातिथिशेषभोजी काले दारानुपेयाद् । यथाशक्ति चातिथिभ्यो दद्यादप्युदकमन्ततः ।······ तथा अस्याग्निहोत्रमविलुप्तं सदा हुतं स्यद्दर्शपूर्णमासं भवति (१ । ३ । ५) ।

उपर्युक्त चारित्र्य-घटक तत्त्वोंके निरूपणके साथ ही सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थोंमें उन दुर्बलताओं और विकृतियोंका विवेचन भी है, जो चारित्रिक स्खलनका प्रतीक हैं। छन्दोग्य ब्राह्मणमें कहा गया है कि स्वर्णके चोर, मद्यप, गुरु-स्त्रीगामी और किसीकी हत्या करनेवाले पतित हैं—इनसे सम्पर्क रखनेवाला भी पतित हो जाता है—**'स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबꣳश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरꣳस्तैरिति'** (५। १०। ९)।

'ताण्ड्यब्राह्मण'में चोरको समाजका शत्रु बतलाया गया है—**'ये वै स्तेना रिपवस्ते'** (४। ७। ५)। ताण्ड्यमें ही उन लोगोंको निकृष्टतम कहा गया है, जो न तो वेदाध्ययन करते हैं और न ही कृषि या वाणिज्य अथवा कोई अन्य व्यवसाय—**'हीना वा एते हीयन्ते ये ……न हि ब्रह्मचर्यं चरन्ति न कृषिं वाणिज्यम्'**—(१७। १। २)।

इसी श्रेणीमें आगे उन लोगोंको रखा गया है, जो दूसरोंके अन्नको बलपूर्वक खा जाते हैं, किसीके अच्छे कथनमें भी दोष निकालते हैं तथा निर्दोष और निरपराध व्यक्तियोंपर लाठी-डंडेका प्रहार कर देते हैं। ऐसे दुष्टजनोंको विषभक्षक अर्थात् अपनी आत्माका हनन करनेवाला कहा गया है—**'गरगिरो वा एते ये ब्रह्माद्यं जन्यमन्नमदन्त्यदुरुक्तवाक्यं दुरुक्तमाहुरदण्ड्यं दण्डेन घ्नन्तश्चरन्त्यदीक्षिता दीक्षितवाचं वदन्ति'**। (१७। १। ९)।

'ताण्ड्य'में एक स्थानपर साधुके वेशमें घूम रहे उन असाधु और भ्रष्ट असामाजिक तत्त्वोंका भी उल्लेख है, जो विवेकज्ञानसे रहित हैं, वेदान्तके वाक्योंका आचरण तो दूर रहा, उच्चारण भी नहीं कर सकते, केवल काषायवस्त्र और दण्डमात्र धारण करनेवाले हैं—**'इन्द्रो यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत्'** (१९। ४। ७) इसपर सायणाचार्यका भाष्य द्रष्टव्य है—**'केचन यतयः सर्व्वकर्मसंन्यासं कृत्वा कदाचिदपि स्वमुखे वेदान्तशब्दोच्चारणरहिताः काषायदण्डमात्रधारिणो विवेकज्ञानरहिताः यत्र तत्रान्नं भक्षयन्तो नरकयोग्या वर्तन्ते।'**

'सामविधानब्राह्मण' प्रथम प्रपाठकके पाँचवेंसे आठवें खण्डोंतकमें चारित्रिक पतनके द्योतक कुछ अन्य दोष निर्दिष्ट हुए हैं, जो इस प्रकार हैं—अश्लील और परुष-भाषण, गुरुजनोंसे व्यर्थका वाद-विवाद, अन्याय अर्थात् अपात्रको विद्यादान, अयाज्यको अर्थात् जो यज्ञानुष्ठानका अधिकारी न हो उसका याजन, अमेध्य (अपवित्र वस्तु) का दर्शन तथा घ्राण अभक्ष्यका भोजन, अमेध्य-प्राशन, सुरापान, भ्रूणहत्या, ब्रह्महत्यादि, सुवर्णादि वस्तुओंकी चोरी, परस्त्री-गमन, राज-प्रतिग्रह (राजासे बिना आवश्यकताके दान लेना), अदत्त-आदान (बिना दिये ही किसीकी वस्तु ले लेना), रस-विक्रय, योनिभिन्न स्थानपर शुक्रपात, अप्रदत्त कन्यासे सम्बन्ध करना इत्यादि।

अनिच्छा, विवशता अथवा दुर्बलतासे यदि ये अपराध कभी हो जायँ और व्यक्तिको पश्चात्तापकी अनुभूति सच्चे हृदयसे हो, तो उसके लिये 'सामविधानब्राह्मण'में विभिन्न प्रकारके प्रायश्चित्त-अनुष्ठान दिये हुए हैं, कृच्छ्रादि व्रतोंका विधान है, जिनके अनुष्ठानसे मनुष्य पुनः पवित्र और कर्मण्य बन सकता है। कृच्छ्र, अतिकृच्छ्र और कृच्छ्रातिकृच्छ्र—इन तीनों व्रतोंके विधिपूर्वक पालनसे मनुष्यके पाप नष्ट हो जाते हैं—**'प्रथमं चरित्वा शुचिः पूतः कर्मण्यो भवति। द्वितीयं चरित्वा यत्किंचिदन्यन्महापातकेभ्यः पापं कुरुते तस्मात् प्रमुच्यते। तृतीयं चरित्वा सर्वस्मादेनसो मुच्यते'** (१। २। ५)। शुद्धि-हेतु उपवास तथा अयाचित व्रतपर भी बल दिया गया है (१। २। ४-५)।

इस प्रकार सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थोंमें मानवीय प्रकृति, सहज दुर्बलताओं और विवशताओंको ध्यानमें रखकर पतित और निकृष्ट जनोंको भी ऊपर उठानेका प्रयत्न किया गया है। मानवीय चरित्रका निर्माण

एक-दो दिनमें नहीं होता, वह एक सतत चलनेवाली क्रमिक साधना है। ऊपर जिन सद्गुणों, सत्प्रवृत्तियों और आदर्श जीवनदर्शनकी रूपरेखा दी गयी है, उन्हे अपने जीवनमें क्रियान्वित करके तथा निषिद्ध कर्मोंका परित्याग कर मानव अपने चरित्रका समुचित और सर्वाङ्गीण विकास कर सकता है, यह असंदिग्ध है। इस विकसित चरित्रके बलपर उद्गाताके स्वरमे स्वर मिलाकर वह कह सकता है—

'ॐ महन्मे वोचो भर्गो मे वोचो यशो मे स वोचः स्तोमं मे वोचो भुक्तिं मे वोचः सर्वं मे वोचस्तन्माऽवतु तन्मा विशतु तेन भुक्षिषीय' (ताण्ड्य ब्रा० १ । १ । १) अर्थात् 'सामवेदीय ब्राह्मणग्रन्थोंमे जो कहा गया है, वह मेरे लिये परम आदरणीय पापनाशक, यशस्कर, स्तुति और भोगका साधक तथा सब कुछ प्राप्त करानेवाला है। यह वाणी मेरी रक्षा करे, मुझमें प्रवेश करे और इसके परिपालनसे मै समस्त भोगोको प्राप्त करूँ।

आयुर्वेदशास्त्रमें चारित्रिक शिक्षा

(लेखक—श्रीहुसेन खॉ शेख, बी० ए०, बी० एड्०)

आयुर्वेद अत्यन्त प्राचीन शास्त्र है। यह ब्रह्माके मुखसे निकला हुआ सृष्टिके साथ-साथ चलता हुआ उसकी रक्षा कर रहा है—

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानं च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥
(चरकसं० १ । ४१)

'जिस ग्रन्थमे हित आयु, अहित आयु, सुख आयु, दुःख आयु—इन चार प्रकारकी आयुओके लिये हित (पथ्य), अहित (अपथ्य)—इन आयुओंका मान (प्रमाण और अप्रमाण) तथा आयुका स्वरूप बताया गया हो, उसे आयुर्वेदशास्त्र कहा जाता है।'

आयुर्वेदशास्त्रमें चरकसंहिता, अष्टाङ्गहृदय, सुश्रुतसंहिता, भावप्रकाश आदि प्रमुख ग्रन्थ चारित्रिक शिक्षासे सम्बद्ध हैं। मानव-जीवनका प्रमुख लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति या मोक्ष-प्राप्ति है। किंतु मोक्ष-प्राप्तिका अधिकारी कौन है? वेदान्तके अनुसार मोक्षप्राप्तिके अधिकारीको विवेक, वैराग्य, शम-दमादि षट्सम्पत्ति तथा मुमुक्षुता—इन चार गुणोंसे सम्पन्न होना चाहिये। मुमुक्षुके लिये शारीरिक एवं मानसिक दृष्टिसे स्वस्थ होना अत्यावश्यक है।

'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।

आयुर्वेद मानवको शारीरिक एवं मानसिक दृष्टिसे स्वस्थ एवं सबल बनाता है, जिससे वह धर्मके साधन-(शरीर-)को साध्य-(धर्म-)में लगा सके। चरित्रवान् व्यक्तिका ही व्यक्तित्व निखरता है और अपने इस गुणके कारण ही वह अपने समाज, राष्ट्र और विश्वका कल्याण करनेमें समर्थ हो सकता है। धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध—ये दस धर्मके लक्षण ही वस्तुतः चरित्रवान् मानवके लक्षण हैं। आयुर्वेदके प्रमुख ग्रन्थमे चरित्र-निर्माणात्मक उपदेश दिये हैं—

चरकसंहितामें चारित्रिक शिक्षा—चरकसंहितामें सद्वृत्तका विस्तृत विवेचन किया गया है, जो सर्वसाधारणके लिये अत्युपयोगी है। तदनुसार—

'सुमुखः दुर्गेष्वभ्युपगन्ता होता यष्टा दाता चतुष्पथानां नमस्कर्ता, बलीनामुपहर्ता, अतिथीनां पूजकः, पितृभ्यः पिण्डदः, काले हितमितमधुरार्थवादी, वश्यात्मा, धर्मात्मा, हेतावीर्ष्युः, फले नेर्ष्युः, निश्चिन्तः, निर्भीकः, ह्रीमान्, धीमान्, महोत्साहः, दक्षः, क्षमावान्, धार्मिकः, आस्तिकः, विनय-बुद्धिविद्याभिजनवयोवृद्ध-सिद्धाचार्याणामुपासिता सर्वप्राणिषु बन्धुभूतः स्यात्; क्रुद्धानामनुनेता भीतानामाश्वासयिता, दीनानामभ्युपपत्ता, सत्यसंधः, सामप्रधानः, परपरुषवचनसहिष्णुः, अमर्षघ्नः प्रशमगुणदर्शी रागद्वेषहेतूनां हन्ता च'
(चरकसंहिता, सूत्रस्थान ८ । १८)

'प्रसन्नमुख रहना, दूसरेपर आपत्ति आनेपर दया करना तथा हवन और यज्ञ करना, सामर्थ्यके अनुसार दान देना, चौराहेको नमस्कार करना, कौवा-कुत्ता आदिको बलि देना, अतिथियोंकी पूजा करना, पितरोंको पिण्ड देना, समयपर हितकर थोडे और मधुर अर्थवाले वचनोंको बोलना तथा जितेन्द्रिय और धर्मात्मा होना चाहिये । दूसरोकी उन्नतिके कारणोमें ईर्ष्या करनी चाहिये, किंतु उसके फलमें ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये । निश्चिन्त, निडर, लज्जायुक्त, बुद्धिमान्, उत्साही, चतुर, क्षमायुक्त, धार्मिक और आस्तिक होना चाहिये तथा विनय, बुद्धि, विद्या, अभिजन (कुल) और अवस्थामें वृद्ध व्यक्ति, सिद्ध एवं आचार्यका सेवक होना चाहिये । सभी प्राणियोंके साथ भाईके समान व्यवहार करनेवाला, क्रोधी मनुष्योंको विनयद्वारा प्रसन्न करनेवाला, भयसे युक्त व्यक्तियोंको आश्वासन देनेवाला, दीन-दुःखी व्यक्तियोंका उपकार करनेवाला, सत्यप्रतिज्ञ, शान्तिप्रधान, दूसरेके कठोर वचनोंको सहनेवाला, क्रोधका नाशक, शान्तिके गुणको देखनेवाला और राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाले कारणोंका त्याग करनेवाला होना चाहिये—'ब्रह्मचर्यज्ञानदानमैत्री-कारुण्यहर्षोपेक्षाप्रशमश्च स्यादिति ।'

(चरकसं० ८ । २९)

'ब्रह्मचर्य, ज्ञान, दान, मित्रता, दया, हर्ष, उपेक्षा और शान्ति इन—क्रियाओंमें तत्पर रहे ।'

सुश्रुतसंहितामें चारित्रिक शिक्षणस्रोत—

ततोऽग्निं त्रिःपरिणीयाग्निसाक्षिकं शिष्यं ब्रूयात् । कामक्रोधलोभमोहमानाहंकारेर्ष्यापारुष्य-पैशुन्यानृतालस्यायशस्यानि हित्वा नीचनखरोम्णा शुचिना कषायवाससा सत्यव्रतब्रह्मचर्याभिवादन-तत्परेणावश्यं भवितव्यम् । (सुश्रुतसंहिता ३ । ६)

'तत्पश्चात् अग्निकी तीन बार प्रदक्षिणा करके अग्निको साक्षी करके शिष्यसे कहना चाहिये कि—(हे शिष्य !) तुम्हें अभ्यासपर्यन्त काम, क्रोध, लोभ, मोह, मान, अहङ्कार, ईर्ष्या, कठोर वचन, चुगुली, मिथ्या भाषण, आलस्य और जिनसे अपकीर्ति हो ऐसे कार्योंमें प्रवृत्ति—इन सभीका परित्याग करना चाहिये । नाखून तथा बाल छोटे रखना, पवित्र रहना, कषाय वस्त्र पहनना, सत्यव्रतमें, ब्रह्मचर्यमें तथा मान्यजनोंको अभिवादन करनेमें अवश्य तत्पर रहना चाहिये ।'

अष्टाङ्गहृदयमें चारित्र्य-निर्देश—अष्टाङ्गहृदय भी आयुर्वेदका चरित्रनिर्माता ग्रन्थ है । इसमें कहा गया है—

सम्पद्विपत्स्वेकमना हेतावीर्ष्येत् फले न तु ॥

(अष्टाङ्गहृदय २ । २५)

'सम्पत्ति और विपत्तिमें एकमन होना चाहिये और कारणमें ईर्ष्या करे, उसके फलमें ईर्ष्या न करे'—

आर्द्रसंतानता त्यागः कायवाक्चेतसां दमः ।
स्वार्थबुद्धिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्व्रतम् ॥

(अष्टाङ्गहृदय ३ । ४६)

'आर्द्र-संतानता (अतिशय करुणा या सब प्राणियोंमें दयाभाव) त्याग-दान (अपना अधिकार छोड़कर दूसरेको अधिकार देना), शारीरिक, वाचिक और मानसिक चपलताका निग्रह (शान्ति), दूसरेके कार्योंमें स्वार्थबुद्धि—ये चारों सम्पूर्ण सद्व्रत (सज्जनोंके धर्म) हैं ।'

भावप्रकाशमें सदाचरण

मैत्रीं सद्भिः समं कुर्यात्स्नेहं सत्सु तु सर्वथा ।
संसर्गं साधुभिः कुर्यादसत्सङ्गं परित्यजेत् ॥

(भा० प्र० पूर्वखण्ड ५ । २८५)

'सत्पुरुषोंके साथ मित्रता करे, मन, वाणी तथा कर्मसे सत्पुरुषोंसे स्नेह करे । साधु (परोपकारी) पुरुषोंके साथ मेलजोल करे और असत् पुरुषो-(दुष्टों-)का सङ्ग छोड़ दे ।

गुरूणां संनिधौ तिष्ठेत् सदैव विनयान्वितः ।
पादप्रसारणादीनि तत्र नैव समाचरेत् ॥

(२ । ४७)

'बड़ोंके सामने विनीत (नम्र) होकर बैठे, उनके सामने पैर पसारना आदि अशिष्ट कार्य न करे ।'

काले हितं मितं सत्यं संवादि मधुरं वदेत्।
भुञ्जीत मधुरप्रायं स्निग्धं कालहितं मितम्॥
(४। २५८)

'समयपर हित, मित (नपा-तुला), सत्य, प्रसङ्गानुसार एवं मीठा वचन बोले। समयपर अविकृततया मधुररसयुक्त, स्नेहयुक्त, हित (धारण एवं पोषण) तथा मित (भावानुसार) भोजन करे।'

इत्याचारं समासेन भाषितं यः समाचरेत्।
स विन्दत्यायुरारोग्यं प्रीतिं धर्मं धनं यशः॥
(४। २६९)

'यह संक्षेपमें सदाचारका वर्णन किया गया है। इसके अनुसार जो मानव आचरण करता है, वह आयु, आरोग्य, प्रेम, धर्म, धन एवं यशको प्राप्त करता है।' वस्तुतः आयुर्वेद कल्पवृक्षके सदृश है, जो मानवको इहलौकिक तथा पारलौकिक सुख प्रदान करता है। आवश्यकता है, केवल उन सदाचरणोंको अपनानेकी। आयुर्वेदप्रेमी न केवल दीर्घायु ही प्राप्त करता है, वरन् मोक्षका भी अधिकारी बन जाता है।

आगमोंकी सच्चारित्र्य-प्रेरणा

(लेखक— डॉ० श्रीसियारामजी सक्सेना 'प्रवर')

चरित्र जैसा कि इस शब्दसे ही स्पष्ट है, आचरण-प्रधान है। अतः विशेष आचार-निष्ठा 'चारित्र्य' है। निष्ठा-सम्पन्नताके लिये मनुष्यके परिपुष्ट व्यक्तित्वकी अपेक्षा होती है। व्यक्तित्वमें मनुष्यकी शारीरिक स्थिति, परिधान, रहन-सहन, आचार-विचार और उनकी कर्ममें परिणतिका विचार होता है।

आगमसे यहाँ तन्त्र-ग्रन्थ अभिप्रेत हैं, जो विशेषतः मन्त्र-चर्यासे सम्बन्ध रखते हैं, तथापि उनमें प्रसङ्गानुसार चारित्र्य-सम्बन्धी कथन भी मिल जाते हैं। हम उन्हींका संकलनकर आगमोंका चारित्र्य-विषयक मन्तव्य प्रकट कर रहे हैं।

'माहेश्वर तन्त्र'में कहा है कि धर्म-अर्थ, काम-मोक्ष सब आचारपर आधृत हैं। सदाचार ही धर्म है और उसीसे सब सिद्धि होती है। यह सब विश्व धर्ममूल है और परमात्मा भी धर्ममूल है, अतः धर्मके द्वारा मनुष्य अपने मूलके प्रति ले जाया जाता है।[1] वसिष्ठस्मृतिका वचन है कि 'आचरणसे पतित व्यक्ति स्वयं अपना, समाजका और विश्वका भी अपकार करता है। वह इतना कलुषित हो जाता है कि वेद भी उसे पवित्र नहीं कर सकते— **आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः** (वसिष्ठ)-अतः मनुष्यको सदा ही सदाचार-परायण रहना चाहिये।

'महानिर्वाणतन्त्र'में कहा गया है कि चतुर्वर्ग-(धर्मार्थ-काममोक्ष-)की सम्प्राप्ति मनुष्य-जीवनका लक्ष्य है। इससे इस लोक और परलोकमें आनन्द मिलता है— **चतुर्वर्गं करे कृत्वा परत्रेह च मोदते।**[2] शुद्धाचारके द्वारा चतुर्वर्गका साधन करना मनुष्यका कर्तव्य है।

'महानिर्वाणतन्त्र'के वक्ता भगवान् शिव कहते हैं कि 'हे पार्वति! मैं युगधर्मके अनुसार समस्त वेदों, आगमों और विशेषतः तन्त्रोंका सार उद्धृत करके तुम्हें इस उद्देश्यसे सुना रहा हूँ कि सारे लोकोंका उपकार हो, समस्त प्राणियोंका हित हो।[3] इस प्रकार महानिर्वाण-तन्त्रकी रचनाका उद्देश्य ही चरित्र-निर्माण है। पार्वतीने

१—धर्ममूलमिदं सर्वं धर्ममूलं जनार्दनः। धर्मेण नीयते तस्मात् स्वमूलं प्रति मानवः॥
(म० त० ३। ७। ५)

२—म० नि० तं० ३। १७, ३—म० नि० त० २। २७। २९, महानिर्वाण तन्त्रको सभी लोग आधुनिक मानते हैं, पर उसके सदाचारपूर्ण वचन अवश्य महत्त्वके हैं।

शिवसे पूछा कि जब कलियुगमें सर्वत्र पथ-भ्रष्टता हो जायगी, तब मनुष्योंके तेज, बल, आरोग्य, विद्या, बुद्धिका विकास किस प्रकार होगा और उनका मङ्गल कैसे होगा?[1] इस सन्दर्भमें पार्वतीजीने जिन मानवीय गुणोंकी ओर इङ्गित किया है, वे चरित्र-निर्माणके प्रधान सूत्र हैं। पार्वतीजीने पूछा—

तेषामुपायं देवेश कृपया कथय प्रभो॥
येन लोका भविष्यन्ति महाबलपराक्रमाः।
शुद्धचित्ताः परहिता मातापित्रोः प्रियङ्कराः॥
स्वदारनिष्ठाः पुरुषाः परस्त्रीषु पराङ्मुखाः।
देवता गुरुभक्ताश्च पुत्रस्वजनपोषकाः॥
ब्रह्मज्ञा ब्रह्मविद्याश्च ब्रह्मचिन्तनमानसाः।
सिद्ध्यर्थं लोकयात्रायाः कथयस्व हिताय तत्॥
कर्तव्यं यदकर्तव्यं वर्णाश्रमविभेदतः॥

(श्लो० ७०-७४)

इस कथनमें मानवीय चरित्रके ये मुख्य आधार निर्दिष्ट हुए हैं—(१) ब्रह्मज्ञान, ब्रह्मनिष्ठा और ब्रह्मचिन्तन, (२) देवता और गुरुकी भक्ति, (३) माता-पिताके प्रिय कार्य करना, (४) चित्तशुद्धि, (५) पर-हित, (६) स्वपत्नी-निष्ठा, (७) पुत्र और बन्धु-बान्धवोंका पोषण और (८) अपने आरोग्य, बल, पराक्रम, विद्या आदिका वर्धन।

चारित्र्यके आदर्शके रूपमें पार्वतीजीने सत्ययुगीन मनुष्योंका उदाहरण प्रस्तुत किया है। सत्ययुगके पुण्यशील मनुष्य देवता और पितृगणोंको तृप्त करते हैं। वे जितेन्द्रिय होकर वेदाध्ययन, परमार्थ-चिन्तन, तप, दया और दानमें निरत रहते हैं। अतः वे महाबलवान्, महावीर्ययुक्त और अत्यन्त पराक्रमी होते हैं। वे देव-कल्प और दृढव्रत होते हैं और मर्त्य होकर भी देवलोकमें जा सकते हैं। वे सभी सज्जन, सत्यवादी और सत्यधर्म-परायण होते हैं। कृतयुगके राजा भी सत्य-संकल्प और प्रजा-पालन-तत्पर होते हैं। सभी मनुष्य परायी स्त्रीको माताके समान, परपुत्रको स्वपुत्रके समान और पर-धनको मिट्टीके ढेलेके समान देखते हैं। सभी स्वधर्म-निरत और सन्मार्गके अवलम्बी होते हैं। उनमें कोई भी मिथ्याभाषी, प्रमादी, चोर, परद्रोही, दुराशय, मत्सरी, क्रोधी, लोभी, कामुक नहीं होते। सभीका अन्तःकरण सदा ही सत् और आनन्दमय रहता है। वे हृष्ट-पुष्ट, नीरोग और तेज-रूप-गुण-सम्पन्न होते हैं। स्त्रियाँ व्यभिचारिणी नहीं होतीं, पति-भक्ति-परायण रहती हैं। चारों वर्ण अपने-अपने विहित आचारके अनुसार चलते हैं और स्व-स्व धर्मका अनुष्ठान करके निस्तार-पद प्राप्त करते हैं।[3]

व्यक्तित्व-निर्मितिका प्रधान-बिन्दु है तात्त्विक आस्था। भारतीयोंका व्यक्तित्व उनकी परमतत्त्व-विषयक मान्यताओंके आधारपर संघटित होता है और फिर इसीके परिप्रेक्ष्यमें उनका चारित्र्य सिद्ध होता है। परमतत्त्वको आगमोंने परमात्मा या परमेश्वर कहा है।

परमेश्वर एक अद्वितीय, सत्य, नित्य, परात्पर, ब्रह्मादि देवोंसे भी परे, स्वयप्रकाश, सदापूर्ण और सच्चिदानन्द-लक्षण है। वे निर्विकार, निराधार, निर्विशेष, निराकुल, गुणातीत, सर्वसाक्षी, सर्वात्मा, सर्वदृक्, विभु, सब प्राणियोंमें गूढभावसे विराजमान, सर्वव्यापी, सनातन, सर्वेन्द्रिय-विवर्जित तथापि सर्वेन्द्रिय गुणाभास हैं। समस्त जगत् उनके आलम्बनसे स्थित और उनके अधीन हैं। चेतन-अचेतन सब परमात्माके शरीर हैं[4]। सब भूतोंके कारण होनेसे उन्हे द्रष्टा और बृहत् होनेसे ब्रह्म कहा गया है। ब्रह्मा-विष्णु-महेश उनकी इच्छाके अनुसार कार्य करते हैं और इन्द्रादि लोकपाल उनके वशवर्ती और आज्ञापालक हैं[5]।

१—म० नि० तं० १। ७०, २—म० नि० त० १। ६९। ७४, ३—म० नि० त० १। २०। ३०। ४ ३० ब्र० सं० ४। ६। ४६; ५—म० नि० त० २। ३४—४३, ३। ९;

वे आनन्द-लक्षण ब्रह्म[1]-स्वरूपी जीवोंमे अन्तर्यामीरूपसे रहकर उन्हे चैतन्य और कर्मसे युक्त करते हैं।[2] आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सकल जगत् तन्मय है।[3] विश्व उनके आश्रित हैं[4], अतः वे जगत्के माता-पिता, विश्वात्मा विश्व-हितसे प्रसन्न होते हैं।[5] सर्वेश्वरके तुष्ट होनेपर जगत् तुष्ट हो जाता है और उनके प्रसन्न हो जानेसे जगत् प्रसन्न हो जाता है।[6] यह जानकर अर्चा-पूजा-ध्यान आदि तथा लोकोपकारके कार्य उन्हीं परमात्माके उद्देश्यसे करने चाहिये।[7] जिस प्रकार नदियाँ अवश होकर समुद्रमे प्रवेश करती हैं, उसी प्रकार जीवके समस्त कर्म उन एक ईश्वरमे पहुँच जाते हैं, उन्हे समर्पित हो जाते हैं।[8]

दान, यज्ञ, वेदाध्ययन और योग आदि समस्त कर्म, तथा समस्त काम भी परमेश्वरके बिना सिद्ध नहीं होते। अतः अन्य साधनोको छोड़कर उन्हींके शरणागत होकर चित्तमे, परमात्मासे अपने सम्बन्ध की ही भावना करनी चाहिये।[9]

परमेश्वरके अतिरिक्त अन्य देवोके पूजनका भी विधान आगमोमे है। देवता विशेष-विशेष कार्य करनेके हेतुसे आविर्भूत परमेश्वरकी विभूतियाँ हैं। अतः श्रद्धा-सहित किसी भी देवताकी अर्चना करनेसे भी परमेश्वर-अर्चनका ही फल मिलता है और अर्चक जिस फलके अभिप्रायसे देव-पूजन करता है, परमेश्वर अध्यक्षरूपसे उन देवताओके द्वारा वैसा ही फल दिला देते हैं।[10]

देवीकी पूजामें पंद्रह प्रकारके भाव-पुष्प चढानेका विधान है। ये पुष्प हैं—अमाया, निरहंकार, अराग, अमद, अमोह, अदम्भ, अद्वेष, अक्षोभ, अमात्सर्य, अलोभ, परम-पुष्प अहिंसा, दया, क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह और ज्ञान—ये सच्चारित्र्यके मूलाधार हैं।[11]

परमेश्वरकी उपासना कायिक, वाचिक या मानसिक कैसी भी कर सकते हैं, किंतु चित्त-शुद्धिका सभीमें विशेष प्रयोजन है—

वाचिकं कायिकं वापि मानसं वा यथामति।
आराधने परेशस्य भावशुद्धिर्विधीयते॥[12]

चित्तशुद्धिसे ही मन्त्रसिद्धि होती है—**'चित्त-संशुद्धिरेवात्र मन्त्राणां फलदायिनी।'**[13] और, चित्त-शुद्धि होनेपर ही ब्रह्म-ज्ञान होता है—**'चित्ते शुद्धे महेशानि ब्रह्मज्ञानं प्रजायते।'**[14]

चित्त-शुद्धिमे सत्यव्रतका बहुत महत्त्व है। कलियुगमे अन्य सभी धर्म दुर्बल हो जाते है, केवल सत्य ही स्थित रहता है। अतः सत्यधर्मका आश्रय लेकर किये कर्म ही सफल होते हैं। सत्यसे बड़ा धर्म नहीं है, झूठसे बडा पाप नहीं है। सत्य ही परब्रह्म है, परम तप है और समस्त क्रियाएँ सत्य-मूलक हैं। सत्यसे श्रेष्ठ कुछ नहीं है। अतः सबको सत्यमय होना चाहिये[15]—

प्रकटेऽत्र कलौ देवि सर्वे धर्माश्च दुर्बलाः।
स्थास्यत्येकं सत्यमात्रं तस्मात् सत्यमयो भवेत्॥
सत्यधर्मं समाश्रित्य यत्कर्म कुरुते नरः।
तदेव सफलं कर्म्म सत्यं जानीहि सुव्रते॥

१–बृ० ब्र० स० २। २। ४; २–म० नि० तं० २। ४३, बृ० ब्र० स० १। ८। १०८; ३–म० नि० त० २। ४६; ४–म० नि० त० २। ३३, बृ० ब्र० स० १। ७। २०।

५–जगतः पितरौ साक्षाल्लक्ष्मीनारायणौ मतौ। (बृ० ब्र० स० १। १०। ५२)

६–म० नि० त० २। ३३।

७–कुर्यात् कर्माणि सर्वाणि वासुदेवात्मकानि हि॥ (बृ० ब्र० स० ४। १। ११२)

८–म० नि० त० २। ५०, ९–बृ० ब्र० स० ४। १०। ६०–६१।

१०–यो यो यान् यान् यजेद् देवा श्रद्धया यत्रदासये। तद् तद् ददाति सोऽध्यक्षस्तैस्तैर्देवगणैः शिवे॥ (म० नि० त० २। ५१)

११–म० नि० त० ५।१४७–१४९; १२–म० नि०न० ३।७५; १३–म० नि० त०७।९१; १४–म० नि० त०७।९४।

१५—म० नि० तं० ४। ७३–७७,

न हि सत्यात् परो धर्मो न पापमनृतात् परम् ।
तस्मात् सर्वात्मना मर्त्यः सत्यमेकं समाश्रयेत् ॥
सत्यरूपं परं ब्रह्म सत्यं हि परमं तपः ।
सत्यमूलाः क्रियाः सर्वाः सत्यात् परतरं नहि ॥
(७५ । ७७)

सत्ययुगमें धर्मके चारों चरण थे, त्रेतामें तीन और द्वापरमें दो रहे । कलियुगमें एक ही चरण बचा है । इस एक चरण धर्ममेंसे भी तपस्या और दयाका अंश लोप हो गया है, केवल सत्य ही बलवान् है । यदि इस सत्यरूप चरणका भी लोप कर दिया जाय तो धर्मका ही लोप हो जायगा[1] ।'

सत्य-पालन, चित्तशुद्धि आदि चारित्रिक उत्तम गुणोंका निदर्शन गृहस्थ धर्ममें होता है । आगमशास्त्र इसीलिये गार्हस्थ्यको सब धर्मोंका आश्रय मानता है । आगमका मन्तव्य है कि मनुष्य जन्म लेते ही गृहस्थ होते हैं, फिर संस्कारके द्वारा आश्रमी बनते हैं[2] । अतः अपने संस्कारपर, अपनी आचार-शुद्धिपर विशेष ध्यान देना चाहिये । सभी मनुष्योंका प्रथम धर्म गार्हस्थ्य है । गृहस्थको ब्रह्मनिष्ठ और ब्रह्म-ज्ञान-परायण होना चाहिये । वह जो-जो कर्म करे, उसे ब्रह्मको समर्पित कर दे । मिथ्याभाषण और शठता न करे । देवता और अतिथिका सत्कार करे । माता-पिताको प्रत्यक्ष देवता समझकर उनकी सेवा करे[3] । माता-पिता, पुत्र, पत्नी, अतिथि और सहोदरके बिना भोजन न करे, चाहे भूखसे प्राण कण्ठमें आ गये हों[4] । यह सनातन धर्म है कि गृहस्थ अपनी पत्नीकी रक्षा करे, पुत्रोंको विद्या पढ़ाये तथा स्वजनों और बान्धवोंका पोषण करे[5] ।

मनुष्यको कर्मनिष्ठ रहना चाहिये । बिना कर्म किये मनुष्य क्षणभर भी नहीं रह सकता और कर्मसे ही सुख-दुःख, जन्म-मरण एवं आचरण होते हैं[6] ।

विना कर्म न तिष्ठन्ति क्षणार्द्धमपि देहिनः ।
अनिच्छन्तोऽपि विवशाः कृष्यन्ते कर्मवायुना ॥
कर्मणा सुखमश्नन्ति दुःखमश्नन्ति कर्मणा ।
जायन्ते च प्रलीयन्ते वर्तन्ते कर्मणो वशात् ॥
(१० । ८ । ५)

आमोदलीला या शरीर-सज्जामें अधिक समय लगाना उचित नहीं है । मनुष्यको आहार, निद्रा, वाणी आदि परिमित रखना चाहिये तथा स्वच्छ, नम्र, पवित्र, दक्ष रहना एवं सब कर्मोंको उचित मार्गसे करना चाहिये[7]—

निद्रालस्यं देहयत्नं केशविन्यासमेव च ।
आसक्तिमशने वस्त्रे नातिरिक्तं समाचरेत् ॥
युक्ताहारो युक्तनिद्रो मितवाङ् मितमैथुनः ।
स्वच्छो नम्रो शुचिर्दक्षो युक्तः स्यात् सर्वकर्मसु ॥५१-५२॥

अवस्था और समयका विचार करके ही कार्य करने चाहिये—

अवस्थानुगताश्चेष्टाः समयानुगताः क्रियाः ।
तस्मादवस्थां समयं वीक्ष्य कर्म समाचरेत् ॥५०॥

इसके अतिरिक्त सेवावृत्ति-(नौकरी-) में मनुष्यको दक्ष, अप्रमत्त और सत्यनिष्ठ होना चाहिये[8] ।

जो मनुष्य जैसे आचार, भाव और साधनके अधिकारी हैं, वैसा ही आचरण करके वे निष्पाप होकर भव-सागरके पार हो जाते हैं[9] । अधोलिखित उत्तम आचरणवालेको कलि प्रभावित नहीं करता[10]—

ये कुर्वन्ति कुलाचारं सत्यपूता जितेन्द्रियाः ।
व्यक्ताचारा दयाशीला नहि तान् बाधते कलिः ॥
गुरुशुश्रूषणे युक्ता भक्ता मातृपदाम्बुजे ।
अनुरक्ताः स्वदारेषु नहि तान् बाधते कलिः ॥
सत्यव्रताः सत्यनिष्ठाः सत्यधर्मपरायणाः ।
ये दद्युः सत्यवचसे नहि तान् बाधते कलिः ॥
हिंसामात्सर्यरहिता दम्भद्वेषविवर्जिताः ।
स्नानं दानं तपस्तीर्थं व्रतं तर्पणमेव च ॥
कौटिल्यानृतहीनानां स्वच्छानां कुलमार्गिणाम् ।
परोपकारव्रतिनां साधूनां किंकरः कलिः ॥
(५७–६१, ६४, ६७)

१—म० नि० त० ८ । ८१-८२, २—म० नि० त० ८ । १४, ३—म० नि० त० ८ । २२–२५, ४—म० नि० त० ८ । ३३, ५—म० नि० त० ८ । ३५, ६—म० नि० त० १४ । २०४-२०५, ७—म० नि० त० ८ । ५१-५२, ८—म० नि० त० ८ । ५९, ९—म० नि० त० ८ । १४२, १०—म० नि० त० ४ । ३७, ११—म० नि० त० ४ । ५७–६७ ।

किंतु कुलाचार-विहीन, असत्यभाषण, परद्रोह, लम्पटता आदि दुराचरणोंसे युक्त व्यक्ति कलिके दास हो जाते हैं[६]—

कुलाचारैर्विहीना ये सततासत्यभाषिणः।
परद्रोहपरा ये च ते नराः कलिकिंकराः॥

दैनिक जीवन-चर्यामें भी शुद्धि और ब्रह्मार्पणका भाव रहना चाहिये। ब्राह्म-मुहूर्त्तमें उठकर और ब्रह्म-(वेद या मन्त्र-) दाता गुरुको प्रणाम कर परम ब्रह्मका ध्यान तथा गुरुमन्त्रका जप करना चाहिये[७]—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते चोत्थाय प्रणम्य ब्रह्मदं गुरुम्॥
ध्यात्वा च परमं ब्रह्म यथाशक्तिर्मनुं स्मरेत्॥

इस प्रकार प्रात.कृत्य कर फिर प्रातः, मध्याह्न और सायंकी (त्रिकाल) सध्या करे।[८] आराधनामें शरणागति महत्त्वपूर्ण है।[९] ब्रह्मोपासनासे ब्रह्म-सायुज्य प्राप्त होता है।[१०]

स्नान करते समय पवित्र नदियोंका स्मरण इस मन्त्रद्वारा करना चाहिये—

गङ्गे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे सिन्धु कावेरि जलेऽस्मिन् संनिधिं कुरु॥[११]

इसी प्रकार अशन-वसन-शयन सब भगवत्स्मरणपूर्वक शुद्ध भावसे करने चाहिये।

'बृहद् ब्रह्मसंहिता' लोक-धर्मके निर्वाहपर बल देती है। उसका कथन है कि लोक-संग्रहसे ही मनुष्य सब कार्यों और कर्त्तव्योंमें सिद्धि प्राप्त करता है। लोक-धर्मका त्याग करनेसे सब प्रकारसे ग्लानि होती है, अतः विवेकशीलोंको लोकाचार-पथमे स्थित रहकर आजीवन प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये; क्योंकि वही समस्त आचारों और धर्मोंका आधार है।[१२] इस प्रकार हम देखते हैं कि आगमोंके मतमें लोकाचार किसी भी मनुष्यके चारित्र्यका मुख्य प्रकल्प है।

अशुभ कर्मसे प्राणियोंको तीव्र पीड़ा होती है। शुभ कर्म भी यदि फलासक्तियुक्त हो तो कर्म बेड़ीमें जकड़ देता है। बेड़ी चाहे लोहेकी हो या सोनेकी, बन्धन-कारिणी तो दोनों ही हैं। अतः शुभाशुभ सभी कर्मोंका क्षय होनेपर ही मुक्ति होती है। कर्म-क्षय तो ज्ञानमयी अनासक्तिसे ही होता है[१३]। कर्मसे, संतति उत्पन्न करनेसे या धनसे मुक्ति नहीं होती, वह तो आत्मज्ञानसे ही होती है।[१४] अतः ज्ञान-पूर्वक कर्माचरणकर, फिर कर्म-संन्यास कर लेना चाहिये; क्योंकि कर्म कुछ भी किया जाय, यदि ब्रह्मज्ञान और कर्म-संन्यास नहीं हुआ तो वह कर्म मोक्षदायक नहीं होता[१५]—

ब्रह्मज्ञानादृते देवि कर्मसंन्यसनं विना।
कुर्वन् कल्पशतं कर्म न भवेन्मुक्तिभाग् जनः॥

सब कुछ ब्रह्ममय है, ब्रह्मका है—**'सर्वं ब्रह्ममयं देवि साधयेद् ब्रह्मसाधकः।'**[१६] अतः **'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये'**की भावना परम पावन है। ब्रह्मको समर्पित कर फिर प्रसाद-रूपमें ही मनुष्यको किसी पदार्थका ग्रहण करना चाहिये। पक्व हो या अपक्व, द्रव्यको ब्रह्ममन्त्रद्वारा ब्रह्मार्पित करके स्वजनोंके साथ उसका उपभोग करना चाहिये।[१७] ऐसे ब्रह्मनैवेद्यके

६–म० नि० त० ४। ७०, ७–म० नि० त० ३। ११२–११३, ८–म० नि० तं० ३। १२७, ९–म० नि० तं० ३। १३०, १०–म० नि० त० ४। ४।

११–म० नि० त० ५। ४६। १२–सिद्धोऽय लोकसग्रहात्॥ ७१॥
त्यागाल्लोकस्य धर्मस्य ग्लानिर्भवति सर्वतः॥ ७२॥
विवेकशैरतस्तस्माल्लोकाचारपथास्थितैः ॥ ७३॥
आदेहपतनाद् यत्नाद्रक्षणीय. प्रयत्नतः। आचाराणा हि सर्वेषा धर्माणा मुनिसत्तम॥ ७४॥
(बृ० ब्र० सं० ४। ४। ७१–७४)

१३–म० नि० त० १४। १०७–१११, १४–म० नि० त० १४। १३६, १५–म० नि० त० ८। २८७, १६–म० नि० त० २। १२, १७–म० नि० त० ३। ८१,

ग्रहणसे अश्वमेधादि यज्ञकी अपेक्षा करोड़ गुना फल मिलता है[1]। वस्तुको ब्रह्मार्पित करनेके अतिरिक्त अपने सभी कर्मोंको भी ब्रह्ममन्त्रसे सिद्ध करके ब्रह्मार्पित करना चाहिये—'यद्यत् कर्म प्रकुर्वीत ब्रह्ममन्त्रेण साधयेत्।'[2]

इसी संदर्भमें बृहत्संहिताका यह निर्देश है कि जीवात्मा और परमात्माका अनन्य सम्बन्ध है।[3] कर्मोंके तारतम्यसे और प्रकृतिके परिणामसे परमात्माके अंशमें जो-जो भाव बनता है, वही जीव-लोक हो जाता है।[4] अतः यदि जीव ब्रह्मको जान ले तो वह ब्रह्म ही हो जाता है।[5] परमात्मा जीवको आत्म-राज्य प्रदान करते हैं।[6] देह-भावकी अवस्थामें कर्म-ज्ञान-उपासना भगवत्प्राप्तिके साधन हैं;[7] क्योंकि धर्म-वृक्ष-रूप इस देहका फल यही है कि इसके द्वारा जगन्नाथका दर्शन किया जाय, उनकी सेवा की जाय[8]।

सेवा भक्ति है। दास होकर परमात्माका यजन करे—दासो भूत्वा यजेद् देवम्[9]। कैङ्कर्य-वृत्तिकी सिद्धिसे हरि-पद प्राप्त होता है।[10] परमात्मा भक्तिसे ही प्राप्त होते हैं, अन्य करोड़ों साधनोंसे भी नहीं[11]। भक्ति परमात्माका अखण्ड स्मरण है।[12] अखण्ड स्मरण ज्ञानमय है और ज्ञान भगवत्पद-प्रदायक है।

उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है कि आगमोंकी सच्चारित्र्य-प्रेरणा ऐसी है, जिसके द्वारा मनुष्यके व्यक्तित्वका बहुमुखी विकास होता है, उसका दृष्टिकोण एकाङ्गी नहीं रह जाता है, वह अपनी लोकयात्राका निर्वाह सुखपूर्वक करते हुए अन्यान्य मनुष्यों, प्राणियों, यहाँतक कि जड-जीवोंके भी सुखकी योजना साथ-साथ करता चलता है। ऐसे चरित्रके निर्माणसे मनुष्य युगानुकूल आचरण करनेमें सक्षम होता है और उसके लोक-परलोक दोनों बनते हैं। आगमोंमें आदर्शात्मक लोक-चारित्र्य है।

वेदान्तकी दृष्टिमें चरित्र-निर्माण

(लेखक—परमश्रद्धेय स्वामी श्रीज्योतिर्मयानन्दजी महाराज, मियामी—संयुक्त राज्य अमेरिका)

(अनुवादक—श्रीसुधांशुशेखरजी त्रिपाठी, एम्० ए०, साहित्यरत्न)

चरित्र व्यक्तिकी सफलता एवं समाजके सांस्कृतिक उत्थानका आधार है। चरित्रसे बढ़कर मनुष्य-जीवनमें कुछ भी महत्त्व पूर्ण नहीं है। यश, धन, शक्ति एवं ऐश्वर्य-प्राप्तिका कोई महत्त्व नहीं—यदि व्यक्ति चरित्र-रहित है। इन सबसे परिपूर्ण रहनेपर भी यदि व्यक्तिमें चरित्र नहीं है तो उसे आन्तरिक शान्ति नहीं मिल

१–म० नि० त० ३। ८८, २–म० नि० त० ३। ११२–११३

३–अनन्यार्हसम्बन्धो जीवात्मपरमात्मनोः॥ (बृ० ब्र० सं० १। ४। ४७)

४–कर्मणा तारतम्येण प्रकृतेः परिणामतः। यो यो भावः प्रसिद्ध्येत जीवलोकः स एव हि॥ (बृ० ब्र० सं० २। ३। ११)

५–ब्रह्मविद् भवति ब्रह्म इत्येषा परा श्रुतिश्च॥ (बृ० ब्र० सं० १। ६। ४५)

६–आत्मराज्यप्रदो देवः॥—बृ० ब्र० सं० ३। ९। ८२।

७–कर्मज्ञानोपासनं च भगवत्प्राप्तिसाधनम्॥ (बृ० ब्र० सं० ४। ३। १०)

८–धर्मवृक्षस्य देहस्य फलमेतद् विनिश्चितम्। यदनेन जगन्नाथः परमात्मावलोक्यते॥ (बृ० ब्र० सं० १। ७। २६)

९–बृ० ब्र० सं० १। ७। २६।

१०–कैंकर्यवृत्तिः संसाध्या समायाति हरेः पदम्॥ (बृ० ब्र० सं० ३। ४। ४२)

११–भक्त्याहमेकया ग्राह्यो न हि साधनकोटिभिः॥ (बृ० ब्र० सं० १। १३। २१६)

१२–उक्ता भागवती भक्तिरखण्डस्मृतिलक्षणा॥ (बृ० ब्र० सं० ४। ७)

*

सकती। उसे वह ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता, जो जीवन्मृत्युके बन्धनसे छुटकारा दिलाता है। चरित्र-रहित व्यक्तिको ईश्वरीय विशुद्ध प्रेमकी मिठासका अनुभव नहीं हो सकता।

चरित्रके विना व्यक्तिका जीवन उस दिग्भ्रान्त, नाविकविहीन जहाजके समान है, जो दुविधामयी स्थितिमें विस्तृत सागरमें डगमग कर रहा हो। चरित्र-युक्त मनुष्यके जीवनका एक निश्चित लक्ष्य होता है; वह है—आत्मज्ञानकी प्राप्ति। आत्मज्ञान-प्राप्तिकी आकाङ्क्षा रखना ही श्रेष्ठ चरित्रके विकासका रहस्य है। श्रेष्ठ चरित्र एक खिले पुष्पकी भाँति शान्ति और आनन्दका सौगन्ध्य सदैव प्रसारित करता रहता है।

एक प्रसिद्ध कहावत है कि बुद्धिसे विचार, विचारसे क्रिया, क्रियासे प्रवृत्ति (आदतें) एवं प्रवृत्तिसे गुण एवं गुणसे चरित्रका निर्माण होता है तथा चरित्रसे भाग्यका निर्माण होता है। एक बुद्धिमान् मनुष्य अपने चरित्रका निर्माण विचार, क्रिया, आदत एवं गुणके समन्वयसे कर सकता है, जो आपसमें एक-दूसरेसे जुड़े हुए हैं। चरित्र मनुष्यको दैवी सौभाग्य—आत्मज्ञानके पास पहुँचाता है।

साधारणतया मनुष्य जब अनैतिकता, अविश्वास, कामलोलुपता, क्रोध, पाखण्ड आदि मानसिक विकारोंसे ग्रसित रहता है तो उसे चरित्रहीन कहा जाता है। इसके विपरीत मनुष्यमे एकाग्रता, सच्चाई, परोपकारिता, सहिष्णुता, नम्रता आदि महान् गुणोके होनेपर वह चरित्रका महान् कहलाता है। चरित्रका महान् वास्तविक महान् होता है।

यौगिक दृष्टिसे मनुष्य अपने चरित्रका निर्माण यमो और नियमोंका पालनकर करता है। चरित्रकी महत्ता अहिंसा, सच्चाई, ब्रह्मचर्य आदि गुणोंके पालनकी क्षमतापर निर्भर है। जब मनुष्य आदर्श चरित्रका विकास करता है तो उसका व्यक्तित्व निर्भीकता, हृदय-शुद्धता, ज्ञान, योग, दया, इन्द्रियोंको वशमें रखना प्रभृति ईश्वरीय गुणों-(दैवी-सम्पदाओं-)से युक्त हो जाता है; जैसा कि श्रीकृष्णने गीताके अध्याय १६, श्लोक १-३ में बतलाया है—

'अर्जुन! दैवी संपदा जिन पुरुषोंको प्राप्त है, उनमेंसे सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे स्वच्छता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ स्थिति और सात्त्विक दान तथा इन्द्रियोंका दमन, भगवत्-पूजा और अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मोंका आचरण एवं वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठनपूर्वक भगवान्‌के नाम और गुणोंका कीर्तन तथा स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहन करना एवं शरीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तः-करणकी सरलता होती है। इसी प्रकार मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना तथा यथार्थ और प्रिय भाषण, अपना अपकार करने-वालेपर भी क्रोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका त्याग एवं अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चित्तकी चञ्चलताका अभाव और किसीकी भी निन्दादि न करना तथा सब भूत-प्राणियोमे हेतुरहित दया, इन्द्रियोका विषयोंके साथ संयोग होनेपर भी आसक्तिका न होना और कोमलता तथा लोक और शास्त्रसे विरुद्ध आचरणमें लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओका अभाव होना, तेज, क्षमा, धैर्य और बाहर-भीतरकी शुद्धि एवं किसीमे भी शत्रुभावका न होना और अपनेमे पूज्यताके अभिमानका अभाव, यह सब तो हे अर्जुन! दैवी संपदाको प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण हैं।'

प्रत्येक मनुष्य अपने चरित्रका निर्माता स्वयं है। इसलिये वह अपने भाग्यका भी निर्माता है। मनुष्य अपने आपको वही रखते हुए भी अपने अंदर संचित असीमित स्रोतोसे अपने व्यक्तित्वमे परिवर्तन ला सकता है। इस

तरह वह दैवी गतिका विकास करता है, जो उसे आत्मज्ञान या ईश्वर-प्राप्तिकी ओर ले जाता है।

चरित्रयुक्त व्यक्ति कभी भी भाग्यके सामने झुकता नहीं। वह अपने व्यक्तित्वका विकास एवं उसे अखण्डित रखनेकी स्वयं चेष्टा करता है। वह दुर्गुणोंका निवारण करता है और अच्छे गुणोंका विकास करता है। ज्ञातव्य है कि ऋषि वसिष्ठने योगवासिष्ठमें आत्मज्ञान-प्राप्तिके लिये चारित्रिक आत्म-प्रयासपर विशेष बल दिया है।

भूतका आत्म-प्रयास एवं वर्तमानका आत्म-प्रयास दोनों आपसमें दो लड़ाकू मेढ़ोंकी भाँति लड़ते हैं और उसमें जो मजबूत होता है, वह विजयी होता है। इसलिये कोई यदि वर्तमानके आत्मप्रयासमें सफल नहीं होता है तो उसे अपने आत्मप्रयासकी शक्तिको दोष नहीं देना चाहिये—यह समझकर कि भूतका आत्मप्रयास उद्दीप्त होकर निखरित हुआ है।

इसलिये एक महत्त्वाकाङ्क्षीको सदैव अच्छी सङ्गतियों (सत्सङ्ग) तथा वेदोंके अनुसार या धर्मानुसार आत्म-प्रयास करना चाहिये; ताकि वह भूतके प्रतिबन्धक कर्मोंपर विजय प्राप्त कर सके।

एक मनुष्यको आत्म-प्रयास करने दो—उसकी पूरी शक्तिके साथ, दाँत कठोरकर और बँधी हुई मूठीके साथ यानी कठोर परिश्रम एवं अदम्य साहसके साथ। उसे भूतके आत्म-प्रयासों-(पूर्व-जन्मके आत्म-प्रयासों-)के सामने झुकने न दो। इस प्रकार किये गये वर्तमान प्रयासका बल निश्चय ही भूतके सभी प्रयत्नोंको जीत लेगा। पुरुषार्थकी महत्ता भाग्यपर विजयसे होती है।

जो आत्म-प्रयासके वर्तमान शक्तिकी उपेक्षा करता है और भूतसे डरा रहता है, वह यह समझकर कि ये दोनों हाथ दो लटकते साँप हैं—अपने दोनों हाथोंसे भी डर सकता है। और जो यह कहता है कि हम भाग्यद्वारा चालित होते हैं, उसका काला चेहरा समृद्धिकी देवीके लिये घृणास्पद होता है। लक्ष्मी उनसे दूर चली जाती है—जो भाग्यके सहारे जीते हैं या भाग्यपर विश्वास कर बैठे रहते हैं।

सभी महान् व्यक्तियोंने अपने आत्म-प्रयासोंद्वारा सफलता प्राप्त की। भाग्यपर विश्वास करना, अपनी अज्ञानताको प्रकट करना तथा असफलताका मुख्य कारण होता है। अतः अपने चरित्रसे भाग्यविजयी बनना चाहिये।

आध्यात्मिक ज्ञानके द्वारा पथ-प्रदर्शित तथा अच्छी सगतियोंके सहयोगसे सच्चा आत्मप्रयास सम्भव होता है। इस तरहका आत्म-प्रयास कम समयमें अपना परिणाम दिखलाता है। लेकिन वह प्रयत्न, जिसमें ज्ञान एवं परिज्ञान-दृष्टिका अभाव हो, नकारात्मक विकासकी ओर उन्मुख होता है। प्रयासका आधार ज्ञान होना चाहिये।

यदि यह अशुभ आलस्य इस संसारमें नहीं रहता तो कौन नहीं सफलता एवं सर्वोच्च आनन्द प्राप्त कर लेता! शीघ्रता- (स्फूर्ति-) की कमी है जो कि सुस्ती एवं मानसिक विलम्बसे होती है, और जो मनुष्यको सफलता एवं उपलब्धिसे वञ्चित कर देती है।'

एक आदर्श चरित्रके विकासके लिये योगवासिष्ठ-(मुमुक्षु-व्यवहार-प्रकरण ५)की निम्नलिखित बातें ज्ञातव्य हैं—

'स्व'की प्रकृतिको समझिये—आध्यात्मिक गुरुके निर्देशनमें धार्मिक ग्रन्थों या वेदोंका अनुशीलन करिये। श्रवण-मनन एवं निदिध्यासनका अभ्यास डालिये। अपनी बुद्धिको यह जानने दीजिये कि आप 'स्व' का रूप हैं। आपका व्यक्तित्व नष्ट होनेवाला नहीं है। आप दिमाग, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रिय और शरीरसे परे हैं। आप जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तावस्थासे परे हैं। आप सच्चिदानन्द हैं। ज्ञान, आनन्द, सत्य एवं अस्तित्वके

रूप हैं। जीवनका मुख्य प्रयोजन 'स्व'को समझना है—पाना है, यह मानकर जीवित रहिये।

शुभ वचनों- (शुभाशंसाओं)ने अज्ञानताके प्रभावसे आपका व्यक्तित्व बचा दिया है—विशेष लक्षणों एवं सुझावोंसहित। जब आप अशुद्ध प्रभावोंको शुद्ध प्रभावोंद्वारा दूर करनेका तरीका सीख जायँगे, तो स्वयं अपने व्यक्तित्वमें एक बडा परिवर्तन लायेंगे।

क्रोध, लालच, काम, द्वेष, घृणा, निर्दयता आदि अन्य दोषोंको बढ़ानेके बजाय क्षमा, श्रद्धा, ईश्वरीय प्रेम, नम्रता, प्रसन्नता, मित्रता और इसी तरहके और ईश्वरीय गुणोंका विकास करें। यह सत्सङ्गसे एवं असदाचरणके प्रतिपक्ष या प्रतिकूल भावोंके द्वारा सम्भव है—यानी ऋणात्मक दोषोंको धनात्मक गुणोंद्वारा जीतकर (जैसे अहंको नम्रतासे, क्रोधको प्रेमसे जीतकर आदि)।

विशुद्ध प्रेम-(ईश्वरीय प्रेम-)का विकास करें— ईश्वरीय प्रेम सबसे ऊँचा एवं सर्वश्रेष्ठ साधन है। सांसारिक वस्तुओंसे प्रेम दैवी प्रेमके लिये ही है—यह सभी भक्तों एवं संतोंकी शिक्षाकी मुख्य बात है।

सांसारिक प्रेममें लिप्त होनेसे समयकी गतिके साथ-साथ सर्वोच्च आनन्द-(ईश्वरीय भक्तिके आनन्द-) की कमी होती जाती है। दैवी प्रेम या ईश्वरीय प्रेमसे आनन्दकी मात्रा (स्फुरणा) बढती जाती है। मानवताकी स्वार्थरहित सेवा, भक्तियोगकी विधाओंका अभ्यास और अपने कर्तव्यका पालन ईश्वर-पूजा समझकर करनेसे हृदयमें विशुद्ध प्रेम या दैवी प्रेमका सचार होता है। जब विशुद्ध प्रेमका संचार हृदयमें होने लगता है तब व्यक्तित्व उच्चतम संभाव्य चरित्रसे युक्त हो जाता है।

ध्यान कीजिये—ध्यान, चिन्तन एव मननके लिये कुछ समय निकालिये। जप, स्मरण (ईश्वरका नाम) आध्यात्मिक पूछ-ताछ, (जिज्ञासा-समाधान लेना), चिन्तन और विभिन्न तरहकी उपासना करनेसे ध्यानावस्था आ जाती है। इस अवस्थाके आ जानेपर उत्तम आचरण स्वतः होने लग जाते हैं।

मनुष्य-जीवनको मधुर बनाइये—अपनेको दूसरोंके अनुकूल और उनसे समन्वय भाव रखिये। थोडी-सी नम्रता, थोड़ा-सा धैर्य, थोड़ी-सी उदारता, थोड़ी दयालुता, असहायोंके प्रति थोड़ा त्याग—यह सब मनुष्य-जीवको सुखमय एवं शान्तिमय बनाते हैं। क्रोध, घृणा, लालच, कामना आदि मानसिक विकारों—भावोंको मत आने दीजिये। जब आप विभिन्न अच्छे लोगोंके साथ रह रहे हों तो मित्रता, श्रद्धा और प्रसन्नताका भाव रखिये। बुरे और घृणित विचारवालोसे दूर रहिये। ऐसा करनेसे आपके मनमें घृणा, क्रोध, द्वेष आदिका अशुद्ध भाव नहीं पनपने पायेगा। संगका प्रभाव अवश्य होता है।

अपने शरीरको स्वस्थ रखिये—शरीर एवं स्वास्थ्यकी उपेक्षा मत कीजिये। स्वास्थ्यके नियमोंका पालन कीजिये। आपका शरीर ईश्वरका मन्दिर है। हठयोग, आसन, प्राणायाम, सात्त्विक भोजन, स्वस्थ आचरण कर आप अपने शरीरको स्वस्थ रख सकते हैं और तभी आप बिना विघ्नके ध्यान, मनन और चिन्तन कर सकते हैं।

इन सभी नियमोंका यथासम्भव पालन करनेसे आपका चरित्र उदात्त एवं आदर्श हो जायगा, जो इस संसारमें सभी सत्य, अच्छाइयों एव सौन्दर्यका स्रोत हैं।

ईश्वर आपका चरित्रबल बढ़ाकर कल्याण करे।

धर्मशास्त्रों (मन्वादिस्मृतियों)में चारित्र्य-विधान

(लेखक—श्रीराजदेवजी दुबे, शोध छात्र)

प्राचीन भारतमें विद्यार्थियोंकी सभी प्रकारकी शिक्षाओंमें सदाचारके उपदेश भरे होते थे। धर्मशास्त्रोंका मुख्य प्रतिपाद्य सदाचार है। आचार्य शिष्योंको उनका ही उपदेश देते थे। इन सबके अतिरिक्त जिस वातावरणमें ब्रह्मचारियोंको रखा जाता था, वह भी ऐसा होता था, जो उनके चरित्रको इष्ट दिशामें अग्रसर कर सके। वे आचार्यकी देख-रेख और नियन्त्रणमे रहते थे। आचार्य उनके बौद्धिक विकासके प्रति ही नहीं, अपितु उनके आचरणके प्रति भी जागरूक रहते थे। प्राचीन भारतीयोंकी धारणा थी कि चरित्र शिष्टाचार या सदाचारसे पृथक् नहीं है। आचार्यका यह भी कर्त्तव्य माना जाता था कि वे इसका ध्यान रखें कि उनका ब्रह्मचारी गुरुजनो, बन्धुओं और अनुजोंके प्रति सदाचार और शिष्टाचारके नियमोंका सम्यक्-रूपसे परिपालन करता है या नहीं। शिष्टाचारके उन नियमोंका ब्रह्मचारीके चरित्र-निर्माणपर गहरा प्रभाव पड़ता था। हरिश्चन्द्र, भीष्म, राम, भरत, लक्ष्मण, हनुमान्, सीता, सावित्री और द्रौपदी-जैसी राष्ट्रकी महान् विभूतियोंका आदर्श चरित्र उनके सम्मुख बार-बार उपस्थित किया जाता था। इससे उनके चरित्रके निर्माणमे सहायता मिलती थी[1]।

चरित्र या शीलकी परिभाषा महाभारतके शान्तिपर्वमें बतलायी गयी है। उसके अनुसार मनसा, वाचा, कर्मणा किसीसे द्रोह न करना, वरन् अनुग्रह करना एवं दान देना ही शील है[2]। शीलपर ही सत्य, धर्म, सदाचार एवं बल आश्रित हैं[3]। मनुष्यका चरित्र अथवा आचरण शीलसे ही उन्नत होता है। जीवनमें सफलता प्राप्त करनेके लिये शीलकी अपेक्षा होती है[4]। मनुष्यका भूषण शील है[5]। अतः शीलयुक्त व्यक्ति अपने पवित्र कार्योंद्वारा लोगोका प्रिय बन जाता है। चरित्रके महत्त्वका प्रतिपादन करते हुए विदुरजीने कहा है—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
(महा० ५। ३५। ३९)

मनुष्यके चरित्रके नष्ट हो जानेपर वह शरीरधारी होते हुए भी मृतकके समान समझा जाता है। अतः चरित्रसे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है।

स्मृत्युक्त शिक्षा-पद्धतिका मुख्य उद्देश्य चरित्रका उत्थान करना था। प्राचीन भारतमे चरित्रका इतना अधिक महत्त्व था कि समस्त वेदोंका मर्मज्ञ सच्चरित्रताके अभावमें माननीय नहीं था, किंतु केवल गायत्रीमन्त्रका ज्ञाता अपनी सच्चरित्रताके बलपर माननीय हो जाता था[6]। सत्कर्मोंसे ही चरित्रका उत्थान माना जाता था। ये सत्कर्म नैतिक मूल्योसे ही संचालित होते थे। शिक्षणकालमें ही मनुष्यके आचरण और चरित्रको उन्नत करनेका प्रयास किया जाता था। समाजके अन्य लोगोंके साथ उसके

१–अल्तेकर, प्राचीन भारतीय शिक्षणपद्धति (वाराणसी, १९६८), पृ० ९, २–महा० शान्तिपर्व १२४। ६६, दिव्यावदान ३२९। १२-१३,

३–धर्मं सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाप्यहम्। शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः॥
(महा० शान्ति० १२४। ६२)

४–महा० शान्ति० १२४। १५, ५–शीलं परं भूषणम्, नीतिशतक ८३,

६–सावित्रीमात्रसारोऽपि वरं विप्रः सुयन्त्रितः। नायन्त्रितस्त्रिवेदोऽपि सर्वाशी सर्वविक्रयी॥ (मनु० २। ११८)

सद्व्यवहारकी प्रवृत्ति उसके चरित्रोत्थानमे सहायक होती थी। व्यक्ति चाहे किसी वर्ण, जाति, पद आयु अथवा स्तरका हो, उसे धैर्य, क्षमा, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, विद्या, सत्य, अहिंसा, पवित्रता, दान, सयम और अतिथि-सेवा आदि नैतिक मूल्योका परिपालन करना पडता था।[७] इससे व्यक्तिका चारित्रिक उत्थान होता था। जिसमे धर्म और चरित्रका आधिक्य होता था, वही पण्डित समझा जाता था।[८]

गुरुकुलमे ब्रह्मचारियोको जो शिक्षा दी जाती थी, उससे व्यक्ति अपनी तामसी एवं पाशविक प्रवृत्तियोंपर नियन्त्रण रखता था तथा सदसत्का भेद कर सकनेमे समर्थ होता था। जब शिक्षाकी यथोचित प्राप्ति होती थी, तब चरित्रको तदनुकूल संघटित करनेका अवसर मिलता था।

ब्रह्मचारीका जीवन त्याग एव तपस्याका जीवन था। ब्रह्मचर्यव्रतको धारण करनेवाला तेजोमय ब्रह्मज्ञान-को धारण करता था। उसमें सम्पूर्ण देवताओंका वास होता था।[९] अपने श्रम, त्याग एव तपस्यासे ब्रह्मचारी समाज और राष्ट्रका उत्थान करता था।[१०] चरित्रके उत्थान और ज्ञानकी प्राप्तिके लिये ब्रह्मचर्यव्रत अनिवार्य था।[११]

ब्रह्मचारीका यह कर्तव्य होता था कि वह भिक्षा मॉगकर जो कुछ प्राप्त करे, उसे गुरुके समक्ष लाकर उपस्थित करे।[१२] ब्रह्मचर्य-कालमें भिक्षा-वृत्तिका निर्देश इसलिये किया गया था कि वह अमीर एव गरीबका भेद-भाव भूलकर समताका भाव ग्रहणकर नियम और संयमका परिपालन कर सके। इससे व्यक्तिके चरित्रका उत्थान होता था। चरित्रके उत्थानमें ब्रह्मचर्यका मौलिक अभिप्राय ज्ञानको प्राप्त करना था।[१३] तप ब्रह्मचर्य-जीवनका आवश्यक अङ्ग था।[१४] शौच, पवित्रता, आचार, स्नान-क्रिया, अग्निकार्य और संध्योपासन आदि ब्रह्मचारीके आधारस्तम्भ थे। इनसे उनके चरित्रका उत्थान होता था।[१५] ये सब चरित्रके आधारभूत कर्म हैं।

गृहस्थ पञ्चमहायज्ञको सम्पन्न करता और[१६] ब्रह्मचारी, सन्यासी एवं भिक्षुकोंको विधिपूर्वक भिक्षा देता था।[१७] वह सत्पात्रोंको दान देता था।[१८] सभी धर्मशास्त्रकारोंने अतिथि-सत्कार करना गृहस्थका नैतिक कर्तव्य माना है। आये हुए अतिथिका वह जल एवं शक्तिके अनुसार व्यञ्जनादिसे सत्कार करता था।[१९] वह अपने आश्रित जनो और अतिथियोंके भोजन कर लेनेपर स्वयं भोजन करता था। यदि कहीं भोजनकी कमी पड़ जाती तो स्वयं गृहपति, उसकी भार्या और बालक भूखे रह जाते, पर दास या अतिथिको भोजन अवश्य करा देते थे।[२०]

स्त्रियोकी सच्चरित्रताके लिये स्मृतिकारोने विशेष नियम बनाये। मनुका कथन है कि बचपन, जवानी या

७–धृतिः क्षमा दमोऽस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनु० ६ । ९२ । १० । ९३)

अहिंसा सत्यमस्तेय शौचमिन्द्रियनिग्रहम्। दान दमो दया क्षान्तिः सर्वेषा धर्मसाधनम्॥
(याज्ञ० १ । ११२, ३ । ६६, अथर्व० १ । ३ । ८ । ८, (विष्णुधर्मसू० २ । १६-१७)

८–(महा०अनु० १२ । ३२१ । ७८)

९–अथर्ववेद ११ । ५ । २४, १०–वही ११ । ५ । ४, ११–मनु० २ । ८८-९२, गोपथब्राह्मण १ । २ । १–७, १२–मनु० २ । ४९-५१, याज्ञ०, १ । २९-३०, १३–मनु० २ । १६५-१६६, अमृतमन्थन १ । १ । ४५-४८, याज्ञ० १ । १५ । १ । ४१–४३, १४–मनु० २ । १७५- १७७, स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति प्रश्नो० ५ । ३, १५–उपनीय गुरुः शिष्य शिक्षयेच्छौचमादितः। आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च॥ मनु० २ । ६९, १७९, २००, २२२, १६–मनु० ३ । ६८-७०, याज्ञ० १ । १०२-१०३, वही १ । १२१, १७–मनु० ३ । ९४-९६, याज्ञ० १ । १०८, १८–मनु० ३ । ९८, १९–वही ३ । ९९, १०१, याज्ञ० १ । १०९–११३, २०–आपस्तम्ब ध० सू० २ । ५ । ९ । ११, मनु० ३ । ११६, याज्ञ०१ । ११४,

बुढ़ापेमें भी स्त्रीको अपने घरोंमें भी अपनी इच्छासे क्रमशः पिता, पति और पुत्र आदि अभिभावककी सम्मतिसे ही धर्मादिमें कुछ कर्म करने चाहिये ।[२१] उन्हें स्वतन्त्र कभी नहीं रहना चाहिये ।[२२] याज्ञवल्क्य एवं नारदने भी इसका समर्थन किया है ।[२३] विज्ञानेश्वरने अपनी मिताक्षरा-व्याख्यामें शंखके वचनसे कहा है कि वह घरसे बिना बतलाये बाहर न जाये, शीघ्रता-पूर्वक न चले, बनिये, संन्यासी, वृद्ध, वैद्यके अतिरिक्त किसी पर-पुरुषसे बात न करे, अपनी एड़ीतक कपड़ा पहने, स्तनोंपरसे कपड़ा न हटाये, मुँह ढके बिना न हँसे और पति या उसके सम्बन्धियोंसे घृणा न करे इत्यादि । वह धूर्त, वेश्या, अभिसारिणी, संन्यासिनी, भाग्य बतानेवाली, जादू-टोना या गुप्त विधियाँ करनेवाली दुःशील स्त्रियोंके साथ न रहे; क्योंकि इनकी संगतिसे स्त्रियोंका चरित्र गिरता है ।[२४] निश्चय ही इस प्रकारके प्रतिबन्ध स्त्रियोंकी सच्चरित्रताके लिये ही थे ।

पतिव्रता स्त्रियोंको समाजमें सर्वत्र सम्मान मिलता था ।[२५] मनुके अनुसार मन, वचन तथा कर्मसे संयत रहती हुई जो स्त्री पतिके विरुद्ध कोई कार्य (असदाचारादि) नहीं करती, वह पति-लोकको प्राप्त करती है तथा उसे सज्जन लोग पतिव्रताकी संज्ञासे विभूषित करते हैं ।[२६]

'कौन किससे अधिक गौरवशाली है' इसको बताते हुए मनु कहते हैं कि दस उपाध्यायोंकी अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्योंकी अपेक्षा पिता तथा सहस्र पिताओंकी अपेक्षा माता अधिक गौरवशाली है ।[२७] निःसंदेह माताका सम्मान तथा गौरवशाली स्थान सहस्रों पिताओंकी अपेक्षा अधिक है । माताको त्यागना पाप और अपराध दोनों ही समझा जाता था[२८], चाहे वह पतित ही क्यों न हो[२९] । स्त्रीके मातृस्वरूपको देवकोटिमें रखा गया है । स्त्रीके सत्कारसे देवता प्रसन्न होते हैं ।[३०]

राजाओंके आदर्श चरित्रका उल्लेख धर्मशास्त्रोंमें मिलता है । मनु एवं याज्ञवल्क्य-स्मृतिमें राजाके गुणोंका वर्णन किया गया है । उनके अनुसार राजाको उत्साही, स्थूलकाय, अकृतघ्न, वृद्धसेवी, विनययुक्त, सदा एकरस, कुलीन, सत्यवादी, पवित्र, अदीर्घसूत्री, स्मृतिमान्, कटुवाक्य न बोलनेवाला, धार्मिक, अव्यसनी, पण्डित, शूर, रहस्य जाननेवाला, आत्मविद्या और राजनीतिमें निपुण, लाभके उपाय तथा तीनों वेदोंमें प्रवीण होना चाहिये ।[३१] वास्तवमें राजा अपनी प्रजाके लिये आदर्श चरित्रकी मूर्ति होता था । राजाका शील प्रजाका शील होता है ।[३२]

राजा ब्राह्मणोंको अपार धन दानके रूपमें देता था ।[३३] युद्धमें अपहृत धन ब्राह्मणोको दान करता था तथा प्रजाको अभयदान देता था ।[३४] ब्राह्मण भी दानमें अपार धनका त्याग करता था ।[३५] वनपर्वमे कहा है कि त्रिलोकमें दानसे बढ़कर कोई पुण्य कर्म नहीं है । इसलिये विद्वान् दानको ही सर्वोच्च कर्म बताते हैं ।[३६] इस प्रकार दान लेनेयोग्य व्यक्तियोको दान देना राजाकी पवित्रता एवं सच्चरित्रताका द्योतक है ।

२१—मनु० ५ । १४७, २२—वही ५ । १४८-१४९ २३—याज्ञवल्क्य १ । ८५ ।, तत्पिण्डेषु चासत्सु पितृपक्षः प्रभुः स्त्रियाः । पक्षयोरभावे तु राजा भर्ता स्त्रिया मतः । (वेदव्यास-स्मृति, २५४ ।) २४—याज्ञ० १ । ८७ पर मिताक्षरा, २५—मनु० ५ । प्रक्षेपक श्लोक २१, मणिप्रभा, हिंदी व्याख्योपेता (पृ० २८८)। २६—मनु० ५, १६५-१६६, याज्ञ० १ । ८७ ।, २७—वही २ । १४५, याज्ञ० १ । ३५, २८—मनु० २८९, २९—मनु० ११ । ६० । ३०—यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः । यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥(मनु० ३ । ५६) ३१—मनु० ७ । ३२, ३९, ४३, ४४, ४५—४९, विष्णुपुराण १३ । ५२—५७, याज्ञ० १ । ३०९—३११, अथर्व० ६ । १, पी० वी० काणे, धर्मशास्त्रका इतिहास, भाग—२ (हिंदी अनुवाद) पृ० ५९७, ३२-अथर्व० ८ । १, ३३—याज्ञ० १ । ३१५—३१६, ३४—वही १ । ३२३ । ३३३, ३५—एपिग्राफिका इण्डिका, पृ० १५६, ३६—महा० आरण्यकप०) (गीता), २०० । १२७—१२९,

प्रजाकी रक्षाके लिये युद्ध करना या मर जाना सम्भव था, अतः धर्मशास्त्रके प्राचीन ग्रन्थोंका कहना है कि क्षत्रियका कर्तव्य है—युद्ध करना और सबसे बड़ा आदर्श है—समराङ्गणमें मर जाना। मनुका कथन है कि आक्रमणमें प्रजाकी रक्षा करते समय युद्ध-क्षेत्रसे पलायित नहीं होना चाहिये। जो राजा जो युद्ध करते-करते मर जाते हैं, उन्हें स्वर्ग प्राप्त होता है।[३७] याज्ञवल्क्यके अनुसार राजा अपनी प्रजा एवं नौकरोंके साथ पुत्रवत् व्यवहार करता था।[३८] महाभारतमें भी इसी तरहका विचार व्यक्त किया गया है।[३९] रामायणसे इस बातकी सूचना मिलती है कि राजालोग प्रजाके साथ पितृवत् व्यवहार करते थे। यदि प्रजा दुःखी रहती तो वे दुःखी हो जाते थे, यदि प्रजा प्रसन्न रहती तो उन्हें पिताके समान आनन्द मिलता था।[४०]

राजा शास्त्रानुसार अपराधियोंको दण्ड देता था। भाई, पुत्र, आचार्य, श्वशुर और मामा भी यदि अपने धर्मपथसे विचलित होते थे तो राजा उन्हें भी निष्पक्ष भावसे दण्डित करता था।[४१] धर्मशास्त्रोंमें वर्णित राजाके विधि-विधानोंसे यह ज्ञात होता है कि राजा सच्चरित्रताकी साक्षात् मूर्ति होता था। वह प्रजाके लिये आदर्श प्रस्तुत करता था।

इन समस्त उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि समाजमें निरन्तर धर्मकी भावना काम कर रही थी। धर्मशास्त्रोंमें वर्णित चारित्र्य-विधानका यदि विधिवत् परिपालन किया जाय तो निश्चय ही समाजका सर्वाधिक कल्याण हो सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें चारित्र्योपदेश

(लेखक—डॉ० श्रीविश्वम्भरनाथजी द्विवेदी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, आचार्य)

श्रीमद्भगवद्गीता समस्त उपनिषदोंका सार है। उसमें व्यवहार और परमार्थका समन्वय है, जिसके कारण उसमें श्रुति और स्मृति तथा लोक और परलोक दोनोंके यथोचित निर्वाहके साथ मानवके योग-क्षेम एवं प्रेय तथा श्रेय सबकी सिद्धि सुकर तथा सुलभ हो जाती है। अतएव उसमें जो व्यवहारपक्ष—आचारपक्ष—मिलता है, वह 'चरित्र' ही है। यह बात चरित्र और चारित्र्य शब्दोंके अर्थसे सहजमें ही समझी जा सकती है।

पाणिनिके अनुसार 'चर्' धातुसे 'इत्र' प्रत्यय (पा० ३। २। १८४) करके 'चरित्र' शब्दकी तथा 'चरित्र' शब्दसे भाव अथवा कर्ममें ब्राह्मणादिगणमें 'ष्यञ्' प्रत्यय (पा० ५। १। १२४) करके 'चारित्र्य' शब्द सिद्ध होता है। जिससे मनुष्य समाजमें भलीभाँति चलता है—यथोचित-रूपसे व्यवहार करता है (**चरति अनेन**) वह 'चरित्र' एक सद्गुण है। उस चरित्रके ही सारतत्त्व—उत्कृष्टता सुन्दरताको चारित्र्य (**चरित्रस्य भावः कर्म वा चारित्र्यम्**) कहते हैं। एक सयुक्तिक अवधारणाके अनुसार अन्य शब्दोंमें—मनुष्य जिसके द्वारा समाजमें यथोचित आचरणरूप सदाचारका आचरण करता है, उसे 'चरित्र' और उसके द्वारा मानव-हितोंकी जो सुरक्षा होती है, उसके कारण उसके तात्त्विक स्वरूपको 'चारित्र्य' कहते हैं—

सम्यक् चरति येनातश्चरित्रं व्यवहारतः।
चरितत्राणशीलत्वाच्चारित्र्यमिति कथ्यते॥

गीतामें इसी पृष्ठभूमिपर आधृत चरित्र्यका उत्तम उपदेश मिलता है, जिसके अनुसार चलनेसे मानवके सब

३७—पी० वी० काणे, धर्मशास्त्रका इतिहास, भाग २—(हिंदी अनुवाद) पृ० १६०-से२, ३८—याज्ञ० १। ३३४, अथर्व० २। १, ३९—महा० शान्ति० १३९। १०४ से १०५, ४०—रामायण २। २८-४७ तथा ५। ३५। ९-१४, ३। ६। ११, शाकुन्तल० ५। ५-६। २६ एवं रघुवंश १। २४, ४१—याज्ञ० १। ३५८—३५९ वसिष्ठ० १९। ४०—४४,

चरित्रका निर्माण अपने-आप ही होता रहता है। गीताका चारित्र्योपदेश नरको नारायण बना देनेकी अद्भुत कुञ्जी है। गीताके प्रारम्भमे पाण्डवो और कौरवोकी सेनाके अनेक प्रसिद्ध वीरोका उल्लेख मिलता है। उन दोनो ही सेनाओमें अनेक ऐसे वीर है, जो सचमुच बडे ही चरित्रवान् है और अनेक ऐसे भी लोग हैं, जिनका चरित्र संदेह और विवादका विषय बन गया है। चरित्रवान् लोगोमे भगवान् श्रीकृष्ण, अर्जुन, युधिष्ठिर, द्रोण तथा भीष्म आदि महापुरुष आते हैं, और उनसे भिन्न लोगोमे दुर्योधन, कर्ण तथा अश्वत्थामा आदि आते है। पाण्डवोकी सेनाका नेतृत्व चरित्रवान् वीरोंके हाथमें (१ । ३, ६) है, जिनकी विशद चर्चा स्वयं दुर्योधनने गुरु द्रोणाचार्यसे (१ । ३–६ में)की है और स्वयं उसीने अपने पक्षमें केवल द्रोण, भीष्म, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण तथा भूरिश्रवाका (१ । ७–९ में) उल्लेख किया है। इसके साथ ही उसने भीमसे रक्षित पाण्डवोंकी सेनाको युद्धमे विजयके लिये पर्याप्त (१ । १०) तथा भीष्मसे रक्षित अपनी सेनाको अपर्याप्त (असमर्थ) बताया है।

दुर्योधनके इस व्यथाभरे निवेदनसे आभासित होता है कि भीमके पक्षमे चरित्रबल तथा चरित्रवान् लोगोकी अधिकता थी और भीष्मके पक्षमे वह अत्यन्त अल्प थी। इस सत्यको दुर्योधनका दुर्बल मन भीतर-ही-भीतर समझ रहा था; इसीलिये उसके मुखसे ही भावी पराजयकी आशङ्का बाहर आ गयी। सत्य और असत्यका न्याय और अन्यायका, चारित्रिक सबलता और दुर्बलताका निर्णय स्वयं दुर्योधनकी ही आत्माने इस प्रकार कर दिया कि जिस पक्षमें चरित्रवान् धार्मिक लोग अधिक होते हैं, उसकी विजयका होना (**यतो धर्मस्ततो जयः**), उसके ऐश्वर्यकी अभिवृद्धिका होना तथा उसके सुयशका युग-युगान्तरोंतक व्याप्त रहना सुनिश्चित है। वस्तुतः गीताके उपक्रम और उपसंहारका भी यही संदेश है—

> यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
> तत्र श्रीर्विजयोभूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥
> (१८ । ७८)

गीतामें उदात्त एवं सर्वोत्कृष्ट चरित्रके प्रेरक पात्र मुख्यतया दो हैं—श्रीकृष्ण और अर्जुन। इनके अतिरिक्त अन्य पात्रोका उल्लेख प्रथम तो गीताके उपदेशकी भूमिका बनानेमें सहायक है और दूसरे वह कतिपय सामान्य चरित्रोंवाले पात्रोंके अर्धमलिन, अल्पमलिन एवं धूमिल चरित्रोकी पृष्ठभूमिमें अर्जुनके धवल सरल तथा सात्त्विक चरित्रको उदात्त एव उत्कृष्ट प्रमाणित करनेमे उपकारक हुआ है। चरित्रकी व्यावहारिकता और चारित्र्यकी पारमार्थिकतामें संतुलन बनाये रखनेके लिये ही श्रीवेदव्यासजीने गीतामे क्रमशः अर्जुन और श्रीकृष्णको श्रोता-शिष्य एवं वक्ता-गुरुके रूपमें खड़ा किया है। अतएव अर्जुनके सरल एवं सात्त्विक शीलमें, उसके बुद्धिवादमे तथा उसके विषादयोगमूलक ऊहापोह और व्यामोहमें अनायास ही उस समग्र मानवताकी झलक मिल जाती है, जिसमें मानवके गुणदोषमूलक स्वभाव एवं स्वरूपके साथ-साथ तामस, राजस और सात्त्विक अथवा निम्न, मध्यम एवं उच्च—इन तीनों वर्गोंके मनुष्योका यथाकथंचित् प्रतिनिधित्व हो जाता है। इस प्रकार सर्वाङ्गीण चारित्र्यके उपदेशकी जैसी सुन्दर एवं उपयुक्त पृष्ठभूमि गीतामें मिलती है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है; कारण यह कि पुत्र, धन और यश (सुत, वित्त, लोक) इन तीनो एषणाओको दॉवपर लगाकर मृत्युसे जूझनेके लिये खड़ी समग्र मानवताकी समस्याओंको, उसके अन्तर्द्वन्द्वको तथा उसके दम्भ और निश्छल भावको जाँचने-परखनेका जैसा सहज स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक वातावरण गीतामें मिल जाता है, वैसा अन्यत्र असम्भव ही था। माया, मोह और मृत्युके तिहरे आवरणोमे लिपटी मानवता, जब मृत्युकी विभीषिका सामने आती है, तो अपना रहस्य खोलती है। संयोगवश गीतामें यह रहस्य पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

गीतामें चारित्र्योपदेश मनोवैज्ञानिक सोपानक्रममें मिलता है। 'स्वरूप-बोध' उसका प्रथम सोपान है। मैं कौन हूँ ? संसारमे मेरे जन्मका उद्देश्य क्या है ? क्या मेरी दृष्टि अपने लक्ष्यमें केन्द्रित है ? इत्यादि प्रश्नोंके समाधानके लिये जागे हुए आत्म-अनात्मके विवेकसे स्वरूप-बोधका जो क्रम आरम्भ होता है, वही गीतागत साधनाओसे परिष्कृत होता हुआ वैराग्य, शम, दम, तितिक्षा, उपरति, समाधान तथा श्रद्धाकी आध्यात्मिक शक्तिसे समर्थ होकर पहले जीवन्मुक्ति और अन्ततः विदेहमुक्ति- (मोक्ष-)में परिणत हो जाता है।

गीताके अनुसार चारित्र्योपदेशकी योजना और उससे चरित्रनिर्माणकी साधनाका शुभारम्भ यद्यपि स्वरूप-बोध करानेवाले परिचयसे प्रारम्भ होता है और अन्तमें भी स्वरूप-बोध- (आत्मबोध-)मे ही होता है, फिर भी उसमें वर्णित समस्त साधनाके आचरण-पक्षपर विशेष बल दिया गया है। उसके बिना तो चरित्र-निर्माणका कार्य एक पग भी आगे नहीं बढ सकता—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥
(२ । ४७)

गीतामे वर्णित समस्त साधनाएँ—फिर चाहे वह चित्तको शुद्ध करनेवाली निष्कामकर्मयोगकी साधना हो, चित्तको एकाग्र करनेवाली भक्तियोगकी साधना हो, अथवा अपने समस्त कार्यसहित सम्पूर्ण अज्ञानरूप आवरणके भङ्गकी साधना हो—वस्तुतः व्यवहार-पक्षमे चरित्रनिर्माणका और परमार्थतः चारित्र्यके अनुशीलन एवं मननका ही अनुष्ठान है।

चरित्रके इसी स्वरूपबोधात्मक अङ्गकी पूर्तिके लिये महाभारतमें गुरु द्रोणने 'शिष्य-परीक्षा'में अर्जुनको प्रथम स्थान दिया था और गीतामे श्रीकृष्णने उसे आत्माका स्वरूप समझाते हुए आत्माको अजर, अमर, नित्य, अविनाशी, अव्यय एवं सनातन बताया है (२ । १८)।

स्वरूपपरिचय अथवा उद्देश्य-के बाद निश्चय—लक्ष्य-निष्ठताके अनन्तर—हमारा वह कर्तव्यमार्ग निरापद एव सुगम बन जाता है, जिसमें मृत्युका भय नहीं है और अनासक्ति होनेसे पतनकी कोई आशङ्का नहीं रहती। उस समय हमारा मनोबल—चरित्रबल बहुत अधिक और ऊँचा हो जाता है। इसी निर्भयता एवं निर्द्वन्द्वतामें गीता हमें अकर्मसे विमुख रहते हुए निष्कामभावसे कर्ममें जुटना सिखाती है, जिससे हमारे शीलके—चरित्रके लोक और परलोक दोनो पक्षोकी समस्त सुविधाएँ हमें अनायास उपलब्ध हो सकती हैं—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
(३ । १९, २५)

गीतामें वर्णित चरित्र-साधनामे काम और क्रोध—ये दो दुर्गुण घोर बाधक हैं। चरित्रवान्‌को इनसे सदैव सावधान रहना चाहिये (३ । ३७)। इन्द्रिय, मन और बुद्धि—ये तीनों कामके आधार हैं। अत. इनका नियमन भी चरित्रकी सम्पन्नताके लिये परमावश्यक है; अन्यथा ज्ञान और विज्ञान दोनो नष्ट हो जायँगे—

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥
(३ । ४१)

निष्काम कर्मयोगी, भक्त तथा ज्ञानी सभीके लिये काम और क्रोध त्यागने योग्य है (५ । २३–२६)। इनके रहते लौकिक, पारलौकिक कोई सुख नहीं मिल सकता। काम, क्रोध और लोभको त्यागकर मनुष्य परम चरित्रवान् बन सकता है (१६ । २१-२२)।

इनके रहते बुद्धिनाश, चरित्र-हानि तथा जीवननाश सुनिश्चित है (२ । ६३-६४) ।

काम, क्रोध और लोभसे बचे रहनेसे राग, द्वेष और परिग्रहका भाव निवृत्त हो जाता है । तदनन्तर अन्तः-करणकी प्रसन्नता के साथ (२ । ६४) वह अपने सहित अपने समाज, जाति तथा राष्ट्र और समग्र मानवताके उद्धारके लिये भगवदाज्ञानुसार अथवा शास्त्रके अनुकूल जो भी कल्याणकारी आचरण करता है, वही उसका उज्ज्वल चरित्र बन जाता है—

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः ।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥
(१६ । २२)

इन्द्रियों और इन्द्रियोंके शत्रुओंके जीतनेके अनन्तर भगवद्भावका जागरण—भगवान्‌में प्रेम और विश्वास रखना भी चरित्रका प्रमुख सद्गुण है । इससे साधारणतः लौकिक काम, राग, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, मोह, मान-बड़ाई, द्वेष, दम्भ, अभिमान, आलस्य, मत्सर तथा मद आदि सभी दुर्गुणोंकी निवृत्ति हो जाती है अथवा इनका भगवद्भावसे परिष्कार हो जाता है, जिससे फिर वे दुर्गुण नहीं रहते । इसका सबसे बड़ा लाभ अहंकारका दमन और विनम्रताकी प्राप्ति है । इससे मनुष्य कुछ देना—समर्पण करना—सीख जाता है । समर्पण और निरहंकारिताके भावसे वह अनायास ही 'मैं'की संकीर्ण भावनासे ऊपर उठकर 'अहम्'में विराजते हुए लोकसंग्रही बन जाता है । अपने लक्ष्यमें उसकी एकाग्रता सधने लगती है (१२ । १३-१४) ।

समत्व बुद्धिमूलक ज्ञान गीताकी चरित्र-साधनाका एक असाधारण रूपसे उत्कृष्ट अङ्ग है, जिसके द्वारा चरित्रके साधकको अपने उद्देश्यकी प्राप्ति भोजनके एक-एक ग्रासके साथ तृप्ति अथवा संतुष्टिके समान अनायास होती रहती है । कालसापेक्ष होकर भी यह परम लाभ सुनिश्चित है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥
(४ । ३८)

गीताका चारित्र्योपदेश सच्चिदानन्दपरक है । इसमें स्वरूपबोधसे सत्ताका भान, निष्काम कर्मयोगसे चेतनाका स्पन्दन, भक्तियोगसे आनन्दका अनुभव और ज्ञानयोगसे आत्मा-परमात्माके शाश्वत एकीभावरूप महाभावके अखण्ड एकरस, अवर्णनीय परमानन्दकी अनुभूति करायी गयी है । यह गीताके उपदेशसे प्राप्त चारित्रिक उत्कर्षका अमृतमय परम मधुर रस है । इसीका पान करनेके पश्चात् अर्जुन कहता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥
(१८ । ७३)

इस प्रकार गीता एक चरित्र-निर्माणकारी ग्रन्थ है । इसमें सोपानक्रमसे श्रीकृष्णके माध्यमसे व्यासके शब्दोंमें अर्जुनरूपी समग्र मानवताके चरित्रके उत्कृष्ट रूपका उपदेश किया गया है । इस उपदेशसे न केवल अर्जुनका शिष्यत्व एवं श्रीकृष्णका गुरुभाव धन्य हुआ है, अपितु समस्त मानवोंका शिष्यत्व तथा समग्र मानवताकी चारित्रिक उत्कृष्टताका गुरुत्व भी धन्य हुआ है । ठीक ही है—

यावद्देवो गुरुः कृष्णो यावच्छिष्यो नरोऽर्जुनः ।
यावद्गीतामयी बुद्धिस्तावच्चारित्र्यकं नृणाम् ॥

आदिकाव्य रामायणमें चरित्र-निर्माणके प्रसङ्ग

(लेखक——श्रीकुबेरनाथजी शुक्ल)

रामायणके समान विश्वसाहित्यमें उच्च कोटिका दूसरा चरित्रकाव्य नहीं है । जैसे समुद्र विविध मुक्ता, मणि, रत्न आदिसे भरा पड़ा है, वैसे रामायण विचित्र-निर्माणके विविध आदर्श एवं प्रेरक प्रसङ्गोंसे भरा पड़ा है । सब प्रसङ्गोका उल्लेख इस संक्षिप्त लेखमें सम्भव नहीं है । अतः कतिपय प्रसङ्गोंको प्रस्तुत करनेका प्रयास किया जा रहा है ।

रामवनगमन—महाराज दशरथके आदेशसे श्रीरामका राज्याभिषेक होने जा रहा था । अयोध्या नगरी तथा कोसल जनपदके नागरिकोंमे अभूतपूर्व उल्लास एवं आनन्द दृष्टिगोचर हो रहा था । बड़ी ही धूमधामसे उत्सवकी तैयारी हो रही थी । चारों ओर नृत्य, गान एवं वाद्यका कार्यक्रम चल रहा था । सब लोग शुभ मुहूर्तकी प्रतीक्षामें सजधजके तैयार थे । अभिषेकके समय श्रीरामको अकस्मात् माता कैकेयीद्वारा वनवासकी सूचना मिली । श्रीराम चौदह वर्षके वनवासके लिये सहर्ष उद्यत हो गये । उन्हे लेशमात्र भी दुःख न हुआ कि मुझे वनवास क्यों दिया जा रहा है ? उन्होंने कहा कि माता-पिताकी आज्ञाका पालन करना पुत्रका धर्म है । इससे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है——

नह्यतो धर्माचरणं किंचिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥

जहाँ राज्यके लिये बराबर युद्ध होते रहे हैं, भाई-भाईका गला काटता रहा है, पिता-पुत्रका सम्बन्ध धूमिल हो जाता रहा है, वहाँ श्रीरामका महान् आदर्श चरित्र एवं त्याग सर्वथा स्पृहणीय है ।

जब श्रीरामने अयोध्यासे वनवासके लिये प्रस्थान किया, असंख्य नागरिक आबालवृद्ध उनके रथके पीछे-पीछे रोते-चिल्लाते दौड़ चले । सब हाथ जोड़कर बोले——'युवराज ! आप वन न जायँ । अयोध्या लौट चलें ।' दयालु श्रीराम आगे न बढ़ सके । उन्होंने रथ रोककर नागरिकोंसे कहा——'नागरिकगण ! आप लोगोंने मेरे प्रति जो असाधारण प्रेम दिखलाया है और मेरा सम्मान किया है, वही प्रेम और सम्मान आपलोग राजकुमार भरतपर दिखलाये । शुभचरित भरत आपलोगोंका सर्वथा प्रिय और हित करेंगे । वे बुद्धिमान्, गुणसम्पन्न तथा सर्वथा योग्य शासक सिद्ध होंगे । मेरे वन चले जानेपर महाराज दुःखी न हों इसपर आपलोग ध्यान देंगे ।' जिसके लिये वनवास है, उसपर यह सहृदयता रामके उदात्त चरित्रका अवदात निदर्शन है ।

चित्रकूटमें राम-भरत-संवाद——भरतजीने समस्त राजसमाजके साथ चित्रकूट जाकर श्रीरामके चरणोंमें अत्यन्त नम्रतापूर्वक निवेदन किया——'कुल-परम्पराके अनुसार आपका ही राज्याभिषेक होना चाहिये । हमारी माताने जो भूल की है, आप उसे क्षमा करें । मैं अयोध्याका राज्य नहीं चाहता । मै उसके योग्य भी नहीं हूँ । सबकी हार्दिक इच्छा है कि आपका अभिषेक हो और आप अयोध्याके राजा बनकर सबको आनन्दित करें ।'

भरतजीका विशुद्ध प्रेम, भ्रातृ-वात्सल्य, शील और धर्म देखकर सब लोग मुग्ध हो गये । सबने उनके प्रस्तावका समर्थन किया और श्रीरामसे अनुरोध किया कि वे उसे स्वीकार करें । परंतु दृढ प्रतिज्ञ श्रीराम टस-से-मस न हुए । उन्होंने कहा——'शोभा* चन्द्रमाको छोड़ दे, हिमालय हिमको त्याग दे, समुद्र अपनी मर्यादाको छोड़ दे, परंतु मैं अपने पिताके आदेशको नहीं छोड़ सकता'——

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत् ।
अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः ॥

सत्यप्रतिज्ञ श्रीरामको हिमालयके समान दृढ देखकर सबलोग आश्चर्य-चकित हो गये और धन्य-धन्य कहने लगे। चरित्रका यह उज्ज्वलतर स्वरूप अन्यत्र कहाँ मिल सकता है ?

पादुकाग्रहण—जब भरतजीने देख लिया कि उनके ज्येष्ठ भ्राता श्रीराम कथमपि राज्य-भार वहन करनेको प्रस्तुत नहीं है, तब उन्होंने श्रीरामके समक्ष स्वर्णकी चरण-पादुका रख दी और कहा—'आप इसे पहनकर मुझे दे दें। ये ही समस्त लोकका कल्याण करेंगी।' श्रीरामने वैसा ही किया। भरतजीने पादुकाको मस्तकपर चढाकर कहा—'चौदह वर्षोंतक जटा-वल्कल धारणकर मै मुनिवेषमे रहूँगा और फल-मूल खाकर नगरसे बाहर रहकर आपके आगमनकी प्रतीक्षा करूँगा। यह पादुका राज्य करेगी और मै सेवक बनकर राजकार्य देखूँगा। चौदह वर्ष पूर्ण हो जानेपर यदि प्रथम दिन आपका दर्शन न हुआ तो आगमें जलकर अपने प्राण दे दूँगा।' श्रीरामने **'तथास्तु'** कहा और ऑखोमे ऑसू भरकर भाई भरतको विदा किया।

रामवनगमनमें भरतजीका लेशमात्र भी दोष न था। अपने बड़े भाई श्रीरामको वनसे लौटानेके लिये जो कुछ सम्भव था, सब कुछ किया। जटा-वल्कल धारण कर चौदह वर्षोंतक फल-मूलपर जीवन-निर्वाह करनेका व्रत लिया। भूमिशयन तथा बाहर रहनेका भी व्रत लिया।

श्रीरामके स्थानपर उनकी चरण-पादुका सिंहासनपर रखी गयी। वही राजा थी। भरतजी उसके सेवक थे। राजकार्य पादुकाके समक्ष निवेदित किया जाता था। पश्चात् भरतजी मन्त्रियोके परामर्शसे कार्य करते थे। उपहार-स्वरूप प्राप्त सुवर्ण आदि सब कुछ पादुकापर चढ़ाया जाता था। यह अलौकिक चरित्रादर्श भरतके सर्वथा अनुरूप था।

भरतजीका भ्रातृ-प्रेम जगत्मे अनुपमेय है। क्या ऐसा कोई दूसरा उदाहरण है ? उन्होंने अनायास प्राप्त राज्यको तृण-सदृश समझा। कुलपरम्पराको मान्यता दी और भ्राताकी अनुपस्थितिमे उनकी पादुकाको राजा मानकर सिंहासनपर बैठाया। इसमें भ्रातृ-प्रेम और चरित्रकी उत्कृष्टता देखते बनती है।

पञ्चवटीमें भरत-गुणगान—पञ्चवटीमे एक दिन प्रातःकाल भरतजीका गुणगान होने लगा। उसी प्रसङ्गमें लक्ष्मणजी बोल उठे—'जिसके पति महाराज दशरथ और पुत्र भरत-जैसा साधु और धर्मात्मा वह माता कैकेयी इतनी क्रूर क्यो हो गयीं ?' उक्त वचन सुनते ही परमोदार श्रीराम माताजीकी निन्दा न सह सके और बोले—'भाई लक्ष्मण ! मझली माताकी निन्दा न करो। इक्ष्वाकुनाथ भरतकी ही चर्चा करो'—

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कथंचन।
तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु ॥

श्रीरामने भाई भरतके शील और स्नेहकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। किसीकी भी निन्दा चरित्रके लिये दुर्गुण है।

गृध्रराजजटायुका दाह-संस्कार—गृध्रराज जटायुके मुखसे रावणद्वारा सीताहरणका वृत्तान्त सुनकर तथा उसे मृत देखकर श्रीराम-लक्ष्मण शोक-विह्वल हो उठे। उन्होने करुण विलाप किया और अपने हाथोसे चिता बनाकर उसका दाह-संस्कार किया। गोदावरीमे स्नानकर श्रीरामने पिण्डदान किया और उसे सद्गति प्रदान की। इस कार्यसे एक नवीन संस्कृतिका निर्माण हुआ। पक्षियोमें भी ऐसे धर्मात्मा तथा पराक्रमी होते थे। परार्थ प्राण-त्याग यह आदर्श-चरित्र पक्षिरूपमे जटायुने निभाया।

सुग्रीवका राज्याभिषेक—श्रीरामकी कृपासे सुग्रीवको किष्किन्धाका राज्य मिल गया। राज्याभिषेकके अवसरपर सुग्रीव अपने आवासपर विविध रत्नो एवं मालाओसे श्रीरामकी पूजा करना चाहते थे और उन्हे अपना स्वामी

बनाकर वहीं किष्किन्धामे रखना चाहते थे। श्रीरामने सुग्रीवसे कहा—'पिताजीके आदेशसे मै चौदह वर्षोंतक किसी ग्राम अथवा नगरमे नहीं जा सकता। अतः तुम्हारा अभिषेक वानरगण किष्किन्धामे यथाविधि सम्पन्न करे। मै यहीं वनमे रहूँगा।'

शरणागत-पालक—रावणसे अपमानित होकर उसके भाई विभीषण श्रीरामकी शरणमे आये। वानरराज सुग्रीव-प्रभृति मन्त्रियोने राक्षसोको कपटी तथा अविश्वसनीय बतलाया और उन्हे दण्डित करनेका सुझाव दिया। श्रीरामने मन्त्रियोकी बात सुनकर कहा—'हाथ जोड़कर दीन भावसे शरणमे आये हुए शत्रुकी भी रक्षा करनी चाहिये। शरणागतकी रक्षा न करनेसे बडा पाप लगता है, अपकीर्ति होती है और बल-वीर्यका नाश होता है। सुना है कि एक कपोतने शरणमें आये हुए व्याधको अपना मांस खिलाकर बचाया था, जब कि वह व्याध उसका शत्रु था और उसने कपोतकी स्त्रीका वध किया था। महर्षि कण्डुने शरणागतकी रक्षा करनेका विधान किया है। मै उससे सर्वथा सहमत हूँ। एक बार भी जो मेरी शरणमे आकर 'तुम्हारा हूँ'—ऐसा कहता है, मैं उसे सर्वथा निर्भय कर देता हूँ—

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम॥

श्रीरामने विभीषणको अभयदान दिया। तुरत समुद्रसे जल मँगाकर 'लङ्केश्वर' पदपर उसका अभिषेक कराया। श्रीरामके इस कार्यपर सबने हार्दिक प्रसन्नता व्यक्त की और उन्हे साधुवाद दिया।

रावणका दाह-संस्कार—रावणका वध हो जानेपर विभीषण उसके दाह-संस्कारके लिये उद्यत न था। परमोदार श्रीरामने उसे समझाया और कहा—'विभीषण! तुम्हारी सहायतासे मैने विजय प्राप्त की है। अतः मुझे तुम्हारा हित देखना है। रावण निस्सन्देह, सदा असत्य और अधर्ममे लीन रहता था तथापि वह बलवान्, वीर और तेजस्वी था। इन्द्रादि देवगण भी उसे परास्त न कर सके थे। जबतक प्राणी मर नहीं जाता, तबतक उससे शत्रुता रहती है। मर जानेपर कोई द्वेषभाव नहीं रह जाता है। जैसे वह तुम्हारा भाई है, वैसे हमारा भी है। अतः तुम उसका दाह-संस्कार करो।' विभीषणने तदनुसार दाह-संस्कार किया। चारित्र्यकी व्यापकतामें शत्रु भी शत्रु नहीं रहता।

महाराज दशरथका वरदान—लङ्का-विजयके पश्चात् सीताग्नि-परीक्षाके समय देवगणके साथ महाराज दशरथ भी लङ्कामें आये थे। उन्होने श्रीरामको अयोध्या जाकर राजसिंहासनपर आसीन हो भाइयोंके साथ राज्य करनेका आदेश दिया। महाराज दशरथकी बात सुनकर श्रीरामने नम्रतासे हाथ जोड़कर कहा—'महाराज! आप भाई भरत तथा माता कैकेयीपर प्रसन्न हो जायँ। आपने माता कैकेयीसे कहा था—'मैने तुम्हे तुम्हारे पुत्र भरतके साथ त्याग दिया है।' आपका यह शाप माता कैकेयीपर न लगे। हाथ जोडकर खडे हुए श्रीरामसे महाराज दशरथने 'तथास्तु' कहा। यह श्रीरामके अलौकिक शीलका निदर्शन है।

दयामयी दीनवत्सला सीता—लङ्का-विजयके पश्चात् हनुमान् अशोकवाटिकामें सीताजीके विजयकी सूचना देने आये। सीताजी हनूमान्‌के मुखसे लङ्का-विजयका समाचार सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हुईं। उन्होने हनूमान्‌से कहा—'हनुमन्! इस शुभ समाचारको सुनानेके बदलेमें मै तुम्हें क्या दूँ? ससारका सुवर्ण, रत्न अथवा तीनो लोकोका राज्य, यदि तुमको दे दिया जाय तो वह भी पर्याप्त न होगा।' हनुमान्‌ने कहा—'देवि! पतिका कल्याण चाहनेवाली आप-जैसी पतिव्रताके मुखसे ही ऐसी बात निकल सकती है। आपके वचन देवराज्य और सम्पूर्ण रत्नोसे बढ़कर है।' पर हाँ! यदि आप आज्ञा दें, तो मै इन राक्षसियोंको मार डालूँ, क्योंकि इन्होंने

इसी वाटिकामें आपको डराया, धमकाया तथा बहुत दुःख दिया है। इन क्रूर आँखोवाली राक्षसियोंको मैं घूँसों, लातों, हाथो, जाँघोसे मारकर दाँतोंसे तथा नाक-कान काटकर, बालोंको नोचकर मार डालना चाहता हूँ।'

इसपर यशस्विनी सीताने कहा—'वानरेन्द्र! ऐसा मत कहो। ये सब राक्षसियाँ तो राजाकी आज्ञाका पालन मात्र कर रही थीं। अब देखो, ये मेरी सेवा कर रही हैं, अतः इनपर तुम्हें क्रोध न करना चाहिये। यह दुःख तो मेरे भाग्य-दोषसे मिला था। अपने कियेका फल सबको भोगना पड़ता है'—

राजसंश्रयवश्यानां कुर्वतीनां पराज्ञया।
विधेयानां च दासीनां कः कुप्येद् वानरोत्तम॥
भाग्यवैषम्यदोषेण पुरस्ताद्दुष्कृतेन च।
मयैतत् प्राप्यते सर्वं स्वकृतं ह्युपभुज्यते॥
(वा० रा० ६। ११३। ३८–४०)

विभीषणकी प्रार्थना—लङ्का-विजयके बाद लङ्केश्वर विभीषणने श्रीरामसे कहा—'राजन्! स्नान करनेके लिये जल, अङ्गराग, सुगन्धित तैल, वस्त्र, आभूषण, चन्दन और अनेक प्रकारकी दिव्य मालाएँ उपस्थित हैं। अलङ्कार-कलाको जाननेवाली स्त्रियाँ भी उपस्थित हैं। ये सब आपको उत्तम रीतिसे स्नान करायेंगी।' इसपर श्रीरामने कहा—'सौम्य! तुम सुग्रीव-प्रभृति श्रेष्ठ वानरोंसे स्नान करनेको कहो। सत्यवादी, सुकुमार, महाबाहु भरत सुखभोग त्यागकर मेरे लिये कष्ट भोग रहे हैं। कैकेयी-पुत्र भरतको देखे विना मुझे स्नान, वस्त्र, आभूषणादि कुछ भी रुचिकर न होगा। मैं अभी अयोध्या जाना चाहता हूँ।'

उपर्युक्त प्रसङ्गोंके अध्ययनसे चरित्र-सम्बन्धी बहुमूल्य सामग्रियाँ उपलब्ध हो सकती हैं, जो मानवजीवनके संबल एवं समुन्नयनके लिये नितान्त अपेक्षित हैं।

रामायणमें चरित्र-निर्माण

(लेखक—स्वामी श्रीओंकारानन्दजी महाराज)

'पठ रामायणं व्यास! काव्यबीजं सनातनम्' सहित अनेक निर्विवाद तथ्यों एवं प्रमाणोंके आधारपर अब यह सर्वमान्य हो चुका है कि 'रामायण' भूतलका प्रथम काव्य तथा अति प्राचीन ग्रन्थ है। यदि यह कहा जाय कि कविकुल-गुरु महर्षि वाल्मीकि-रचित रामायण वेदका ही रूप है तो अतिशयोक्ति न होगी—'रामायणं वेदसमं श्राद्धेषु श्रावयेद् बुधः।'

इसी प्राचीनताको समयावधि मानकर इस महान् ग्रन्थके परिप्रेक्ष्यमें चरित्र-निर्माणके तत्कालीन स्वरूप एवं महर्षिद्वारा निर्धारित मानदण्डोंका अवलोकन किया जाय।

नगर एवं नागरिक—इक्ष्वाकुवंशी नरेशोंका गौरव-शाली इतिहास भारतीय संस्कृतिकी उज्ज्वल पताका फहरानेमें सर्वदा अग्रणी माना जाता रहा है। इन महापुरुषोंकी आदर्श परम्परामें अद्वितीय कर्म-धर्म-वीर, ज्ञान-दान और शूरवीर हुए हैं। कौसल नामसे प्रसिद्ध जनपदकी प्रमुख अयोध्या नगरी, जो सूर्यवंशियोंकी राजधानी रही, रामायणद्वारा वर्णनसे तत्कालीन नागरिक संस्कृति और सभ्यताका आभास मिलता है। प्राचीनकालमें भारतके नगर इस कोटिके होते थे—

विमानमिव सिद्धानां तपसाधिगतं दिवि।
सुनिवेशितवेश्मान्तां नरोत्तमसमावृताम्॥
(वा० रा० बाल० ५। १९)

'देवलोकमें तपश्चर्यासे प्राप्त सिद्धोंके विमानकी भाँति सुव्यवस्थित प्रासादोंके अन्तःपुरोंका निर्माण अलौकिक था। अनेक श्रेष्ठ नरपुंगव पुरीमें वास करते थे।'

इस पुरीके नागरिकोंके विषयमें आदिकवि कहते हैं—'यहाँ समस्त स्त्री-पुरुष धर्मशील, संयमी, सदा प्रसन्नचित्त एवं शील और सदाचारकी दृष्टिसे ऋषियोंकी भाँति निर्मल थे—

सर्वे नराश्च नार्यश्च धर्मशीलाः सुसंयताः।
मुदिताः शीलवृत्ताभ्यां महर्षय इवामलाः॥
(वाल्मी० रा० बाल० ६ । ९)

यहाँतक कि सम्पूर्ण राज्यमें एक भी मनुष्य मिथ्यावादी, दुष्ट, परस्त्री-गामी (लम्पट) न था। सम्पूर्ण राष्ट्र और नगरमे शान्तिका साम्राज्य था—

शुचीनामेकबुद्धीनां सर्वेषां सम्प्रजानताम्।
नासीत् पुरे वा राष्ट्रे वा मृषावादी नरः क्वचित्॥
क्वचिन्न दुष्टस्तत्रासीत् परदाररतिर्नरः।
प्रशान्तं सर्वमेवासीद् राष्ट्रं पुरवरं च तत्॥
(वा० रा० बाल० ७ । १४-१५)

भारतीय संस्कृतिमे चरित्र-निर्माण-हेतु निर्धारित जिन सिद्धान्तो और सद्गुणोंको आचरणमें लानेका निर्देश दिया गया है, उनमे सर्वप्रथम है—अहिंसा।

अहिंसा—चित्रकूटकी पावन धरापर जब रघुवंशके दो नरपुङ्गव विचित्र परिस्थितियोंमे परस्पर मिलते हैं, तब श्रीराम भरतको कुशलक्षेमके बहाने जो विस्तृत उपदेश देते हैं, उसमे यह प्रश्न पूछते हैं—'रघुनन्दन-भरत! जहाँ किसी प्रकारकी हिंसा नहीं होती, वह अपना कौसल देश धनधान्यसे सम्पन्न सुखपूर्वक तो रह रहा है न?'

कच्चिज्जनपदः स्फीतः सुखं वसति राघव॥
(वा० रा० अयो० १०० । ४६)

हिंसाका अर्थ केवल किसीको मौतके घाट उतार देना ही नहीं, वरन् भारतीय दार्शनिक चिन्तन तो मनसा, वाचा भी किसीके हृदयको ठेस पहुँचानेको हिंसा मानता है, इसीलिये तो दशरथ-राज्य मन्त्रिमण्डलके गुणो और नीति-सम्बन्धी विवरणोंमें ग्रन्थकार संकेत देते हैं—

अहितं चापि पुरुषं न हिंस्युरविदूषकम्—
(वा० रा० बाल० ७ । ११)

'शत्रु भी अगर अपराधी न हो तो उसकी भी हिंसा नहीं करते।' अयोध्या लौट चलनेकी अपनी प्रार्थनापर भरतका समर्थन करते हुए जब ब्राह्मणश्रेष्ठ जावालि नास्तिक मतका अवलम्बन लेकर रामको अपने तर्कद्वारा समझानेका प्रयास करते हुए इहलौकिक लाभको अपनाकर पारलौकिक लाभको विस्मृत करनेको कहते हैं—'**प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु**'—तब उनके मतकी निन्दा करते हुए मर्यादापुरुषोत्तम घोषणा करते हैं कि—'सत्य, धर्म, पराक्रम, समस्त प्राणियोंपर दया, प्रिय-भाषण, देव, अतिथि और ब्राह्मण-पूजाको ही साधु-पुरुषोने स्वर्गका मार्ग बताया है—

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
भूतानुकम्पां प्रियवादितां च।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः॥
(वा० रा० अयो० १०९ । ३१)

विदेहराजके परम वैष्णव वातावरणमें सुसंस्कृत विद्या-सम्पन्न सीताने प्रथम बार जब विराधका वध और गड्ढा खोदकर उसका वीभत्स अन्त भी अपनी आँखों देखा, तब वे उद्विग्न हो उठीं। सुतीक्ष्णजीसे विदा लेकर जब दोनो भाइयोने दण्डकारण्यकी ओर आगे प्रस्थान किया, तब विदेहकुमारीने स्नेहयुक्त वाणीमें रामसे अहिंसा-धर्मके विषयमें जो कुछ कहा, वह अत्यन्त भावपूर्ण विचार है। अरण्यकाण्डके ३२ श्लोकोंका सम्पूर्ण नवम सर्ग ही इसपर प्रकाश डालता है।

एक पक्षीकी निर्मम हत्यासे ग्रन्थरचनाकी प्रेरणा पानेवाले महर्षि भगवती सीताके मुखसे अहिंसाधर्मकी जो व्याख्या करवाते हैं, वह स्तुत्य है—

क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च ।
व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम् ॥
(वा० रा० अर० ९ । २७)

'कहाँ तो शस्त्र-धारण और कहाँ वनवास ? कहाँ क्षात्रधर्म और कहाँ हिंसा-जैसा कठोर कर्म और कहाँ सब प्राणियोंपर दयारूप तप—ये परस्पर विरोधी जान पड़ते हैं, अतः आर्यपुत्र ! हम लोगोंको देशधर्मका ही आदर करना चाहिये । (इस समय हम तापसी-वेषमें और वनप्रदेशमें हैं, अतः यहाँके अहिंसामय धर्मका पालन ही हमारा कर्तव्य है ।) यह है भगवती सीताका कान्तासम्मित आदर्श चारित्रिक परामर्श !

शोकाकुल अवस्थामें भी रावणकी कारामें बंदी बनी सीता जब हनुमान्‌द्वारा श्रीरामको अपना संदेश कहती हैं, तब अन्य बातोंके साथ ही इस बातका भी स्मरण दिलाती हैं कि 'वानरश्रेष्ठ ! भगवान् रामसे कहना कि—'दया करना सबसे बड़ा धर्म है, यह मैंने आपसे ही सुना है; आप मेरी परिस्थितिसे अनभिज्ञ नहीं हैं, आपका बल, पराक्रम और उत्साह महान् है—

आनृशंस्यं परो धर्मस्त्वत्त एव मया श्रुतम् ।
जानामि त्वां महावीर्यं महोत्साहं महाबलम् ॥

भगवान् राम अहिंसाकी व्याख्याका परोक्ष निर्देश करते हुए भगवती सीताको समाधान करते हैं कि—'देवि ! अहिंसाका अर्थ कायरता नहीं है । ब्राह्मण एवं साधुओंके परित्राणार्थ मुझे स्वयं पास पहुँचनेका उपक्रम करना था, पर वे स्वयं मेरे पास आये यह मेरे लिये अनुपम लज्जाकी बात है । मैं उनके समक्ष प्रतिज्ञा कर चुका हूँ कि 'अपने सत्यव्रतके पालनार्थ आवश्यक हो तो मैं तुम्हारा और लक्ष्मणका भी परित्याग कर सकता हूँ । यहाँतक कि अपना जीवन भी अर्पित करनेको तत्पर हूँ'—

अप्यहं जीवितं जह्यां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ।
न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ॥
(वा० रा० अर० १० । १८)

वालि-वधके समय भी रामपर दोषारोपण करते हुए जब वाली अपनी मृत्युको धर्म-विरोधी बताता है—'अयुक्तं यदधर्मेण त्वयाहं निहतो रणे'—तब भी अहिंसा-धर्मका पालन करनेवाले श्रीराम कहते हैं—

न च ते मर्षये पापं क्षत्रियोऽहं कुलोद्गतः ।
औरसीं भगिनीं चापि भार्यां वाप्यनुजस्य यः ॥
प्रचरेत् नरः कामात् तस्य दण्डो वधः स्मृतः ॥
(वा० रा० कि० १८ । २२-२३)

'हरीश्वर ! श्रेष्ठ कुलोत्पन्न क्षत्रियोचित कर्तव्यानुसार तुम्हारे अपराध क्षम्य नहीं थे । कन्या, बहन, अनुजवधूको कामदृष्टिसे देखनेवालेके लिये मृत्युदण्ड ही उपयुक्त विधान है । अहिंसा-धर्मपालनका इससे उदात्त और उदाहरण क्या हो सकता है कि वैरीको भी भाई शब्दसे सम्बोधित किया जाय । जब विभीषण अपने भ्राताको अधर्मी, क्रूर, निर्दयी, मिथ्यावादी तथा परस्त्रीगामी कहकर उसका दाहसंस्कार न करनेको ही उचित ठहराता है तब श्रुति-सेतु-पालक राम समझाते हैं—

मरणान्तानि वैराणि निर्वृत्तं नः प्रयोजनम् ।
क्रियतामस्य संस्कारो ममाप्येष यथा तव ॥
(वा० रा० यु० १११ । १००)

'वैर तो मृत्युतक ही होता है । मरनेके बाद उसका भी अन्त हो जाता है । हमारा प्रयोजन सिद्ध हो गया है, अतः जैसे रावण तुम्हारा भ्राता है, वैसे ही मेरा भी है, इसलिये उसका दाह-संस्कार करो ।' शील, संयम, इन्द्रिय-निग्रह या चरित्र भारतीय संस्कृतिकी अपनी विशेषता है । संयम ही समस्त संसिद्धिका आधार है । वैसे तो रामायणका हर आदर्श पात्र स्वयंमें शालीनताका उज्ज्वल प्रतीक है, परंतु लक्ष्मणका चरित्र स्नेह, शील और पराक्रमका अद्भुत समन्वय है । एक ओर ज्येष्ठ भ्राताका आदेश है कि—

भवाप्रमत्तः प्रतिगृह्य मैथिलीं
प्रतिक्षणं सर्वत एव शङ्कितः॥

और दूसरी ओर परशुराम-जैसे पराक्रमीसे भी टक्कर लेनेमें तनिक भयभीत न होनेवाले सुमित्रानन्दन सीताके अति कठोर वचन **'सुदुष्टस्त्वं'**-(तू बड़ा दुष्ट है-)को भी हर्षपूर्वक सहन करते हुए कहते हैं—'देवि! मैं आपकी बातका प्रत्युत्तर नहीं दे सकता; क्योंकि आप मेरे लिये आराध्या देवीके समान हैं—

उत्तरं नोत्सहे वक्तुं दैवतं भवती मम।
(वा० रा० अर० ४५। २८)

चारित्रिक उत्कर्षताका सर्वोच्च नायक लक्ष्मण अपने आदर्शसे भारतीय पारिवारिक जीवनको धन्यता प्रदान करते हुए इस रूपमें प्रस्तुत करते हैं कि देवर होकर भी उन्होंने आजीवन भाभीका मुख नहीं देखा। रावण-द्वारा अपहृत सीताके किष्किन्धामें गिराये आभूषणोंको पहचाननेके अवसरपर लक्ष्मणका प्रत्युत्तर है—'भैया! ये बाजूबंद और कुण्डल तो मेरे अपरिचित हैं, पर मैं इन नूपुरोंको अवश्य पहचानता हूँ कि ये भाभीके ही हैं; क्योंकि प्रतिदिन चरणवंदनके समय मैं इन्हें देखता था—

नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥
(वा० रा० किष्कि० ६। २२)

कर्मद्वारा आचरण-भ्रष्टता तो सर्वविदित निन्दनीय कृत्य है ही, परन्तु रामायणका आदर्श तो मनमें आये कुविचारोंको भी क्षम्य नहीं मानता।

'ज्ञानिनामग्रगण्य' पवनपुत्र सीता-अन्वेषणमें संलग्न रात्रिके अन्तिम प्रहरमें जब दशग्रीवके अन्तःपुरमें अचेत एवं अर्धनग्नावस्थित नारियोंको देखते हैं, पर कहीं श्रीसीताजीका दर्शन नहीं होता, तब धर्मके भयसे भयभीत हो उठते हैं और उनके हृदयमें संदेह उपस्थित हो जाता है कि—'मेरी दृष्टि अबतक कभी परस्त्रीपर नहीं गयी। यहाँ आनेपर मैंने न केवल परस्त्रीको इस रूपमें देखा, पर इस पापी रावणको भी देखना पड़ा।'

अपनी इस शङ्काका समाधान भी हनुमान्‌जी **'न तु मे मनसा किंचिद् वैकृत्यमुपपद्यते'** 'तथा' **तदिदं मार्गितं तावच्छुद्धेन मनसा मया'** के आधारपर स्वयं करके आश्वस्त हो जाते हैं। दूसरी ओर विरहसे व्याकुल देवी सीताकी अत्यन्त विकल दशा देखकर हनुमान्‌जी जब उनसे कहते हैं—'सती साध्वी देवि! आप मेरी पीठपर बैठ जाइये, मैं अभी आपको इन राक्षसोंद्वारा हो रहे कष्टसे मुक्त कर भगवान् रामके पास ले चलता हूँ—**'अस्माद्‌दुःखादुपारोह मम पृष्ठमनिन्दिते।'** तब सदाचारके धर्मका परिपालन करनेवाली विदेह-नन्दिनी पुत्रवत् पवनपुत्रसे कहती हैं—

भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर।
नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम॥
(वा० रा० सु० ३७। ६२)

'वानरवीर! (तुम्हारे साथ न चल सकनेका प्रमुख कारण और भी है कि) पतिभक्तिको हृदयंगम कर मैं श्रीरामके अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुषका स्वेच्छया स्पर्श करना नहीं चाहती।'

शील और सदाचार नारीके आभूषण हैं। संस्कार-मूलक अनुष्ठानका उत्सव-पक्ष मूलतः महिलाओंके हिस्सेमें रहा है। महर्षि वाल्मीकिके कथानकका खल-नायक रावण और उसकी पटरानी तथा राक्षस-परिवारकी महिलाओंका भी तत्कालीन सदाचार देखनेपर ज्ञात होता है कि वह कितना उच्च था। रावण-मरणके पश्चात् मंदोदरीका विलाप-प्रसङ्ग, सदाचार-समुद्भूत अनेक आदर्शोंको परिलक्षित करता है। इन्द्रियाँ यदि मानवके वशमें हों तो वे मित्र होती हैं, परंतु यदि मानव इन्द्रियोंके वशीभूत हो जायँ तो वे शत्रु बन जाती हैं। इसी सिद्धांतको परिपुष्टिमें मंदोदरी कहती है—'नाथ! इन्द्रिय-दमनद्वारा ही तो आप त्रैलोक्य विजयी

बने थे और उन्हीं इन्द्रियोंने आपसे प्रतिशोध कर आपको आज धराशायी कर दिया'—

इन्द्रियाणि पुरा जित्वा जितं त्रिभुवनं त्वया ॥
स्मरद्भिरिव तद् वैरमिन्द्रियैरेव निर्जितः ।
(वा० रा० यु० १११ । १५, १६)

पातिव्रत—पातिव्रत धर्मके प्रति अपनी आस्था व्यक्त करते हुए मयनन्दिनी मन्दोदरी अश्रुपूरित नेत्रोंसे कहती है—'महाराज ! पतिव्रताओंके अश्रु इस पृथ्वीपर व्यर्थ नहीं गिरते, यह कहावत आपपर आज पूर्ण चरितार्थ हो रही है'—

प्रवादः सत्यमेवायं त्वां प्रति प्रायशो नृप ॥
पतिव्रतानां नाकस्मात् पतन्त्यश्रूणि भूतले ।
(वा० रा० यु० १११ । ६६, ६७)

लज्जा—लज्जा नारीका भूषण है—इस सारगर्भित मन्तव्यको वर्तमानमें असभ्यता कहकर उसका न केवल उपहास उड़ाया जा रहा है वरन् खुलकर उसके सभी अंगोंपर कुठाराघात भी किया जा रहा है, जिसका दुष्परिणाम हमारे सामाजिक जीवनमें स्पष्ट परिलक्षित हो रहा है। रामायणका आदर्श तो राक्षस-समाजके परिवेशमें रहनेवाली नारियोंकी लज्जाके तत्कालीन गुणोंकी ओर संकेत करते हुए दर्शाता है कि रावणकी सभी स्त्रियाँ कभी लज्जा परित्याग कर बाहर नहीं निकलती थीं—

पश्येष्टदार दारांस्ते भ्रष्टलज्जावगुण्ठनान् ॥
बहिर्निष्पतितान् सर्वान् कथं दृष्ट्वा न कुप्यसि ।
(वा० रा० यु० १११ । ६२-६३)

मन्दोदरी विलाप करते हुए कहती है—'नाथ ! आप अपनी सभी स्त्रियोंसे अपार स्नेह करते थे, पर आज वे सभी लाज छोड़कर, परदा हटाकर बाहर आ गयी हैं। इन्हें देखकर क्या आपको क्रोध नहीं होता ?'

सत्य—'सत्य ही परमेश्वर है, धर्मकी स्थिति सदा सत्यपर आधारित है, सत्य मूल (जड़) है। सत्यसे बढ़कर अन्य कोई परम पद नहीं'—

सत्यमेवेश्वरो लोके सत्ये धर्मः सदाश्रितः ।
सत्यमूलानि सर्वाणि सत्यान्नास्ति परं पदम् ॥
(वा० रा० यु० १०९ । १३)

क्षमा—क्षमा वीरोंका भूषण है। विभीषण शरणागतिके समय अनेक मन्त्रियोंके विभिन्न परामर्शके पश्चात् भक्त-वत्सल श्रीरामका यह निर्णय कि 'यदि शत्रु भी शरणागत होकर दीनभावसे करबद्ध दयाकी याचना करे तो उसपर भी प्रहार अनुचित व्यवहार है'—

बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम् ।
न हन्यादानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परंतप ॥
(वा० रा० यु० १८ । २७)

वाल्मीकिरामायणका सम्पूर्ण बृहद् कथानक ही चरित्र-निर्माण-हेतु किया गया अद्भुत प्रयोग है।

तप—जो पुरुष स्वयं तपके ही बलपर महर्षि वाल्मीकि कहलाये और तपहीके आधारपर जो ऐसा अनुपम काव्य जगत्को दे सके, भला वे इस ग्रन्थको तपकी महत्तासे कैसे अछूता रखते। कथाका सम्पूर्ण श्रेय तपको प्रदान करते हुए महर्षि अपने ग्रन्थका शुभारम्भ 'तप' शब्दसे ही प्रारम्भ करते हैं; बल्कि प्रथम अर्धालीमें ही दो बार 'तप' शब्दका प्रयोग कर चरित्र-निर्माणके आधारभूत गुणकी ओर विशेष संकेत करते हैं—

'ॐ तपःस्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरम्'

और फिर इस ग्रन्थके महानायककी घोर तपश्चर्या क्या कम है। इन्द्रके लिये भी जो समृद्धि स्पृहाका विषय हो, उस वैभवशाली राज्यको ठुकराकर वनवासी वेषमें नंगे पाँव घूमनेवाले तपःशिरोमणि तपस्वी रामको शतशः वन्दन। जिन्होंने उत्तम चरित्रके निर्माणका पथ प्रशस्त कर चरित्र-धर्मको महत्त्व दिया।

संस्कृत-वाङ्मयमें चारित्र्य-विधान

(लेखक—पं० श्रीआद्याचरणजी झा)

वैदिक वाङ्मयसे लेकर सम्पूर्ण संस्कृतवाङ्मय 'चारित्र्य-विधान'से परिपूर्ण है । वेद, उपनिषद्, पुराण, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा समग्र संस्कृत-काव्य-साहित्य एवं दर्शनके ग्रन्थ जीवनयात्राके कण्टकाकीर्ण पथपर—पग-पगपर—खड़े होकर मार्गदर्शन करा रहे हैं और उन कठिन, दुर्गम तथा वक्र मार्गोंको मङ्गलमय बना रहे हैं । यदि कहा जाय कि संस्कृत-वाङ्मयके सभी अङ्ग, सिद्धान्त एवं तर्क-वितर्क विभिन्न रूपोंमें चरित्र-विधानके ही पोषक हैं तो कोई अत्युक्ति न होगी । जितने भी उपदेश दृष्टान्त हैं, वे सभी अन्तिम रेखापर पहुँचकर केवल उदात्त चरित्रकी ओर इङ्गित करते हैं, उसीको चरम उपलब्धि समझते हैं । चारित्र्यविधान अतीत और अनागतके विस्तृत कालकी एकताका सुदृढ़ सोपान है । यहाँ इस संक्षिप्त निबन्धमें संस्कृतके कुछ विभिन्न ग्रन्थोंसे दो-चार मात्र उद्धरणोंके द्वारा यह प्रमाणित करनेका प्रयास किया जा रहा है कि समस्त संस्कृत-वाङ्मयमें चारित्र्य-विधानको ही जिस किसी रूपमें रचनाका चरम लक्ष्य माना गया है ।

हम पहले मङ्गलाचरणके रूपमें 'वेद' तथा 'उपनिषद्' के दो-चार वाक्योंको उद्धृत कर संस्कृत-वाङ्मयमें प्रवेश करेंगे । वेदमें—(क) **भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः**—अर्थात्—'कानोंसे भद्र बातोंको सुनें, आँखोंसे भद्र बातोंको ही देखें, '**यतो यतः समीहसे ततो नोऽभयं कुरु शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः**'—'समस्त लोकों एवं पशुओंका कल्याण हो' प्राणिमात्रकी कल्याण-भावनाद्वारा क्या यह चरित्र-निर्माणका मूलमन्त्र है ? '**अतिथींश्च लभेमहि, याचितारश्च नः सन्तु मा च याचिस्म कंचन । एताः सत्याशिषः सन्तु**'—'हमें अतिथि प्राप्त हों, याचक मिलें, हम किसीसे याचना न करें; ये सत्य-आशीष प्राप्त हों' उदात्त चरित्रका यह महान् दिग्दर्शन है । भावनाको व्यापक बनानेकी यह मङ्गल-कामना है । इससे अपना चरित्र और समाजका कल्याण निर्मित होता है ।

२—उपनिषदोंमें—'**सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव; ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य-स्विद्धनम्**'—ये आर्ष-वाक्य डंकेकी चोटपर 'चारित्र्य-विधान' का दिव्य सन्देश प्रसारित कर रहे हैं । अब हम आदिकाव्य वाल्मीकिरामायणसे लेकर प्रमुख काव्य-ग्रन्थोंमें 'चारित्र्य-विधान'की उदात्त भावना देखें ।

३—वाल्मीकीय रामायणमें—

(क)—**यस्य त्वेतानि चत्वारि वानरेन्द्र यथा तव ।**
धृतिर्दृष्टिर्मतिर्दाक्ष्यं स कर्मसु न सीदति ॥
(सुन्दरकाण्ड १ । २०१)

समुद्र-लङ्घनके अन्तमें हनुमान्‌जीको कहा गया है कि 'जिसे धैर्य, दूर-दृष्टि, स्थिरमति और दृढ़ दक्षता है वह किसी कार्यमें परेशान नहीं होता है एवं सदा सफल होता है ।'

(ख)—**नहि मे परदाराणां दृष्टिर्विषयवर्तिनी ।**
कामं दृष्टा मया सर्वाः विश्वस्ता रावणस्त्रियः ।
न तु मे मनसा किंचिद्वैकृत्यमुपजायते ॥
(सुन्दरकाण्ड २ । ३९, ४१)

लङ्काके विशाल भव्य शृङ्गारमय राजमहलमें भ्रमण करते हुए हनुमान्‌जीको सहस्रशः स्वर्गीय सुन्दरियोंको देखनेपर कोई विकार मनमें नहीं हुआ और परनारीपर नजर नहीं गड़ी ।

(ग)—**क्रुद्धः पापं न कः कुर्यात् क्रुद्धो हन्याद् गुरूनपि ।**
क्रुद्धः पारुष्यवाचा नरः साधूनधिक्षिपेत् ॥
वाच्यावाच्यं प्रकुपितो न विजानाति कर्हिचित् ।
(सुन्दरकाण्ड)

अर्थात्—क्रुद्ध व्यक्ति उपर्युक्त कोई भी कुकर्म कर सकता है, अतएव—

(घ) यः समुत्पतितं क्रोधं क्षमयैव निरस्यति।
यथोरगस्त्वचं जीर्णां स वै पुरुष उच्यते॥

'जो व्यक्ति उत्पन्न क्रोधको क्षमासे निरस्त कर देता है, जैसे सर्प अपनी केंचुलको छोड़ देता है—उसे ही 'पुरुष' कहते हैं, वही पुरुषार्थयुक्त है।' क्रोधको छोड़ देना ही मानवता है, चारित्र्य-विधानकी इससे उत्तम विधि हो क्या सकती है?

(ङ) षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मनिर्घोषान् विरात्रे ब्रह्मरक्षसाम्॥
अथ मङ्गलवादित्रैः शब्दैः श्रोत्रमनोहरैः।
प्राबुध्यत महाबाहुर्दशग्रीवो महाबलः॥
(सुन्दरकाण्ड १८। १-२)

यहाँ हनुमान्‌जीद्वारा लङ्कामें रावणके जगनेके समयका वर्णन करते हुए आदि कवि महर्षि वाल्मीकिने कहा है कि 'ब्राह्ममुहूर्तमें रावण सभी छः अङ्गोंके साथ वेदज्ञ विद्वानों एवं याज्ञिकोंके मन्त्रोच्चारण सुनता तथा कर्णप्रिय माङ्गलिक वेद-वाक्योंको सुनकर जगता था।' राक्षस रावणका भी यह दैनिक अद्भुत चरित्र था। क्या आजके भौतिकवादी भारतीय चरित्रके इस आदर्शकी ओर भी ध्यान देना चाहेंगे?

४-हनुमन्नाटकमें—स्वयं श्रीहनुमान्‌जीद्वारा रचित 'हनुमन्नाटक'के कुछ अद्भुत चारित्रिक वर्णन देखें—

(क) कुण्डले नैव जानामि नैव जानामि कङ्कणे।
नूपुरावेव जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥

लक्ष्मणजी रामचन्द्रसे कहते हैं कि 'सीताके आभूषणोंमेंसे मैं कानके कुण्डल और हाथके कंगनको नहीं पहचानता हूँ, केवल प्रत्येक दिन चरणस्पर्श—पादाभिवन्दनके कारण पैरके दोनों नूपुरों—पायलोंको पहचानता हूँ; सीताके ही ये हैं। चरित्रके इस उदात्त पक्षपर टिप्पणी अनावश्यक है।

(ख) त्रिदशैरपि दुर्धर्षा लङ्का नाम महापुरी।
कथं वीर त्वया दग्धा विद्यमाने दशानने॥

लङ्का-दहनके प्रसङ्गमें भगवान् रामचन्द्रके उक्त प्रश्नके उत्तरमें हनुमान्‌जी कहते हैं—

(ग) निःश्वासेनैव सीतायाः राजन् कोपानलेन ते।
पूर्वदग्धात्वियं लङ्का निमित्तोऽभवत् कपिः॥

'सीताजीके शोकोष्णश्वाससे तथा आपके क्रोधानलसे लंका तो पहलेसे ही जल चुकी थी; यह वानर (मैं) तो निमित्त मात्र हुआ।' शालीनता-विनम्रता तथा उच्च चारित्र्यका यह कितना मार्मिक विधान है, यह कोई भी चारित्र्यवान् समझ सकता है।

हनुमान्‌जीकी विनम्रताकी दूसरी उक्ति—

(घ) शाखामृगस्य शाखायाः शाखां गन्तुं पराक्रमः।
यत्पुनर्लंघितोऽम्भोधिः प्रभावोऽयं प्रभो तव॥
(७। ४४)

'वानरका पराक्रम तो एक डालसे दूसरी डालपर कूदनामात्र है; इतने बड़े समुद्रलङ्घनमें तो केवल प्रभुका (आप रामचन्द्रजीका) ही प्रभाव है।'

५-श्रीमद्भगवद्गीतामें—वैसे तो सम्पूर्ण गीता चरित्रमय है, प्रत्येक पङ्क्ति उत्कृष्ट आचरण, संकल्प-निष्ठापूर्ण कर्म, कर्मसे प्राप्त भक्ति और भक्तिद्वारा उपलब्ध ज्ञानकी गरिमा प्रतिपादित करती है, जिसका वर्णन यहाँ अपेक्षित नहीं है, तथापि केवल एक-दो उदाहरणमात्र यहाँ देना आवश्यक है।

(क) तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(२। ६१)

अर्थात् 'इन्द्रियोंको वशमें करके ही प्रज्ञावान् हो सकते हैं, यह बिना उच्च चरित्रके सम्भव नहीं है।

(ख) क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥
(२ । ६३)

'क्रोधसे संमोह, संमोहसे स्मरणशक्तिका ह्रास, उससे बुद्धिनाश और बुद्धिनाशके बाद सर्वनाश हो जाता है।' अतएव बिना क्रोध-मुक्त हुए चरित्र-निर्माण नहीं हो सकता। यह गीताका संदेश है।

६–अब कविकुलगुरु कालिदासके कुछ काव्योंका सौरभ लें।

कुमारसम्भवमें—

(क) क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने
ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव।
(१ । १२)

अर्थात् 'नीचके भी शरणागत होनेपर उसे अपना जैसा महत्ता है।'

(ख) विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः।
(८ । ५९)

'सभी विकारों, पथभ्रष्ट होनेके साधनोंके रहते हुए भी जिनके चित्त विकृत नहीं होते हैं वे ही धीर हैं।' बिना सुदृढ चरित्रके क्या यह सम्भव है?

(ग) न केवलं यो महतोऽपभाषते
शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्।
(५ । ८३)

'अपशब्दोंका प्रयोग तो दूर रहे, उनके श्रवण भी पापके कारण हैं।' अतः अपशब्दका प्रयोग न करे।

७–रघुवंशमें—गो-सेवाका चरम आदर्श उपस्थापित किया गया है। दिलीपने गौकी आदर्श-सेवा की है। आज गोवंश उपेक्ष्य हो गया है।

(क) आस्वादवद्भिः कवलैस्तृणानां
कण्डूयनैर्दंशनिवारणैश्च।
अव्याहतैः स्वैरगतैश्च तस्याः
सम्राट् समाराधनतत्परोऽभूत् ॥

महाराज दिलीपके वैयक्तिक एवं सामाजिक चरित्र-निर्माणका इससे उत्कृष्ट क्या उदाहरण हो सकता है?

अभिज्ञानशाकुन्तलमें—नाटकके आदि भागमें ही महाराज दुष्यन्तको कण्वके आश्रममें प्रवेश करते समय वैखानस कहता है—'एष खलु कण्वस्य कुलपतेः तु मालिनीतीरमाश्रमो ह दृश्यते, न चेदन्यकार्यातिपातः तथा प्रविश्य प्रतिगृह्यतामातिथ्यसत्कारः' अर्थात् मालिनी नदीके तटपर कुलपति कण्वका आश्रम है, अतएव बड़ी शालीनता, बड़ी विनयके साथ प्रवेश करके आतिथ्य-सत्कार ग्रहण करें जिससे वहाँ किसी भी कार्यमें जरा भी विघ्न-बाधा न हो। आश्रममर्यादाकी रक्षामें चारित्रिक शीलताका यह निदर्शन आजके विद्यालयोंके लिये अनुकरणीय आदर्श है।

(ख)–भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः—(५ । ३५)

फल होनेसे वृक्ष नम्र होते हैं, इत्यादि वाक्य चरित्रोन्नायक हैं। चरित्र-विधानके लिये नम्रता आवश्यक गुण है।

८ मेघदूतमें—तो कविकुलगुरुने 'अर्थान्तरन्यास' अलंकारके चमत्कारमें चारित्रिक दिग्दर्शनसे चकित कर दिया है। यथा—

(क)–'याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा'
(पूर्वमेघ)

'गुणवान् व्यक्तियोंसे याचना निष्फल होना श्रेष्ठ है, लेकिन नीचसे याचना सफल होना भी निकृष्ट है।'

(ख)–'मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः'
(पूर्वमेघ)

'मित्रोंके कार्यको अपना समझ महान् व्यक्ति मन्द नहीं होते हैं।'

(ग)–न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः।
(पूर्वमेघ)

'नीच व्यक्ति भी मित्रके पूर्वकृत उपकारको स्मरण करके विमुख नहीं होते हैं; जो महान् हैं उनका तो क्या कहना है।'

(घ)–'आपन्नार्तिप्रशमफलाः संपदो ह्युत्तमानाम्'

'उत्तम व्यक्तियोंकी सम्पत्तियाँ तो आर्तके त्राणके लिये ही होती हैं।

(ङ)–नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।
(उत्तरमेघ)

'चक्केकी धूरीकी तरह मनुष्योंकी दशा ऊपर-नीचे होती है, यह प्रकृतिका नियम है।'

९–'महाकवि' भारविके 'किरातार्जुनीयम्' महाकाव्यमें दुर्योधनके उच्च चरित्रका दिग्दर्शन कराते हुए कहा है—

(क)–कृतारिषड्वर्गजयेन मानवी-
मगम्यरूपां पदवीं प्रपित्सुना।
विभज्य नक्तंदिवमस्ततन्द्रिणा
वितन्यते तेन नयेन पौरुषम्॥

अर्थात्—'मानवताके उच्च धरातलपर पहुँचनेकी कामना करते हुए दुर्योधन काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मात्सर्य—इन छः रिपुओंपर विजय प्राप्त कर रात-दिन आलस्य-रहित होकर कार्य-विभाजन करके अनीतिसे प्राप्त राज्यको अब नीतिद्वारा पुरुषार्थको फैला रहा है।' (ख)–द्रौपदी युधिष्ठिरसे कहती है—

भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं
भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम्।
तथापि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां
निरस्तनारीसमया दुराधयः॥

अर्थात्—'आपके सदृश महान् व्यक्तिके प्रति मुझ-जैसी अबलाके द्वारा कुछ कहना आक्षेपकी तरह है, फिर भी नारी-सुलभ हृदयकी आह मुझे कुछ कहनेकी प्रेरणा दे रही है।' उपर्युक्त दोनों पद्य अपने-आपमें उदात्त चरित्रके उत्कृष्ट दृष्टान्त हैं।

१०–महाकवि 'भवभूति'के 'उत्तररामचरितम्'में—उज्ज्वल चारित्र्य-विधानको उत्तुंग शिखरपर रखते हुए कहा है—

(क)–लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति॥
(१।१०)

अर्थात्—'आधुनिक सामान्य मुझ-जैसे व्यक्तियोंकी वाणी अर्थ-वस्तुके पीछे चलती है, जैसे 'आग'को ही आग और 'पानी'को ही पानी कहते हैं; लेकिन त्रिकालज्ञ ऋषिगणकी वाणीके पीछे ही अर्थ (वस्तु) चलता है', जैसे वे यदि 'आग'को पानी और 'पानी'को आग कह दें तो वे वैसे ही हो जाते हैं।

(ख)—स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥
(१।१२)

श्रीरामचन्द्र कहते हैं कि लोगोंके, समाजकी आराधनाके लिये, इच्छापूर्तिके लिये मैं स्नेह, दया, सौख्यको कौन कहे, जानकीतकको छोड़नेके लिये प्रस्तुत हूँ, लोकाराधनके लिये जानकीको त्याग देनेमें भी मुझे तनिक व्यथा नहीं होगी।' यह है लोकाराधकका आदर्श चरित्र।

महाकवि 'भास' अपने 'स्वप्नवासवदत्तम्'में—उत्तम आचरणरूपी चरित्रकी ओर इंगित करते हुए कहते हैं—

(क) 'कोऽयं भो निभृतं तपोवनमिदं ग्रामीकरोत्याज्ञया।'
(१।३)

'इस तपोवनको कौन अज्ञानी अपनी आज्ञासे ग्राम बना रहा है'! तात्पर्य यह कि तपोवनकी मर्यादाकी रक्षा चरित्रशीलता है, उसमें बाधा नहीं डालनी चाहिये।

(ख) गुणानां वा विशालानां सत्काराणां च नित्यशः।
कर्तारः सुलभा लोके विज्ञातारस्तु दुर्लभाः॥

इसके द्वारा गुणज्ञ होनेका निर्देश देते हैं।

१२–चाणक्य–भर्तृहरि प्रभृति नीतिकारोंके नीति-श्लोकोंमें तो सम्पूर्ण चारित्र्य-विधानकी ही विधि है। निम्नाङ्कित छोटे-छोटे कुछ पद्योंद्वारा उदात्त चरित्र-विधानका मार्गदर्शन कराया गया है जो स्वर्णपात्रमें गङ्गाजल-सदृश है।

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥

कामिनी-काञ्चनपर विजय और समदर्शी होनेका इतने स्वल्प शब्दोंमे इतना बड़ा उपदेश शायद ही अन्यत्र कहीं हो । यह पद्य गायत्रीमन्त्रके समान पवित्र है—

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः ।
न पापफलमिच्छन्ति पापं कुर्वन्ति यत्नतः ॥

सारांश यह कि यदि अच्छा फल चाहते हैं तो कर्म भी वैसा ही करे । ऐसा नहीं कि पुण्यका फल चाहें और पापकर्म करें, जैसा कि सामान्यतया देखा जाता है— जब कि पापका फल वाञ्छनीय नहीं है ।

'क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ।'

संसारके सभी आभूषण तुच्छ हेय या नाशवान् हैं, केवल 'वाणी' ही सच्चा आभूषण है । फलतः चारित्र्यनिर्माण-हेतु सत्य-प्रिय-मधुरभाषी बने ।

'योऽर्थे शुचिः स हि शुचिः न मृद्वारिशुचिः शुचिः ।'

साबुन-शैम्पूसे 'बाथ' लेनेसे पवित्रता नहीं होती, पवित्रता तो अर्थ-धनके आदान-प्रदान, उसके प्रति अनासक्तभाव होनेसे ही सम्भव है ।

एकेनापि सुपुत्रेण पुष्पितेन सुगन्धिना ।
वासितं तद्वनं सर्वं सुपुत्रेण कुलं यथा ॥

'एक सुगन्धित पुष्पसे भी जैसे सम्पूर्ण वन सुरभित होता है, वैसे ही एक ही सुपुत्रसे वंश उज्ज्वल होता है ।' चारित्र्य-सम्पन्न पुत्र ही सुपुत्र है ।

१२—महाकवि 'माघ'के **'शिशुपालवध'** महाकाव्यमें शालीन व्यवहारका दिग्दर्शन कराते हुए नारदजी श्रीकृष्णके यहाँ पहुँचते हैं तो भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः
शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभम् ।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं
व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥
(१ । २६)

(आप नारदजीके) दर्शन अतीत, वर्तमान और अनागत तीनों कालोंके मेरे पुण्योंके परिणाम हैं ।'

त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः
किमस्ति कार्यं गुरुयोगिनामपि ।
(१ । ३१)

नारदजी कहते हैं कि आप ही (श्रीकृष्ण ही) सभीके लिये साक्षात्कारणीय हैं—दर्शनके उद्देश्य हैं, इसके अतिरिक्त योगियोंके लिये भी कौन-से महान् कार्य हैं ? अर्थात् आपके दर्शनसे मोक्ष भी न्यून है ।

स्वाभिमानिताका उपदेश देते हुए 'माघ' कहते हैं—अपमानित जीवनसे धूलि ही श्रेठ है, जो पैरके ठोकरसे ऊपर उठती है ।

१४—महाकवि 'श्रीहर्ष'ने अपने अति प्रसिद्ध 'नैषधीयचरितम्'मे विद्याकी व्यावहारिक प्रक्रियाका निर्देश किया है—

मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मागममर्मपारगैः ।
स्मरसुन्दर मां यदत्यजस्तव धर्मः सदयो दयोज्ज्वलः ॥

'निगमागमनिष्णात राजा भी शिकारसे विमुख नहीं होते, फिर भी आपने जो मुझ हंसको छोड़ दिया है, वह तो आपकी उज्ज्वल दया-धर्मका ही उदाहरण है । दया चरित्रका उत्कृष्ट गुण है ।

१५—अन्तमें हम यहाँ महाकवि बाणभट्टकी 'कादम्बरी'से 'शुकनाशोपदेश'की कुछ पङ्क्तियोंको उद्धृत करनेका लोभ संवरण नहीं कर पा रहे हैं । यदि महाभारतमें सारभूत आत्मवत् 'भगवद्गीता' है तो कादम्बरीमें शुकनाशोपदेश है, जिसे मनीषिगण 'बाण-गीता' भी कहते हैं ।

'कामिनी-काञ्चनपर विजय प्राप्त करना यदि आकाशके तारे तोड़ना नहीं है तो लोहेका चना

चबाना मो अवश्य है। अपने दीर्घकालीन अध्यापन-कालमें छात्रोंके विश्लेषणके क्रममें शाश्वत सत्यके रूपमें स्थित उक्त मेरी पङ्क्तियाँ बहुचर्चित रहीं। इसमें भी 'काञ्चन'की प्रखरता ही 'कामिनी'के प्रति संलग्नताकी मुख्य कड़ी है—यह स्पष्ट है। संस्कृत-वाङ्मयकी प्रत्येक रचना इन दोनों (कामिनी-काञ्चन)से बचने—सतर्क रहने, सावधानतासे उपयोग करनेकी शिक्षा देती है। यही चरित्र-निर्माणका मूलाधार है। जो इनसे बचा, वह चरित्रवान् बना।

'शुकनासोपदेश'में बाणभट्टने कुमार चन्द्रापीडको राज्याभिषेकके बाद ही वृद्ध विद्वान् 'शुकनाश'के द्वारा लक्ष्मी-मदसे बचनेके उपाय लक्ष्मीके प्रबल अजेय-अपरिमेय प्रमादका जो वर्णन किया है, वह न केवल संस्कृत-वाङ्मय या भारतीय वाङ्मय अपितु विश्ववाङ्मयका अद्भुत अद्वितीय उदाहरण है जो परम कटु होते हुए भी परम सत्य है। उसीका कुछ मात्र अंश 'चारित्र्य-विधान'के मूल स्रोतके रूपमें मैं उद्धृत कर रहा हूँ। शुकनासका कथन है—

'अपरिणामोपशमे दारुणो लक्ष्मीमदः, न ह्येवमपरिचितमिह जगति किंचित् यथेयमनार्या। लब्धाऽपि खलु दुःखेन परिपाल्यते, दृढगुणपाशसंदाननिष्पन्दीकृताऽपि नश्यति। न परिजनं रक्षति, नाभिजनमीक्षते, न रूपमालोकयते, न कुलक्रममनुवर्तते, न शीलं पश्यति, न वैदग्ध्यं गणयति, न श्रुतमाकर्णयति, न धर्ममनुरुध्यते, न त्यागमाद्रियते, न विशेषज्ञतां विचारयति गन्धर्वनगरलेखेव पश्यत एव नश्यति।'

सारांश—'यह अनार्या लक्ष्मी सबकी अपरिचिता है, सुरक्षित रखनेपर भी भाग जाती है तथा इसके लिये कोई गुण, कोई धर्म, कोई योग्यता, कोई भी उदात्त चरित्र्य हेय है, त्याज्य है, अस्पृश्य है। यह देखते-देखते गंधर्वनगरके समान अदृश्य हो जाती है।

'कुमार, महामोहान्धकारिणि राजतन्त्रे तथा प्रयतेथाः यथा नोपहस्यसे जनैः, न विनिन्द्येच्च साधुभिः, न धिक्क्रियसे गुरुभिः, नोपलभ्यसे सुहृद्भिः, न शोच्यसे विद्वद्भिः।'

'ईश्वरतां दधानाप्यशिवप्रकृतिं दधाना, अमृतसहोदराऽपि कटुविपाका, संवर्धनवारिधारा तृष्णाविषवल्लीनाम्, परामर्शधूमलेखा सच्चरितचित्राणाम्, तिमिरोद्गतिः शास्त्रदृष्टीनां पुरः पताका सर्वाविनयानाम्, प्रस्तावना कपटनाटकस्य—इत्यादयः।'

'अर्थात्—सर्वथा मोहान्धकारके गर्तमें ढकेलनेवाली यह लक्ष्मी अकल्याणकारिणी, सभी दुर्गुणोंकी जड़, सभी अविनयोंकी विजयपताका तथा सभी कपट-छलमय नाटकोंकी प्रस्तावनास्वरूपा है।

अतएव कुमार! ऐसा प्रयत्न करो कि साधु, विद्वज्जन तुम्हारा उपहास-निन्दा न करें। मित्रगण उपालम्भ न दें और कोई भी व्यक्ति तिरस्कार नहीं करे। चरित्रका ऐसा आदर्श नम्रता और बड़ोंकी संगतिसे निर्मित हो सकता है।

उपसंहार—

इन संक्षिप्त उपर्युक्त कुछ उदाहरणोंसे ही यह स्पष्ट है कि समग्र संस्कृत-वाङ्मय 'चारित्र्य-विधान'की प्रक्रियासे परिपूर्ण है। क्या भारतीय प्रशासन और इस राष्ट्रके विवेकशील व्यक्ति इस ओर अब भी ध्यान देंगे जब कि भारतसे चरित्रका लोप होता जा रहा है?

भगवान् इस राष्ट्रकी रक्षा करें यही प्रार्थना—मङ्गलकामना है।
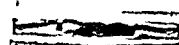
महाकवि कालिदासकी चारित्रिक उद्भावनाएँ

(लेखक—श्रीकामेश्वरजी उपाध्याय)

महाकवि कालिदास भारतीय संस्कृतिके मूल तत्त्वोंको, प्रकृतिकी अवस्थाओंको एवं मानव-मनके चाञ्चल्य स्थैर्यादि भावोंको अपनी सूक्ष्म अनुभूति एवं शास्त्र-चक्षुसे अत्यन्त समीपसे परखते हैं। कालिदासका लोक-सामञ्जस्य अपने-आपमें अनूठा है। कालिदास पूरे विश्वके कवि हैं। अतः इतनी लम्बी युगयात्राके बाद भी उनकी काव्यामृतधारा शिथिल होती नहीं दीखती। फलतः कालिदास नाम अब भारतीय संस्कृति, शास्त्र, उत्कृष्ट चिन्तन आदिका पर्याय बन चुका है।

कालिदासकी विशेषता उपमाके साथ जुड़ी हुई है। उपमालंकारका सर्वाधिक वैशिष्ट्य यह है कि इसमें तीव्र अनुभूति और गहरी संवेदना होती है। यह अनुभूति उपमेय और उपमानके बीच सादृश्यको याथातथ्य रूपमें चित्रित करती है। इसमें अतिशयोक्ति आदिकी तरह मात्र कोरी कल्पना नहीं होती। अतः कालिदास अपने काव्योंमें सर्वत्र मानवीय किंवा प्राकृतिक गुणोंकी ही अन्वेषणा करते हैं। प्रकृतिके विशेष पूजक होते हुए भी महाकवि कालिदास आदर्श मानवताके स्रष्टा हैं।

चरित्रको सदासे ही प्रधानता प्राप्त हुई है। अतः मानवके चारित्रिक गुणोंकी परिकल्पना कालिदासने अत्यन्त प्रौढता तथा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकताके साथ की है। महाकविने चरित्रके प्रत्येक पहलूपर अपना विचार प्रकट किया है। रघुवंश महाकाव्यमें उन्होंने रघुवंशियोंके गुणोका क्रमशः आख्यान किया है—आजन्मशुद्धता, फलप्राप्तिपर्यन्त कार्यसंलग्नता, यथाविधि यजन, दानशीलता, अपराधकी कठोर दण्ड-व्यवस्था, त्याग, सत्यता, मृदु-भाषिता, यशके लिये विजय करना, प्रजाका पालन करना, शैशवकालमें विद्यार्जन करना, यौवनकालमें विषय-सेवन, वृद्धावस्थामें वानप्रस्थवृत्तिका परिपालन एवं योगद्वारा इस शरीरका परित्याग करना इत्यादि।[१]

भारतीय संस्कृतिकी मूल विचारधाराओंके अनुकूल एक मानवमें इससे अधिक चरित्र-निर्माणकी और क्या कल्पना हो सकती है? दिलीप एवं रघु आदिमें ये सभी गुण विद्यमान थे। इतना ही नहीं, इनके अतिरिक्त भी महाकविने रघुमें अन्य चारित्रिक गुणोंको दर्शाया है। बुद्धिके सात सूक्ष्मभेद होते हैं। वे क्रमशः इस प्रकार हैं—

> शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
> ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥

इन्हीं गुणोंसे व्यक्ति महान् होता है।

महाकवि कालिदासके अनुसार यहाँ कतिपय चारित्रिक गुणोंका उल्लेख किया जा रहा है।

संयम—संयम मानव-जीवनको देवत्वकी ओर ले जाता है। संयमी व्यक्ति संसारमें प्रतिष्ठित होता है। संयमद्वारा मृत्युपर विजयकी परिकल्पना भारतीय संस्कृतिमें प्राप्त होती है। रघुवंशियोमे कालिदासने इसी वैशिष्ट्यको दिखाया है। कालिदासका प्रत्येक प्रधान पात्र संयमी है। कविने महाराज दिलीपके जीवनमें संयमके स्थायी भावको दिखाया है—

> अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः।
> तस्य धर्मरतेरासीद् वृद्धत्वं जरसा विना॥
> (रघु० १।२२)

'विषयवासनापर सक्षम होनेके कारण राजा दिलीप, यौवनकालमें भी वृद्धके महत्त्वको प्राप्त थे।' महाकवि कालिदास कामवृत्तिसे विमुख हो भाव-

---

१–सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्। आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्॥
....रघूणामन्वयं वक्ष्ये..................॥ (रघु० १।५)

रसकी ऊर्ध्वगामिनी यात्रामें विश्वास करते हैं। काम-संतप्त होकर प्रेमके लिये पैर उठानेको वे तुच्छ एवं गर्हित समझते हैं। उनके कुमारसम्भवमें माता पार्वती शंकर भगवान्‌को धर्मभावनासे प्राप्त करना चाहती हैं। वे शिवको अकाम, योगी एवं अकिंचन जानते हुए भी तपस्यामे संलग्न दीखती हैं—

ममात्र भावैकरसं मनः स्थिरं
न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते।
(कुमा० ५। ८२)

मनुष्य अपने जीवनमें पारमार्थिक यत्नकी प्रेरणा, अवधारणा आदिसे संतुष्ट एवं सुखी रहता है।

त्याग—मनुष्यमें त्यागकी भावना, लोकोपकारिता एवं साहाय्यकी इच्छा होनी चाहिये। दीन-हीन-संतप्त जनोंकी हित-कामनामें संलग्न मनुष्य ही मानवताका सबसे बड़ा आदर्श प्रमाण होता है। महाराज दिलीप अपने राज्यमें प्रजासे जितना कर ग्रहण करते थे, उससे अधिक वे उन्हें प्रदान भी करते थे। यह त्यागकी ही भावना है। स्वयंके लिये संग्रहकी प्रवृत्ति मनमें उत्पन्न होनेसे मनुष्य त्याग नहीं कर सकता। अतः राजा दिलीप या दुष्यन्त प्रजा-हितमें ही संलग्न रहना अपने जीवनकी चरम-परिणति मानते हैं; यथा—

प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः॥
(रघु० १। १८)

× × ×

स्वसुखनिरभिलापः खिद्यसे लोकहेतोः
प्रतिदिनमथवा ते वृत्तिरेवंविधैव।
अनुभवति हि मूर्ध्ना पादपस्तीव्रमुष्णं
शमयति परितापं छायया संश्रितानाम्॥
(शा० ५। ७)

अन्तर्बाह्यशुद्धता—मनुष्यको सरल स्वभावका होना चाहिये। अन्तर्बाह्य चेतना एवं कायामें पवित्रताकी मन्दाकिनी अजस्र प्रवाहित होती रहनी चाहिये। मानसकी शुद्धतापर महाकविने सर्वत्र कलम दौड़ायी है। माँ सीता परित्याग-दुःखसे दुःखित होकर भगवती वसुंधरासे प्रार्थना करती हैं—'यदि मैंने वाक्, मन एवं कर्मसे पतिके विपरीत आचरण न किया हो तो विश्वम्भरे! फटो, आज तुम्हारी बेटी तुम्हारी गोदमें सदाके लिये प्रविष्ट हो जाना चाहती है।'

वाङ्मनःकर्मभिः पत्यौ व्यभिचारो यथा न मे।
तथा विश्वम्भरे देवि मामन्तर्धातुमर्हसि॥
(रघु० १५। ८१)

हुआ भी यही—उस विशुद्धात्मा सतीके करुण क्रन्दनसे धरित्रीकी छाती फट गयी—

सा सीतामङ्कमारोप्य भर्तृप्रणिहितेक्षणाम्।
मा मेति व्याहरत्येव तस्मिन् पातालमभ्यगात्॥
(१५। ८४)

राजा दुष्यन्त कण्वाश्रममें प्रविष्ट हो शकुन्तलाको देखते हैं और प्रथम दर्शनमें ही उसके प्रति अनुरक्त हो जाते हैं। अपनी अनुरक्तिका कारण सोचते हुए वे कहते हैं—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥

'मेरे आर्य मनमें अग्राह्य कन्याके प्रति अनुराग उत्पन्न हो ही नहीं सकता।' ऐसा आत्मविश्वास उसी व्यक्तिको हो सकता है जिसकी चित्तवृत्ति अत्यन्त सात्त्विकी, स्वच्छ एवं संशयविमुक्त हो।

सेवाभावना—अपनेसे श्रेष्ठ व्यक्ति या अशक्यके प्रति मानवके मनमें सहज सेवा-भाव होना चाहिये। सेवाकी जितनी दिव्य निदर्शना महाकवि कालिदासके रघुवंशमें प्राप्त होती है, सम्भवतया वैसी उत्कृष्ट कल्पना

विश्वके किसी भी साहित्यमें विरले ही समुपलब्ध होगी। महाराज दिलीप गो-सेवामें निरत हैं। जब नन्दिनी चलती है तब वे भी चलते हैं, जब वह खाती है तब वे भी भोजन करते हैं, जब वह आराम करती है तब वे आराम करते हैं, ठीक उसी तरह जिस तरहसे छाया अपने आश्रयका अनुकरण करती है।* नन्दिनीके सिंहसे आक्रान्त हो जानेपर राजा दिलीप अपने प्राणोंका भी उत्सर्ग करनेके लिये तैयार हो जाते हैं। वे सिंहसे अपने शरीरका भक्षण कराकर बदलेमें गायको छोड़नेके लिये कहते हैं—

सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण
न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः।
न पारणा स्याद् विहता तवैवं
भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः॥
(रघु० २। ५५)

शुश्रूषा मानवका नैतिक कर्त्तव्य है। शाकुन्तल-नाटकमे महाकविने कण्वके मुखसे शकुन्तलाको शुश्रूषाका दिव्य मन्त्र दिया है। मानव-जीवनकी सफलता अपने चतुर्दिक् प्रेम उत्पन्न करनेमें ही है। प्रेम सेवासे पुष्ट होता है। अतः महाकविने कण्वके मुखसे शकुन्तलाको संदेश दिलाया है—

शुश्रूषस्व गुरुन् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः॥
(शा० ४। १८)

नारी-शरीर भोगेप्सु-लोकका आधारमात्र ही नहीं है। महाकविने नारीके कार्यगौरवका उल्लेख करते हुए उसके चरित्रको अतिविस्तृत दिखलाया है। रूपाश्रयी रुझाने भी उनमे अवश्य हैं, लेकिन उस प्रचण्ड काम-प्रवाहमे वे बहते नहीं हैं। वहाँ भी उन्हें नारीके अनेक विशुद्ध स्वरूप दिखायी पड़ते हैं। अतः उनका अज इन्दुमतीके पार्थिव शरीरके लिये नहीं, अपितु उसके आन्तरिक सौन्दर्य, शील, लज्जा, सहयोग आदिके दारुण विप्रयोगसे दुःखित हो चीत्कार कर उठता है।

गृहिणी सचिवः सखा मिथः
प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना
हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥
(रघु० ८। ६७)

निरभिमानिता—क्षुद्र अहंकारसे प्रेरित किया हुआ सभी अनुष्ठान तामसी माना जाता है। तामसी दानसे सात्त्विक ग्रहण उत्तम होता है। महाकविके प्रत्येक प्रधान पात्रमें निरभिमानिता और निरभिलाषिता झलकती है। द्वारपर आये हुए अतिथिका स्वतः दौड़कर स्वागत करना रघुवंशी राजाओंको कुलक्रमसे प्राप्त है। वे अतिथि-को देवता मानते हैं, अतः उनकी पूजा करते हैं। कौत्स और रघुका प्रथम मिलन और सत्कार कितना श्लाघ्य और अनुकरणीय लगता है—

तमर्चयित्वा विधिवद् विधिज्ञ-
स्तपोधनं मानधनाग्रयायी।
विशाम्पतिर्विष्टरभाजमारात्
कृताञ्जलिः कृत्यविदित्युवाच॥

भारतवर्ष दान देनेवाले तथा दान लेनेवाले समुचित पात्रोंका देश है। यहाँका याचक अपनी आवश्यकतासे अधिक लेना नहीं चाहता और दाता उसे अधिक देना चाहता है। आज हमारा वह पूर्व चरित्र न जाने भूतके किस अन्तरालमे सिमटकर लुप्त हो गया। आज भी हमें अपने आचरणको लोकविश्वासी बनानेकी आवश्यकता है, जैसा कि रघु और कौत्सके प्रति अयोध्याकी जनता विश्वस्त थी, यद्यपि दाता राजा है, याचक वनवासी साधारण अध्येता।†

* स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुषीमासनबन्धधीरः।
जलाभिलाषी जलमाददानां छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्॥ (रघु० २। ६)

† जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ। गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च॥
(रघु० ५। ३१)

छल-पाखण्डका वर्जन—अपने किसी भी कार्यसे किसी अन्य व्यक्तिको छलना एक अधम वृत्ति है। इस वृत्तिसे चरित्रका अधःपतन होता है। महाकवि कालिदास भारतीय संस्कृतिके संवाहक कवि हैं। उन्होंने छल-छद्म चित्तानुरक्तजनोंकी अत्यन्त तीक्ष्ण शब्दोंमें भर्त्सना की है। राजा दुष्यन्त शकुन्तलासे अपने ऐकान्तिक सम्बन्धको स्वीकार न कर उसे लाञ्छित करते हैं। इसपर शकुन्तलाका पवित्र चित्त आहत होकर विलख उठता है। वह कहती है—अनार्य! अपने हृदयके ही समान दूसरेके हृदयको समझते हो। तुम्हारी धर्मकञ्चुकयुक्त आकृति ठीक उसी तरह की है, जिस तरह तृणाच्छन्न-कूपकी प्राणघातक भयंकरता अदृष्ट होती है। एक राजाको एक साधारण नागरिक राजसभामें इस तरह तभी कह सकता है, जब उसके अन्तरमें सात्त्विक तेजकी चमचमाती अप्रतिहत दीप्ति दहकती हो। यही नहीं शार्ङ्गरव राजाको अत्यन्त तिरस्कृत भी करता है—

आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो यः
तस्य प्रमाणं वचनं जनस्य।
परातिसंधानमधीयते य-
र्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः॥
(अभि० शाकु० ५। २५)

अतः छल-छद्म, पाखण्ड-वृत्तिद्वारा दूसरेको ठगनेवाला समाजका कलंक होता है, उसे सर्वत्र पददलित और अपमानित होना पड़ता है।

महाकवि कालिदास शारीरिक सुन्दरताकी निदर्शना तो करते ही हैं, साथ-ही-साथ आभ्यन्तरिक एवं आत्मिक पेशलताका भी प्रत्याख्यान करते हैं। स्वभावशुद्धि, आत्म-शुद्धि, बुद्धि-शुद्धि आदि चारित्रिक गुणोंसे मानव देवत्वको प्राप्त ही नहीं करता अपितु उसे अतिक्रान्त कर और ऊपर उठता है। कालिदासने कतिपय स्थलोंपर महेन्द्रको स्वर्गसे धरतीपर लाकर पुरुषके बल, वीर्य एवं गुणोंके सामने अवनत कराया है। महाकवि शीलवान् व्यक्तित्वके सुन्दर पुरुषको तैयार करनेमें अनवरत संलग्न दीखते हैं। उनका नायक धीर, गम्भीर एवं संयमी होता है। यथा—

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघाविपर्ययः।
गुणा गुणानुबन्धित्वात् तस्य सप्रसवा इव॥
(रघु० १। २२)

आजके इस अर्थपैशाचिक युगमें द्रव्यके लिये मानव अनैतिक कार्य करनेके लिये उद्यत है। अपराध मनोवृत्ति बन चुकी है। ऐसी स्थितिमें अभावसे जूझता मनुष्य यदि अपने साहसिक अभियानमें सत्यताको बनाये रखता है तो वह पूज्य है, नमस्य है। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष पुरुषार्थोंका सामान्य सेवन समाजको स्थायित्व प्रदान करता है। अतः चारित्रिक शिक्षाका महत्त्व ऐसे युगमें अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।

प्रकृतिका द्वार सबके लिये खुला है। आज भी पवन सुगन्धित है, पुष्प अभिराम हैं, धरित्री सारस-हंस-मयूरसे परावृत्त है। मात्र आवश्यकता है अकुण्ठित बुद्धिकी जो सत् और असत्को विवेककी आँखोंसे देख सके, सृष्टिका आनन्द ले सके। करुणाकी स्वर्गीय अमृत-लहरीको प्रवाहितकर जन-जनका अभिषेक करनेको महाकवि तैयार बैठा है।

अभिमानका त्याग कीजिये, क्योंकि भगवान् अष्टमूर्ति भी अभिमानरहित हो संसारका भरण-पोषण करते हैं, वही हमें सन्मार्गके प्रति प्रेरित करेंगे—

अष्टाभियस्य कृत्स्नं जगदपि तनुर्भिबिभ्रतो नाभिमानः।
सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स वस्तामसी वृत्तिमीशः॥

जैनदृष्टिमें चारित्र

(लेखक—डॉ० श्रीरञ्जन सूरिदेव, एम्० ए० (प्राकृत-जैनशास्त्र, संस्कृत-हिन्दी), स्वर्णपदक-प्राप्त, पी-एच्० डी०, साहित्य-आयुर्वेद-पुराण-जैन-दर्शन-पाल्याचार्य, व्याकरणतीर्थ, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार)

चरित्र मानव-जीवनके उदात्तीकरणका सर्वसामान्य मूलमन्त्र है । इसीलिये ब्राह्मण और श्रमण सभी सम्प्रदायोंके भारतीय शास्त्रकारोंने एक स्वरसे प्रत्येक मनुष्यको प्रतिदिन अपने चरित्रपर ध्यान रखनेका आदेश दिया है—'प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः' (शार्ङ्गधर प०) । चरित्र-बल सबसे बड़ा बल माना गया है । भगवान् महावीरने तो 'चारित्र'को मोक्षमार्गके प्रधान अङ्गके रूपमें स्वीकृत किया है । ज्ञातव्य है कि जैनाचार्योंने प्रायः 'चरित्र'की जगह सर्वत्र 'चारित्र' शब्दका व्यवहार किया है ।

जैनियोंकी बाइबिल—आचार्य उमास्वाति (ई० प्रथम शती) रचित 'तत्त्वार्थसूत्र'का पहला ही सूत्र है—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।' अर्थात् 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही मोक्षमार्गके निर्देशक उपायभूत तत्त्व हैं । 'पञ्चाध्यायी', (श्लोक सं० ४१२–४१३)में भी कहा गया है कि 'तत्त्वार्थकी प्रतीतिके अनुसार क्रिया करना 'चरण' या 'आचरण' कहलाता है; अर्थात् मन, वचन और कायसे शुभ कर्मोंमें प्रवृत्त रहना चरण है—

'चरणं वाक्कायचेतोभिर्व्यापारः शुभकर्मसु ।'

'तत्त्वार्थसूत्र'की टीका 'सर्वार्थसिद्धि'-(१ । १ । ६ । २)में इसी चरणको चारित्र माना गया है—'चरति चर्यते अनेन चरणमात्रं वा चारित्रम् ।' अर्थात् 'जो आचरण करता है या जिसके द्वारा आचरण किया जाता है अथवा आचरण करना मात्र 'चारित्र' है ।' 'भगवती-आराधना' (८ । ४१ । ११)में कहा गया है कि 'जिससे हितको प्राप्त करते हैं और अहितका निवारण करते हैं, उसे 'चारित्र' कहते हैं' अथवा सज्जन पुरुष जिसका आचरण करते हैं, उसे ही 'चारित्र' समझना चाहिये—चरति याति येन हितप्राप्तिम् अहितनिवारणं चेति तच्चारित्रम् । चर्यते सेव्यते सज्जनैरिति वा चारित्रम् । जैनलोग प्रायः निवृत्तिमार्गी होते हैं, इसलिये वे मूलतः संसारकी कारणभूत बाह्य और अन्तरङ्ग क्रियाओंसे निवृत्त होनेको ही 'चारित्र' मानते हैं ।

व्यवहारनय (व्यापक दृष्टिकोण) तथा निश्चयनय-(आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण)के अनुसार चारित्र दो प्रकारका होता है—बाह्य और आभ्यन्तर । इन्द्रिय-संयम बाह्य चारित्र है और प्राणसंयम आभ्यन्तर चारित्र—यद्यपि विविध निवृत्तिमूलक परिणामोंकी दृष्टिसे चारित्रके अनन्त भेद होते हैं । महाव्रतों, ईर्या (परिव्रजन)*आदि पाँच समितियों, मन, वचन और काय—इन त्रिगुप्तियोंका पालन करना तथा क्षुधा, तृष्णा आदि बाईस परीषहोंको सहन करना—ये चारित्रकी भावनाएँ हैं । चारित्रमें 'सम्यक्' विशेषणका प्रयोग अज्ञानपूर्वक आचरणके निराकरणके लिये ही किया गया है । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बाद ही सम्यक्चारित्र सम्भव होता है ।

'आत्मानुशासन'-(श्लोक सं० १२०-१२१) में उल्लेख है कि साधु पुरुष पहले दीपकके समान प्रकाश-प्रधान होते हैं, तदनन्तर वे सूर्यके समान ताप और प्रकाश दोनोंसे सुशोभित होते हैं । पुनः वे बुद्धिमान् साधु पुरुष मिथ्यातत्त्वके त्याग और सम्यक्तत्त्वके ग्रहणद्वारा दीपज्योतिके समान ज्ञान और चारित्रसे स्वयम्प्रकाशित होते हैं । उसके बाद वे कर्मरूप काजलको वमन (निराकृत) कर स्व और परको प्रकाशित करते हैं—

* इनकी व्याख्या इसी लेखमें आगे की गयी है ।

प्राक् प्रकाशप्रधानः स्यात् प्रदीप इव संयमी।
पश्चात्तापप्रकाशाभ्यां भास्वानिव हि भासताम्॥
भूत्वा दीपोपमो धीमान् ज्ञानचारित्रभास्वरः।
स्वमन्यं भासयत्येष प्रोद्धमत्कर्मकज्जलम्॥

पूर्वोक्त महाव्रत, समिति, गुप्ति और परीषहका पालन-रूप चारित्र शुद्धात्माकी प्राप्तिका कारण है और बाह्य-शुद्धि (शरीरशुद्धि) तथा आभ्यन्तर-शुद्धि-(मनःशुद्धि-) का सहायक कारण। 'चारित्रपाहुड'-(गाथा सं० ९)के अनुसार——जो ज्ञानी अमूढदृष्टि होकर सम्यक्त्वाचरणरूप चारित्रसे शुद्ध होते हैं, वे यदि संयमाचरणरूप चारित्रसे भी शुद्ध हो जायँ तो शीघ्र ही निर्वाण प्राप्त करते हैं। **'बृहद् नयचक्र'**-(गाथा सं० २०४)के अनुसार, सराग अवस्थामें भेदोपचाररूप जिस चारित्रका आचरण किया जाता है, उसीका वीतराग-अवस्थामें अभेद और अनुपचारसे आचरण करना चाहिये। सराग चारित्रमें बाह्य क्रियाओंका विकल्प रहता है और वीतराग-अवस्थामें उनका विकल्प नहीं रहता। सराग चारित्रमें वृत्ति बाह्य-त्यागके प्रति जाती है और वीतराग-अवस्थामें अन्तरङ्ग-त्यागके प्रति।

इससे स्पष्ट है कि जैनदृष्टिमें चरित्र केवल सदाचार या शिष्टाचारतक ही सीमित नहीं, अपितु संयमका ही पर्याय है, जो निर्वाण-प्राप्तिके कारणभूत तत्त्वोंसे जुड़ा हुआ है। यहाँ मोक्षमार्गकी प्राप्तिके कारणभूत चारित्रके सामान्य तत्त्वोंका विवरण उपन्यस्त किया जा रहा है।

महाव्रत—हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रहसे मन, वचन और कायद्वारा निवृत्त होना व्रत है। दूसरे शब्दोंमें, दोषोंको समझकर उनके त्याग या उनसे विरतिकी प्रतिज्ञा करनेके बाद पुनः उनका सेवन न करनेको व्रत कहते हैं। यही व्रत अल्पांशमें विरति होनेसे 'अणुव्रत' (गृहस्थोंके लिये) और सर्वांशमें विरति होनेसे 'महाव्रत' (साधुओंके लिये) कहलाता है।

समिति—चारित्रकी दृष्टिसे तथा व्रतोंको स्थिर करनेके लिये, चलने-फिरने, बोलने-चालने, आहार ग्रहण करने, वस्तुओंको उठाने-रखने तथा मल-मूत्रके निक्षेपण करनेमें विवेकपूर्वक सम्यक् प्रकारसे प्रवृत्त होते हुए जीवोंकी रक्षा करना 'समिति' है। दूसरे शब्दोंमें, सम्यक् प्रकारसे प्रवृत्ति या भावनाका नाम 'समिति' है। इसके पाँच भेद हैं——ईर्या-समिति, भाषा-समिति, एषणा-समिति, आदन-निक्षेपण-समिति और प्रतिष्ठापन-समिति।

अपने या दूसरेको क्लेश न हो, इस प्रकार यत्न-पूर्वक चलना-फिरना 'ईर्यासमिति' है। विचारपूर्वक सत्य और प्रिय बोलना 'भाषा-समिति' है। ध्यातव्य है कि जीव-हिंसाकी अपेक्षा सत्य भी असत्य हो जाता है और जीव-रक्षाकी अपेक्षा असत्य भी सत्य हो जाता है। जैनोंकी 'लाटीसंहिता' में कहा गया है——

सत्यं ह्यसत्यतां याति जीवहिंसानुबन्धतः।
असत्यं सत्यतां याति क्वचिज्जीवानुरक्षणात्॥

वस्तुको ढूँढ़ने, उसके उपयोगके लिये उसे उठाने और उपयोगके बाद उसे रखनेमें दोष न लगने या हिंसा (शारीरिक या मानसिक आघात) न होनेका ध्यान रखना 'एषणा-समिति' है। वस्तुको लेते और छोड़ते समय सम्यग्दृष्टिसे उसे उठाना और रखना 'आदन-निक्षेपण-समिति' है। एकान्त, जीवरहित, दूरस्थित, गोपनीयता-युक्त बिल या छेदविहीन, अभिन्दनीय तथा विरोधरहित चौड़े स्थानमे मूत्र, विष्ठा आदि देहके मलका क्षेपण करना 'प्रतिष्ठापन-समिति' है। कुल मिलाकर, चारित्रिक उत्कर्षके लिये हिंसा, सत्य, अस्तेय (अचौर्य), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतकी रक्षा करना 'समिति' है। कहना न होगा कि आजके मानव-जीवनमें समिति-रूप चारित्रका सर्वथा अवमूल्यन हो गया है, जिससे समग्र उन्नत सामाजिक संस्कार ही पूर्णतः भ्रष्ट होता जा रहा है।

गुप्ति—आचारगत जिस व्रतके बलद्वारा संसारके कारणोंसे आत्माका गोपन या रक्षण होता है, वह 'गुप्ति' है। दूसरे शब्दोंमें, मन, वचन और काय—इन तीनोंके द्वारा मिथ्या प्रवृत्तिका निरोध ही 'गुप्ति' है। मनको अशुभ ध्यानसे बचाकर शुभ ध्यानमें लगाना 'मनोगुप्ति' है; अर्थात् सम्यक् प्रकारसे राग-द्वेष आदि कार्योंके कारणभूत योगका निरोध करना 'मनोगुप्ति' है। दूसरे प्राणियोंको जिस भाषणसे कष्ट होता है अथवा जिस भाषणमें आत्मा अशुभ कर्मोंसे आवृत होती है, वैसे भाषणसे पराङ्मुख होना 'वचनगुप्ति' है। मौनव्रत 'वचनगुप्ति' का अपर पर्याय है। कर्मबन्धके कारणभूत सभी कायिक क्रियाओंसे गुप्ति या रक्षा तथा कायगत ममताका त्याग 'कायगुप्ति' है। कुल मिलाकर मनकी एकाग्रताके साथ अशुभ कायिक चेष्टाओंका निरोध भी 'कायगुप्ति' है। राग आदि विकारोंसे रहित होकर स्वाध्यायमें प्रवृत्त होना भी 'मनोगुप्ति' है तथा दुर्वचनका त्याग या मौन धारण करना भी 'वचनगुप्ति' है।

परीषह—साधना-मार्गसे च्युत न होना तथा कर्मोंकी निर्जरा-(आत्यन्तिक क्षय-)के लिये क्षुधा, तृष्णा आदिकी पीडाओंको सहन करना 'परीषह' है। दूसरे शब्दोंमें क्षुधा, तृष्णा आदिकी वेदना होनेपर कर्मोंकी निर्जराके लिये उसे सहन करना 'परीषह' है। 'परीषह' मुख्यतया बाईस प्रकारका है—क्षुधा, तृष्णा, शैत्य, उष्णता, दंश-मशक, नग्नता, अरति, स्त्री-कामना, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध (हिंसा), याचना, अलाभ, रोग तृष्णस्पर्श (तृणदंश), मल, सत्कार-पुरस्कार-कामना, ज्ञानावरणके सद्भावमें प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन (अशुभ दर्शन)। इन परीषहोंको सहन करनेवाले मोक्षमार्गके पथिकोंका अपने मार्गसे स्खलन या च्युति नहीं होती।

लोकरूढिकी दृष्टिसे शुभोपयोग ही चारित्रका पर्याय है। 'व्रतविधानसंग्रह'-(पृ० ५९)में बताया गया है कि चारित्रशुद्धिके लिये मनुष्यको चाहिये कि वह—'**ओं ह्रीं अ सि आ उ सा चारित्र शुद्धिव्रतेभ्यो नमः**' इस मन्त्रका अधिकाधिक जप करे।

जैनदृष्टिसे चारित्रमीमांसाकी सारभूत बातोंमें विशेष विचारणीय तथ्य ये हैं कि जीवनमें कौन-कौन-सी प्रवृत्तियाँ हेय हैं, इनका मूल बीज क्या है तथा हेय प्रवृत्तियोंको अङ्गीकार करनेवालोंके जीवनकी परिणति क्या होती है, हेय प्रवृत्तियोंका त्याग शक्य हो तो वह किन उपायोंसे सम्भव है, हेय प्रवृत्तियोंके स्थानपर किस प्रकारकी प्रवृत्तियाँ अङ्गीकार की जायँ और उनका जीवनमें क्या परिणाम आता है? चारित्रगत ये सब विचार जैनदर्शनकी सर्वथा अलग परिभाषा और साम्प्रदायिक पद्धतिके कारण आपाततः किसी भी अन्य दर्शनसे साम्य नहीं रखते। पर बौद्ध, सांख्य एवं योग-दर्शनके सूक्ष्म अध्येताको यह ज्ञात हो जाता है कि जैन चारित्रमीमांसाका विषय चारित्रप्रधान उक्त तीनो दर्शनोंके साथ थोडा-बहुत एवं अद्भुत रूपसे साम्य रखता है।

चरित्रशीलकी विजय

क्षान्तेन्द्रियेण दान्तेन शुचिनाचापलेन वै। अदुर्बलेन धीरेण नोत्तरोत्तरवादिना ॥
अलुब्धेनानृशंसेन ऋजुना ब्रह्मवादिना। चारित्रतत्परेणैव सर्वभूतहितात्मना ॥
अरयः षड् विजेतव्या नित्यं स्वं देहमाश्रिताः। मानक्रोधौ च लोभश्च मानमोहौ मदस्तथा ॥

'चरित्र निर्माताको चाहिये कि संयतेन्द्रिय, मनोनिग्रही, पवित्र, चञ्चलतारहित, सबल, धैर्यशील, निरन्तर वाद-विवाद न करनेवाला, लोभहीन, दयालु, ब्रह्मवादी, सदाचार-परायण और सर्वभूतहितैषी बनकर सदा अपने ही शरीरमें रहनेवाले काम, क्रोध, लोभ, मान, मोह और मद—इन छः शत्रुओंको अवश्य जीते।'

(महाभारत)

जैन-आगमोंमें चरित्र-निर्माणके सूत्र

(लेखक—मुनि श्रीसुमेरमलजी)

चरित्र शब्द व्यक्तित्वकी आन्तरिक बनावटके अर्थमें प्रयुक्त होता है। जिससे व्यक्तित्वका निर्माण हो, उसे चरित्र कहा जाता है। चरित्रकी भित्तिपर ही अध्यात्मका भव्य भवन खड़ा किया जा सकता है। चरित्रहीन व्यक्ति अध्यात्मका रसास्वादन कभी नहीं कर सकता।

जैन-आगमोंमें चरित्र-सम्बन्धी सूत्र व्यापकरूपमें प्राप्त होते हैं। सभी धर्म चरित्रप्रधान हैं। एक दृष्टिसे धर्म ही चरित्र है और चरित्र धर्म है। धर्मकी व्याख्या करते हुए जैन आचार्योंने कहा है—'आत्मशुद्धिसाधनं धर्मः'—जिससे आत्माकी शुद्धि होती हो, परम तत्त्वकी अनुभूति होती हो, उसे धर्म कहा जाता है। चरित्रको भी आन्तरिक व्यक्तित्वके निर्माणमें साधनभूत तत्त्व कहा जाता है। नाम-भेदके सिवा परिणाम प्रायः दोनोंके समान हैं।

चरित्रका व्यावहारिक जीवनपर भी व्यापक प्रभाव पड़ता है। 'चरित्र' शब्द धर्म और नीतिके क्षेत्रमें प्रयुक्त होता रहा है। नैतिकताका तात्पर्य आज सच्चे-रूपसे चरित्र ही हो रहा है।

जैन आगम-ग्रन्थोंमें चरित्र-विषयक वचन बहुतेरे हैं। प्रायः ऐसे ही वचनोंपर विचार प्रस्तुत करना ही इस निबन्धका विषय है। 'उत्तराध्ययन' सूत्रके बीसवें अध्ययनमें आया है कि अहिंसा—विचार, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—इन पाँचोंका अनुशीलन जीवनके लिये जरूरी है। इन्हें यम-नियम कहें या महाव्रत कहें—ये व्यक्तित्व-निर्माणके सहायक सूत्र हैं। जैन-आगमोंमें अहिंसाको 'जगत्‌हितकारिणी' और सत्यको 'भगवान्' बतलाया गया है। 'उपासकदशाङ्ग' तथा आवश्यक सूत्रोंमें गृहस्थ-जीवनमें धर्म करनेवाले व्यक्तिका चरित्र कैसा होना चाहिये—इसका विशद विवेचन शास्त्रकारोंने किया है। चरित्रको लेकर अधिक नियम और उसके अतिचार भी बतलाये हैं। भगवान् महावीरका कथन था कि गृहस्थ-जीवन चरित्रयुक्त होनेसे ही धार्मिक बनाया जा सकता है। चरित्रके लिये क्षमा, सत्य, संतोष, शील, करुणा, प्रेम, सौहार्द आदि गुणोंकी अनिवार्यता है। इन गुणोंके आत्मावधानका ही नाम चरित्र है। इन अहिंसा आदि पाँच अणुव्रतोंके अनुशीलनसे सद्‌गुणोंको अपने भीतर जगाया जा सकता है।

भगवान् महावीरने गृहस्थ-जीवनमें रहनेवाले लोगोंके लिये कुछ अतिचार भी बतलाये हैं, अर्थात् जिन्हें करनेसे गृहस्थके धर्मच्युत होनेकी सम्भावना बन जाती है। ये अतिचार गृहस्थके लिये अनाचरणीय हैं। इनसे धार्मिक जीवन धूमिल हो जाता है, व्यक्तिका चरित्रबल टूटने लगता है। ये अतिचार इस प्रकार हैं।

क्रूरतासे सम्बन्धित अकरणीय अनाचार—

१—अपने आश्रित प्राणियोंका—नौकर-चाकर अथवा पशुओंका—क्रोध या लोभके वशीभूत होकर भोजन या पानी बन्द कर देना।

२—किसी भी प्राणीपर क्रोध या लोभके वशीभूत होकर लाठी अथवा शस्त्र आदिसे कठोर प्रहार करना।

३—किसी भी प्राणीका क्रोध या लोभके वशीभूत होकर अङ्गछेद करना या दाग देना अर्थात् तप्त लौह-शलाकासे शरीरको दागना।

४—किसी भी प्राणीको लोभ या क्रोधके वशीभूत होकर कठोर बन्धनसे बाँधना।

५—किसी भी प्राणीपर क्रोध या लोभके वशीभूत होकर उसकी क्षमतासे अधिक भार लादना।

असत्यसे सम्बन्धित अकरणीय अतिचार—

१—बिना विचारे किसीपर मिथ्यारोप (कलङ्क) लगाना।

२—किसीकी गुप्त बातको प्रकट करना ।

३—पति-पत्नीमें भेद डालनेके लिये एक-दूसरेकी गुप्त बात एक-दूसरेसे कहना ।

४—एक-दूसरेको लड़ानेके लिये मिथ्या उपदेश देना ।

५—झूठा लेख—सौ रुपये देकर हजार लिख लेना अथवा मिथ्या साक्षी देना ।

अस्तेय कर्मसे सम्बन्धित अकरणीय अतिचार—

१—चुराई हुई वस्तुको खरीदना ।

२—चोरको चोरी करनेमें सहयोग देना । चोरको चोरीके लिये मन्त्रणा देना, उसे आवश्यक सामग्री देना अथवा चोरको प्रश्रय देना ।

३—राज्यके नियमोंके विरुद्ध कार्य करना, राज्य-निषिद्ध वस्तुओंका आयात-निर्यात करना ।

४—कम तौल-माप करना ।

५—वस्तुओंमें मिलावट करके बेचना ।

ब्रह्मचर्यसे सम्बद्ध अकरणीय अतिचार—

१—परस्त्रीके साथ एक कमरे-(कक्ष-)में शयन करना ।

२—पर-स्त्रीके साथ एकान्तमें आलाप-संलाप करना ।

३—स्त्रियोंके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंको चेष्टापूर्वक देखना ।

४—वासनावर्धक आहार करना ।

५—भुक्त भोगोंका बार-बार स्मरण करना ।

परिग्रहसे सम्बद्ध अकरणीय अतिचार—

१—धन-धान्य-संग्रहकी निर्धारित सीमाका अतिक्रमण करना ।

२—क्षेत्र, मकान, दुकान आदिकी निर्धारित सीमाका अतिक्रमण करना ।

३—गृहोपयोगी वस्तुओंकी निर्धारित सीमाका अतिक्रमण करना ।

४—नौकर-चाकर तथा पशुओंके बारेमें बनायी गयी मर्यादाओंका उल्लङ्घन करना ।

५—सुवर्ण, चाँदी आदिके संग्रह निर्धारित सीमाका अतिक्रमण करना ।

इनके अतिरिक्त प्राचीन धर्मग्रन्थोंमें चरित्रकी रक्षाके लिये सात दुर्व्यसनोंका त्याग करना अनिवार्य बतलाया है । ये सात दुर्व्यसन इस प्रकार हैं—

> **द्यूतं च मांसं मदिरा च वेश्या**
> **मृगयार्थचौर्ये परदारसेवा ।**
> **एतानि सप्त व्यसनानि लोके**
> **घोरातिघोरं नरकं नयन्ति ॥**

अर्थात्—१—जुआ, २—मांस, ३—शराब, ४—वेश्या-गमन, ५—शिकारखेलना, ६—चोरी, ७—परस्त्री-गमन—ये लोकमें सात व्यसन हैं । इन सबसे घोरातिघोर नरक प्राप्त होता है । परंतु जो इनसे बच कर रहता है, वह चरित्रका अनुशीलन कर अध्यात्मका विकास करता है । मानवीय दुर्बलताओंपर विजय प्राप्त कर चरित्रशील बना व्यक्ति ही समाज और राष्ट्रके लिये उपयोगी हो सकता है । अतः मानवीय दुर्बलताओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये सतर्कतासहित साधनाकी नितान्त अपेक्षा है । तभी चरित्रका निर्माण सौष्ठव और सरलतासे सम्भव है ।

चरित्रशील सुपुत्र

> पुत्र सुपुत्र वही जो करता, नित्य पिता-माताका मान ।
> तन-मन-धनसे सेवा करता, सहज सदा करता सुख-दान ॥
> भगवद्भक्त, जितेन्द्रिय, त्यागी, कुशल, शान्त, सज्जन, धीमान् ।
> जाति-कुटुम्ब-स्वजन-जन-सेवक, ऋत-मित हित-वादी, विद्वान् ॥
> धर्मशील, तपनिष्ठ, मनस्वी, मितव्ययी, दाता, धृतिमान् ।
> पुत्र वही होता कुल-तारक, फैलाता कुल-कीर्ति महान् ॥

चरित्रकी परिभाषा

(लेखक—श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा)

चरित्रकी परिभाषा करते समय मुझे फ्रांसके प्रसिद्ध संत बर्नर्ड (ई० सन् १०९१–११५३)की वह उक्ति स्मरण हो आती है, जिसमें उन्होंने कहा था—'दूसरोंके चरित्रका चित्रण करनेवाला व्यक्ति अपने ही चरित्रका चित्रण करता है।' निश्चयतः इसका अर्थ यही हुआ कि हम अपने चरित्रसे दूसरेका चरित्र आँकते हैं। पर यह कितनी बड़ी भूल है। अपने जीवनमे, जबतक सौभाग्यसे किसी साधु-संतकी छाया या छाप न पड जाय, तबतक हम अपने चरित्रसे बुरी तरह जकड़े हुए हैं। पहाड़ अपनी जगहसे भले हट जाय, पर व्यक्तिका चरित्र बदलना बड़ा कठिन है।

'चरित्र' क्या है ? 'चरित्र' वैदिक शब्द नहीं है। इसका सूचक प्राचीन शब्द 'आचार' ही है। इस पुँल्लिङ्गीय शब्दका प्राचीन प्रयोग सद्व्यवहार या व्यवहारके अर्थमें होता था। याज्ञवल्क्य, मनु, व्यास आदिने इसका इसी अर्थमें प्रयोग किया है। बौद्धोंने 'आचार'का अर्थ किया है—'गुरुद्वारा प्राप्त उपदेशसे सहमत होना।'

ऐसे तो आचार शब्द (आङ्+चर्+घञ्)का अर्थ है 'व्यवहार, चरित्र, शील, विचार इत्यादि। कालिदासने रघुवंशमे (२ । १०) इसका प्रयोग किया है—**'आचारलाजैरिव पौरकन्याः'**। 'व्यवहार-तत्त्व'में प्रयोग है—**'आचारेणावसन्नोऽपि'**। हाँ, कथासरित्सागर-में चरित्र शब्दका प्रयोग मिलता है—

'अचिन्त्यं शीलगुप्तानां चरित्रं कुलयोषिताम्।'

इस प्रकार चरित्र और आचार एक ही हैं। आचारका भारतीय धर्मशास्त्रोंमें बडा महत्त्व है। मनुस्मृति-(१ । १०९) के अनुसार आत्मानुभूति-जन्य वस्तु आचार है, जिसका पालन करना चाहिये। आचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति है—**'आचारप्रभवो धर्मः'**। एक पक्ष कहता है कि श्रुति और स्मृतिके बाद आचारका जीवनमे तीसरा स्थान है। दूसरा पक्ष कहता है कि लोकसंग्रहमें आचारका प्रथम स्थान है, द्वितीय व्यवहारका और तृतीय प्रायश्चित्तका। याज्ञवल्क्यने अपनी स्मृतिके इसी प्रकारसे तीन विभाग बनाये हैं।

याज्ञवल्क्यके अनुसार मानव-जीवनकी कार्यप्रणाली आचारमें भी प्रथम स्थानका संस्कार है। फिर वेदपाठी ब्रह्मचारियोंके चरित्रके नियम, पठन-पाठन समाप्त होनेपर विवाह तथा पति-पत्नीके कर्तव्य, चारों वर्णोंके कर्तव्य, गृहपतिके कर्तव्य, विद्यार्थी-जीवनके समाप्तिके बाद कुछ पालनीय नियम, उचित पवित्र भोजन करना तथा निषिद्ध भोजन न करना, वस्तुओंकी धार्मिक पवित्रता, श्राद्ध, गणपतिपूजन, ग्रहोंकी शान्ति कैसे की जाय तथा राजाके कर्तव्य ये उसके बारह आचार प्रकरण हैं। यदि हम अपनेको चरित्रवाला कहते हैं तो अपने भीतर पैठकर सोचें कि हम इनमेंसे कितना पालन करते हैं। हाँ, जो लोग प्राचीन शास्त्रकारोको मूर्ख समझते हैं, श्राद्ध आदिको पागलपन समझते है, गुरुजनोंका आदर एक ढकोसला समझते है, उनके लिये ये पङ्क्तियाँ व्यर्थ हैं।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि धर्माचार्योंके अनुसार श्रुति, स्मृति तथा आचार—ये चरित्रकी तीन श्रेणियाँ हैं। श्रुति तो वेद हुए। इनकी जानकारी बिना जीवन निरर्थक है। स्मृतिके अनुसार आचारके तीन अङ्ग हैं—१–देशाचार, २–जात्याचार और ३–कुलाचार। प्रत्येक मानव इनसे बँधा है। हरेक देशकी अपनी जातिगत आचारशीलता भी होती हैं; जैसे ऐस्किमो जाति (उत्तरी साइबेरियाके निवासी) के एक वर्गमे—घरमे जो बूढ़ा अशक्त हो जाता है, उसे घरसे निकाल देते हैं। पड़ोसी भी नहीं पूछता और भूख-प्याससे पुरुष-स्त्री मर जाते हैं। आज जो घरसे निकाल रहे हैं, कल उनकी भी यही दशा होगी। भारतमे वृद्धजनोंकी सेवा पावन कर्तव्य

है। तीसरा है—कुलाचार। अपने कुलमें जो आचार चला आया हो, उसका पालन करना। इस प्रकार आचारका अर्थ व्यवहार हुआ। इनका पालन न करना चरित्रसे गिर जाना कहा जायगा।

आचारके कुछ मौलिक नियम है, जो सभी धर्मोंमे व्याप्त है। हिंदू-धर्मने स्पष्ट कुछ मौलिक तत्त्व कह दिये; जैसे—

'अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः'

अहिंसा-व्रत, सत्यका पालन, किसीका माल न हड़प लेना, पवित्रतासे रहना तथा अपनी इन्द्रियोको वशमें रखना इत्यादि। बौद्धोने भी **'सत्यं वद, धर्मं चर'** आदि कहा है। जैन धर्मने भी आचरणके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित किये है। उन्हे लोक-व्यवहारके रूपमे कहा है—'जैसे क्रोधसे प्रीति नष्ट होती है। अभिमानसे विनयशीलता जाती रहती है। मायामे पड़ा तो मित्रता नष्ट हुई और लोभ सब कुछ नष्ट कर देता है।'

आचार हो या चरित्र, इनके साथ विशेषण नही होता। आचार, चरित्र स्वयं विशेषण है। अंग्रेजीमे चरित्रवान् पुरुषके लिये कहते हैं, 'ही इज ए मैन ऑव करेक्टर।' जिसका चरित्र गिर जाता है, उसे प्रकट करनेके लिये 'दुश्चरित्र' शब्द बना लिया गया है। अंग्रेजीमे इसका पर्यायवाची एक शब्द भी नहीं है। बुराके लिये 'बैड' शब्द जोड दते हैं। आचार या चरित्रके साथ 'सदाचार' या 'सच्चरित्र' लगानेकी आवश्यकता ही नही है।

धर्म-सदाचार और चरित्र—'धर्म'की पहली परिभाषा जैमिनिके सूत्रमें मिलती है। उसकी व्याख्या कुमारिल भट्टने तन्त्रवार्तिकमे की है। 'सदाचार' शब्दका प्रयोग याज्ञवल्क्यस्मृतिमें है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥
(१।७)

'तन्त्रवार्तिक'मे इसका स्पष्ट अर्थ समझाया गया है। श्रुतिके विरुद्ध काम न करना, उनके अनुसार काम करना, धर्मको समझना तथा इनका पालन किसी कामनासे नहीं, फलकी आकाङ्क्षासे नहीं, पर अपना कर्त्तव्य समझकर करना, स्वेच्छासे पालन करना—इस प्रकार आचारका पालन करनेवाला शिष्ट कहलायेगा। परम्परागत आचार (देशाचार, जात्याचार जो भी हो) पालन करनेवालेके लिये कुमारिल भट्टकी सम्मति है—

'यत् परम्पराप्राप्तमन्यदपि धर्मबुद्ध्या कुर्वन्ति तदपि स्वर्ग्यत्वाद्धर्मरूपमेव।' (तन्त्रवार्तिक)

धर्मके अतिरिक्त 'परम्परागत (पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे) प्राप्त प्रथाओका शिष्टोद्वारा इस बुद्धिसे पालन किया जाना कि वे धर्मके अङ्ग हैं, वास्तवमे धर्म है, समर्थित है। इससे स्वर्गकी प्राप्ति होती है।'

सदाचारको धर्मसूत्रोके अनुसार शील, समयाचारिक तथा शिष्टाचार भी कहा गया है। शिष्टाचारका पालन करनेवाला शिष्ट हुआ। आजकल हमलोग शिष्टाचारको केवल व्यावहारिक विनम्रता मानते हैं। समयाचारिकताकी परिभाषा 'आपस्तम्ब-धर्मसूत्र'में निर्दिष्ट है। यहॉ हरदत्तके (१।१।१) अनुसार—पौरुषेयी व्यवस्थाको 'समय' कहते हैं। इसके तीन प्रकार है। वे हैं—(१) विधि, (२) नियम तथा (३) प्रतिषेध। इन तीन प्रकारके आचारोका पालन 'समय' होता है, इसलिये समयमे उत्पन्न होनेके कारण वे 'सामयाचारिक' कहलाते हैं। अर्थात् इस प्रकारके उत्पन्न हुए धर्म-कर्मसे उत्पन्न अभ्युदय-निःश्रेयसका कारण अपूर्व नामक आत्माका गुण धर्म है।'

'पौरुषेयी व्यवस्था समयः। स च त्रिविधः। विधिर्नियमः प्रतिषेध इति। समयमूला आचाराः समयाचाराः। तेषु भवाः सामयाचारिकाः। एवं भूतान् धर्मानिति कर्मजन्योऽभ्युदयनिःश्रेयसहेतुरपूर्वाख्य आत्मगुणो धर्मः।'

किंतु देशाचार, जात्याचार तथा कुलाचार—ये देश, काल तथा जातिके अनुसार भिन्न हो सकते हैं। नव

यदि वे स्मृति और शास्त्रके विरुद्ध हों, तब भी उनका पालन करना चाहिये। इस सम्बन्धमें स्मृतिकारोंमें मतभेद है। एक पक्षका कहना है कि चिरकालसे चला आनेवाला और अधिकांशको मान्य आचारका पालन धर्म-विरुद्ध नहीं समझना चाहिये। पर आचार्य बृहस्पतिका मत है कि ऐसे आचारके पालनमें लोग प्रायश्चित्त या दण्डके भागी नहीं होते—'अनेन कर्मणा नैते प्रायश्चित्त-दण्डार्हकाः'

मनुने आचार तथा शीलमें भेद किया है। शील नैतिक गुण है। शीलवान् वह है, जिसमें नैतिक गुण हो। हमलोग शीलवान् शब्दका प्रयोग केवल विनम्र पुरुषके लिये करते हैं। मनु आदिकी परिभाषाके अनुसार विद्याप्रेम, देशभक्ति, पितृभक्ति आदि नैतिक गुण हैं। जो इनका पालन करता हो, वह शीलवान् है, शीलयुक्त है। अब रहा आचार। वह परम्परागत होता है। आचार भारतीय-परम्परामें सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि हैं। इनका पालन न करना आचार या चारित्रहीनता होगी। आचारवाला शिष्ट ही शिष्टाचारी हुआ। शिष्टकी व्याख्या 'वसिष्ठधर्मसूत्र'में की गयी है। उसके अनुसार स्वार्थ-युक्त कामनाओंसे रहित व्यक्ति ही शिष्ट है—'शिष्टः पुनरकामात्मा।'

आचार धर्मका अङ्ग है, वह निर्विवाद है। हमारे धर्मके मूलमें वेद है। गौतम-धर्मसूत्रमें स्पष्ट कहा गया है कि-

'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'। (१।१)

किंतु धर्म क्या है, यह प्रश्न भी उचित है। मनु तथा याज्ञवल्क्यने बतलाया है कि 'श्रुति, स्मृति, सदाचार और आत्माको प्रिय, यह चार प्रकारका साक्षात् धर्मका लक्षण कहा गया है'—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥
(मनु० २।६, याज्ञव० १।७)

शङ्का होगी कि अपनेको, अपनी आत्माको प्रिय लगनेवाली बात यदि आचार है तो हत्या करना या चोरी करना जिसे प्रिय हो, वह सदाचारी है। पर शुद्धात्माको हत्या या चोरी प्रिय नहीं हो सकती। उसे कुकर्म अच्छा लगे, वह आत्मतत्त्वको न जाननेवाला ही कहेगा। आत्माको अनुचित वस्तु प्रिय हो नहीं सकती। एक भक्त कहता है—

देहबुद्ध्या तु दासोऽस्मि जीवबुद्ध्या त्वदंशकः।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥

अर्थात्—'शरीरकी दृष्टिसे प्रभो! मैं आपका दास हूँ। जीवकी दृष्टिसे अंश हूँ। आत्माके बोधमें मैं आपमें समा गया हूँ—आत्मा-परमात्मा एक है यही मेरा निश्चित मत है।' इसलिये यदि बुरी वस्तु अपनेको प्रिय है, तो वह केवल मनोविकार है। आत्माको प्रिय नहीं है। प्रश्न हो सकता है कि 'परम्परागत' आचार क्या होगा? मनुने इस 'सदाचार'की व्याख्या कर दी है। उनके अनुसार 'देवनदी सरस्वती और दृषद्वतीके बीचमें जो भूमि-भाग है, वह देवताओंसे बनाया गया ब्रह्मावर्त कहलाता है। इस देशके अन्तरालमें जो चारों वर्णोंके लोगोंका आचार है, वही सदाचार है'—

सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तद्देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥
तस्मिन् देशे य आचारः पारम्पर्यक्रमागतः।
वर्णानां सान्तरालानां सदाचारः स उच्यते॥

चरित्रका निर्णय—ब्रह्मावर्तके रहनेवालोंका चरित्र तथा रहन-सहनका पूरा ब्यौरा हमें इतिहास-पुराणों तथा स्मृतियोंमें मिलता है। भागवत, पद्मपुराण आदिने सदाचारकी व्याख्या कर दी है। फिर जहाँ शङ्का हो वहाँ युधिष्ठिरका यक्षको दिया गया उत्तर याद रखना चाहिये। यक्षने पूछा था कि धर्मका तत्त्व क्या है? युधिष्ठिरने कहा था कि 'धर्मका तत्त्व बड़ा गूढ़ है। महापुरुष जिस मार्गसे चले वही पथ है।' यह भी ध्यान रखना होगा कि महापुरुष या साधु-संत संसारके मोहबन्धन आदिसे बहुत ऊपर उठ गये हैं। उनके लिये नित्य-

नैमित्तिक कर्मका बन्धन नहीं होता। उन्होने जो कहा है, वह करो। गौतमने अपने धर्मसूत्रमे स्पष्ट किया है कि साधु-संतके कार्योका अनुकरण न करो। अस्तु।

जब चरित्रकी परिभाषा उलझती मालूम पडे तो साधु-सतो तथा विद्वानोकी बाते सुनकर अपना चरित्र उसी ढगसे चलाना ही हमारे कल्याणके लिये आवश्यक है। तैत्तिरीय उपनिषद्का वाक्य है—**'अथ ते यदि कर्म-विचिकित्सा''स्यात्। ते तत्र ब्राह्मणाः सम्मर्शिनः'' अलूक्षाः स्युः। यथा ते तत्र वर्तेरन्, तथा तत्र वर्तेथाः।'** (१।११)

कबीरके अनुसार दूसरेकी पीडाको जाननेवाले, उसे हरनेका प्रयास करनेवाले असली साधु हैं और इसके विपरीतवाले विधर्मी—

कबिरा सोई पीर है, जो जाने पर पीर।
जो पर पीर न जानई, सो काफिर बे पीर॥

तीर्थंकर महावीरने कहा था कि जीवोंकी रक्षा करना ही धर्म है—**'जीवणां रक्खणं धम्मो'**। एक महावाक्य है कि साधु वह है, जो दूसरेकी सम्पत्ति या वैभवको देखकर प्रसन्न हो तथा दुष्ट वह है, जो दूसरोकी विपत्ति देखकर प्रसन्न हो—

'साधवः परसम्पत्तौ खलाः परविपत्तिषु।'

जोशिया लिटल पिकार्ड नामक एक अमेरिकन शिक्षकने (जन्म १८२४) लिखा था कि 'यह बडी घातक भूल होगी कि यदि हम यह सोचे कि बिना धार्मिकताके चरित्र बन सकता है। चरित्र-निर्माणके लिये अनिवार्य तत्त्व है—धर्म, नैतिकता तथा ज्ञान। पिकार्डके ही समकालीन थे—अमेरिकन अग्रेजी अध्यापक आस्टिन फेल्प्स। उन्होंने लिखा है कि ईश्वरने मानवकी रचना इसलिये की कि वह महान् चरित्रवान् बने। प्रसिद्ध लेखक एमर्सनके अनुसार चरित्र बुद्धिसे कहीं अधिक महान् है। अमेरिकन पादरी हेनरी वार्ड बीचरने (१८१३–१८८७) बडे महत्त्वकी बात कही है कि 'कोई व्यक्ति जीवनभर सफल हो सकता है, पर मरनेके समय वह बिल्कुल खोखला तथा निकम्मा होगा। एक व्यक्ति जीवनभर असफल और पराजित हो सकता है, पर मरनेके समय वह अपने अन्तरमे साम्राज्यका स्वामी होगा। मनुष्यकी सम्पत्ति, वैभव, शक्ति, उसके भवन, धन, समाजमे आदरके पदमे नहीं हैं, ये सब वास्तवमे उसके भीतर है जो उसका तात्त्विक चरित्र है, अच्छा चरित्र है। यदि उसे अच्छा धर्म-पुरुष बनना है तो वह अपने भीतर उच्चतम चरित्रका राजा बने।'

आस्टन ओ मेलीने लिखा था कि अच्छा चरित्र एक फुटबालकी तरह है। जितना ऊँचे फेको, जमीनपर गिरकर उतना ही ऊपर उछलेगा। पर लौकिक मान-मर्यादा एक अंण्डेकी तरह है। उसे जितना ऊपर फेको, जमीनपर गिरते ही उतना ही जल्दी नष्ट हो जायगा। राष्ट्रपति रूजवेल्टकी पत्नीने कहा था कि 'चरित्रका निर्माण जन्मसे शुरू होकर मृत्युतक होता रहता है।' जेफरसेन डेविसके अनुसार यदि शुरू जवानीमे ही सत्यको, सच्चाईको अपने चरित्रका आधार नहीं बना दिया गया तो मानवके चरित्रमे सदा कमजोरी रहेगी। डेविसने यह बात आजके सौ वर्ष पहले कही थी। थियोडोर उलजेने (१८०२–१८८९) लिखा है कि यह संसार धनसे नहीं, चरित्रमे शासित होता है। नैतिकता और बुद्धिमत्ता दोनो मिलकर संसारका उज्ज्वलतम चरित्र बनाते है।

पहले लिखा जा चुका है कि आचारमे परम्परागत व्यवहार भी आते है। तन्त्रवार्तिकके अनुसार एव बृहस्पति तथा नारदस्मृतिके अनुसार यदि जात्याचार अथवा लोकाचार, धर्मशास्त्रमे वर्णित आचार अथवा लोकाचारके प्रतिकूल पडे—शास्त्र-विधिसे विरोध होता हो

तो सच्चरित्रताकी ओर पहले ध्यान देना पड़ेगा। आपस्तम्बने इसे स्पष्ट कर दिया है कि धर्मशास्त्रमें सभी बातें नहीं आ सकतीं—ऐसा कुछ शास्त्रकारोंका मत है। अतएव जो आचार नहीं आ सका है, उसकी जानकारी सभी वर्णोंके स्त्री-पुरुषोंसे करनी चाहिये। कौटल्यका मत है कि जहाँ लोकाचार और धर्मशास्त्रमें भेद प्रतीत हो, वहाँ राजा 'धर्मके अनुसार' निर्णय करे। आचरणके निर्णयमें पूरा तर्क तथा बुद्धिसे काम लेना पड़ेगा, अन्यथा अनर्थ हो सकता है; जैसा अपरार्कमें माण्डव्यका उदाहरण है कि उसे अनायास चोर समझ लिया गया था।

आचार अथवा चरित्रसे गिर जानेवालेको प्रायश्चित्त करनेका विधान—गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब, वसिष्ठ आदिकी स्मृतियोंमें अथवा विष्णुपुराणमें विस्तारसे मिलता है। गौतम-धर्मसूत्र २५०० वर्ष पुराना माना जाता है। भवदेवभट्टका 'प्रायश्चित्त प्रकरण' या आधुनिक कालमें बंगालमें स्मार्त काशीनाथ तर्कालंकारका 'प्रायश्चित्त-व्यवस्था-संग्रह' (सन् १८५२ में प्रकाशित) बहुत ही महत्त्वके निबन्ध हैं। प्रायश्चित्तकी व्याख्या भी भिन्न-भिन्न है। मेधातिथि इसे रूढ़िके अनुसार नैमित्तिक कार्य मानते हैं। आङ्गिरसके अनुसार 'प्रायस्'का अर्थ तपःसाधना तथा 'चित्त'का अर्थ निश्चय होता है—

प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चयमुच्यते।
तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम्॥

सारांश यह कि चरित्रसे गिरनेवालेको निश्चय प्रायश्चित्त करना चाहिये। हम सब गृहस्थोंके लिये अपने धर्मका मूल लक्ष्य याद रखना होगा। महाभारतने धर्मको जीवनका विधान माना है। जो समाजको एक साथ रखे वह धर्म है—

'धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मो धारयते प्रजाः।'
(महा० ८। ६९। ५०)

शान्तिपर्वमें भीष्मने कहा है कि जो कार्य समाजके कल्याणके विपरीत हो और जिसे करनेमें लज्जा या ग्लानिका आभास होता हो, वह कदापि न करे। महाभारत ही यह भी कहता है कि 'सत्य, आत्मसंयम, तपश्चर्या, उदारता, अहिंसा तथा अपने धर्म-(आचरण-)में स्थिरता सफलताके (जीवनमें-) साधन हैं, न कि जाति या कुल (महा० ३। १८१। ८२)। हमारे लिये चरित्र, सदाचार, आचारके लिये यही मूल मन्त्र है और हमारे-जैसे मायामोहसे जकड़े हुए लोगोंको तो यह भी याद नहीं रहता कि मृत्यु सामने खड़ी है—

लोग बात बात में करते हैं कल की बात।
कल हो भी सकेगा यह किसी को खबर नहीं
—राय जौनपुरी

जापानके वर्तमान प्रसिद्ध कवि रासेत्सु लिखते हैं—

हितो हा चिरू तोत्सु हितो हा चिरू
काजे नो उ ए।

यानी 'एक पत्ता झरता है, एक और पत्ता झरता है हवासे। वृक्षके पत्ते एकके बाद दूसरे झड़ते चले जाते हैं। क्या इसी प्रकार काल भी एक-एक कर हर प्राणीको संसार-वृक्षसे बटोरकर नहीं ले जाता?'

अस्तु, अपने जीवनका पत्ता झरनेके पहले यदि हम इतना ही कर सके कि 'दूसरेको दुःख न दें, दुष्टके सामने झुकें नहीं, सत्यका मार्ग छोड़ें नहीं, यदि इतना थोड़ा भी कर लिया तो बहुत है।'

अकृत्वा परसंतापमगत्वा खलमन्दिरम्।
अनुत्सृज्य सतां वर्त्म यत्स्वल्पमिति तद् बहु।
(चाणक्यराज० शा० पद० ११२३)

चरित्र-लक्षण एवं परिभाषा

(लेखक—प्रो० डॉ० रेवतीरमणजी पाण्डेय, डी० फिल्०)

कुछ लोग व्यक्तिमे रहनेवाले आचरण और उसके सम्पूर्ण कुरूप या गुणसमुदायको समेटकर बोले जानेवाले व्यक्तित्वको एक समझते है, किंतु चरित्र एवं व्यक्तित्व एकार्थक नहीं हैं। दोनोमे पर्याप्त भेद है। चरित्रके अन्तर्गत मात्र ऐच्छिक क्रियाएँ एव स्वभावजन्य क्रियाएँ आती है, जबकि व्यक्तित्वके अन्तर्गत ऐच्छिक, अनैच्छिक सभी क्रियाएँ, भावनाएँ, संवेग एव सभी प्रकारकी ज्ञान-क्रियाओका समावेश हैं। व्यक्तित्वके निर्माणमे परिवेश एवं वंशानुक्रमकी महती भूमिका होती है, किंतु चरित्र स्वयमेव अपना कारण होता है। व्यक्तित्व कार्य-कारण-नियमसे बद्ध है तो चरित्र मुक्त । व्यक्तित्व मनोविज्ञानका विषय है तो चरित्र नीतिशास्त्रका। इस प्रकार चरित्र ऐच्छिक क्रियाओकी समष्टि हैं। जिन व्यक्तियोंमे स्वतन्त्रेच्छाका अभाव होता है, उनमे चरित्र नही होता, जैसे पागलोंमे । किंतु उनमे व्यक्तित्व होता है । जिन व्यक्तियोंकी इच्छाशक्ति अत्यधिक विकसित होती है, उनके प्रत्येक कर्म सुविचारित होते हैं; उनमे व्यक्तित्व न होकर चरित्र होता है; जैसे संतोंमे। हमारे यहाँ प्रसिद्ध है—'**सन्तश्चारित्र्यलक्षणाः।**' साक्षात्कार व्यक्तित्वका होता है, चरित्रका नहीं । व्यक्तित्वका श्रेणीमापन होता है[1] ।

चरित्र (Character) एवं आचरण या वृत्त (conduct)मे भी भेद है। चरित्र शब्दकी निष्पत्ति 'चर्'+'इत्र'[2]से होती है, जिसका अर्थ होता है, कर्मका प्रेरक । इसीको (will power) सकल्पशक्ति, इच्छाशक्ति भी कहते है। वृत्त शब्दकी निष्पत्ति 'वृ' धातु-क्त प्रत्ययसे होती हैं। हम इसे 'चयन' कह सकते है । वृत्त या आचरण ही ऐच्छिक कर्म (conduct) है । '**वृत्तं यत्नेन संरक्षेत्**' इसीको व्यापकरूपमे कहा गया है ।

चरित्र आचरणका आभ्यन्तर पक्ष है तो आचरण चरित्रका बाह्य पक्ष है। आचरण दो प्रकारके होते है—सदाचरण(Right Action), दुराचरण (Wrong Action) । सत्कर्मोंको करते-करते जब अभ्यास पड़ जाता है, तब उन्हे सद्गुण (Virtue) कहा जाता है। सद्गुणका कर्ता सद्गुणी कहा जाता हैं। इसी प्रकार असत्कर्मोंको करते-करते जब अभ्यास पड़ जाता है, तब उसे दुर्गुण (vice) कहते हैं। दुर्गुणोके कर्ताको दुर्गुणी कहते हैं। सदाचरण करनेवाला सदाचारी और दुराचरण करनेवाला दुराचारी कहा जाता है। सदाचारी चरित्रशील होता है।

भगवद्गीता १६ । १के अनुसार, सद्गुण निम्न हैं' इन्हे दैवी सम्पद्की संज्ञा दी गयी है—अभय, मन-शुद्धि, ज्ञान और योगमे स्थिति, दान, दया, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, ऋजुता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, निष्कपटता, प्राणियोमे दया, अस्तेय, मृदुता, लज्जा, चचलताका अभाव, तेज, क्षमा, धैर्य, शौर्य, अद्रोह, अनभिमान आदि । गीता-(१६ । ४)के अनुसार दम्भ, अतिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अज्ञान ही आसुरी सम्पद् है। आसुरी सम्पत्वाला सदाचारी नहीं होता ।

दैवी सम्पद् अथवा सद्गुणोसे मोक्षकी प्राप्ति होती है; जबकि आसुरी संपद् अथवा दुर्गुणोंसे बन्धन होता है—

'दैवी संपद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।'
(गीता १६ । ५)

१—संगमलाल पाण्डेय, नीतिशास्त्रका सर्वेक्षण, पृ० ७८ २—'अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः'से इत्र प्रत्यय होता है । —(पाणिनिसू० ३ । २ ।१८४)

यथा चतुर्भिः कनकः परीक्ष्यते
निघर्षणच्छेदनतापताडनैः ।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते
श्रुतेन शीलेन कुलेन कर्मणा ॥

चाणक्यका यह निर्णय समझौतावादी लगता है। तार्किक विश्लेषणसे आचरण अथवा वृत्त ही नैतिक निर्णयका विषय हो सकता है।

'जो शूद्र इन्द्रिय-दमन, सत्य तथा धर्ममें प्रगतिशील है, उसको मैं ब्राह्मण मानता हूँ; क्योंकि वृत्तसे ही लोग ब्राह्मण होते हैं—'

यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततो स्थितः।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये वृत्तेन हि भवेद् द्विजः॥
(महाभारत ३ । १८ । ७५)

वस्तुतः ये गुण ही शीलका निर्माण करते हैं। कुल आदिसे चरित्रका अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है।

वृत्तकी सम्यक् रक्षा करनी चाहिये। अंग्रेजोंकी कहावत प्रसिद्ध है—धन गया तो मानो कुछ नहीं गया, क्योंकि धन तो आता-जाता रहता है। हाँ, स्वास्थ्य (गिर) गया तो अवश्य कुछ चला गया, किंतु यदि चरित्र या शील नष्ट हो गया तो फिर सब कुछ चला गया—'**वृत्ततस्तु हतो हतः**।'

इसलिये धनकी अपेक्षा स्वास्थ्यकी और उससे भी बढ़कर चरित्रकी रक्षा करनी चाहिये। चारित्र्यशील व्यक्ति शालीन होता है और वह सर्वत्र विजय पाता है। चरित्र स्वयं अनुपम उपलब्धि है।

चरित्र, आचार और धर्म

(लेखक—डॉ० श्रीगोपीनाथजी तिवारी)

हिंदीमें 'चरित्र' और 'आचार' या 'आचरण' लगभग समान अर्थमें व्यवहृत होते हैं। लोग कहते हैं—उसका चरित्र अच्छा नहीं है, उसका आचार या आचरण या चरित्र भला नहीं है। अंग्रेजी शब्द कैरेक्टर (Carecter) का पर्याय चरित्र माना जाता है। कैरेक्टरके दो अर्थ हैं—चाल-चलन और पात्र या चरित्र। शेक्सपियरके 'मर्चेण्ट आफ वेनिस' नाटकमें शाइलाक एक अनाचारी चरित्र है।

चरित्रका अर्थ आचार, चाल-चलन, कथा-कहानी, जीवन-चरित्र एवं आत्म-चरित्र भी है। 'महावीरचरितम्' 'उत्तर रामचरितम्' आदिके रूपमें चरित्रका अर्थ कथा, जीवन-चरित्र या इतिहास है। चरित्रका सम्बन्ध मनुष्यके समग्र जीवन एवं व्यवहारसे होता है।

रामचरितमानस गोस्वामीजीका प्रसिद्ध काव्यग्रन्थ है, जिसमें रामके सम्पूर्ण जीवनका व्यापार है।

संस्कृत और हिंदीमें आचार या सदाचार शब्दको अधिक मान्यता प्राप्त हुई है। प्रतिदिन जीवनमें हम मनुष्यके आचारको देखते हैं, आँकते हैं और उसपर टीका-टिप्पणी करते हैं। चरित्रकी ही तरह आचार भी सदसद्-भेदसे दो प्रकारका होता है। व्यक्तिका सद्-आचार ही दूसरोंको प्रेरणा देता एवं समाज और राष्ट्रको उठानेमें सहायक सिद्ध होता है।

भारतमें सदाचारको ही धर्म माना गया है। धर्मका अर्थ मजहब, रिलीजन (Religion) या सम्प्रदाय नहीं है। मनुस्मृतिका मत है—'**आचारः परमो धर्मः**।' महाभारतका कथन है—**आचारः प्रथमो धर्मः**। वसिष्ठस्मृतिका भी उद्घोष है—'**परमाचारो हि धर्मः**।' महाभारतमें व्यासजीने धर्मका लक्षण आचार ही माना है—'**आचारलक्षणो धर्मः**'।

भगवद्गीतामें कहा गया है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(३।२)

'श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करता है वैसा ही दूसरे मनुष्य भी करते हैं। श्रेष्ठ पुरुषद्वारा किये कर्म-समुदायको प्रमाण या उदाहरण मानकर इतर जन पीछे चलते हैं।' सदाचार और दुराचारके दो उत्कृष्ट उदाहरण हैं—(१) त्रेतायुगीन राम और (२) रावण। राम धर्म या सदाचारके उदाहरण हैं तो रावण अधर्म या दुराचारका। लङ्कावाले रावणका अनुगमन करते थे। रावणके आचारको सामने रखकर जीवनरथको चला रहे थे तो अयोध्यावासी रामके सदाचारी जीवनके पीछे चल रहे थे। रामने राज्यका त्याग किया तो भरत क्यों ग्रहण करें? विष्णुपुराणमें महर्षि पराशर कहते हैं—

श्रूयतां पृथिवीपाल सदाचारस्य लक्षणम्।
सदाचारवता पुंसा जितौ लोकावुभावपि॥
(३।११।२)

साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते॥
(३।११।३)

'सदाचारमें सद् शब्द सज्जन या साधुका वाचक है। सज्जन पुरुषोंका आचरण ही सदाचार है।' सज्जन या साधु पुरुष कौन है? जो दोषों या त्रुटियोंसे बचकर चलता है। आचारके आधारपर पुरुषोंके दो वर्ग हैं—सदाचारी और कदाचारी। साहित्य, शास्त्र और धार्मिक ग्रंथोंमें सदाचारीकी प्रशंसा की गयी है और कदाचारीय दुराचारीकी निंदा। मनुस्मृतिमें कहा गया है कि 'यदि कोई पुरुष सब प्रकारके लक्षणोंसे हीन हो, किंतु श्रद्धालु हो, ईर्ष्यालु न हो और सदाचार-सम्पन्न हो तो वह श्लाघनीय है तथा वह सौ वर्षोंतक जीता है'—

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥
(मनुस्मृति ७३)

इसके साथ ही दुराचारीकी निन्दा करते हुए मनु महाराज कहते हैं कि—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥
(मनु० ४।१५७)

'दुराचारी पुरुष संसारमें निन्दनीय बनता है, वह दुःख भोगता है, सदा रोगसे घिरा रहता है तथा अल्पायु होता है।' विष्णुपुराणकारका तो यहाँतक मत है कि यह पृथ्वी सदाचारी पुरुषोंके ऊपर ही टिकी हुई है—

ये कामक्रोधलोभानां वीतरागा न गोचरे।
सदाचारस्थितास्तेषामनुभावैर्धृता मही॥
(वि० पु० ३।१२।४२)

यह बात सत्य भी है। दुराचारी पुरुषोंके कदाचार देश, समाज जातिको हानि ही पहुँचाते हैं। संसार गुण दोषमय है। अतः थोड़े-बहुत कदाचार सदा रहते ही हैं। किंतु जब इनकी संख्या बढ़ जाती है तो समाज और देश त्रस्त तथा पीड़ित हो जाता है, पृथ्वी व्याकुल हो जाती है। संस्कृत और हिन्दी-साहित्य इस प्रकारके वर्णनोंसे भरा पड़ा है। गोस्वामी तुलसीदासजीने दुराचारसम्पन्न मनुष्योंका लक्षण गिनाते हुए उन्हें राक्षसोंकी संज्ञा दी है—

कामरूप खल जिनस अनेका। कुटिल भयंकर बिगत बिबेका॥
कृपा रहित हिंसक सब पापी। बरनि न जाहिं बिस्व परितापी॥
जेहि बिधि होई धर्म निर्मूला। सो सब करहिं बेद प्रतिकूला॥
जेहि जेहि देस धेनु द्विज पावहिं। नगर गाँव पुर आगि लगावहिं॥
सुभ आचरन कतहुँ नहिं होई। देव बिप्र गुरु मान न कोई॥
नहि हरिभगति जग्य तप ग्याना। सपनेहु सुनिअ न बेद पुराना॥

बरनि न जाइ अनीति घोर निसाचर जो करहिं।
हिंसापर अति प्रीति तिन्हके पापहिं कवन मिति॥

बाढ़े खल बहु चोर जुआरा। जे लंपट पर धन पर दारा॥
मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी॥

गोस्वामीजीका उद्घोष बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि जिन मनुष्योंमें ये दुराचार भी हों, वे निश्चय राक्षस हैं। जो हिंसा करनेमें नहीं सकुचाते, पर-दारा-परधनका अपहरण करते हैं; जो चोर, तस्कर, जुआरी हैं; जो माता-पिता, पूज्य पुरुषोंको नहीं मानते; जो नगर, गाँव, पुर, मन्दिर, घरमे आग लगानेमें नहीं संकोच करते हैं, जो निष्करुण, क्रूर, कुटिल, लंपट, स्वार्थ-मूर्ति, अभिमानी, द्वेपी और दूसरोंके हितकी उपेक्षा करनेवाले हैं, वे सभी राक्षसके समान हैं।

गोस्वामीजी पुनः उत्तरकाण्डमे मनुष्यरूपमें राक्षसोंका अङ्कन करते हुए कहते हैं—जिसमें निम्न आचरण दिखायी दे, उन्हे राक्षस समझ लेना चाहिये—

खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर सम्पति देखी॥
जहँ कहुँ निन्दा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥

'देह-धरे मनुजाद'से गोस्वामीजी अपना मन्तव्य सुस्पष्ट कर देते हैं। मनुजादका अर्थ है, मनुष्योंको खानेवाला, अर्थात् राक्षस। ये चाहे दूकान करें या व्यापार, उद्योगरत हो या उच्च अधिकार प्राप्त, बडे पठित हो या बडे धनी, पर कामी, क्रोधी, तस्कर, भ्रष्टाचारी, ज्ञानग्रन्थोंकी हँसी उड़ानेवाले, देश, समाजके हितका ध्यान न करे, परद्रोह, परदार, परधन, परनिंदामे लीन रहते हैं तो नरभक्षी राक्षस ही हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि जब ऐसे दुराचारियोका दुराचार अर्थात् अधर्म बढ जाता है, तब किसी-न-किसी रूपमे भगवान्‌का अवतरण होता है। जब भी दुराचारकी, जो अधर्म है, मात्रा बढ़ जायगी—तो उस शक्तिको संसारमें आना पडता है जो सबका नियन्त्रण करती है। वह राम, कृष्ण, दुर्गा, परशुराम आदि किसी भी रूपमें आकर दुष्ट-दमन और शमन करती है। दुराचार अधर्म है, सदाचार धर्म है। सदाचार अर्थात् धर्मकी जब हानि होती है, तब भगवान्‌की कोई विभूति अवतरित होती है। गोस्वामीजी कहते हैं—

जब जब होइ धरम कै हानी। बाढहिं असुर महा अभिमानी॥
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी। सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी॥
तब तब धरि प्रभु बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥

भगवद्गीतामें भगवान् कृष्णका भी कथन है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(४।७-८)

'अर्जुन! जब धर्मकी हानि होती है तो मैं उसके उत्थानके लिये अपनी शक्ति भेजता हूँ। सदाचाररत साधुओंके रक्षार्थ और दुराचारलीन दुष्टोंके विनाशार्थ तथा सब जनोंके धर्माचार-स्थापनार्थ मैं युग-युगमे किसी-न-किसी रूपमे प्रकट होता हूँ।'

सद्-आचारके अपरिमित रूप हैं। इनमे कुछ प्रमुख हैं—प्रणाम करना अथवा हाथ मिलाना, मृदुभाषण, विनय, दूसरेसे यथा समय उसका दुःख पूछना, किसीको मार्ग बता देना, गिरेको उठा देना, अंधेरेमें किसीको प्रकाश दिखाना, किसी बीमारको अस्पताल पहुँचा देना, अन्न-धनसे यत्किंचित् जरूरतमंदकी सहायता कर देना, सत्परामर्श देना, दान देना, किसी तस्कर, हिंसकसे किसीकी रक्षा कर देना, अन्यायीको दण्ड दिलाना, किसीको विद्या देना या विद्याध्ययनमें सहायता देना, भूखेको भोजन और प्यासेको पानी देना, जो कहा उसे करना, समयपर पहुँचना, अपना कार्य तन-मनसे पूर्ण करना, वस्तुमिश्रण स्वयं न करना, न करने देना, सत्य

बोलना आदि। शास्त्रकारोंने इनमेंसे कुछ शाश्वत सामाजिक आचारोंको प्रमुखता देकर कहा है कि ये धर्म हैं। मनु महाराजने ऐसे दस आचारोंको गिनाकर उन्हें धर्मका अङ्ग बतलाया है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनु० ६। ९२)

'धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, तनमनकी पवित्रता, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धिपूर्वक कार्य-सम्पादन, विद्या, सत्य, क्रोध न करना—ये सब धर्मके दस अङ्ग हैं।' याज्ञवल्क्यस्मृतिमें आचारोंकी संख्या नौ बतायी गयी हैं और उन्हें धर्मका साधन माना गया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

मनुके पाँच गुण—धृति, सत्य, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रहके साथ अहिंसा, दान-दयाको रखकर धर्मके साधन गिनाये गये हैं। वामनपुराणके अनुसार निम्नसूचित गुण आचार-धर्मके अन्तर्गत हैं—

स्वाध्यायो ब्रह्मचर्यं च दानं यजनमेव च।
अकार्पण्यमनायासो दयाहिंसाक्षमादयः॥
जितेन्द्रियत्वं शौचं च माङ्गल्यं भक्तिरच्युते।
.. .. धर्मोऽयं मानवः स्मृतः॥
(वा० पु० ११। २३-२४)

'स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, दान, यज्ञ, अकृपणता, सरलता, दया, अहिंसा, क्षमा, जितेन्द्रियता, शौच, सबकी मङ्गल-भावना, ईश्वर-भक्ति—ये ही मनुष्यके धर्मके अन्तर्गत हैं।'

विष्णुपुराण इन सदाचार-अङ्गोंको और बताता है। अतः तदनुसार धर्मके अन्तर्गत क्षमा, दया, सत्य, दम, शौच, दान, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, गुरुसेवा, तीर्थ-यात्रा, सरलता, निर्लोभता, देव-ब्राह्मण-पूजन, अद्वेषको गिनाया गया है—

क्षमा सत्यं दया शौचं दानमिन्द्रियसंयमः।
अहिंसा गुरुशुश्रूषा तीर्थानुसरणं दया॥
आर्जवं लोभशून्यत्वं देवब्राह्मणपूजनम्।
अनभ्यसूया च तथा धर्मः सामान्य उच्यते॥
(वि० पु० २। १६-१७)

'किसीसे शत्रुता न करना, निर्लोभता, दम, प्राणियोंपर दया, तप, ब्रह्मचर्यसे रहना, सत्य बोलना, दया, धैर्य—ये धर्मके सदासे आचार माने गये हैं।'

ऊपरके सभी आचारोंको धर्मका अङ्ग माना गया है, किंतु कुछ मनीषियोंने एक-एक धर्माचारको प्रश्रय दिया है। महर्षि वाल्मीकि धर्मका सुन्दर लक्षण बताते हुए कहते हैं—जो कार्य परिणाममें अनर्थमय न हो, और प्रीति उपजानेवाला हो, वही धर्म कहा जाता है—

फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते।
केवलप्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति उच्यते॥
(वा० रामा० २। २६८)

एक धर्म विशिष्ट धर्म या परम धर्म कहकर सदाचारके विशिष्ट करणीय कार्यको उल्लिखित किया गया है—

१–अहिंसा परमो धर्मः।
(महा० अनुशा० ११५ तथा महावीर)

परमधर्म श्रुति विदित अहिंसा॥ (तुलसीदास)

२–धर्म एको मनुष्याणां सहायः परिकीर्तितः।
(ब्रह्मपुराण ३२६। ९)

धर्म तो एक ही है, वह है मनुष्योंकी सहायता करना—

संक्षेपात् कथ्यते धर्मो जनाः किं विस्तरेण वा।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥
(महाभारत)

'विस्तारसे क्या लाभ? संक्षेपमें सभी मनुष्योंके लिये एक धर्म बताता हूँ। वह है—परोपकार; परोपकार पुण्यके लिये और परपीडा पापके लिये होता है। और भी—

श्रुति कह परम धरम उपकारा॥ (तुलसीदास)

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीडा सम नहिं अधमाई॥
(तुलसीदास)

३–सत्यं वद। धर्मं चर। (तैत्तिरीय २। ११। १)

'सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः ॥'
(वा० रा० २ । १० । ७)

धरम न दूसर सत्य समाना । आगम निगम पुरान बखाना ॥
(तुलसीदास)

सत्य बोलना, परहितनिरत रहना, मनसा-वाचा-कर्मणा हिंसासे विरत रहना, दूसरोंसे द्वेष, द्रोह न करना, इन्द्रियोंके वशमें न रहना, लोभ-राक्षसको गर्दन-सवार न होने देना, नियमबद्धता, स्वराष्ट्रप्रेम, घोर श्रम, पवित्रता आदि सदाचार हैं । इन्हें ही धर्मका अङ्ग माना गया है । जो सदाचारी है, वही धर्ममय है । महाभारतकार ठीक ही कहते हैं—आचारप्रभवो धर्मः। आचारसे ही धर्मकी उन्नति होती है । आचार और चरित्र मूलतः अभिन्न हैं और धर्म है लोक-परलोकका उत्कर्ष साधक—अभ्युदय एवं निःश्रेयस-सम्पादक ।

चरित्र-निर्माण

(लेखक—डॉ० श्रीमोतीलालजी गुप्त, एम० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

'चरित्र-निर्माण'-सम्बन्धी तत्त्वोंपर विचारनेके लिये चरित्रके स्वरूप, उसके विभिन्न प्रकार और उन्हें विधिवत् निर्मित करनेके उपायोंपर चिन्तन आवश्यक है । चरित्रके अन्तर्गत, व्यक्तिगत चरित्र, सामाजिक चरित्र, दैहिक, आर्थिक एवं राजनीतिक चरित्र सभी सगृहीत हो जाते हैं । इन सभीको मिलाकर व्यक्तिका पूर्ण स्वरूप बनता है और इनके पृथक्-पृथक् तथा सामूहिक निर्माणसे व्यक्तिको पूर्णता प्राप्त होती है ।

भारतवर्षमें व्यक्तिके निजी चरित्रपर अधिक बल दिया जाता है और उसीके आधारपर उसको चरित्रवान् अथवा चरित्रहीनकी संज्ञा प्रदान की जाती है । यदि कोई व्यक्ति अपने घरमें, परिवारमें अथवा समाजमें कटा-कटा रहता है और किसी अन्य व्यक्तिसे सम्बन्ध नहीं रखता तो उसे चरित्रवान् कहा जाता है और यदि किसी प्रकार घनिष्ठता प्रदर्शित करता है तो उसे चरित्रहीन माना जाता है तथा उसी आधारपर समाज, परिवार, घर एवं आस-पासमें उसका आदर-सम्मान या अपमान होता है । यही किसी व्यक्तिकी चरित्र-सम्बन्धी विशेषता मानी जाती है और उसमें पूर्णताका निर्माण करना अर्थात् अपनेतक ही सीमित रखना चरित्र-निर्माण कहा जाता है । प्रसिद्ध लोकोक्ति भी है कि 'हाथका सच्चा और लँगोटका पक्का' । इसमें भी दूसरे अर्धांशपर अधिक बल दिया जाता है । किंतु हमारी परिभाषाके अनुसार यह व्यक्तिके एक रूपका—चरित्रके एक अंशका मूल्याङ्कन है और इसे पूर्णरूपसे चरित्र-निर्माण कहनेमें संकोच होता है । पूर्व और पश्चिमकी विचारधारामें यही प्रमुख अन्तर है । इसका स्पष्ट रूप समाजकी विभिन्न इकाइयोंमें देखा जा सकता है । इसी एक आदर्शको आधा अङ्ग मानकर हमारे देशके कुछ लोग पश्चिमपर आरोप लगाते हैं कि वहाँके लोग नितान्त असभ्य और चरित्रहीन हैं तथा हमारे देशमें चरित्र-निर्माणकी उत्तम परम्परा अनादि कालसे रही है एवं अब भी है । परंतु इसका सम्यक् निराकरण इस बातसे हो जाता है कि यह चरित्रका कितना भी उपयोगी क्यों न हो, एक अङ्ग मात्र है और हमें उसके पूरे स्वरूपपर विविध पक्षोंसे विचार करना चाहिये तथा चरित्र-निर्माणकी पूरी क्रियापर ध्यान देना चाहिये ।

चरित्रके वैयक्तिक मूल्याङ्कनके अतिरिक्त और भी कई ऐसे पहलू हैं, जिनसे चरित्रको मापा जा सकता है । सामान्यतः मापन-क्रियाकी पूर्णता दृष्टिगोचर होती है । वस्तुतः मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसके जीवनका अधिकांश भाग समाजके विशेष प्रसङ्गोंमें

लगता है। वह समाजके अंदर कार्य करता है, उसका जीवन समाजसे प्रभावित होता है तथा अनेक अवसरोंपर वह समाजको गति प्रदान करता एवं उसे विविध दिशाओंमें उन्मुख करता है। अतः समाजसे व्यक्तिका सम्पर्क जिस प्रकारका होता है, उसी प्रकार चरित्र-निर्माण होता है या यों कहिये कि समाजकी विचित्र प्रक्रियाएँ उसका चरित्र निर्मित करती हैं और उन्हींके आधारपर व्यक्ति अपने चरित्रका रूप अभिलक्षित करता है।

चरित्रको अन्य पक्षोंमें देखा जा सकता है और उसीके आधारपर उसकी उत्तम, मध्यम और निम्न कोटियोंमें गणना होती है। मनुष्य अपने जीवनमें समाजके विभिन्न अङ्गोंका परिचालन करता है और उसीके आधारपर अपनी विविध दशाएँ प्राप्त करता है। कोई भी मनुष्य चरित्रवान् हो सकता है, समाजमें उपयोगी भूमिका निभा सकता है, परंतु अनेक दशाओंमें उसे धर्महीन, धर्मोचित एवं अधार्मिक होनेके विशेषण प्राप्त हो सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति भगवान्पर विश्वास न करे, देवी-देवताओंको न माने एवं निर्मित परम्पराओंका उल्लङ्घन करे तो उसे एक विशेष प्रकारका अनुपयोगी व्यक्ति माना जाता है और उसके चरित्रको वह पूर्णता प्राप्त नहीं होती, जिसकी समाजमें आवश्यकता है। अतः व्यक्तिको धर्मके मार्गका ध्यानपूर्वक अनुगमन करना चाहिये और इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि समाजमें कौन-कौन-से गुण अपेक्षित हैं। मनुष्यको जिन विविध मार्गोंका अनुसरण करना होता है, उनमें विधिवत् परिचालन ही चरित्रकी पूर्णताका समावेश है और चेष्टा इसी बातकी होनी चाहिये कि मार्ग कितना भी कण्टका-कीर्ण क्यों न हो अपनी राहपर चलते रहना है तथा अप्रिय घटनाओंसे उलझनेमें वाञ्छनीय योग्यताका परिचय देना चाहिये।

चरित-मापके और कई प्रकार हैं, पर आधुनिक-कालमें अधिक प्रचलित राजनीतिक मापदंड है। जो इस मापदंडपर खरा उतरता है उसीको विजयश्री उपलब्ध होती है तथा चरित्रवान व्यक्तियोंमें उसे ही श्रेष्ठ स्थान प्राप्त होता है। राजनीतिक दृष्टिसे आजके युगमें चरित्र-हनन और चरित्र उन्नयीकरण अधिक प्रचलित हुए हैं और प्रत्येक नेताको इस बातका पूरा ध्यान रहता है कि उसके चरित्र-हननकी प्रक्रिया किसी प्रकार प्रचलित न हो। जो लोग इस क्रियाके शिकार हो जाते हैं, उनका चरित्र ही नष्ट नहीं होता, उनका राजनीतिक एवं सार्वजनिक जीवन भी समाप्त हो जाता है। जो लोग इस पथका अनुसरण करते हैं, उनके सामने कई स्थितियाँ ऐसी आती हैं जिन्हें न केवल सजगतासे करना पड़ता है, बल्कि प्रत्येक कदमको फूँक-फूँककर रखना पड़ता है। नेता होनेसे पूर्व कुछ वायदे और नियामकता जनताके प्रति प्रदर्शित करनी होती है और यदि उन वायदोंको अथवा उस क्रिया-कलापको पूरा नहीं किया तो अवनतिके दर्शन करने होते हैं तथा लोगोंसे नेताका विश्वास उठ जाता है। चुनाव लड़नेसे पूर्व एक स्पष्ट घोषणा इस बातकी करनी होती है कि चुनाव किस आधारपर लड़ा जा रहा है और मतदाताओंके प्रति किस उत्तरदायित्वको पूरा करनेकी बात है। यदि भगवान्की कृपासे सफलता प्राप्त हो जाती है तो यह अनिवार्य होता है कि किये गये वायदोंको पूरा किया जाय और इस प्रकार अपने चरित्रकी रक्षा की जाय। यदि चुनाव जीतनेके बाद इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता तो चरित्र दो कौड़ीका हो जाता है और भविष्यके लिये फिर कोई आशा नहीं रह जाती। अतः सार्वजनिक जीवनमें अवतरित होनेसे पूर्व ईमानदारीकी पूरी आवश्यकता है और इसीपर चरित्रका बनना-बिगड़ना संभव होता है। यदि भगवत् कृपासे चुनावके पश्चात् किसी सार्वजनिक पदको सुशोभित करनेका अवसर आये तो चरित्रको और भी सँभालना चाहिये। यदि मन्त्रिमण्डलमें स्थान मिले तो चरित्रकी रक्षा सर्वोपरि कार्य है। मन्त्रिमण्डलमें प्रवेश

लेनेसे पूर्व कुछ प्रतिज्ञाएँ, संविधान और जनताको पूर्ण करनी पड़ती हैं तथा भगवान्को साक्षी बनाया जाता है। यदि प्रभु-कृपासे सविधानकी रक्षा होती है और सार्वजनिक जीवनमे सफलता मिलती है तो चरित्रकी उत्कृष्टता स्वतः प्रतिपादित होती जाती है और यदि उनसे विपरीत स्थितिका सामना करना पड़ा तो चरित्र धूमिल होता जाता है। अतः चरित्रको नापनेका एक प्रमुख मापदण्ड राजनीतिक जीवन भी है। इसी प्रकार शैक्षिक, पारमार्थिक आदि जीवन हैं जिनका विधिवत् पालन करना चाहिये।

इस प्रसङ्गमे एक शब्द 'निर्माण' आता है। वह यद्यपि निर्माणकारी प्रभुके हाथ है, परंतु व्यक्तिविशेष भी इस ओर अपनी क्रियात्मकता प्रदर्शित कर सकता है। इसमे सबसे अधिक उपयोगी व्यक्तिकी ईमानदारी है और यदि विभिन्न क्षेत्रोमें ईमानदारीके साथ अपने कर्त्तव्यका निर्वाह किया जाय तो बहुत अंशोमें चरित्रकी रक्षा सम्भव है। कुछ भी असावधानी होनेपर दोष-वृत्तिका आना सम्भव है। चरित्र-निर्माणका एक सुगम मार्ग है कि सावधानीसे अपनी शक्तिसे परिस्थितियोका सामना किया जाय तथा किसी भी स्थितिमें लोभ अथवा मोहके वशीभूत होकर मार्गच्युत न हुआ जाय। यह चरित्र-निर्माणकी एक सामान्य प्रक्रिया है और अपेक्षा की जाती है कि सभी विचारशील लोग इस ओर सजग रहेगे। अन्य देशोंमें ईमानदारी व्यवहारका एक लक्षण बन गयी है। वहाँ कुछ दृष्टियोसे हमे चरित्रकी गिरावट दिखायी दे तो भी कुल मिलाकर वहाँ उदात्त चरित्रके दर्शन होते हैं।

चरित्र-निर्माण क्यों और कैसे ?

(लेखक—श्रीराजेन्द्रबिहारी लालजी)

भारतीय धर्मग्रन्थ धर्म या सदाचारकी महिमा गाते हुए कभी नहीं थकते। मनुस्मृतिका आदेश है कि जिस प्रकार दीमक वल्मीकका संचय करती है, उसी प्रकार परलोकमे सहायताके लिये किसी भी जीवको पीड़ा न देते हुए धीरे-धीरे धर्मका संचय करे; क्योकि परलोकमे माता-पिता, पुत्र, स्त्री और जाति सहायताके लिये नहीं रहते, केवल धर्म ही रहता है। वाल्मीकीयरामायणके अनुसार 'धर्मसे सम्पत्तिका उद्भव होता है, धर्मसे सुखकी प्राप्ति होती है और सदाचारसे मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर लेता है।' महाभारतमे भी कहा गया है कि सदाचारसे सुख मिलता है। शास्त्रोमे यह भी बताया गया है कि मनुष्य पाताल, स्वर्ग या कहीं और जाकर छिप जाय पर उसके किये हुए पाप और पुण्यके फल उसे खोजकर मिल जाते हैं। वस्तुत. रामायण और महाभारत—दोनो प्रकारान्तरसे सदाचार-संहिता ही हैं।

धर्मका सच्चा अर्थ भी सदाचार है। मनुस्मृतिके अनुसार समस्त कर्तव्योका ठीक-ठीक, उचित समयपर, उत्साह तथा कुशलतापूर्वक सम्पादन करना धर्म या सदाचार है। गीतामे भी धर्म और कर्तव्य शब्द सदाचारके लिये हुए प्रयुक्त है। कर्तव्यमें मनुष्यके सारे जीवनोपयोगी काम आते है, चाहे वे धार्मिक हो या सांसारिक।

धर्मके चार चरण—भारतीय ऋषि-मुनियोने धर्मके सत्य, शौच, तपस्या और दान—ये चार चरण या स्तम्भ बताये है। किंतु प्रचलित विचारधाराके अनुसार धर्मका सार-तत्त्व पूजा, पाठ, ध्यान, जप या कथा-कीर्तन ही है। इन्हीं धार्मिक क्रियाओसे सारे पाप धुल जाते हैं तथा सुख-सम्पत्ति और मोक्षतककी प्राप्ति हो जाती है। ध्यान, जप और नामस्मरणसे मनुष्य स्वतः और अनिवार्यरूपसे पवित्र और मोक्षका अधिकारी बन

जाता है, बल्कि इन क्रियाओंमें इतनी प्रबल शक्ति है कि उनका अवलम्बन लेनेवालेके पास पाप फटक भी नहीं सकते। इस प्रौढ़ विश्वासके फलस्वरूप जीवनमें सदाचार, देशभक्ति, परोपकार और संयम आदि-जैसे सद्गुणोंका स्थान प्रायः गौण हो जाता है।

धर्मका बैल जिसे चलनेके लिये चार पैरोंकी आवश्यकता है, केवल आधे चरणपर खड़ा भी कैसे रह सकता है। जब ध्यान, जप तथा कीर्तन सारे पापोंको भस्म कर देते हैं और ये भगवत्प्राप्तिका एकमात्र उपाय हैं तो परोपकार, संयम, देशसेवा और कर्तव्यपालनमें समय बरबाद करनेसे क्या फायदा? यह आजका वाद है, तर्क-प्रधान लोगोंका विचार है। उनका कहना है कि इसी कारण हमारे देशमें चरित्र या सदाचारका बहुत ह्रास हो गया है। नैतिक मूल्य प्रतिदिन गिरते जा रहे हैं। प्राचीनकालको देखिये तो हिन्दू राजा परस्पर लड़ते ही रहते थे और विदेशी आक्रमणकारियोंसे मिलकर अपने ही भाइयोंसे विश्वासघात करते थे। स्वतन्त्रता पानेके बाद आचरणमें सुधार होनेके बजाय और भी गिरावट आ गयी है; अनाचार, भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, अनुशासनहीनता, अराजकता-जैसी बुराइयोंका बोलबाला है; क्योंकि चारित्र्यकी प्राचीन परम्परा धूमिल हो गयी है।

उपासना और सदाचार—निःसंदेह आराधनाका जीवनमें बड़ा महत्त्व है। किंतु यह कहना कि आराधना ही जीवनका सर्वस्व है और उसके सिवा सारे काम निरर्थक हैं, आज समाजके लिये कुछ हानिकारक हो रहे हैं। आराधनाके साथ संयम, परोपकार और सेवा मिलानेसे ही जीवन धन्य होता है। वास्तवमें इन चारोंमें विरोध न होना चाहिये; क्योंकि इनके उद्देश्य अलग-अलग हैं। किंतु यदि एकको इस तरह बढ़ाया जाय कि बाकी सब अनावश्यक और नगण्य बन जायँ तो मनुष्यका जीवन अधूरा और पंगु ही रह जायगा। जीवनमें संतुलन नहीं हो सकेगा, अतः इन सबको प्रश्रय देना जीवनका लक्ष्य होना चाहिये।

यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि जब अच्छे लोग, अच्छे सिद्धान्त, अच्छी संस्थाएँ और अच्छे विचार परस्पर सहयोगसे काम करते हैं तो समाजका बड़ा कल्याण करते हैं, किंतु जब वे एक दूसरेका विरोध करने लगते हैं, तब बड़ा अनर्थ हो जाता है। हवा, पानी, भोजन और कपड़ा सब ही जीवनके लिये आवश्यक हैं। जबतक ये एक दूसरेकी सहायता करते हैं, मनुष्यको सुख देते हैं, किंतु यदि वायु या प्राणायामका प्रचार इस तरह किया जाय कि मानव-जीवनमें भोजन, पानी, कपड़ा और मकानकी कोई आवश्यकता नहीं, तो वही हवा अतिमात्रामें जीवनको नष्ट-भ्रष्ट करने लगेगी।

हमारे शास्त्रकार इस खतरेको अच्छी तरह समझते थे। इसके विरुद्ध चेतावनी देनेके लिये उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ा, अनेक दृष्टान्त और सिद्धान्त बताये। किंतु हम उन सबकी अनदेखी करके केवल परम्परागत आराधनाको ही मुक्तिकी कुञ्जी बताते हैं। हमारी दृष्टिमें दुनियाके काम, परोपकार, आत्मबलिदान, देशभक्ति आदिका जीवनमें कोई विशेष महत्त्व नहीं रह गया है। यही तो साधनाके वास्तविक स्वरूपके समझनेमें भूल है।

घोर तपस्या या गहरी पूजा या पाठ, अथवा जप, ध्यान करनेवाले, किंतु चरित्रहीन लोगोंकी क्या गति होती है, इसके अनेक दृष्टान्त हमारे धर्मग्रन्थोंमें मिलते हैं। हिरण्यकशिपु, रावण, भस्मासुर आदि राक्षसोंकी कथाएँ यह पुकार-पुकारकर कह रही हैं कि लम्बी और कठोर तपस्या, करने तथा दर्शन और वरदानके पानेपर भी वे सब निन्द्य राक्षस हो गये; क्योंकि उनमें सदाचार और चरित्रका अभाव था तथा उन्होंने अपनी तपोऽर्जित

*

शक्तिको परहितमें ही नहीं, वरन् पर-पीड़नमें लगाया। आज भी ऐसे लोगोंकी भरमार है, जो सबेरे-शाम नियमितरूपसे ध्यान, जप या पूजा करते हैं और बाकी समय दुराचारमें लगाते हैं एवं धार्मिक क्रियाओंसे भी अपनी दुर्वृत्तियोंका ही पोषण करते हैं।

समाजमें यह विश्वास फैला हुआ है कि ध्यान, जप, भक्ति और पूजा करनेवाला सदा चरित्रवान् होता है। किंतु जब हम तथ्योंकी ओर दृष्टि डालते हैं, तब हमें इस कटु सत्यको मानना पड़ता है कि ऐसे कुछ लोग दुराचारी भी होते हैं, क्योंकि वे अपनेको सिद्ध महात्मा मान बैठते हैं और अपने आचार-व्यवहारको सुधारनेके लिये कोई प्रयास ही नहीं करते। गोस्वामीजीने भी ऐसा संकेत किया है—

पर त्रिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने ॥
तेइ अभेदबादी ग्यानी नर। देखा मैं चरित्र कलिजुग कर ॥
(मानस ७। १००। १)

कलियुगके ये बनावटी लोग समाजका अहित करते हैं—

आपु गए अरु तिन्हहू घालहिं। जे कहुँ सत मारग प्रतिपालहिं ॥

गीता ७। १६के अनुसार भक्त चार प्रकारके होते हैं—आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु एवं ज्ञानी। ये सभी उदार तथा चरित्रवान् भी होते हैं। यहीं 'माया-द्वारा हरे हुए ज्ञानवाले और आसुरी स्वभावको धारण किये हुए नीच, पापाचारी और मूढोंकी भी बात आयी है—जो ईश्वरको नहीं भजते। इसके विपरीत 'निष्काम-भावसे श्रेष्ठ कर्मोंका आचरण करनेवाले जिन पुरुषोंका पाप नष्ट हो गया है, वे राग-द्वेषादि द्वन्द्वरूप मोहसे मुक्त हुए और दृढ निश्चयवाले पुरुष ही मुझ भगवान्‌को सब प्रकारसे भजते हैं'(गी० ७)। सारांश यह कि सदाचारी लोगोंकी पूजा ही वास्तवमें पूजा है। दुराचारियोंकी पूजा तो केवल ढोंग है और वह उन्हें दुर्गतिसे नहीं बचा सकती।

भागवतमें भगवान् कपिलने स्पष्टरूपसे कहा है कि 'मैं आत्मारूपसे सदा सभी जीवोंमें स्थित हूँ, इसलिये जो लोग मुझ सर्वभूतस्थित परमात्माका अनादर करके केवल प्रतिमामें ही मेरा पूजन करते हैं, उनकी वह पूजा स्वाँगमात्र है। मैं सबका आत्मा, परमेश्वर सभी भूतोंमें स्थित हूँ; ऐसी दशामें जो मोहवश मेरी उपेक्षा करके केवल प्रतिमाके पूजनमें ही लगा रहता है, वह तो मानो भस्ममें ही हवन करता है। जो भेद-दर्शी और अभिमानी पुरुष दूसरे जीवोंके साथ वैर बाँधता है और इस प्रकार उनके शरीरमें विद्यमान मुझ आत्मासे ही द्वेष करता है, उसके मनको कभी शान्ति नहीं मिल सकती। जो दूसरे जीवोंका अपमान करता है, वह बहुत-सी घटिया-बढ़िया सामग्रियोंसे अनेक प्रकारके विधि-विधानके साथ मेरी मूर्तिका पूजन भी करे तो भी मैं उससे प्रसन्न नहीं हो सकता' (स्कन्ध ३)।

भक्तोंका वर्गीकरण—भागवतमें नारद मुनिने श्रीवसुदेवजीसे कहा है कि 'जो प्रत्येक चेतन या जड़ वस्तुमें ईश्वरकी उपस्थितिका अनुभव करता है, उसका ही रूपान्तर देखता है और सब वस्तुओंको ईश्वरका ही अंश समझता है, वही पूर्ण भक्त है तथा भगवान्‌के उपासकोंमें सर्वश्रेष्ठ है। जो अपनेको समस्त प्राणियोंमें और समस्त प्राणियोंको अपनेमें—परमेश्वरमें स्थित देखता है, वह सर्वोच्च भक्त है। जो केवल मन्दिरमें ईश्वरकी पूजा करता है, किंतु अन्य प्रकारकी पूजा करनेवालोंके प्रति सहनशील नहीं है और सर्वत्र ईश्वरकी सत्ता नहीं देख पाता, वह प्रारम्भिक कोटिका भक्त है' (११। २। ४५-४८)।

चरित्र ही धर्मका प्राण है। चरित्रहीन मनुष्य भगवान्‌का प्यारा या जीवन-मुक्त तो क्या होगा, वह तो

पशुके समान है, बल्कि पशुसे भी गया-बीता है। आसुरी चरित्रवाला व्यक्ति ही असुर होता है न कि भक्त, ज्ञानी या योगी।

आध्यात्मिकताके मूल सिद्धान्त—सारी सृष्टि प्रकृतिके तीन गुण-प्रभावों—सात्त्विक, राजस और तामसमें रँगी हुई हैं। सत्त्वादि गुण भगवान्की शक्ति या मायाके है, इसलिये बड़े रहस्यमय है।

सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है और मनुष्य ऊपरको उठता है। रजस्से लोभ पैदा होता हैं और रजस्को अपनानेवाला बीचमेंही चक्कर काटता रहता है। तमोगुणसे प्रमाद, मोह, अज्ञान पैदा होते हैं और तमोगुणीको पतनकी ओर ले जाते हैं।

ये तीनो गुण ही सृष्टिमें फैली हुई सारी विभिन्नताके कारण हैं। विश्वमें ऐसा कोई प्राणी नहीं जो इन तीनो गुणोंसे सर्वथा मुक्त हो। मनुष्यके सारे काम, भाव और विचार इन गुणोसे प्रेरित तथा ओतप्रोत होनेके कारण सात्त्विक, राजसिक या तामसिक होते हैं।

तो क्या पूजा, ध्यान, जप, संकीर्तन-जैसे धार्मिक कार्य सदैव और अनिवार्यरूपसे सात्त्विक नहीं होते? क्या वे भी तीन प्रकारके होते है? यद्यपि समाजमें तो यही विचार फैला हुआ है कि यह सब काम सदा सात्त्विक अर्थात् पावन और मङ्गलकारी होते है, किंतु गीता, भागवत तथा अन्य शास्त्रोने इन सभीके तीन भेद बताये हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक।

रामचरितमानसकोही लीजिये। गोस्वामीजीकी चेतावनी है कि कलियुगमें सारा धर्म तामस हो जायगा—

> तामस धर्म करहिं नर जप तप व्रत मख दान।
> देव न बरषहिं धरनीं बए न जामहिं धान॥

गीतामे इसकी विशद व्याख्या है, जिसके अनुसार सारे धार्मिक कार्य यज्ञ और तपके अन्तर्गत आते हैं। पूजाको शरीरका तप, स्वाध्याय, भजन और जपको वाणीका तप और ध्यानको मनका तप बतानेके बाद —इन तीनों प्रकारके तपोको तीन वर्गोंमें विभाजित किया है (१७। १४–१६)।

उपर्युक्त तीनो प्रकारके तप, जिन्हे साधक अगाध श्रद्धाके साथ निष्कामभावसे करता है, सात्त्विक कहलाते है। जो तप सत्कार, मान और पूजा प्राप्त करने या दिखावेके लिये किये जाते हैं और जो अस्थायी या क्षणिक हैं, वे राजस कहे गये हैं। भ्रान्त बुद्धिसे, स्वयंको यातना देकर या दूसरोके अनिष्टके लिये किया गया तप तामस कहा गया है (१७। १७-१८)।

इन भावोके श्लोकोको ध्यानसे पढनेसे यह पता चलता है कि जीवनको सात्त्विक बनाने या भगवान्की ओर ले जानेमें निर्णायक तत्त्व पूजा, ध्यान या जपके साथ आचार-व्यवहारका भी हाथ है। पूजा तभी सात्त्विक बनती है, जब उसके साथ निष्काम भाव हो। उदाहरणार्थ यदि किसी भक्तका जप या नामस्मरण तामस है तो वह प्रतिदिन दस माला और फेरकर अपने-आपको सात्त्विक नहीं बना सकता। वह तमोगुणसे निकलकर सत्त्वगुणमे तभी प्रवेश कर सकेगा, जब वह अपनेको और दूसरोको पीड़ा पहुँचाना छोड़कर लोक-कल्याणके कामोंमें लग जाय। इसी तरह यदि कोई साधक अपनी मान, बड़ाई, पूजा तथा भगवद्दर्शन और वरदान पानेके लिये ध्यान करता है तो उसे ध्यान करनेके साथ निजी स्वार्थको छोड़कर दूसरोकी भलाईके कामोमें अपनेको समर्पित करना होगा। वह भगवान्के बताये मार्गसे चलेगा, तभी वह लक्ष्यतक पहुँचेगा।

शास्त्रोमे एक और भी सार्वभौम सिद्धान्त मिलता है जो मानवके समस्त कर्मोंपर लागू होता है—चाहे वे धार्मिक हों या सांसारिक । भागवतमे एक स्थानपर भगवान् कृष्णने कहा है—'जो भी काम मेरे लिये या फलेच्छा छोड़कर किये जाते है, वे सात्त्विक हैं। जो काम फलेच्छा रखकर किये जाते हैं, वे राजसी हैं और जो पर-पीडनके लिये किये जाते हैं, वे तामसी होते है । गीतामें भी यही शिक्षा दूसरे शब्दोंमें दी गयी है (८ । २३–२५) ।

दैवी और आसुरी गुणोंका भेद समझानेके लिये गीतामें तो एक पूरा अध्याय ही दिया है और उसमे यह स्पष्ट कर दिया है कि दैवी सम्पदा मुक्ति दिलानेवाली और आसुरी सम्पदा बॉधनेवाली होती है (१६ । ५) । आसुरी सम्पदाके लोगों अर्थात्—'अहंकार, बल, घमंड, कामना और क्रोधादिके परायण एवं दूसरोंकी निन्दा करनेवाले पुरुष अपने और दूसरोंके शरीरमे स्थित मुझ अन्तर्यामीसे द्वेष करनेवाले होते हैं । ऐसे द्वेष करनेवाले, पापाचारी और क्रूरकर्मी नराधमोंको बारम्बार आसुरी योनियोमे ही गिरना पडता है (१६ । १८-१९) ।

जीवनमें पूजा, ध्यान, जप, कीर्तन आदिका बड़ा महत्त्व है । उनसे अनेक लाभ हैं । उनका स्थान कोई दूसरा काम नहीं ले सकता । किंतु उनके साथ धर्म और नैतिकताको भी महत्त्व देना है ।

उपर्युक्त सारे नियम भगवान्‌के बनाये हुए हैं, अटल, अमिट, शाश्वत और सार्वभौमिक हैं । हम उनकी अनदेखी कर सकते हैं, अपने प्रवचनो और पुस्तकोंसे उनका बहिष्कार कर सकते हैं; किंतु वे नियम तो सदा-सर्वदा (यद्यपि चुपके-चुपके और धीरे-धीरे) अपना काम करते ही रहेगे । कोई दुराचारी, परपीडक या कामचोर व्यक्ति बहुत पूजा या जप करके देखावटी समाधि तो लगा सकता है, भगवान्‌के राजसिक और तामसिक दर्शन भी कर सकता है (जैसा रावण, दुर्योधन, कंस आदिने किया), कुछ सिद्धियाँ भी प्राप्त कर सकता है, किंतु सत, भगवान्‌का प्यारा या जीवन-मुक्त कदापि नहीं बन सकता ।

चरित्रकी कसौटी—अब यह विचारना है कि चरित्रकी कसौटी क्या है ? चरित्रका निर्माण सदाचार तथा बहुत-से सद्गुणोको अपनानेसे होता है—जैसे सत्य, अहिंसा, दया, मैत्री, समता, निर्भयता और निरभिमानिता । वैसे दैवी गुणोकी सूची बहुत लम्बी है, किंतु यदि सच्चरित्रकी कुञ्जीको एक शब्दमे रखा जा सके तो वह शब्द है निस्स्वार्थता, निरपेक्षता या निःस्पृहता, जिसका अर्थ है सारे कर्तव्योका तत्परतासे पालन करना, किंतु दूसरोकी भलाईके लिये, न कि अपने किसी निजी लाभ या पुरस्कारके लिये ।

इसी बातको दूसरे शब्दोमें यो कह सकते हैं कि परोपकार धर्मका सार है। गोस्वामी तुलसीदासजीका कथन है—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं । तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥
परहित सरिस धर्म नहिं भाई । परपीडा सम नहिं अधमाई ॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर । कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर ॥

बिलकुल यही विचार एक दूसरे भक्त कविने यो व्यक्त किया है—

चार वेद छः शास्त्रमें बात मिली है दोय ।
दुख दीन्हे दुख होत है सुख दीन्हे सुख होय ॥

भक्त नरसी मेहताने अपने प्रसिद्ध (तथा गाँधीजीके प्रिय) भजनमे बताया है—

वैष्णव जन तो तेने कहिए, जो पीर पराई जाणे रे ।

भगवान् कृष्णने भी यही सारगर्भित उपदेश किया है—'सब प्राणियोंमे केवल उन्हींका जीवन सार्थक है जो अपने जीवन, धन, ज्ञान और वचनद्वारा दूसरोकी

भलाई करते हैं।' 'पहाड़से यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये कि तुम्हारे सारे काम दूसरोंकी भलाईके लिये हों और तुम्हारा सारा जीवन दूसरोंके लिये हो।' श्रीकृष्णके इसी उपदेशकी प्रतिध्वनि आधुनिक युगके महान् वैज्ञानिक आयन्स्टाईनके इन शब्दोंमें मिलती है—'मनुष्य यहाँ (संसारमें) दूसरे मनुष्योंके लिये ही आया है।'

यहाँपर यह प्रश्न स्वाभाविक है कि समाधि, भगवद्-दर्शन या मोक्षकी कामनासे की गयी साधना वास्तवमें सात्त्विक है या नहीं। परम्परागत विचारधाराके अनुसार यह सब साधना पारलौकिक हैं और इसलिये शुभ और सात्त्विक हैं। सच तो यह है कि ये साधनाएँ नितान्त पारमार्थिक हैं, किंतु जब कोई व्यक्ति उन्हें अपने ही लिये चाहता है तो वे सात्त्विक नहीं, बल्कि राजसिक हो जाती हैं। उन्हींके मनमें भगवान् वास करते हैं—

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु॥

स्वामी विवेकानन्दने भी बिल्कुल यही बात कही है—'चाहना करना प्रेमकी भाषा नहीं है। भगवान्की भी पूजा मोक्ष या किसी अन्य पुरस्कारके लिये करना नीच काम है।' और भी जोरदार शब्दोंमें उन्होंने बताया है कि 'अगर तुम अपनी ही मुक्ति चाहते हो तो नरकमें जाओ। तुम्हें तो दूसरोंके मोक्षके लिये प्रयत्नशील होना चाहिये और यदि ऐसा करनेसे तुम्हें नरकमें भी जाना पड़े तो वह श्रेयस्कर है; इससे कि अपने मोक्षकी खोज करते हुए तुम्हें स्वर्ग मिल जाय।

विराट् स्वरूपका शृङ्गार—सामान्य मनुष्य पूजा-पाठमें थोड़ा-सा ही समय लगा सकता है। उसका अधिकांश समय तो सांसारिक कामोंमें ही लगता है—विशेषकर जीविकोपार्जनके कामोंमें। साधारण साधक-जनोंका विश्वास है कि सांसारिक काम पूजामें और इस-लिये भगवत्प्राप्तिमें बाधक है, किंतु सच तो यह है कि दुनियाका कोई कार्य सांसारिक नहीं, सभी धार्मिक हैं, भगवान्की आराधना हैं और भगवान्से मिलनेके साधन हैं। तभी तो भगवान्ने गीतामें कहा है—**'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।'** फिर सांसारिक कामोंके बिना जीवनका निर्वाह भी नहीं हो सकता और जीवनके बिना किसी प्रकारकी साधना नहीं हो सकती। इसलिये सांसारिक कार्य, लोकसंग्रहके काम, दूसरोंकी भलाईके काम—सारे ध्यान, जप और भजनके आधार हैं। वे मनुष्यको केवल जीवित ही नहीं रखते, केवल भगवान्की पूजा करनेकी क्षमता ही नहीं प्रदान करते, वे स्वयं परमात्माकी पूजा हैं और पूजा भी भगवान्के किसी छोटे या साधारण रूपकी नहीं, वरन् सर्वश्रेष्ठ विराट् रूपकी।

गीतामें बार-बार इस बातपर जोर दिया गया है कि परम पुरुष परमेश्वरकी ही आराधनासे शान्ति और मुक्ति मिल सकती है, न कि अन्य देवताओंकी पूजासे (७। २०, ९। २५)। दूसरी ओर यह भी बताया गया है कि सब कुछ, सारी सृष्टि ही परमेश्वरकी ही है (७। १९)। भगवान्के सिवा कुछ है ही नहीं, परमेश्वरसे अलग न कोई पदार्थ टिक सकता है, न बन ही सकता है। सारा संसार, सृष्टिकी हर चीज परमात्मासे ओतप्रोत है, उसकी मूर्ति है, उसका छोटा रूप है।

इन सिद्धान्तोंका प्रत्यक्ष प्रमाण देनेके लिये भगवान् कृष्णने अर्जुनको अपना विराट्रूप या विश्वरूप दिखाया था। विश्वरूप-दर्शनकी विशेषता यह है कि इस रूपको अर्जुनने **'रूपमैश्वरम्'** (११। ३), संजयने **'परमं रूपमैश्वरम्'** (११। ९) बताया। इसका अर्थ यह हुआ कि सृष्टि या संसार ही भगवान्का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है, जिसमें सभी देवी-देवता, सभी अवतार, सभी संत और पैगम्बर, सभी पदार्थ और प्राणी

सम्मिलित हैं। जब भगवान् कृष्ण अपनी अथवा परमपुरुषकी आराधनापर जोर देते हैं तो उनका आशय यही है कि उनके वरिष्ठतम स्वरूप, अर्थात् विश्वकी पूजा की जाय, तभी मनुष्यका सर्वतोमुखी विकास हो सकता है। विराट् स्वरूपमें भगवान् कृष्ण सदा और सर्वत्र, किंतु परोक्षरूपसे विराजमान हैं। इसलिये परम्परागत तरीकोंसे उनकी पूजा तो करनी ही चाहिये, किंतु बाकी समयको सभी जीवोंकी सेवामें, विशेषकर मनुष्यमात्रकी सेवामे लगाना चाहिये। गीताके प्रसिद्ध वाक्य—'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च' (८।७)-का भी यही तात्पर्य है। ध्यान, जपसे वैकुण्ठ-निवासी भगवान्‌की सेवा तथा कर्तव्यपालनसे घटघटवासी परमेश्वरकी पूजा होती है। यह दोनों ही प्रकारकी आराधना मनुष्यके लिये आवश्यक है। दोनोंके मेलसे ही गीताका नित्ययोग या सततयोग बनता है और उसीसे मनुष्य चरित्रवान् बन सकता है।

हम भगवान् कृष्णकी धातुकी बनी मूर्तिकी पूजा बडे चावसे करते हैं; उसे स्नान कराते हैं, उसपर फूल चढ़ाते हैं, उसका श्रृङ्गार करते हैं, उसकी आरती उतारते हैं। यह सब बहुत अच्छा है, किंतु उनकी जीती-जागती विराट् और श्रेष्ठतम मूर्ति, अर्थात् संसार जो सदा हमारे साथ है, जो हमारा पालन-पोषण करता है, जीवनको सुखमय बनाता है और हमसे भी सेवाकी आशा करता है, उस विश्वरूपकी हम अवहेलना करते हैं, तिरस्कार करते हैं और उसको अपने कर्मों तथा निष्क्रियतासे पीडा पहुँचाते हैं। दूसरे शब्दोंमें सुदूर स्वर्गमें रहनेवाले भगवान्‌की तो हम ध्यान, जप भजन आदिद्वारा पूजा करते हैं, किंतु उसके चैतन्य और विराट्स्वरूपकी हम तनिक भी परवाह नहीं करते। यही अनैतिकता, अधर्म, चरित्रहीनता और पापका मूल कारण है।

विष्णुसहस्रनाममें भगवान्‌का सबसे पहला नाम विश्व है। विश्व ईश्वरका सर्वप्रथम नाम ही नहीं, उनका सर्वश्रेष्ठ और परमाराध्यस्वरूप भी है। इसी गूढ तत्त्वको समझानेके लिये भगवान् कृष्णने गीतामें अर्जुनको अपना विराट्रूप दिखाया। इसलिये प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि सारी सृष्टिको, विशेषकर मानव-मात्रको सदा कृष्णमय और कृष्णस्वरूप देखे और उसीके अनुरूप सबसे प्रेम, मैत्री और आदरपूर्वक उचित व्यवहार करे। तभी श्रीकृष्णकी मूर्तिका पूजन वास्तविक सात्त्विक पूजन होगा।

परमेश्वरकी परम्परागत पूजासे बचे हुए सारे समयको उनके विराट् रूपकी अर्चना, वन्दना, श्रृङ्गार तथा आरतीमें अर्पित करना चाहिये। मानव-शरीर और उसके ऊपर भारतकी पुण्य भूमिमें जन्मको भगवान् कृष्णका महान् वरदान समझकर हम सदा उनका आभार मानें और उनका गुणगान करते रहें। साथ-साथ हमारा यह भी कर्तव्य है कि अपने देशकी, इसकी भूमिकी, इसके प्रत्येक पदार्थ और जीवकी, इसके खेतों, कारखानो, दफ्तरो, नगरों और बाजारोंकी प्रेमपूर्वक सेवा करे, उन्हें सँवारे, सजाएँ, सुव्यवस्थित और उन्नत करे। विशेष आवश्यकता यह है कि हम अपने देशवासियों और सारे राष्ट्रको ज्ञान-विज्ञानो सत्कर्मों तथा सद्गुणों-जैसे आभूषणोसे अलंकृत करें। भगवान्‌के विराट्रूपकी यही सच्ची उपासना और श्रृङ्गार है।

जो सज्जन सदाचारी और सेवापरायण हैं, जिनके मन, वाणी और कर्म एकरूप हैं, वे ही विराट् भगवान्‌के सच्चे आभूषण हैं और वे ही उनको प्रिय हैं।

सबका एक ही ध्येय—सब धर्मों, ग्रन्थों और सम्प्रदायोंका एक ही उद्देश्य होता है या कम-से-कम होना चाहिये कि अधिक-से-अधिक संख्यामें सत्पुरुष और महापुरुष, अच्छे गृहस्थ, अच्छे नागरिक, अच्छे प्रशासक,

अच्छे वैज्ञानिक, इंजीनियर और डॉक्टर तथा अच्छे नेता बनावें जिनके द्वारा नेक, सुव्यवस्थित, प्रगतिशील और सुखी समाजका निर्माण हो।

स्वामी विवेकानन्दने लिखा है—'वह समय आनेवाला है, जब संसारके प्रत्येक नगरकी हर गलीमें संत घूमेंगे और हम यह समझने लगेंगे कि धर्मका रहस्य केवल इतना ही नहीं है कि पुरानी बातोंको सोचा और समझा जाय, बल्कि उन्हे जीवनमे उतारा जाय और उनसे भी श्रेष्ठतर विचारोका अन्वेषण, प्रतिपादन और अभ्यास किया जाय।' सन्तोंके बनानेके लिये प्रशिक्षण होना चाहिये। स्कूलों और कालेजोंका भी यही उद्देश्य होना चाहिये। सज्जनोंको तैयार करनेके लिये प्रशिक्षण वे दे जो स्वयं सदाचारी सच्चरित्र हो।

जैसी बातपर अधिक जोर दिया जाता है, वैसा ही धर्म, व्यक्ति और समाज बन जाता है। यदि हमें देशमें चरित्रका अभाव खटकता है तो हमे सदाचार, कर्तव्य-पालन, संयम, सादगी, ईमानदारी-जैसे दैवी गुणोंपर जोर देना होगा। यह प्रकृतिका नियम है कि सारे प्राणी पतन, बिगाड़, गड़बड़ी, अस्त-व्यस्तताकी ओर तो स्वतः ही आप-से-आप चले जाते हैं, किंतु ऊपर उठने और उन्नति करनेके लिये उन्हे पुरुषार्थ करना पड़ता है। चरित्र-निर्माणकी ओर यदि ध्यान नहीं दिया जायगा तो लोगोंका, समाजका चरित्र गिरता ही जायगा। यदि चरित्रको ऊपर उठाना है, यदि सत्य, ईमानदारी, प्रेम, करुणा-जैसे सच्चे भक्तके लक्षणोंको समाजमे स्थापित करना है तो उसके लिये सभी लोगोंको मिलजुलकर भगीरथ-प्रयास करना होगा। सामाजिक जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सत्पुरुषो और श्रेष्ठजनोंका कर्तव्य है कि उपदेश और आचरण दोनोंके ही माध्यमसे उदात्त आदर्श जनताके सामने स्पष्टरूपसे रखे। यह काम राजनेताओं, प्रशासको, पूँजीपतियों, शिक्षको, मिलमालिको तथा हर विभागके वरिष्ठ अधिकारियों इत्यादि सभीको करना चाहिये। किंतु मुख्यतः यह जिम्मेदारी है साधु-संतों, धर्माचार्यों, कथावाचकों तथा अन्य धर्मात्माओंकी। वे ही धर्मके प्रति दायी हैं। घरमें, समाजमे, राष्ट्रमे नैतिक मूल्योंको बनाये रखनेके लिये उन्हें सदा सजग और सक्रिय रहना चाहिये। उन्हे हर घर, हर पाठशाला, हर विद्यालय, हर दफ्तर और कारखानेमें सदाचारका प्रचार करना चाहिये और सदा अपने शिष्यों, भक्तो और अनुयायियोंको सन्मार्गपर चलनेके लिये प्रेरित करना चाहिये।

चरित्र-निर्माण केवल एकान्तमें नहीं होता, बल्कि यह घरो, पाठशालाओं, दफ्तरो, कारखानोंमे, जहाँ अनेक लोग साथ रहते और मिलकर काम करते हैं, जहाँ प्रलोभन-आलस्य, संघर्ष, कपट, और झुंडके अवसर बारबार आते रहते हैं, वहाँ भी हो सकता है। अतः हर गुणको अपनानेके लिये अलग प्रयास करना होगा। कडी मेहनत कर परिश्रमी, सच बोलकर सत्यवादी और दान करके परोपकारी बनना होगा। केवल सत्यवादी, ईमानदार या अहिंसक होकर भी कोई मनुष्य परोपकारी नहीं बन जाता। यह भी आवश्यक नहीं कि ध्यान या जप करनेवाला सदाचारी हो या कोई विद्वान् ईमानदार या उदार ही हो। ऐसा कोई महामन्त्र आजतक नहीं मिला, जो मनुष्यको बिना प्रयासके सभी सद्गुणोंसे सम्पन्न कर सके। हमे यह भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिये कि चरित्रनिर्माणका काम या सत्त्व-गुणके प्रचारका काम एक-दो दिन या कुछ वर्षोंका नहीं, वरन् सदा-सर्वदाका है। चरित्रको ऊपर उठाना एक बात है, उसे ऊँचे स्तरपर बनाये रखना दूसरी बात है।

चरित्र-निर्माणके लिये जो पुरुषार्थ आवश्यक है, वह निरन्तर चलता रहना चाहिये। चरित्रको ऊँचे स्तरपर स्थिर रखनेके लिये एक सुदृढ, स्थायी और विश्वव्यापी संस्थाकी आवश्यकता हैं; क्योंकि ज्यो-ही हम सदाचारकी ओरसे जरा भी प्रमाद करेंगे, त्यो-ही दुराचार चुपके-चुपकेसे हमारे भीतर घुस आयेगा और हमपर हावी हो जायगा।

जैसे सदाचार सिखानेका काम समाजके वर्गोमे विशेषकर साधुओ, मनीषियों और धर्माचार्योंका है, उसी तरह संसारमें सदाचारोपदेशका काम भारतवर्षका रहा है। हमारे पास ज्ञान, वैराग्य और विवेककी जो अनुपम निधि है, उसका लाभ उठानेके लिये सारा संसार हमारी ओर टकटकी लगाये है। दूसरे शब्दोमे कहे तो शताब्दियोसे जगद्गुरुका स्थान भारतके लिये पुनः रिक्त है। किंतु हम अब इस पदके योग्य तभी होगे; जब वेदान्त और गीताको ठीक-ठीक समझ ले, उनके अनुरूप लोगोके चरित्रका निर्माण करे और अपने देशको स्वर्गका नमूना बना ले।

विभिन्न प्रसङ्गोंमें चारित्र्य

(लेखक—डॉ० श्रीलक्ष्मणप्रसादजी नायक, एम्० ए० (हिन्दी, राजनीतिविज्ञान), राष्ट्रभाषा-रत्न,' एच्० टी० टी० सी०, बी० एड्०, पी-एच्० डी०)

मनुष्य-जीवनमें चरित्रका स्थान बडे महत्त्वका है। एक अंग्रेजी कहावतके अनुसार 'धन चले जानेपर कुछ नष्ट नहीं होता, स्वास्थ्यहानिपर कुछ नष्ट होता है, परंतु चरित्रके नष्ट होनेपर सब कुछ नष्ट हो जाता है।'

चरित्र एव जीवनकी परिभाषा व्यापक है। अमरकोशमे कहा गया है—**'शुचौ तु चरिते शीलः'**—शुद्ध आचरणका नाम शील है (३।२६)। विभिन्न शब्दकोशोमें शीलके लिये उत्तम स्वभाव, आचरण, करनी, करतल, चरित्र, जीवन, सदाचार, विनयपूर्वक शिष्ट-शुद्ध वृत्ति, आचरण आदि पर्याय मिलते है। निर्दोष, स्वच्छ, निष्पाप, निष्कलङ्क, पवित्र अथवा उज्ज्वल शुद्ध आचरण शील है। सामान्य अर्थमे वही व्यक्ति चरित्रवान् कहा जा सकता है, जिसकी भावनाऐं मनुष्यत्वसे युक्त हो, जो प्रत्येक कार्यमे दूसरोंके सुख एवं हितका ध्यान रखे तथा प्रत्येक कार्यसे दूसरोको सुख एवं लाभ पहुँचाये।

प्राचीन युगोमे चरित्रपर पूरा-पूरा ध्यान दिया जाता था; क्योकि मुक्तिकी प्राप्तिके लिये लोकरञ्जन भी आवश्यक था। इसकी प्राप्तिके बिना अभीष्ट-प्राप्ति दुष्कर थी। लोकरञ्जना, जनानुराग उच्चकोटिकी नैतिकतासे ही प्राप्त हो सकती है। अतः सभी सम्पदाओंसे बडी सम्पदा थी—सच्चरित्रता। इसी सत्यको लेकर ही सभी मनीषियोने मानवको सच्ची मानवतातक ले जानेका भगीरथप्रयत्न किया है। इसी भावको लक्ष्य कर कबीरने कहा था—

> सीलवन्त सबतें बडो, सबै रतनकी खान।
> तीन लोक की सम्पदा, रही सील मे आन॥

उन्होने और भी कहा है—

> ज्ञानी ध्यानी संयमी, दाता सूर अनेक।
> जपिया तपिया बहुत हैं, सीलवंत कोई एक॥

प्राचीन युगोका समाज निश्चय ही सत्पथगामी 'शील'-की दृष्टिसे एक आदर्श समाज था; क्योकि उस समाजमे शीलवन्त व्यक्तिकी मॉग थी। आर्यत्व प्राप्त कर लेना किसी भी अर्थमे देवत्वसे कम महत्त्वपूर्ण न था। 'अनार्य' शब्द गालीके तुल्य हो गया था। भगवान् बुद्धने सत्यको 'आर्य' विशेषणसे भूषित कर दिया था। यह आर्य सत्य दूसरे सत्योसे श्रेष्ठ माना गया है। बुद्धके अनुसार आर्यसत्यके चार प्रकार है—

१—दुःख—आर्यसत्य ।

२—दुःख-समुदाय—आर्यसत्य ।

३—दुःखनिरोध—आर्यसत्य ।

४—दुःख-निरोधकी ओर ले जानेवाले मार्ग—आर्यसत्य । आर्यसत्यका अर्थ है—श्रेष्ठ सत्य । सदाचारी, धार्मिक आर्यव्यक्ति ही ब्रह्मभवनसमर्थ होता है । महाभारतमें कहा गया है—

यदा न कुरुते भावं सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥
(महा० १२ । १७४ । ५२, १७५ । २७)

आर्यधर्मके लक्षणमें मनुने कहा है—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
(मनु० ६ । ९२)

समाजके संरक्षण-हेतु धर्मका आविर्भाव हुआ है । जो धारण कर लेनेपर समाजकी रक्षा करनेमें समर्थ है, वही धर्म है । धर्म स्वर्य माना जाता था । पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है—'जीवनमें सद्गुणोंकी प्राप्ति मोक्ष, निर्वाण अथवा कैवल्यकी प्राप्ति लगातार प्रयत्नों एवं प्रयोगोंसे होती है ।' गीताके अनुसार अनेक जन्मोंतक प्रयत्न एवं प्रयोगोंसे ही यह दुर्लभ मोक्ष प्राप्त होता है ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ।
(गीता ६ । ४५)

जातककथाओंमें उन्नतिके छः द्वार बतलाये गये हैं—

आरोग्यमिच्छे परमं च लाभं
सीलं च वुद्धानुमतं सुतं च ।
धम्मानुवत्ती च अलीनता च
अथस्स द्वारा पमुखा छद्देते ॥*

नीरोगता, सदाचार, ज्ञान-वृद्धोंका उपदेश और बहुश्रुतता, धर्मानुकूल आचरण एवं अनासक्ति—ये छः अर्थके द्वार हैं ।

सीलं किरेव कल्याणं सीलं लोके अनुत्तरम् ।†

शरीर, वाणी तथा मनसे सदाचारके नियमोंका पालन करना ही आचार—शील है । भगवान् बुद्धने शीलके चार प्रकार बतलाये हैं—‡

१—चातुपरिसुद्धिसील (पातिमोक्खसंवरशील)

२—इन्द्रिय संवरसील ।

३—आजीवनपारिसुद्धि संवरसील ।

४—पच्चयसन्निस्सित संवरसील§ ।

'धम्मपद'में कहा गया है—'धम्मपदं कुसलो पुप्फमिव पच्चेसति'—कुशल मनुष्य भलीभाँति उपदिष्ट धर्मके पदोंको पुष्पकी भाँति चयन करेगा । 'शील'से प्राप्त होनेवाले लाभकी गणना करते हुए भगवान् बुद्धने पाटलिपुत्रके उपासकोंको सम्बोधित कर कहा था—१—पाप-विषयमें लिप्त न हों, सदाचारी बना रहे और अप्रमादी रहकर कर्त्तव्यका पालन करनेसे अपार भोग-वस्तुओंकी अनायास प्राप्ति होती है । शील-पालनका यह पहला लाभ है । २—शीलवान्‌का सुयश सर्वत्र फैलता है । यह दूसरा लाभ है । ३—शीलवान् पुरुष निर्भय रहता है । यह तीसरा लाभ है । ४—मरते समय शीलवान् अपना ज्ञान नहीं खोता, होशमें रहता है । यह चौथा लाभ है । ५—मरनेके बाद सुन्दर गति प्राप्त होती है, स्वर्गमें जन्म ग्रहण करता है, यह पाँचवाँ लाभ है ।×

चरित्र केवल चरित्रके लिये नहीं है । जीवनको ऊपर उठानेके लिये, भौतिक एवं आध्यात्मिक सुखके लिये, भय, अशान्ति, अन्याय, दुराचारसे दूर रहनेके लिये शील ही एकमात्र शक्ति है जो अमरत्व प्रदान करता है । 'सदाचार ही जीवन है ।' धम्मपदमें सदाचारकी महत्ताका वर्णन करते हुए कहा गया है—

* अत्थस्सद्वारजातक । † सीलविमंसजातक । ‡ मज्झिमनिकाय । § धम्मपदं, पुप्फवग्गो, ४४ । १ ।

× विनयपिटक—राहुल सांकृत्यायन १९३५ पृ० २३९

चन्दनं तगरं वापि उपलं अथ वस्सिकी।
एतेसं गन्धजातानं सीलगन्धो अनुत्तरो॥

'चन्दन, तगर, कमल या जुही—इन सबकी सुगन्धोंसे सदाचारकी गन्ध उत्कृष्ट होती है।'

'धम्मचारी सुखं सेति अस्मि लोके परम्हि च।'

धर्मका आचरण करनेवाला इस लोकमें तथा दूसरे लोकमें सुखपूर्वक रहता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी सत्य एवं धर्मके विषयमें कहा है—

सत्यमूल सब सुकृत सुहाए। वेद पुरान विदित मुनि गाए॥
धर्म न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना॥

'ऐतरेय-ब्राह्मण'में शीलका महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि वैराग्यकी स्थिति तभी पैदा हो सकती है, जब समाजका प्रत्येक व्यक्ति शीलवान् हो, वह दुर्गुणों एवं विकारोंसे ग्रस्त न हो। किंतु बड़े दुःखकी बात है कि ऐसे गौरवमय चरित्र-प्रधान देशमें इस समय दुराचारकी ऐसी हवा फैली है कि हम सभीकी आँखें फूट चुकी हैं, चाहे जो जहाँ भी है। यह कैसी बुराई है अनर्थकी! 'धम्मपद'मे कहा गया है—

सेय्यो अयोगुलो भुत्तो तत्तो अग्गिसिखूपमो।
यं चे भुजेय्य दुस्सीलो रट्ठपिण्डमसञ्ञतो॥
(लोकवग्ग १६८।२)

'दुराचारी तथा असंयत मनुष्यके लिये राष्ट्रका अन्न खानेकी अपेक्षा अग्निकी सिखाके समान जलता हुआ लोहेका गोला खाना श्रेयस्कर है।' वहीं आगे कहा गया है कि जहाँ दुराचार है, वहाँ स्वतन्त्रता नहीं है—

यस्स अच्चन्त दुस्सील्यं मालुवा सालमिवोततं।
करोति सो तथतानं न इच्छतीशालस्मियाततम्॥
(अत्तव० १६२।६)

'दुराचारी मनुष्य शत्रुकी इच्छाके अनुसार कार्य करता है, जिस तरह मालुवा लता साल-वृक्षको कटनेके बाध्य कर देती है।' और भी कहा गया है—

यो च वस्ससतं जीवे दुस्सीलो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो सीलवन्तस्सझायिनो॥

'दुराचारी और असयत रहकर सौ वर्षतक जीवित रहना निरर्थक है। पर सदाचारी और संयत रहकर एक दिनका जीवित रहना श्रेष्ठ है।' ऋग्वेदमें कहा गया है—

'ऋतस्य पंथां न तरन्ति दुष्कृतः।'
(९।७३।६)

जो व्यक्ति जातिसे पतित है, जो संस्कार, कुल, संगति अथवा किसी भी दृष्टिकोणसे गिर चुका है, वह सत्यके मार्गको पार नहीं कर सकता। असत्पुरुष-(दुराचारी-)का किया हुआ उपकार भी नष्ट हो जाता है। इसी बातको बुद्धने इस प्रकार कहा है—

यथा बीजं अग्गिस्मिं डहति न विरुहति।
एवं कतं असप्पुरिसं ह्रहति न विरुहति॥

रहीम कविने भी कहा है—

रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।
पानी गये न ऊबरे, मोती मानुष चून॥

भारतीय संस्कृति गौरवमय चरित्रोंसे गढ़ी गयी है, जो चिर-परम्परित विश्व-सभ्यताको दिग्दर्शन कराती रही है। एक विद्वान्के कथनानुसार चरित्रमें सामान्य आचार, व्यक्तिगत आचार, कुटुम्ब-आचार, जातिपरक आचार, राष्ट्रपरक आचार, विश्वपरक आचार, विशिष्ट आचारके अन्तर्गत—वर्णके विशिष्ट आचार, आश्रमके विशिष्ट आचार, स्त्रियोंके विशिष्ट आचार, दैनिक आचार, नैमित्तिक आचार आदि भी ग्राह्य हैं। वस्तुतः इन सभीकी ओर ध्यान दिया जाना आवश्यक है।

चरित्रकी आदर्शभूत चरितार्थता

(लेखक—पं० श्रीसदानन्दजी द्विवेदी, साहित्याचार्य, आयुर्वेदाचार्य, साहित्यरत्न, एम्० ए०, डिप्० इन० एड्०)

वेदशास्त्रोंके अध्ययन एवं सत्पुरुषोंकी सत्संगतिद्वारा मनुष्य विवेक प्राप्त करता है। फिर वह अपनी सत्प्रवृत्तियोंको जाग्रत् कर तदनुकूल आचरण करता है। ये प्रवृत्तियाँ जब जीवनका अङ्ग बन जाती हैं, तब चरित्र-संज्ञासे अभिहित होती हैं। वेदोंके सारतत्त्व 'वेदमाता गायत्री'-महामन्त्रमें भी विवेकके लिये ही प्रार्थना की गयी है—**ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्**,—'उस सविता देवताके वरेण्य भर्ग प्रकाशका हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धिको (सत्कर्मके लिये) प्रेरित करे'। इस चौबीस अक्षरके लघुमन्त्रमें सविता देवतासे बुद्धिको सन्मार्गकी ओर प्रेरित करनेकी प्रार्थना की गयी है। निश्चय ही यह प्रेरणा चरित्रविधायक सत्कर्मोंके लिये प्रार्थित है।

उपनयन-संस्कार एवं गायत्री-मन्त्रका उपदेश पाकर भारतीय विद्यार्थी गुरुकुलमें प्रवेश करते थे और पूर्ण ब्रह्मचारी रहकर लगभग पचीस वर्षोंतक आश्रमका पवित्र जीवन व्यतीत करते थे। चरित्र-निर्माण एवं ज्ञानार्जनके साथ ही तपःपूत जीवन समाप्त करनेपर उन्हें गृहस्थ-जीवनमें प्रवेश करनेकी अनुमति मिलती थी। समावर्तनके समय वे आजीवन इन कर्त्तव्योंके पालनके लिये प्रतिज्ञा-बद्ध होते थे। उनके लिये गुरुके उपदेश थे—'सत्य बोलो, धर्मका पालन करो। सद्ग्रन्थोंके स्वाध्यायमें प्रमाद मत करो। सत्यसे कभी नहीं डिगना चाहिये। धर्ममें कभी प्रमाद न करना, शुभ कर्मोंसे कभी नहीं चूकना चाहिये। वेदोंके पढ़ने और पढ़ानेमें कभी भूल नहीं करनी चाहिये। देवकार्यसे और पितृ-कार्यमें कभी नहीं चूकना चाहिये। माताको देवता मानो; पिताको देवता मानो। आचार्यको देवता मानो; अतिथिको देवता मानो। जितने अनिन्दित (अच्छे) कर्म हैं, उनका सेवन करना चाहिये, इतर अर्थात् निन्दित कर्मोंका नहीं; हमारे आचरणोंमेंसे भी जो-जो अच्छे चरित्र हैं, उन्हींका सेवन तुमको करना चाहिये, दूसरोंका कभी नहीं।'

विद्यार्थी गुरुकुलमें प्राप्त इन उपदेशोंका पालन गृहस्थ-जीवनमें करते थे। इससे समाजमें आदर्श उदाहरण उपस्थित होता था। फलतः चरित्रपर विशेष बल पड़ता था। चरित्र-निर्माण ब्रह्मचर्य-आश्रमीय जीवनका मुख्य लक्ष्य था। इसीलिये ये विद्यार्थी विश्ववासियोंको चरित्रशिक्षणके लिये ललकार कर कहते थे—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्याः सर्वमानवाः॥

'इस देश- (भारत-)में उत्पन्न अग्रजन्मा- (ब्राह्मण-)से पृथ्वीके सभी लोग अपने-अपने चरित्रको सीखें।' (हम चरित्रके प्रयोक्ता आचार्य हैं।)

इस सम्बन्धमें तक्षशिला गुरुकुलके स्नातक आचार्य चाणक्यका निदर्शन अत्यन्त प्रेरणाप्रद है। एक बार उनकी पर्णकुटी (झोपड़ी) पर एक विदेशी उनसे मिलने आया। द्वारपालने उसके आनेकी सूचना दी। आचार्य चाणक्य उस समय मगध साम्राज्यके महामन्त्रीके रूपमें राजकीय कार्यसम्पादनमें व्यस्त थे। उन्होंने थोड़ी देरके बाद मिलनेकी स्वीकृति दे दी। कुछ देर बाद उन्होंने जलते हुए दीपकको बुझा दिया और एक दूसरा दीपक जलाकर विदेशी यात्रीको बुलाकर बातें कीं। लौटते समय उस यात्रीने मिलनेमें तनिक विलम्ब होनेका कारण जानना चाहा। उसने एक जलते हुए दीपकको बुझाने तथा उसके स्थानपर दूसरा दीपक जलानेका रहस्य भी जानना चाहा। वह अलगसे झोंपड़ीमें होनेवाले कार्यकलापको देख चुका था।

महामन्त्री चाणक्यने कहा—'महाशय ! मै राज्यके आवश्यक कार्योके सम्पादनमे व्यस्त था और उसे पूरा कर ही मैने मिलना उचित समझा, अतः थोड़ी देर हो गयी। पहला दीपक राजकीय था, अतः उसका उपयोग केवल राजकीय कामके लिये किया गया। आपसे मिलना यह स्वकीय काम था, अतः मैने स्वकीय दीपक जलाकर अपना काम किया।' आचार्य चाणक्यके इस उत्तरसे यात्री विस्मित हुआ। काश ! आजके पदाधिकारी चाणक्यसे प्रेरणा लेते।

पुराणोमे भी चारित्रिक प्रसङ्गोका उल्लेख करके चरित्र-निर्माणपर बल दिया गया है। महाभारतके 'शान्ति-पर्व' में वर्णित कपोतदम्पतिका आख्यान कितना प्रेरणा-प्रद है। शरणागत हुए शत्रु व्याधेको कष्ट-मुक्त करनेके लिये उस कपोतने सूखे पत्ते इकट्ठे किये। आगका प्रबन्ध किया और उसे ठंडकसे मुक्त किया। अन्तमे स्वयं अग्निमें जलकर उसकी भूख भी मिटायी। आतिथ्य सत्कारका यह चरित्र और कहाँ है ?

जटायुने रावणके अनाचारके विरुद्ध संघर्ष किया और अपनी जान गँवायी। बन्दर-भालुओने दुराचारीके दमनमे भगवान् रामका साथ दिया। इस प्रकार मानवचरित्रसे पशु-पक्षी भी प्रभावित हुए और अपने दिव्य चरित्रोसे अमर बन गये। रामचरित-मानसके नायकपक्षीय सभी पात्रोके चरित्र आदर्शभूत थे। प्रतिनायक रावणके सभी पात्र चारित्र्यशक्तिसे रहित थे, अतः वह पराजित हुआ—चरित्रं जयति।

महर्षि व्यासने श्रेष्ठताका आधार चरित्रको माना है, यक्षने जलके लिये समागत युधिष्ठिरसे श्रेष्ठताका आधार जानना चाहा—

राजन् ! कुलेन वृत्तेन स्वाध्यायेन श्रुतेन वा।
ब्राह्मण्यं केन भवति प्रब्रुह्येतत् सुनिश्चितम्॥

'राजन् ! यह सुनिश्चित कर बतलाये कि **ब्राह्मण्य** किससे प्राप्त होता है—कुलसे, चरित्रसे, स्वाध्यायसे अथवा बहुश्रुत (अधिक अध्ययन)होनेसे ? युधिष्ठिरने स्पष्ट शब्दोमे चरित्रकी महत्ता बतलायी और कहा—

शृणु यक्ष कुलं तात न स्वाध्यायो न च श्रुतम्।
कारणं हि द्विजत्वे च वृत्तमेव न संशयः॥
वृत्तं यत्नेन संरक्ष्यं ब्राह्मणेन विशेषतः।
अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥

यक्ष ! सुनो, श्रेष्ठताका कारण कुल, स्वाध्याय या ख्याति नहीं, निःसन्देह चरित्र ही है। इसलिये यत्नपूर्वक चरित्रकी सर्वथा रक्षा करनी चाहिये और ब्राह्मण-(श्रेष्ठ-)को तो विशेष रूपसे, क्योकि चरित्र क्षीण नहीं होनेपर मनुष्यका कुछ भी क्षीण नहीं होता और चरित्र क्षीण होनेपर तो सब कुछ नष्ट ही समझना चाहिये। स्मृतिकार मनुने धर्मके लक्षण बतलाते हुए कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

वेदोंका अध्ययन, शास्त्रोका चिन्तन, सदाचारका पालन तथा अपनी आत्माका प्रिय करना—ये चार धर्मके प्रत्यक्ष लक्षण है। वेदो एवं शास्त्रोका अध्ययन सदसद्विवेक उत्पन्न करता है और उससे हम कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्यको पहचानकर अपनी आत्माके प्रिय करनेके लिये सत्य, अहिंसा इत्यादि सत्प्रवृत्तियोका सेवन करते हैं। इस प्रकार धर्म एवं चरित्र एक दूसरेके पूरक बन जाते है। विवेक चरित्रकी आधार-शिलापर ही निर्भर रहता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने सत्संगतिको विवेकका मूल कारण माना है—

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई॥

रामकी कृपा होती है तो चरित्रकी मूर्ति संत मिलते है और तब फिर विवेक होता है। लगता है चरित्र ही विवेकका जनक है। चरित्रके बिना कोई संत हो भी कैसे सकता है ? साधुके चरित्रके सम्बन्धमे गोस्वामीजी लिखते हैं—

साधुचरित सुभ सरिस कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा। बंदनीय तेहिं जग जस पावा॥

वेद-शास्त्रोंका स्वाध्याय सत्सङ्ग है । राजर्षि मनुके विचारमें दुराचारी पुरुष निन्दित, दुःखी, रोगी एवं अल्पायु होता है । चरित्रहीन और हिंसक व्यक्ति कभी सुखी नहीं होता । भारतेन्दु हरिश्चन्द्रने कहा था—'शरीरमें चरित्र ही मुख्य वस्तु है, वचनसे उपदेशक और क्रियादिसे कैसा ही धर्मनिष्ठ क्यो न हो, पर यदि उसके चरित्र शुद्ध नहीं हैं तो वह लोगोंमें टकसाल न समझा जायगा ।'

अमेरिकाके राष्ट्रपति अब्राहम लिंकनसे किसीने पूछा—महानता-(महत्ता-) का सर्वप्रधानलक्षण क्या है ? उन्होंने झट कहा—'सच्चरित्रता' । इतिहास लिंकनके इस उत्तरकी पुष्टि करता है । अब्राहम लिंकनका चरित्र राष्ट्रके लिये आदर्श था । संतोंको त्याग एवं चरित्रके कारण ही समाजमें सदैव आदर मिलता रहा । वे समाजको समर्पित होकर 'महात्मा' कहलाये । गौतम बुद्ध एवं महावीरने 'बहुजनहिताय बहुजनसुखाय' अपनेको न्योछावर कर दिया था । उनके सत्य एवं अहिंसाका संदेश विश्वके कोने-कोनेमें पहुँचाया गया । अङ्गुलिमाल-जैसे बर्बर दानवके चरित्र सुधारनेमें उन्हें सफलता मिली । अशोक-जैसे सम्राट्ने उनके विचारोंके प्रचारमें अपनेको तथा अपने पुत्र एवं पुत्रियोंको लगा दिया । चरित्रबलपर उन्होंने समाजमें अद्भुत सम्मान प्राप्त किया ।

सत्य, अहिंसा, अस्तेय (चोरी नहीं करना), ब्रह्मचर्य, असंग्रह, बुद्धि, विद्या, अक्रोध, वितृष्णा, परोपकार आदि सद्गुणोंको जीवनका अंग बनाना ही तो चरित्र-निर्माण करना है । मा-बहनोंको श्रद्धामयी दृष्टिसे देखना, आर्थिक शुद्धि अपनाना, परिश्रमकी सम्पत्तिपर स्वत्व रखना, सेवाभाव अपनाना, सभीके साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार रखना तथा विश्वबन्धुत्वकी भावना जगाना ही मनुष्यको देवता बनाना है ।

चरित्रकी आभा व्यक्तित्वको निखारती है । मनुष्य सर्वदा स्वार्थके धरातलपर नहीं रह सकता । लोकका सुख-दुःख भी उसका अपना सुख-दुःख होता है । चरित्रद्वारा मानव इन्द्रिय-निग्रही बनकर निवृत्तिमार्गी भी बन सकता है और इस प्रकार वह इहलौकिक एवं पारलौकिक दोनों सुखोंको प्राप्त कर सकता है । पर चरित्रका सबल चाहिये ।

आर्य सभ्यताके युगसे लेकर आजतक देशने कितने उत्थान-पतन देखे । विभिन्न सभ्यताओं एवं संस्कृतियोंने भारतीय संस्कृतिको प्रभावित किया, फिर भी हम आचरणकी पवित्रताको महत्त्व देते रहे । 'आचारप्रभवो धर्मः' हमारा सिद्धान्त बना रहा । तभी हमारा धर्म सनातन या शाश्वत कहलाया ।

सम्प्रति कुछ लोग चरित्रको छोड़ते जा रहे हैं । भ्रष्ट भोजन, चलचित्रोंका नग्नप्रदर्शन, लक्ष्य-विहीन शिक्षा, अंग्रेजी भाषा एवं सभ्यताके प्रति आकर्षण तथा स्वार्थपरताने आज मनुष्यको अन्धा बना दिया है । बच्चा माँको 'मम्मी' एवं पिताको 'पप्पा' कहने लगा है । दुर्घटनाग्रस्त लोगोंको सहायता देनेके बदले उनकी सम्पत्ति हथियानेमें तत्परता देखी जा रही है । आपद्ग्रस्त लोगोंको दी जानेवाली सहायता-सामग्री अन्यत्र चली जाती है । राम, कृष्ण, सीता, सावित्री अनुसूयाके देशमें चरित्र उन्नयनकी चिन्ता नहीं है ! शिक्षितों एवं अशिक्षितोंका आचरण एक-जैसा हो गया है । चरित्रहीन व्यक्ति समाजमें आज माथा ऊँचा करके चलता है । पथ-निर्देशक ही पथभ्रष्ट हो गये हैं । मनुष्य पैसेके पीछे पागल है । मानव मानवके रक्तका भी प्यासा बन गया है । चारों ओर संघर्ष एवं कलहपूर्ण वातावरणका साम्राज्य है । शिक्षालयोंका वातावरण संघर्षपूर्ण है । वैज्ञानिक लोक-कल्याणसे अधिक लोक-संहारके उपकरण एकत्र करनेमें लगे हुए हैं । परम्परागत भारतीय परिवार टूटता जा रहा है ।

इन विषम परिस्थितियोंसे समाजको बचानेके लिये आदर्शात्मक चरित्र-निर्माणकी अत्यन्त अपेक्षा है। यह तभी सम्भव है, जब शिक्षाप्रणालीमें आमूल परिवर्तन किया जाय और उसे भारतीय परम्पराके अनुकूल बनाकर उद्योगोन्मुखी बनाया जाय; आदर्श और व्यवहारका समन्वय उपस्थित किया जाय; चरित्र-शिक्षा अनिवार्य की जाय।

चलचित्रोने समाजको पूर्णरूपसे प्रभावित किया है। खान-पान, रहन-सहन सबपर उसका प्रत्यक्ष प्रभाव है। अतः उसमे अपेक्षित सुधार करके उत्तेजक चित्रों-पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिये तथा चरित्रको उन्नत बनानेवाले चित्रोंका प्रदर्शन होना चाहिये। श्रमकी प्रतिष्ठा होनी चाहिये तथा गर्हित कर्म करके धन कमानेवालोंकी सामाजिक उपेक्षा होनी चाहिये। अर्थार्जनकी पुनीत पद्धतिका आदर्श स्थापित हो, तभी स्पर्धावाली धन-लोलुपता समाप्त होगी और तब चरित्र पनपेगा। अर्थार्जनकी होड़ तथा विलासिताकी प्रवृत्ति राष्ट्रिय चरित्र-निर्माणमे बाधक बनी हुई है।

पाठ्यक्रममें महान् पुरुषो एवं उत्तम आचरणवाली महिलाओके जीवन-चरितको स्थान मिलना चाहिये। भ्रष्ट साहित्यके प्रकाशनपर नियन्त्रण रखना होगा तथा सत्साहित्यका प्रचार-प्रसार करना होगा। गंदे साहित्यसे चरित्र गिरता है, गिरता जा रहा है। चरित्र-निर्माण-सम्बन्धी धार्मिक सद्ग्रन्थो —श्रीमद्भगवद्गीता एवं श्रीरामचरितमानससे दिव्य विचारोंको लेकर चल-चित्रोंद्वारा तथा समाजसुधारक संतोद्वारा प्रचार कराना होगा। माता-पिता अपने बच्चोको चरित्रशील नागरिक बनानेके लिये अपेक्षित गुणोके विकासमें हाथ बटायें, तभी देशका अधिक कल्याण होगा। प्रारम्भसे ही पारिवारिक वातावरणको भारतीय परम्पराके अनुकूल तथा शिक्षालयके वातावरणको स्नेहपूर्ण गुरुकुलके अनुरूप बनाकर हम आनेवाली संतानके चरित्रको उत्तम बना सकते हैं। प्रारम्भसे ही बच्चोंको मात्र अर्थोपार्जनकी कामनासे अंग्रेजी सिखलानेपर बल दिया जाता है; इसपर नियन्त्रण करना होगा। अगर माता-पिता उसी अवस्थासे संस्कृत या हिन्दी भाषामें आये सुन्दर विचारोंसे बच्चोको अवगत कराते तो निश्चय ही देशमे चरित्रबलवाले व्यक्तियोकी सख्या अधिक होती। चरित्रसे उनका भी जीवन आनन्दमय होगा और राष्ट्रका भी परम कल्याण होगा।

चरित्र-शिक्षाकी दिशा

बाल्यकाल चरित्र-शिक्षाका समुपयुक्त समय है। बालकका चरित्र-निर्माण बाल्यावस्थासे ही प्रारम्भ हो जाता है। चरित्रकी नींव माता-पिताकी संस्कृति होती है और उसकी भित्ति-सामग्री सामाजिक परिवेश होता है। माता-पिताकी संस्कृति जैसी होती है, बालकका चरित्र भी वैसा ही बनता जाता है। दयाशील, सहृदय, सौहार्द-सम्पन्न व्यक्तिका बालक संकोची, विनयी एवं सुशील बनता है, पर क्रूर-कुटिल कठोर एवं हृदयकी संतान दुःशील निर्दयी और निर्मोही निकलती है। अतः यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि यदि आप चाहते हैं कि आपकी संतान सुसंतान बने, सदय, सहृदय और सुसंस्कृत हो तो आप भी वैसे अवदात अनवद्य गुणोंका आत्मावधान कीजिये। संतानोत्पत्ति सोद्देश्य होनी चाहिये। हमें भावना करनी चाहिये कि हमारी संतान देश-धर्मकी सेवामे तन, मन लगानेवाली और प्रभुभक्त हो। तभी हम चरित्रशील पुत्र-पुत्रियाँ उत्पन्न कर अपना तथा देशका कल्याण और विश्वका मङ्गल कर सकते हैं। चारित्र्यसे युक्त राम-जैसे पुत्र उत्पन्न करनेवाले देशमें 'रावण' उत्पन्न न हो, इसके लिये उक्त दिशाका पथिक बनना चाहिये। पर प्रश्न यह होता है कि क्या हम इस दिशामें बढ़ रहे हैं?

स्वाध्यायसे चरित्रनिर्माण

(लेखक—श्रीनागोराव वामनकरजी एडवोकेट)

'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः' (योग २ । ४४)

अर्थात् 'वेदादि ग्रन्थों एवं प्रणवादिके जपपरायण व्यक्तिको इष्ट देवताका साक्षात्कार होता है ।' व्यासभाष्य और भोजवृत्तिमें कहा गया है कि 'इच्छित ईश्वरीय शक्तिके दिव्य प्रभाव रखनेवाले देवता, ऋषि और सिद्ध, जो अदृश्य-रूपसे जगत्में संचार करते रहते हैं, वे सब अभ्यास और वैराग्ययुक्त साधन करनेवालोंको प्रत्यक्ष होकर इष्ट-सिद्धिके लिये मार्गदर्शन कराते हैं ।' सद्ग्रन्थों और सच्छास्त्रोंका नियमपूर्वक पठन तथा श्रवण-मनन, निदिध्यासन एवं नाम-जपको स्वाध्याय कहा जाता है । यही सत्सङ्ग है । ऐसे स्वाध्यायीको उसके उद्दिष्ट और प्रभावी चरित्र-निर्माणमें यह तत्त्वज्ञान अलौकिक सहायक होगा—इसमें क्या संदेह ?

मनुष्यका अपने जीवनको उन्नत और श्रेष्ठ बनाना ही चरित्र है। समुद्रका खारा जल आकाशमें उन्नत होकर अमृततुल्य जीवनप्रद बनता है, परंतु उस स्थितिको पहुँचनेके लिये जिस प्रकार सूर्यके प्रकाश और उष्णताकी आवश्यकता है, वैसे ही मनुष्यके चरित्र-निर्माणके लिये ज्ञान और पावित्र्य आवश्यक है । इन दोनोंकी प्राप्ति स्वाध्यायसे होती है । सच पूछे तो मनुष्यका अपना चरित्र बनानेमें न कोई दुःख है और न सुख है । यह उसका एक पवित्र कर्तव्य है, जिसको साहस और निःस्वार्थभावसे तथा भगवत्कार्य समझकर पूर्ण करना चाहिये ।

केवल दीर्घकालतक जीना ही बड़ी चीज नहीं । कालके पृष्ठभागपर अपना विशेष चिह्न छोड़ना चरित्र है । प्रत्येक मनुष्य अपने अदृष्टका नियन्ता नहीं, बल्कि अपने चरित्रका कलाकार है । चारित्र्य एक **हीरा है,** जो हर किसी अन्य पत्थरपर लकीर बना सकता है । चारित्र्यका ही दूसरा नाम व्यक्तित्व है, जिससे हर कोई प्रभावित हो जाता है । चारित्र्य व्यक्तिके निजी प्रयत्नोंसे बनता है, वह किसीकी देन नहीं । चरित्रनिर्माण व्यक्तिके स्वाध्याय, श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा आचरणसे बनता है । शारीरिकशक्ति, मन और बुद्धिकी शक्ति निःसंशय बड़ी हुई होती है, परंतु आत्मिक बल इन सबसे बढ़कर होता है । यही उस व्यक्तिका चारित्र्य है, जिसके आगे इतर सारी शक्तियाँ झुक जाती हैं । ऐसी महती शक्तिके निर्माता स्वयं हम ही हैं—

'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥'
(गीता ६ । ५)

चरित्र बननेपर कीर्ति उसके पीछे स्वयं आती है । कोई मन्त्र, काव्य, चित्र, कला या साहित्य उस समयतक जाग्रत, सजीव तथा परिणामकारी न होगा, जबतक कि व्यक्तियोंका चारित्र्य बनानेवाला आत्मबल उसके पीछे न हो । यही आत्मबल व्यक्ति, समाज और राष्ट्रको गौरव प्राप्त करा सकता है । वही आत्मोद्धार, समाजोद्धार और जगदुद्धार करानेमें समर्थ होगा । सेनाका मूल सिपाही और उसका शौर्य होता है, वैसे ही चरित्रका मूल व्यक्तिका आत्मबल होता है ।

यह सत्य है कि प्रारम्भिक युगमें इस आत्मशक्तिसे सम्पन्न भारतीय ऋषि-मुनियोंने—'**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**' से ललकारकर जगत्को चरित्र-बलके पाठ पढ़ाये । परंतु आज भारतीयोंकी तथा आर्य-संस्कृतिका गुणगान करनेवालोंकी अथवा अन्य देशोंकी स्थिति देखनेपर दुःख होता है । आज सर्वत्र अनाचार, दुःख, दारिद्र्य, पाखण्ड, छल, कपट, दैन्य, नैराश्य तथा भयका वातावरण फैल गया है और अशान्ति, दैन्य और अन्यायका साम्राज्य

फैलता जा रहा है। आर्य तत्त्वज्ञान और दर्शनशास्त्रोंका प्रदत्त वह आत्मबल तथा जगत्के सुख-समृद्धिका वह मूल स्रोत चरित्र-निर्माण कहाँ लुप्त हो गया? और क्यों? ऐसी स्थितिमें विश्व-कल्याणका विचार करनेवाले 'कल्याण' मासिक पत्रने वर्ष १९८३ ई० के विशेषाङ्क चरित्र-निर्माणके रूपमें प्रकाशित करनेका जो सकल्प किया हैं, वह हर प्रकार समयोचित स्तुत्य और अभिनन्दनीय है।

यदि भारतवर्षपर ही विचार करें तो उसकी सर्वाङ्गीण अवनति और दास्यका कारण, अन्यदेशीय विद्वान् तथा यहाँके कुछ पदवीधर पण्डित जो केवल पाश्चात्त्य पण्डितोंके विचारको ही दुहरानेमें अपनेको कृतकृत्य मानते हैं, यह बतलाते हैं कि भारतके वेदान्त-शास्त्रने ही यहाँकी जनताको निरुत्साही, विरक्त, दैववादी, हतबल, आलसी, ढोंगी और भिखारी बना दिया; उसीके फलस्वरूप भारत हीन-दीन बना और दूसरोंकी दासतामें फँस गया; अतः यह वेदान्त-दर्शन सर्वतोपरि निरुपयोगी और त्याज्य है। ऐसा बुद्धिभेद उनकी तरफसे बुद्धि-पुरःसर किया जा रहा है अथवा उनकी मान्यता ही वैसी हैं, यह तो हम नहीं कह सकते, परतु इस प्रकारके विचारोंको योगशास्त्रमें 'अविद्या' नाम दिया गया है। सत्यको असत्य, दुःखको सुख, मलिनको निर्मल, नाशवान्को अविनाशी समझना 'अविद्या' है। यही अविद्या भविष्यके सारे दुःखपरम्पराका मूल हुआ करती है। वस्तुतः वेदान्तदर्शन आत्मिक बल प्रदान करनेवाला, पुरुषार्थके लिये प्रेरित-प्रवृत्त करनेवाला तथा व्यक्तिके चरित्र-निर्माणका मार्ग बतलानेवाला है। इसके स्वाध्याय, श्रवण, मनन, निदिध्यासन और आचरणसे प्रत्येक व्यक्ति आत्मोद्धार, समाजोद्धार और जगदुद्धारतक साध्य कर सकता है। परंतु हमारे वेदान्तशास्त्री पण्डित केवल वेदान्त वाक्योंको रटते रहनेमें ही कृत-कृत्यता मानते हैं। उसके अर्थको आत्मसात् करनेका प्रयत्न नहीं करते, तब मनन, निदिध्यासन और आचरण तो दूर ही रहा। वेदान्त विषयपर विद्वत्ताप्रचुर व्याख्यान करना ही वे पर्याप्त समझते हैं और इसे एक जीविका समझते हैं। इसीलिये कहा गया है—**'कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव'।**

ऊपर वेदान्तशास्त्रकी आत्मोद्धार, समाजोद्धार और जगदुद्धार करनेकी क्षमता बतलायी गयी है तथा उसका मूल आत्मज्ञान और चरित्र-निर्माणमें समर्थ होना बतलाया गया; वह केवल कहने-सुननेकी बात नहीं, बल्कि हम जब चाहे, तब उसका प्रयोग कर उसकी सत्यताका अनुभव कर सकते हैं। वेदान्ततत्त्व आचरणमें लानेसे सद्यः प्रतीतदायी सिद्ध होता है।

वेदान्त आत्मशक्ति जाग्रत् करनेका उपाय बतलाता है; यही चारित्र्य-निर्माणका मार्ग है। आत्मबल सब प्रकारके बलोंको जगाता और बढ़ाता है। वही सभी अलौकिक और दैवी कार्योंका मूल है। प्रत्यक्ष प्रयोग करके आत्मशक्तिको प्रकट करनेवाला तत्त्वज्ञान वेदान्त है। यह वेदान्त मनुष्यका चारित्र्य किस प्रकार बनाता है और यह साधकको आत्महित, समाजहित और विश्वहित साधनके योग्य किस प्रकार तैयार करता है, अब यह देखना चाहिये।

वेदान्तदर्शनका मुख्य और प्रसिद्ध सिद्धान्त है—**'जीवो ब्रह्मैव नापरः'**। प्रत्येक जीवात्मा परमात्माका अंशरूप कहा जाय तो उसकी सदैव यही इच्छा होगी कि वह परमात्मा-जैसा ही सत् अर्थात् सदाके लिये पूर्णरूप कायम रहे, चित् अर्थात् सारी चेतन-शक्तिका मूलस्रोत बने और आनन्दरूप अर्थात् सदा प्रेमास्पद आनन्दरूप बने। ऐसा बन जाना उसका आत्मोद्धार, समाजोद्धार और जगदुद्धार है।

१—सत्से आत्मोद्धार—हर-एक संसारी जीव अपने दुःखोंको बतलाते हुए कहता है कि कोई बात मेरी

इच्छाके अनुसार नहीं होती। मेरा बस किसीपर नहीं चलता, मेरा शरीर ही मेरे स्वाधीन नहीं है। मैं दुःखी जी रहा हूँ, इत्यादि-इत्यादि। इसपर वेदान्तदर्शन कहता है, तू अपने आपको प्रथम जान ले—'Know thyself' तब तुझे ज्ञात होगा कि यह शरीर और उसके सारे अङ्गोंमेंसे कोई भी 'तू' नहीं है। यह बात स्वयं तेरे ही कहनेसे सिद्ध होती है। 'मेरा हाथ', 'मेरा शरीर', 'मेरा मन', 'मेरी बुद्धि', 'मेरे प्राण' इत्यादि तेरे शब्द क्या बताते हैं? 'मेरा घोड़ा' कहनेसे स्पष्ट होता है कि 'तू' स्वयं घोड़ा नहीं, अपितु उस घोड़ेका तू मालिक और घोड़ेसे अलग है।' इसी दृष्टिसे 'मेरा शरीर' कहनेसे स्पष्ट है कि आप स्वयं शरीर नहीं, बल्कि आप उसके मालिक और स्वामी हैं। देह और उसकी सारी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन-बुद्धि इत्यादि सारे-के-सारे आपके सेवक हैं। आप उन सबके स्वामी और वे आज्ञाकारी सेवक।' ऐसे विनम्र, तत्पर और सद्गुणी सेवकोंकी आपको शिकायत न होनी चाहिये। आप उन सबके अकेले ही स्वामी हैं, कोई अन्य है, भी नहीं। फिर उनकी शिकायत कैसी? इन सारे आपके सेवकोंमें अनेक सद्गुण हैं, विचार करके देखिये।

१—यह सारे सेवक केवल आपकी ही आज्ञा मानते हैं।

२—हुकुम होते ही तत्काल काममें लग जाते हैं।

३—कामके होते ही फौरन आपको इत्तला देते हैं।

४—उन्हें अपने कामके सिवा दूसरा काम करने भी नहीं आता।

५—एक दूसरेके काममें दखल नहीं देते।

६—काम करनेमें अपना कोई स्वार्थ नहीं साधते।

७—अपना काम दूसरोंको नहीं सौंपते।

८—आपसमें एक दूसरेसे नहीं झगड़ते इत्यादि-इत्यादि।

ऐसे स्वामिभक्त, निरलस, तत्पर और सद्गुणी सेवकोंकी आपको शिकायत न होनी चाहिये। परंतु फिर भी आपके इच्छानुसार काम नहीं हो रहा हो तो उसका दोष इन सद्गुणी सेवकोंपर हरगिज लादा नहीं जा सकता। फिर दोष कहाँ है?

दोष तो स्वयं आपका ही दीखता है। जब आप इन्द्रियको हुकुम देते हैं, तो तत्काल वह अपने काममें लग जाती है। परंतु उसका काम पूर्ण होने भी नहीं पाता कि बीचमें ही आप कोई दूसरा हुकुम दे देते हैं अथवा उसका काम किसी दूसरेके सुपुर्द कर देते हैं। वह आज्ञातत्पर सेवक काम छोड़नेपर मजबूर हो जाता है। इसी कारण आपका हर काम अधूरा रह जायगा, इच्छानुसार न होगा। अतः प्रत्येक मनुष्यको सर्वप्रथम यह निश्चय कर लेना चाहिये कि मैं शरीर या नाम-रूपादि और कुछ नहीं, केवल आत्मा हूँ। सम्पूर्ण शरीर और उसकी सारी-की-सारी इन्द्रियों और शक्तियोंका स्वामी हूँ। अब मेरी कोई इच्छा अपूर्ण नहीं रहेगी और हर काम होकर रहेगा।

मान लीजिये कि आप यहाँ बैठे हैं और अपने पाँवको हुकुम देते हैं कि बाजार चलो। आप कुछ मत कीजिये। एक ही काम आपको करना होगा; वह यह कि अपने दिये हुए हुकुमको न बदलें। देखिये, पाँव आपको बाजार पहुँचाये बिना न रहेंगे। यही हाल सारे शरीरका है।

इस स्वामित्व अधिकारके साथ-ही-साथ आपपर एक जिम्मेदारी भी आयेगी कि नित्यशः इन सेवकोंकी हाजिरी और परेड भी लिया करें; जिससे ये सारे निरोगी, कार्यक्षम और सशक्त बने रहें। इन्हे योग्य सहाय (आहार विश्रान्ति आदि) देकर सुस्थितिमें रखे, वरना ये निरुपयोगी और आलसी बनेंगे। गीताका वचन है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥
(६।१७)

*

इस प्रकार आप शरीरके केवल जाग्रदवस्थाके ही नहीं, स्वप्न और सुषुप्तिके भी स्वामी बने रहेंगे। एक दिन नहीं, युग-युगान्तरतक स्वामी बने रहेंगे। बाल्य, तारुण्य, वृद्धत्वकालमें—जैसा आपका स्वामित्व कायम रहते आया है, उसी प्रकार मृत्युके पश्चात् भी आपका स्वामित्व सदाके लिये कायम रहता है—ब्रह्मस्वरूप आत्मा एकरूप कायम रहेगा।—**'अयमात्मा ब्रह्म'**

२-चित्‌से समाजोद्धार—ऊपर बतलाये हुए प्रकारसे जब कोई व्यक्ति अपने आत्मा और स्वामी होनेका निश्चय करके उसका आचरण करने लगे तो वह जैसा बनना चाहता है, अपने शरीर, मन, बुद्धि और सारी इन्द्रियोंको वैसा ही बना लेता है। तब बाह्य जगत्‌की सारी वस्तुएँ भी उसके समीप आकर सम्बन्धित हो जाती है और वैसे ही गुणवाली हो जाती हैं; या यों कहिये कि उस व्यक्तिके स्वभावके सदृश और समान गुणवाले पदार्थ ही उसके अतराफ जमा होकर एक समाज बना लेते हैं तथा भिन्न गुणोंके इतर पदार्थ कतराकर भाग जाते हैं। इस प्रकार बाह्य जगत् भी उस व्यक्तिके अनुकूल बन जाता है। कारण उस व्यक्तिका अन्तर्यामी आत्मा और बाह्य जगत्‌का चालक आत्मा दोनों एक हैं। फिर तो वह पूर्ण समाज भी सामर्थ्यवान् बन जाता है।

शङ्का—जब ये दोनों आत्मा एक हैं तो इनमें कभी अनुकूलता और कभी विरोध क्यों? गाय दूध देती है, शेर उसे फाड़कर खा जाता है। तब एकत्व कहाँ रहा?

समाधान—लेखक पुरुष तो एक ही है, उसीने सफेद, कागज पर काली, स्याहीसे काम लेकर लेखन-कार्य किया। लेखन-कार्यकी पूर्तिके लिये ये देखो पदार्थ एक-दूसरेके अनुकूल हैं, परंतु अन्य समयमें विरोधी। साधक उनकी अनुकूलतासे ही काम लेगा। विरोध-गुणसे उनका सरक्षण रखेगा। इस युक्तिसे व्यक्तिको समाजमें कैसे रहना चाहिये, यह बात अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—इन यमोंके द्वारा सिखायी गयी है। यम समाजके तथा शौच, समाधान, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान व्यक्तिके जीवन-यापन करनेकी पद्धति सिखानेके उद्देश्यसे बतलाये गये हैं। ऐसा योगी अथवा साधक पुरुष जगत्‌के पुण्यकर्ताओंसे आनन्द, दुःखी लोगोंपर दया और पापकर्ताओंसे उपेक्षाका व्यवहार करके जगन्मित्र बनकर समाजहितको साधता है। यह आत्मा तो अभेदरूप है; क्योंकि उसके कोई अलग-अलग हाथ-पाँव-जैसा स्वगत भेद नहीं है। उस-जैसी कोई अन्य सजातीय वस्तु भी नहीं है। सभी वस्तुएँ उसीसे सम्बन्ध रखती हैं, अतः कोई विजातीय भेद भी नहीं है। इन बातोंका ज्ञान और निश्चय हो जानेपर वह पुरुष समाजसे एकरूप होकर समाजका उद्धारकर्ता बन जाता है—**'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'**।

३-आनन्दसे जगदुद्धार—अब यहाँ इस आत्माके आनन्दरूपको देखिये। आत्मोद्धार और समाजोद्धारके साधनेपर साधकको ज्ञात हो जाता है कि इच्छा, श्रद्धा और प्रयत्नके चालू होनेपर इच्छित जगत्‌की उत्पत्ति होती है। इच्छा और श्रद्धाके कायम रहनेपर उस समयतक उसका अस्तित्व भी कायम रहता है। श्रद्धा कम हो जानेपर उसका नाश आरम्भ हो जाता है और इच्छाके लुप्त हो जानेपर उसका विनाश हो जाता है। तब इस सारे हमारे इच्छित जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय आत्माके अधीन नहीं तो और क्या है? यह सब समझकर वेदान्ती कहता है—

'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः।'
(शंकराचार्य)

'फिर मैं जनककी तरह राजा हुआ तो क्या, तुलाधार वैश्य बनूँ तो क्या? मैं कोई-सा धंधा कर लूँगा। मैं आत्मा और नित्य-तृप्त आनन्दस्वरूप हूँ।'

पुत्रार्थी या धनार्थी प्रपञ्च करते हैं, मुझे क्या करना है? स्वर्गेच्छा रखनेवाले यज्ञ करते हैं, मुझे स्वर्गसे क्या

मतलब ? कीर्ति चाहनेवाले वाद-विवाद करते हैं, मैं क्यों करूँ ? नीरोगी शरीर चाहनेवाले स्नान-भोजनादि करते हैं, मुझे भी उद्योग करनेके लिये कार्यक्षम देह चाहिये, मैं भी स्नान-भोजनादि करूँगा । शरीरकी इन्द्रिय आदिको सज्ज रखनेके लिये नियमितरूपसे आसन-प्राणायामादि करता हूँ । लोग मुझे हँसेंगे, मुझे उनके हँसनेकी कोई परवा नहीं । पुण्यसंचयार्थ लोग तीर्थ-क्षेत्रोंको जाते हैं, मैं भी संतोंके सहवासकी इच्छासे वहाँ जाऊँगा । परन्तु मेरे जानेका उद्देश्य अलग है—

तीर्थे तीर्थे जायते साधुवृन्दः
वृन्दे वृन्दे तत्त्वचिन्तानुवादः ।
वादे वादे जायते तत्त्वबोधो
बोधे बोधे भासते चन्द्रचूडः ॥
(गम्भाशुम्भ०)

कुछ लोग संशोधनकार्य, ग्रन्थलेखन, आविष्कार आदि करते हैं; मैं भी जगत्‌के कल्याणके हेतु स्वाध्यायसे प्राप्त शक्तिके अनुसार वैसे ही कार्य करूँगा । लोग मेरी स्तुति करेंगे, परंतु मुझे उनकी स्तुतिसे कोई सम्बन्ध नहीं । मेरा उद्देश्य केवल विश्वकल्याण है । लोग मेरी सादगीका मजाक उड़ायेंगे, उड़ाने दो । यह शरीर-स्नान भोजनादि करता है । मेरी वाणी भजन-कीर्तनादि करती है, इन्हें करने दो । मेरी बुद्धि ध्यानयोगका साधन करती है, ठीक है । इन सबमें मेरे मान-अपमानका प्रश्न कहाँ है ?

लोग 'मेरी तरफ' तो ध्यान ही नहीं देते तो वे मेरी स्तुति या निन्दा कहाँसे कर सकते हैं ? व्यवहारी लोग मेरे धनकी चर्चा करते हैं, वह मेरी चर्चा नहीं होती । कर्मठ लोग तन-मनको देखते हैं, वे मुझे नहीं देखते । पण्डित लोग बुद्धिको परखते हैं, मुझे नहीं परखते । ऐसे इन लोगोंसे मैं वाद-विवाद क्यों करूँ ? इन लोगोंके प्रश्नोत्तर या वाद मानो दो बहरोंका विवाद है । कोई किसीका सुन नहीं सकता । अन्ततोगत्वा दोनों थक जायेंगे । ऐसा निरर्थक परिश्रम मैं क्यों करूँ ? अलबत्ता मैं सत्संग करूँगा । दूसरोंका ज्ञान सुनूँगा, अपना ज्ञान सुनाऊँगा ।

आत्मबोध-हीन साधारण इहलोक तथा परलोकके सुखकी इच्छा करते हैं, क्योंकि वे इतना ही ज्ञान रखते हैं । जब कोई योगी या उत्तम पुरुष, जो सिद्ध स्थितिको पहुँच चुका हो, ऐसे अज्ञ लोगोंके बीच आ जाये तो उसे भी सामान्यजनों-जैसा इहलोक तथा परलोकमें लाभप्रद होनेवाला आचार-व्यवहार ही करना पड़ेगा । परन्तु यदि ऐसा ज्ञानी पुरुष मुमुक्षु, साधक अथवा सिद्ध पुरुषोंकी मण्डलीमें आवे तब उसे चाहिये कि वह उन लोगोंके भोग कैसे व्यर्थ, मिथ्या और दुःखदायी हैं, उसका स्पष्ट वर्णन करे । अभ्यास और वैराग्यका महत्त्व बताकर शुद्ध आत्मज्ञानका बखान करे । यही चरित्र-निर्माणका पाठ होगा, जिसका उद्देश्य विश्वकल्याण है ।

तात्पर्य यह कि चरित्रवान पुरुष जगत्‌के एक प्रेमी बाप-जैसा है, वैसा ही उसका वर्तन होता है । वह अपने शिशुपुत्रको खिलाता है । यदि बच्चा भी उसे खिलाने लगे तो भय खाता भी है । अज्ञानी बालकके मारनेपर भी क्रोध नहीं करता; अथवा मानो यह एक समर्थ और कुशल शिक्षक है, जो छोटे वर्गोंमें सुलभ और बड़े वर्गोंमें कठिन शब्दोंवाली भाषा बोलता है । इस कारण कोई उसे अल्पज्ञ नहीं समझेगा । यदि ऐसा कोई समझे भी तो वह शिक्षक परवाह नहीं करता । चारित्र्यसम्पन्न पुरुष भी ऐसा ही है । जो खुदको पूर्णतया जानता है, वह जीवन्मुक्त है । इस प्रकार चरित्र-निर्माणके उद्देश्यसे जो कोई व्यक्ति वेदान्तदर्शनके अनुसार प्रयत्नशील होगा, उसे कालका बन्धन भी न रहेगा—

दद्यान्नावसरः कश्चित् कामादीनां मनागपि ।
आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद् वेदान्तचिन्तया ॥
'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'

— ०० —

चरित्र-निर्माणके चौबीस सूत्र

(अवधूत दत्तात्रेयद्वारा इङ्गित)

(लेखक—कुँवर श्रीकृष्णकुमारसिंहजी)

श्रीमद्भागवत महर्षि व्यासरचित लोकोत्तर कल्याणकारी कृति है। महात्मा गान्धीको उनके इक्कीस दिनोंके ऐतिहासिक उपवास-कालमें पूज्य महामना प० मदनमोहनमालवीयके मुखसे भागवतके कुछ अंश सुननेका अवसर मिला था और उन्होंने उद्गार प्रकट किया था कि 'भागवत एक ऐसा ग्रन्थ है जिसे पढ़कर धर्मरस उत्पन्न किया जा सकता है। जिन्होंने महात्मा गान्धीकी रचनाओंका अध्ययन किया है वे जानते हैं कि गान्धीजी 'धर्म' का अर्थ 'करणीय कार्य' अथवा 'लोकमङ्गलकारक चारित्रिक उपादानोंका समन्वय' लगाते थे।

उसी श्रीमद्भागवतमें राजा यदुका अवधूत-शिरोमणि दत्तात्रेयसे अचानक भेंट होनेका प्रसङ्ग आता है। दत्तात्रेयजीके व्यक्तित्वसे अभिभूत होकर राजा यदुने उनकी करबद्ध स्तुति की और कहा—'ब्रह्मन्! आप कर्तापनके अभिमानसे रहित हैं। मैं देख रहा हूँ कि आप कर्म करनेमें समर्थ विद्वान् और निपुण हैं। संसारके अधिकतर लोग काम और लोभके दावानलसे जल रहे हैं। परंतु आपको देखकर ऐसा मालूम होता है कि आपतक उसकी आँच भी नहीं पहुँच पाती। आप कृपापूर्वक इसका रहस्य बतलाइये।'

सांसारिक कर्मोंकी गहनतासे पूर्णतया अवगत ब्रह्मवेत्ता दत्तात्रेयजीने राजा यदुसे जो कुछ कहा, वह चरित्रोत्थानकी दृष्टिसे अनुपम और सर्वथा उपादेय है। दत्तात्रेयजीने यदुको बतलाया कि उन्होंने अपने जीवन-यापन-क्रममें पञ्चभूतों तथा छोटे-बड़े प्राणियोंकी स्वभावगत चेष्टाओंमें कुछकी उपयुक्तताको लक्ष्य किया और उन्हें तत्काल ग्रहण कर लिया। इस प्रकार उन्होंने अपना जीवन सँवारनेमें सफलता प्राप्त की।

आज जब संसार चारित्रिक पतनकी ओर द्रुतगतिसे अग्रसर हो रहा है और प्राणिमात्र इसके दुष्परिणामस्वरूप विनाशके कगारपर आ खड़े हुए हैं तो दत्तात्रेयजीद्वारा इङ्गित चौबीस सूत्रोंकी ओर बरबस ध्यान चला जाता है। प्रतिक्षण दुर्दान्त कालसे हमारा सामयिक साक्षात्कार होता चला जा रहा है; उसमें अपने उद्धारके लिये इन सूत्रोंका अविकल भावसे ग्रहण करना अनिवार्य हो गया है। तो आइये हम उन्हें समझें।

दत्तात्रेयजीने पृथ्वीको देखकर धैर्य और क्षमा-जैसे गुणोंकी महत्ता समझ ली और इन दोनों गुणोंको अपने चरित्रका अङ्ग बना लिया। देखते तो सभी हैं, परंतु द्रष्टव्य कार्य-व्यापारका गूढार्थ दत्तात्रेयजीकी ही समझमें आया। पृथ्वी अपनी छातीपर अहोरात्र विचरनेवाले और उसपर अनेक आघात करनेवाले किसी प्राणीसे बदला कभी नहीं लेती; न तो अपना धीरज खोती है, न कभी क्रोध ही करती है। दत्तात्रेयजीकी समझमें यह बात आ गयी कि प्राणीके अस्तित्वकी सार्थकता इसीमें है कि वह दूसरोंका हित करनेमें सदा-सर्वदा संलग्न रहे। क्षमाके लिये तो पृथ्वी अद्वितीय आदर्श ही है। आदर्श चरित्र श्रीरामके लिये—'**क्षमया पृथिवीसमः**' कहा गया है।

वायुकी गति सर्वत्र है। सद्-असद्—सभी प्रकारकी वस्तुओंसे उसका सम्पर्क होता है, पर वह किसीके प्रति आसक्त नहीं होती। गन्ध भी वायुका गुण नहीं है, वायु तो मात्र उसकी वाहक है। निरासक्त, निर्लिप्त रहते हुए गतिशील रहना ही वायुके समान हमारी नियति होनी चाहिये।

आकाशकी अखण्डताका मर्म ग्रहण करते हुए मानवके लिये उचित है कि वह जीवन एवं जगत्को

टुकड़ोंके रूपमें नहीं देखे। अखण्डताका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य अपनेको क्षुद्र सीमाओंमें न बाँधे।

जलकी भाँति शुद्धिकारक, स्निग्ध और शीतल रहकर अपने सम्पर्कमें आनेवाले सभी प्राणियोंको इन गुणोंसे युक्त करनेका हमारा ध्येय होना चाहिये।

अग्निकी भाँति शुभ कर्मोंको उत्तेजित करने तथा अशुभ कर्मोंको भस्म कर देनेकी हमारी प्रवृत्ति होनी चाहिये। दत्तात्रेयजीको यह बात समझमें आयी।

चन्द्रमाकी घटती-बढ़ती कलाओंको देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि कालक्रममें एकरूपता अथवा एकरसता नहीं है। जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त जीवधारियोंके आकार और शक्तिमें जो वृद्धि और ह्रास परिलक्षित होता है, उसे समझनेके लिये चन्द्रमाको देखना चाहिये और साधनकी न्यूनता या वृद्धिके अनुसार सतत कार्यरत रहना चाहिये। घटती-बढ़तीको समान धर्मके रूपमें लेना चाहिये।

सूर्य जैसे जलको सोखकर समयपर पुनः उसे प्राणियोंके कल्याण-हेतु वर्षाके रूपमें दान कर देता है, उसी प्रकार ग्रहणकी सार्थकता तभी है, जब गृहीत वस्तुके त्यागकी प्रवृत्ति भी साथ ही जुड़ी रहे। दत्तात्रेयजीने उपर्युक्त दोनों तथ्योंको चन्द्र और सूर्यके माध्यमसे हृदयङ्गम किया। हमें भी हृदयङ्गम करना चाहिये। तभी चरित्रकी शृङ्खला बढ़ेगी।

एक कबूतरको अपने पारिवारिक मोह-जालमें पड़कर अपने प्राण गँवाते देखा तो दत्तात्रेयके ध्यानमें यह बात आयी कि अतिशय लिप्ततासे विवेकबुद्धि नष्ट हो जाती है; अतः आत्यन्तिक मोहसे बचनेमें कल्याण है। मोह-ममतासे सर्वथा नहीं तो उसकी आत्यन्तिकतासे तो बचना ही चाहिये।

अजगर-जैसे आलसी प्राणीसे अवधूताचार्य दत्तात्रेयजीने सन्तोष-वृत्तिकी सीख ली। समुद्रको देखकर उन्होंने सदा गुरु-गम्भीर, अविचलित रहनेका भाव अपनाया। समुद्रका गाम्भीर्य भी उदात्तचरित्र श्रीरामकी गम्भीरताका उपमान बना है—**'समुद्र इव गाम्भीर्ये।'**

फिर दत्तात्रेयजीने पतिङ्गेको दीप-शिखापर आकृष्ट होकर जलते-मरते देखा तो वे जान गये कि विषय-भोगोंके चाकचिक्यपर लपकनेसे विनाश निश्चित है। अतः वह त्याज्य है।

मधुप-वृत्तिसे भी दत्तात्रेयजीने सीखा कि भौंरोंकी तरह जहाँ भी उपादेय कल्याणकारी तत्त्व मिले, उन्हें बटोर लेना चाहिये। उन्होंने देखा कि अतिशय संचयके कारण भौंरोंका मधु लुट जाता है। उसी तरह घोर कार्पण्यसे बटोरा धन भी वञ्चकोंके हाथ लग जाता है, संचयकर्ताके काम नहीं आता। मधुसंग्राहकोंद्वारा सयत्न उतारे गये मधुरसके भोगका पूर्वाधिकार अतिथियों-अभ्यागतोंको मिलता है। अतः अपने चरित्रके निर्माणमें अतिवस्तु-संग्रह नहीं करना चाहिये।

हाथी-जैसे विशाल जीवको विषय-भोगके क्षणिक सुखकी आशामें बन्धनग्रस्त होते देख ऐन्द्रिक वासनाओंके त्यागकी शिक्षा दत्तात्रेयजीको मिली। ऐन्द्रिय-वासना अतिमात्रमें विष बन जाता है। गोस्वामीजीने कहा है—

'तुलसी राम न पाइये, भये विषय-जल मीन'

कर्णेन्द्रियको प्रिय, मधुर ध्वनि सुनकर उसकी ओर आकृष्ट होनेवाले हिरण सहज ही शिकारीके बाणसे विद्ध हो जाते हैं; अतएव ऐन्द्रिक सुखकी छलनासे बचनेकी एक और शिक्षा दत्तात्रेयजीको मिली।

जिह्वाको वशमें न रखनेके कारण मछली काँटेमें लगे मकोड़ेकी ओर लपकती है और अपने प्राण गवाँ बैठती है। स्वाद-लोलुपतासे बचकर आत्मरक्षा करनेकी सीख दत्तात्रेयजीको इस प्रकार मिली।

मांसका टुकड़ा चोंचमें दबाकर उड़ता कुरर पक्षी अन्य समर्थ पक्षियोंद्वारा लगातार छीन-झपट्टाका दुःख

सहता रहा। त्रस्त होकर जैसे ही उसने अपने मुँहका ग्रास नीचे गिराया कि उसे मानसिक शान्ति मिल गयी। सुख-शान्तिकी कुंजी अपरिग्रहमे है; दत्तात्रेय-जीने कुरर पक्षीसे यह मन्त्र सीखकर गाँठ बाँध ली। गीता कहती है—'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्।'

राग और विरागका भेद तो विदेह-नगरीकी वेश्याने विस्तारसे बताया। रूपका व्यापार करनेवाली उस वाराङ्गनाको अन्ततः इन्द्रियोंका संयम करनेपर ही शान्ति मिली, सच्चा सुख मिला। जब वेश्याको सयत हो जानेपर शान्ति मिल जाती है तो साधारण व्यक्तिको निराश होनेका कोई कारण नहीं है। पर चरित्र सवेर बनाया जाय तो उत्तम हो। साँझमें चरित्र क्या बनेगा।

वरपक्षके लोग एक कुमारी कन्याको देखने गये। परिवारके लोग उस समय बाहर गये थे। अतिथि-परायणा कुमारी उनके सत्कार-हेतु अपने आँगनमे बैठकर जब ओखलमें चावल कूटने लगी तो उसकी कलाईकी चूड़ियाँ बजने लगीं। आवाज बाहर न जाय, यह विचारती हुई कन्याने अपनी दोनो कलाइयोमें एक-एक चूडी छोड़कर बाकी सब तोड़ डाली। सूक्ष्मद्रष्टा दत्तात्रेयजीके मनमें विचार आया, बहुसंख्यकका एक स्थानपर एकत्र होना कलह-कोलाहलका कारण बनता है। भीड़ अनर्थका मूल हो जाती है। भीड़की कोई आचारसंहिता भी नहीं है। अतः व्यक्तिका चारित्र्य साधनीय होता है।

बाण बनानेवाले एक कारीगरको आत्मकेन्द्रित होकर अपने काममें तल्लीन और सामनेसे धूम-धामके साथ निकलती राजाकी सवारीकी ओरसे लापरवाह देखा तो दत्तात्रेयजीने तन्मयताकी कीमत आँक ली। ऐसी अवस्थामें सत्त्वगुणका उदय होनेके साथ ही रजोगुण और तमोगुणका क्षय स्वतः हो जाना है, यह बात सहज ही उनके सामने प्रत्यक्ष हो गयी। इसकी साधना मनोनिग्रहसे हो सकती है।

साँपको निःशब्द सरकते देखा तो मौन रहनेके गुण स्पष्ट हो गये। बहुत कम बोले, यथाशक्ति किसीकी सहायता न ले और पिछलगुओंसे बचकर स्वान्तःसुखाय विचरण करे, दत्तात्रेयजीने सर्पसे यह शिक्षा चटपट ग्रहण कर ली।

मकड़ेको जाला बुनते-बिगाड़ते देखा तो दत्तात्रेयजीको जन्म-मरणके चक्कर और माया-मोहके ताने-बानेका स्मरण हो गया। दैहिक नश्वरताके साथ ही सर्वनियामक शक्तिके मूलाधार परमात्माकी लीलाकी झलक उन्हे मिल गयी। अतः अहंमूलक अहंकारको और जड़वादको परिहेय समझ लिया। इस तथ्यको समझनेसे जीवनको संयत करनेकी प्रेरणा मिलती है।

आत्माका परमात्मामें समाहित होने—एकाकार होनेकी प्रक्रियाका उदाहरण दत्तात्रेयजीको भृङ्गी कीटके कार्यकलापोमें मिल गया। भृङ्गी जिस प्रकार एक नाम-रूपहीन कृमिको अपने बिलमे कुछ समयतक बन्दकर उसे अपने ही-जैसा बना देता है, उसी प्रकार परमतत्त्वका एकान्त चिन्तन करनेसे मनुष्य भी तद्रूप हो जाता है। ब्रह्मका विवर्त्त विश्व तत्त्वतः ज्ञात हो गया।

अब दत्तात्रेयजीने स्वयं अपने शरीरको ध्यानसे देखा और पाया कि उनकी इन्द्रियाँ अपने-अपने अभीष्ट पदार्थोको लेकर आपसमें बराबर खींचा-तानी करती रहती हैं। आसक्ति और अहंकारके झंझावात अलगसे झँकझोरते हैं। शरीर नश्वर तो है ही। ऐसी स्थितिमें प्रमाद त्याग-कर मनुष्यको अविनश्वर तत्त्वकी खोजमे प्रवृत्त होना चाहिये। संकुचित स्वार्थोका त्याग करते हुए सार्व-कालिक परमार्थमे मनको केन्द्रित करना चाहिये, जिसके अन्तमें है शाश्वतशान्ति एव मुक्ति। जीवनके चारित्र्यकी यह सीढ़ी बहुत ऊपरकी है।

परम तत्त्वज्ञानी दत्तात्रेयजीने राजा यदुके सामने सारे तथ्य इस प्रकार सँजोकर रखे कि मानव-जीवनके उद्देश्य तथा आदर्श जीवन-यापनके लिये सर्वाधिक उपर्युक्त आचरण-पद्धति आइनेकी तरह उनके सामने झलक उठी।

आजतक इस देशमे और अन्यत्र भी, जितने चिन्तक, विचारक और मनीषी हुए हैं, सबने इन्हीं सारवान् तथ्योंको किसी-न-किसी रूपमें दुहराया है। सारांश यह है कि मनुष्यको अपनी सभी ज्ञानेन्द्रियोंको इस प्रकार खुला रखना चाहिये कि द्रष्टव्य वस्तुओं और घटनाओंमे निहित सार अनायास दिखायी पड़े। तभी उसका उपयोग वह अपने चारित्रिक उन्नयनके लिये कर सकता है।

आज अपने यहाँ सर्वोपरि आवश्यकता इस बात की है कि क्षणिक सुख देनेवाले विषय-वासनाओंको त्यागकर अपने भीतर पल रहे अहंकारको उपेक्षित किया जाय एवं स्वार्थके स्थानपर परमार्थका वरण किया जाय। वर्तमान कालमें सर्वव्यापी चारित्रिक स्खलनको रोकनेके लिये हमें ऋषि दत्तात्रेयद्वारा उद्घाटित चौबीस सूत्रोंका सहारा लेना चाहिये। हमारा मङ्गल इसीमें निहित है। इन शिक्षाओंका मनन कर हम माङ्गल्य प्राप्त कर सकते हैं।

राष्ट्रिय चरित्र

(लेखक—डॉ० श्रीवेदप्रकाशजी शास्त्री, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्०, डी० एस्०-सी०, साहित्यायुर्वेद-रत्न, विद्याभास्कर, आयुर्वेदबृहस्पति)

मानवजीवन सर्वाधिक दुर्लभ है। अनेक जन्मोंकी संचित साधना और उस साधनाद्वारा प्राप्त प्रभुकृपाके फलस्वरूप ही जीव इसे प्राप्त करता है। यद्यपि श्रुतिमे 'अमृतस्य पुत्राः' तथा श्रीमद्भगवद्गीतामे 'ममैवांशो जीवलोके' आदि वाक्य जीवको ईश्वरीय अंश प्रतिपादित करते हैं, तथापि चौरासी लाख योनियोंके अन्तर्गत जन्म लेनेवाले जीवोंमें मानव ईश्वरके जितना निकट और अनुरूप है, उतना अन्य जीव नहीं है। भगवान्‌के सब विशिष्ट-अवतार मनुष्यरूपमे ही हुए हैं। इसीलिये भागवतमें—'दुर्लभो मानुषो देहः' आदि वाक्यो द्वारा मानव-जन्मका स्तवन किया गया है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीने तो इसे 'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा' ही प्रतिपादित किया है। इस जन्मकी श्रेष्ठता इतनी प्रशस्त होते हुए भी इसकी स्थिति आवास और जन्म दोनो ही दृष्टियोंसे देव और दानवके मध्य रखी गयी है; अर्थात् निवासकी दृष्टिसे देव-समूहके आवास मर्त्यलोकके ऊपर एवं दानव-समूहके आवास मर्त्यलोकके नीचे परिगणित किये गये हैं तथा सात-सात ऊर्ध्व अधस्तन लोकोंके मध्य मानवको इस दृष्टिसे स्थान दिया गया है कि यदि वह उत्तम कर्म करता रहे तो ऊर्ध्व देवलोकोंको प्राप्त करे और अधम कर्मोंका आचरण करे तो दानवोंके आवासभूत निम्नलोकोंमे जाकर अपने कर्मोंका भोग भोगे; क्योंकि देवताओंको भी पुण्य क्षीण हो जानेपर मर्त्यलोकमे जन्म लेना पड़ता है—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता)। अतः मनुष्यजन्म भगवदनुग्रहका ही फल है। मर्त्यलोकमे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भारतवर्षकी महिमा प्रायः सभी पुराणोंमे प्रतिपादित हुई है। इस देशमें जन्म लेनेवालों-की प्रशंसा स्वयं देवताओंके मुखसे भागवतकारने इस प्रकार करायी है—

> अहो अमीषां किमकारि शोभनं
> प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः।
> यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे
> मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः॥
> (५। १९। २१)

'जिन लोगोंने भारतवर्षमें भगवान्‌की सेवाके योग्य मनुष्यजन्म प्राप्त किया है, उन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है अथवा उनपर स्वयं श्रीहरि ही प्रसन्न हो गये हैं ? इस परम सौभाग्यके लिये तो हमलोग भी

तरसते रहते हैं ।' विष्णुपुराणमें इससे भी बढ़कर इस भूमिका महत्त्व इस रूपमें प्रतिपादित हुआ है कि—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्पदहेतुभूते
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥
कर्मण्यसंकल्पिततत्फलानि
संन्यस्य विष्णौ परमात्मभूते ।
अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते
तस्मिंल्लयं ये त्वमलाः प्रयान्ति ॥
(२ । ३ । २४-२५)

'देवता भी निरन्तर यही गान करते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और अपवर्गके मार्गभूत भारतमें जन्म लिया है तथा जो इस कर्मभूमिमें जन्म लेकर अपने फलाकांक्षासे रहित कर्मोंको भगवान् श्रीविष्णुको अर्पित करनेसे निर्मल होकर उन अनन्तमें ही विलीन हो जाते हैं, वे मनुष्य हम देवताओंकी अपेक्षा कहीं अधिक बड़भागी हैं ।'

भारतवर्षकी इसी विशेषताके कारण भगवान् नर-नारायणने इसे अपनी तपोभूमिके रूपमें स्वीकार किया है। 'भग' शब्दकी पूरक छहों विशेषताओं तथा आत्मस्वरूपका ज्ञान करानेवाले इस भारतके सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें यह वर्णन प्राप्त होता है कि—

'भारतेऽपि वर्षे भगवान्नरनारायणाख्य आकल्पान्तमुपचितधर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपशमोपरमात्मोपलम्भनमनुग्रहायात्मवतामनुकम्पया तपोऽव्यक्तगतिश्चरति' (५ । १९ । ९) ।

इस विशेषतासे सम्पन्न इसी भारतकी देन है— आचार और चरित्र । आचारका सम्बन्ध बाह्याचरणसे है तथा चरित्रका सम्बन्ध स्वभावगत गुणों- Basic charalteristies से । आचरणद्वारा हम अपनी विशेषताओंका प्रभाव इतर सामाजिकोंपर डालकर एक ओर उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करते हैं तथा दूसरी ओर उन्हें भी अपने समान बनानेकी प्रेरणा देते हैं एवं चरित्रगत विशेषताओंद्वारा हम अपने विचार और दृष्टिकोणको उदात्त बनाते हैं । चरित्रके अन्तर्गत अग्रलिखित विशेषताओंका समावेश किया जाता है । मौन—विविध प्रकारकी जानकारी होनेपर भी चुप रहना, अपने ज्ञानका प्रदर्शन न करना, क्षमा—प्रतिकारकी सामर्थ्य होनेपर भी अपराधीके प्रति क्षमापूर्ण दृष्टिकोण अपनाना, दानशीलता—दूसरे अभावग्रस्तजनोंको इच्छित वस्तुका दान देकर भी आत्मप्रशंसासे दूर रहना, विषय-वासनासे दूर रहना, धर्ममें आस्था रखना, शास्त्र और लोक-व्यवहारका पूर्ण ज्ञान रखना, विनयशील रहना आदि । महर्षि याज्ञवल्क्यने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, दान, दया, दम और शान्तिको चारित्रिक विशेषताओंमें परिगणित किया है और इन्हीं विशेषताओंको धर्मका साधन प्रतिपादित किया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
दानं दया दमः शान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥
(याज्ञवल्क्यस्मृ० १ । १२२)

'अहिंसा—मन, वचन, कर्मसे किसी प्राणीको दुःख न देना, सत्य व्यवहार रखना, दूसरोंकी वस्तु न चुराना, पवित्र रहना, इन्द्रियोंको वशमें रखना, सत्पात्रको सात्त्विक दान देना, प्राणिमात्रपर कृपाभाव रखना, मनको वशमें रखना, सहनशील होना; ये नौ गुण सर्वसाधारणके लिये धर्मके साधन हैं ।'

अहिंसाकी व्यवस्था पात्र-अपात्रके भेदसे की गयी है । निरपराध प्राणियोंकी हत्या करनेवाले आततायी व्यक्तियोंके लिये अहिंसा धर्मके पालनका निषेध करते हुए उनके वधकी आज्ञा स्पष्टत शास्त्रोंमें दी गयी है—

इन्द्र ! जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियम् ।
मायया शाशदानम् ॥ (ऋग्० ७ । १०४ । २४)

'जो व्यक्ति छलपूर्वक समाजका नाश करनेवाले हो और जो यातुधान निरपराध मनुष्योंको दुःख देते हों, उनका नाश कर' आततायीकी परिभाषा शुक्रने इस प्रकार की है'—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिधनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव विद्यादाततायिनः॥

आग लगानेवाला, विष देनेवाला, शस्त्र लेकर अपने ऊपर चढ़ आनेवाला, धन लूटनेवाला, पराई जमीन दबानेवाला, स्त्रियोंका अपहरण करनेवाला—ये आततायी हैं।

भारतके प्राचीनकालका इतिहास इस बातका साक्षी है कि तत्कालीन नरेश स्वयं चरित्रवान् होते थे और अपनी प्रजाको अपने आदर्श चरित्रसे अपने समान ही बनानेका प्रयत्न किया करते थे और इसीके परिणाम-स्वरूप **'यथा राजा तथा प्रजा'** की उक्ति प्रचलित हुई थी। इसका चरमोत्कर्ष महाकवि कालिदासने अपने रघुवंशमें राजा दिलीपके चरित्रमें इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥
(१।२४)

'अर्थात् राजा दिलीप अपनी प्रजाको समुचित शिक्षा देने, उसकी रक्षा करने उसका पालन-पोषण करने, उसे भयसे विमुक्त करनेके कारण उसके सच्चे पिता थे, उसके जन्मदाता पिता तो केवल जन्म देनेवाले कारणमात्र थे।'

इस लोकको सुखमय तथा परलोकको कल्याणमय बनानेकी दृष्टिसे मनुष्यमात्रके लिये निम्नलिखित आचार-विचारोंके पालनका विधान किया गया है

सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्माप्रमदः, देव पितृकार्याभ्यां च न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव, श्रद्धया देयम्। (तैत्तिरीय० ७।१३।१-४)

'अर्थात् सदा सत्य बोलो, धर्मका आचरण करो, प्रमादरहित होकर यथाधिकार धर्मग्रन्थोंको पढ़ो। देवपूजा और पितृकार्यमें (श्राद्धादिमें) प्रमाद मत कर। माता, पिता, गुरु तथा अतिथिकी सेवा करो एवं श्रद्धा-पूर्वक दान दो। (शुक्र)

इसके साथ ही निम्नलिखित बातोंसे दूर रहनेका निर्देश भी शास्त्रोंने दिया है—

१—**अक्षैर्मा दीव्यः।** (ऋग्वेद १९।३४।१३) जूआ मत खेलो।

२—**न परस्त्रियमुपेयात्।** (तैत्तिरीय० १।१।८।९) पर-स्त्रीका सङ्ग न करो।

३—**मा हिंसीः पुरुषान्पशूंश्च।** अथर्व०६।२।२८।५) मनुष्य और पशुओंको मन, कर्म, वाणीसे कष्ट न दो।

४—**मा गामनागामदितिं वधिष्ट।** ऋग्वेद।८।८७।४) निरपराध, उपकारी गौकी हिंसा न करो।

५—**न मांसमश्नीयात्।** (तैत्तिरीय० १।१।९।७) मांस न खाओ।

६—**न सुरां पिबेत्।** (तैत्तिरीय० १।९।७) मद्यपान न करो।

७—**मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।** (यजुर्वेद १।४५) पराये धनका लालच न करो।

इसके साथ इन-इन बातोंको सदैव स्मरण रखनेका निर्देश मनुष्यमात्रके लिये शास्त्रोंमें दिया गया है—

'क्रतो स्मर। क्रतो स्मर॥
(यजुर्वेद १।४५) भाव यह कि यज्ञादि कर्मोंको स्मरण रखो। अपनी सामर्थ्य एवं दूसरेके उपकारको याद रखो। साथ ही—**दमस्तपः। शमस्तपः। दानं तपः। यज्ञस्तपः। ब्रह्म भूर्भुवः स्वर्ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः।'** (तैत्तिरीय० १०।८)।

अर्थात् 'बाह्य इन्द्रियोंको वशमें रखना तप है। सुपात्रको दान देना तप है। यज्ञ करना तप है। **भूर्भुवः स्वः** तीनो लोक ब्रह्ममय हैं—यह समझकर सब जीवोंका हित करना चाहिये; क्योंकि यही सबसे बड़ा तप है।'

चरित्र और आचार कितना महत्त्वपूर्ण है, स्कन्द-पुराण आचार-खण्डके आधारपर उसके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है—

आलोच्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं सदाचारो हरिप्रियः॥
सदाचारो हि सर्वार्हो नाचारात् विच्युते पुनः।
तस्मात् विप्रेण सततं भाव्यमाचारशालिना॥
विद्वेपरागरहिता अनुतिष्ठन्ति यं मुने।
विद्वांसः तं सदाचारं धर्ममूलं विदुर्बुधाः॥
श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं स्वेषु कर्मपु निष्ठितम्।
सदाचारं निषेवेत धर्ममूलमतन्द्रितः॥
दुराचाररतो लोके गर्हणीयः पुमान् भवेत्।
व्याधिभिश्चापि पूयेत् सदाल्पायुः सुदुःखभाक्॥
यस्मिन् कर्मण्यन्तरात्मा क्रियमाणे प्रसीदति।
तदेव कर्म कर्तव्यं विपर्ययं न तत् क्वचित्॥

सामान्य स्थितिमे आचारकी जो सीमाएँ निर्धारित की गयी है, विशेष स्थितिमें देश, काल, अवस्थाके अनुरूप उन्हे उचित अंशतक परिशोधित किया गया है, जिससे प्रत्येक दशामे व्यक्ति स्वधर्मकी रक्षा कर सके। हमारे सनातनधर्मकी यही सबसे प्रमुख विशेषता है कि इसमें किसी भी बातको सर्वथा और सर्वदा ही पाप या पुण्य नहीं बताया गया है; बल्कि परिस्थितिके अनुसार ही एक सीमातक उसका औचित्य स्थिर किया गया है; जैसे—सत्य बोलना परमधर्म है, परंतु यदि कोई कसाई अपने सामनेसे भागी हुई गौके भागनेकी दिशा जानना चाहे और आप उसे सत्य-सत्य बता दें तो आप भी गोहिंसा पापके भागी बनेंगे। इस स्थितिमें सत्य कथनकी अपेक्षा मौनावलम्बन श्रेयस्कर होगा। वेदादि शास्त्रोंमें धर्म-संकटके समय मनुष्यके करणीय कर्तव्योंका निर्णय किया गया है। रामायण, महाभारत एवं पुराणादि ऐसे समयमें स्वधर्म (कर्तव्य) निर्णयोंमे विशेषतः सहायक सिद्ध होते हैं। इसीलिये **'धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायाम्'** अर्थात् धर्मका रहस्य अतीव गूढ़ है—ऐसा कहा जाता है। निम्नलिखित बातें परिस्थितिके अनुसार उचित मानी गयी हैं—

१–गोकुले कन्दुशालायां तैलचक्रेक्षुयन्त्रयोः।
अमीमांस्यानि शौचानि स्त्रीणां च व्याधितस्य च॥
(१८९)

२–गोदोहने चर्मपुटे च तोयं
यन्त्राकरे कारुकशिल्पहस्ते।
स्त्रीबालवृद्धाचरितानि यान्य-
प्रत्यक्षदृष्टानि शुचीनि तानि॥२२८॥

३–प्राकाररोधे भुवनस्यदाहे
सेनानिवेशे विषमप्रदेशे।
आवास्य यज्ञेषु महोत्सवेषु
तेष्वेव दोषा न विकल्पनीयाः॥
(अत्रि० स्मृ० २३०)

४–चर्मभाण्डैस्तु धाराभिस्तथा यन्त्रोद्धृतं जलम्।
आकरोद्गतवस्तूनि नाशुचीनि कदाचन॥
(अत्रिस्मृति २२६)

अर्थात्—'गोशालामे, भड़भूजे अथवा हलवाईकी दुकानपर, तेल निकालनेके यन्त्रमे, गन्नेका रस निकालनेके यन्त्रमें, स्त्रियों और रुग्णके विषयमें शौचाशौचका विचार यथासम्भव ही रखना चाहिये। दूध दूहनेके पात्रमे, घी आदि डालनेके लिये चर्मनिर्मित कुप्पे आदिमें, कूपसे जल निकालनेके लिये चर्मनिर्मित चड़समें, कोल्हू आदि यन्त्रोमे, कारखानोमें निर्मित होते हुए द्रव्योंमें तथा स्त्री, बालक और वृद्धोंके आचरणके एवं नेत्रोंके लिये अप्रत्यक्ष पदार्थोमें पवित्र दृष्टि ही रखनी चाहिये; अर्थात् वे सब पदार्थ पवित्र ही हैं। इसी प्रकार जब शत्रुने नगरका घेरा डाल रखा हो, मकान जल रहे हो, छावनीमे तथा इसी प्रकारके

अन्यान्य विषम स्थानोंमें, अपूर्ण यज्ञोंमें तथा विवाहादि उत्सवोंके समय दोषोंका विशेष ध्यान नहीं रखना चाहिये। साथ ही यह भी ज्ञातव्य है कि चर्मनिर्मित कुप्पेमें डाला हुआ घृत आदि द्रव्य, धाराक्रमसे जब अन्य पात्रमें उलटे जायँ, तब वह पात्र अपवित्र नहीं होता तथा नालिका यन्त्रद्वारा खींचा हुआ जल (परिस्रुत सलिल) आसवादि भी अपवित्र नहीं होते तथा खानोंसे निकली हुई वस्तुएँ भी अपवित्र नहीं होतीं। स्पर्शास्पर्शके सम्बन्धमें भी शास्त्रीय दृष्टिकोण द्रष्टव्य है—

देवयात्राविवाहेषु यज्ञप्रकरणेषु च।
उत्सवेषु च सर्वेषु स्पृष्टास्पृष्टं न विद्यते॥
(बृहत्पराशरस्मृ० ६। २९७)

अर्थात् 'देवयात्राओंमें, विवाहोंमें, यज्ञादिके अवसरपर तथा इसी प्रकारके अन्यान्य महोत्सवों, सम्मेलनादिमें दूषित मनुष्यके स्पर्शका दोष नहीं होता।'

बैठनेके आसन, कुर्सी, रेल-मोटर आदिकी सीटें, सोनेके स्थान, रेल आदिके बर्थ, जलयान, वायुयान, नाव, घास-फूस आदि चीजें, कुत्ते आदि दुष्ट जीवों अथवा चाण्डाल, पतित मनुष्यों आदिसे स्पृष्ट वस्तुएँ वायु लगनेमात्रसे शुद्ध हो जाती हैं—

आसनं शयनं यानं नावमपि तृणानि च।
चाण्डालपतितस्पृष्टं मारुतेनैव शुद्ध्यति॥
(बौधायन धर्मसू० १। ५। ६२)

आचारमें तप और दानका विशेष महत्त्व है। तप तीन प्रकारका होता है—शारीरिक, वाचिक और मानसिक। देवता, ब्राह्मण और गुरुकी पूजा करना तथा शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा शारीरिक तप है। मनमें विक्षोभ उत्पन्न न करनेवाला सत्य, प्रिय और हितकारी वचन बोलना, वेदोंका अध्ययन करना, विभिन्न शास्त्रोंका अभ्यास करना वाचिक तप है। प्रसन्न मन, सौम्य स्वभाव, मौन, संयमशीलता और भावशुद्धि मानसिक तप है (भगवद्गीता १७। १४-१६)।

दानके सम्बन्धमें कहा गया है कि श्रद्धासे दे, अश्रद्धासे न दे, भय, लज्जा अथवा श्री आदि निमित्तसे देना चाहिये—

श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्। (श्रुतिः)।

पानी बाढ़े नावमें घरमें बाढ़े दाम।
दोनों हाथ उलीचिये यही सज्जनको काम॥
(रहीम)

भारतीय संस्कृतिके अनुसार द्विजमात्रको यज्ञोपवीत धारण करना चाहिये। ग्रन्थियुक्त शिखा धारण करना चाहिये, अपने सम्प्रदायके अनुसार तिलक धारण करना चाहिये और भूलकर भी लुंगी (तहमद) आदि नहीं पहनना चाहिये। कहा है—

सदोपवीतिना भाव्यं सदा बद्धशिखेन च।
विशिखो व्युपवीतश्च यत् करोति न तत् कृतम्॥
(कात्यायन-स्मृति)

ऊर्ध्वपुण्ड्रं मृदा धार्यं भस्मना तु त्रिपुण्ड्रकम्।
मुक्तकच्छो महाधमः। (वशिष्ठस्मृति)

इन सबसे परिपुष्ट भारतीय संस्कृतिका आधार है आचार अथवा चरित्र। चरित्रकी इसी विशेषताके कारण भारत अनादिकालसे विश्वके गुरु पदपर अधिष्ठित रहा है। भगवान् मनुने उसके चरित्रकी इन्हीं विशेषताओंको परिलक्षित कर अखिल विश्वको इसी देशमें उत्पन्न अग्रजन्माओंसे अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा लेनेका परामर्श दिया है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनुस्मृति २। २०)

आचार, विचार अथवा चारित्रिक दृष्टिसे सम्पन्न अग्रजन्माओंके देश अथवा भारत राष्ट्रके चरित्रकी आज क्या दशा है—इसपर उपर्युक्त चारित्रिक विशेषताओंके परिज्ञानके पश्चात् दृष्टिपात करनेपर जो चित्र सामने

आता है, वह इतना भयावह है कि एक सिहरन-सी अनायास शरीर अथवा तन-मन दोनोंको झकझोर जाती है। क्या कोई भी भारतीय भावनाका व्यक्ति बिना व्यथित हुए है?

भारत एक महान् राष्ट्र है। इसकी गौरवमयी नींव इतिहासके स्वर्णिम तथ्योंपर आधृत है। इसका अतीत जितना प्रकाशमय रहा है, चरित्रकी दृष्टिसे वर्तमान उतना ही अन्धकारावृत-सा दृग्गोचर होता है। शाश्वत मूल्य आज प्रभातकालीन तारकोंकी स्थितिमें जा पहुँचे हैं। चरित्रका जितना अधःपतन आज भारतमें हुआ हैं, उतना सम्भवतः अन्यत्र कहीं नहीं। चारों ओर भ्रष्टाचार, आपाधापी, लूट-खसोट, मिलावट, उत्कोच आदिका बाजार, इस प्रकार गर्म है कि किसी भी चरित्रवान् व्यक्तिके लिये इस वातावरणमें साँस लेना कठिन हो गया है। धर्मकी निरपेक्षताने इस स्थितिको विशेषतः उभारा है। विश्वका कोई भी धर्म हो, वह चरित्रके उज्ज्वल पक्षको विशेषतः प्रश्रय देता है और विभिन्न दृष्टान्तोंद्वारा प्रत्येक व्यक्तिको चरित्रवान् बननेकी दिशामें प्रेरित करता है। वह जीवनकी नश्वरता, परलोकके दण्डका भय आदि दिखाकर व्यक्तिको सन्मार्गपर स्थिर रहनेकी प्रेरणा देता है। पर आज यह धूमिल है।

आजका मानव इस शाश्वत सत्यको भुलाकर स्वयको अजर-अमर मानने लगा है। आज भारत अपनी सुपुष्ट चरित्र सम्पत्ति-सम्पन्न परम्पराको भुलाकर रूस, अमेरिका आदिकी सभ्यताके पीछे पागल हो रहा है। कभी साम्यवाद उसे आकर्षित करता है, कभी समाजवाद। वह भूल गया है कि साम्यवाद रूसकी नहीं, स्वय भारतकी देन है, इससे बढकर भला साम्यवादमें है ही क्या कि—

यावद्भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥
(श्रीमद्भा० ७।१४।८)

परन्तु राष्ट्र करे भी तो क्या? यथा राजा तथा प्रजाकी उक्ति उसपर पूर्णतः चरितार्थ हो रही है। शासक ही जब चरित्रहीन हो तब प्रजा कैसी होगी—इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। भगवान् राम और श्रीकृष्णके नहीं, केवल चन्द्रगुप्तके कालको ही ले तो सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि हमारे चरित्रका कितना ह्रास हुआ है। लोक-शिक्षण-हेतु न्याय-मन्त्री शिशुपालद्वारा निरङ्कुश अपराधी राजा चन्द्रगुप्तको प्राण-दण्डकी सजा देना और उसकी स्वर्णमूर्तिको यह कहकर फाँसीपर लटकाना कि 'राजा ईश्वरका अंश है, उसे दण्ड देनेका अधिकार भी ईश्वरको ही है, केवल लोकमें मर्यादाकी रक्षाके लिये उसकी मूर्तिको फाँसीपर चढानेका दण्ड दिया जाता है'—इस बातका प्रमाण है कि न्यायके प्रति राजा-प्रजामें कितनी आस्था थी। परंतु आज इस आदर्शको भुलाया जा चुका है। आज न्याय-गति अन्यथा हो चली है। जब कतिपय शासक ही असामाजिक तत्त्वोंको संरक्षण दे रहे हों, अपने पदके प्रभावसे न्यायको खरीद रहे हों तब न्याय कैसे चल सकता है और राष्ट्रिय चरित्रका विकास कैसे सम्भव है। शासकगणका चरित्र आदर्श हो तो कोई कारण नहीं कि रामराज्य ही राष्ट्रमें न आ जाय, क्योंकि—

यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ३।२१)

चाणक्यके कालमें भारतमें घरोंमें ताला नहीं लगाया जाता था। उसी समय चीनी यात्री ह्वेनसाँगने भारतकी यात्रा की थी। उसकी यात्राके एक प्रेरणाप्रद प्रसंग की चर्चा कुछ विद्वानोंने की है। यह प्रसङ्ग कुछ इस प्रकार है—

उस समय भारतकी राजधानी पाटलीपुत्र (पटना) थी। बर्मा, श्रीलंका, बाँगलादेश, पाकिस्तान, काबुल,

कांधार सब भारतके ही अंग थे। यात्रा करते हुए ह्वेनसांग पाटलीपुत्र पहुँचा और तभी उसके मनमें भारत-जैसे विशाल देशके प्रधानमन्त्री महामति चाणक्यके दर्शनका विचार आया। वह गंगा-तटपर एक घाटपर जा पहुँचा। वहाँ बैठे-बैठे वह किसी उपयुक्त व्यक्तिसे प्रधानमन्त्रीके आवासका पता-ठिकाना पूछनेका विचार करने लगा। अनेक व्यक्ति वहाँ स्नानार्थ आये और स्नानकर चले गये, परन्तु वह किसीसे अभिप्रेत विषय पूछनेका साहस न जुटा सका। देखते-देखते एक जरा-जीर्ण कृष्णवर्णीय ब्राह्मणको छोड़कर सारा घाट रिक्त हो गया। वह ब्राह्मण भी जब स्नान, सन्ध्यादिसे निपट धोती धोकर घड़ा भर चलनेके लिये तैयार हुआ तब यात्री ह्वेनसांगने सामने पहुँच हाथ जोड़कर कहा—'महाशय! मै आपके देशके लिये सर्वथा अपरिचित हूँ और आपके देशके प्रधानमन्त्रीके दर्शन करना चाहता हूँ। कृपया मुझे उनके आवासतक पहुँचनेका मार्ग निर्दिष्ट कीजिये।'

वृद्ध ब्राह्मणने धैर्यपूर्वक उसके कथनको सुना और अपने साथ आनेके लिये कहा—'आगे-आगे वृद्ध ब्राह्मण और पीछे-पीछे ह्वेनसांग नगरको एक ओर छोड वनकी ओर जानेवाली पगडंडीपर बढ़े। ह्वेनसांगके मनमें शंका उभरी कि कहीं वह गलत स्थानपर तो नहीं ले जा रहा है? परन्तु वह बिना उसे व्यक्त किये उसके पीछे-पीछे चलता रहा। थोड़ी दूरपर एक कुटियाके द्वारपर पहुँचकर ब्राह्मण रुका और द्वार खोलकर भीतर प्रविष्ट हुआ। ह्वेनसांग बाहर ठहरकर यह विचार करता हुआ उसकी प्रतीक्षा करने लगा कि वह बाहर आयेगा और उसका मार्गदर्शन करेगा। परंतु जब ब्राह्मण बाहर नहीं आया तब ह्वेनसांगने आवाज लगायी और कहा—'महाशय! क्या मेरी याचना भूल गये' तत्काल वृद्ध ब्राह्मणने कुटियाके बाहर आकर अतीव विनीत भावसे मस्तक झुकाकर कहा—'नहीं! बन्धु! मै भूला नहीं हूँ, इस कुटियामें भारतका प्रधानमन्त्री चाणक्य आपका स्वागत करनेके लिये प्रस्तुत है।' यात्रीने अकचकाकर उसे देखा और डरते-डरते उसकी कुटियामें प्रविष्ट होकर देखा कि साधारण-सी कुटिया है, जिसमें एक ओर जलका घडा रखा है, दूसरी ओर उपलों-समिधाओंका ढेर है। नमक आदि पीसनेके लिये सिल-बट्टा रखा हुआ है। एक बाँस कपडे सुखानेके लिये ऊपर टँगा हुआ है और एक चटाईके सामने चौकीके ऊपर लिखने-पढ़नेकी सामग्री तथा दीपाधार रखा हुआ है। आतिथेयके आग्रहपर वह चटाईपर जा बैठा; परंतु बार-बार उसके मनमें यही आता रहा कि हो-न-हो वह किसी पागलके घर आ गया है। परंतु उसी समय सौभाग्यसे चन्द्रगुप्त अपने कुछ सैनिकोंके साथ वहाँ पहुँचा और गुरुके चरणोंमें दण्डवत् लेटकर प्रणाम किया और आनेका उद्देश्य बताया।

वृद्ध ब्राह्मणने, जो वास्तवमे चाणक्य ही थे, उनसे कहा—'वृषल! तुम सायंकाल आना, तब तुम्हारी समस्यापर विचार करेंगे; अभी तो यह देखो, एक विदेशी अपने देशके अतिथि बनकर पधारे हुए हैं, इन्हे साथ ले जाकर ससम्मान राजकीय अतिथिशालामें ठहराओ और जब ये पूरी तरह आराम कर चुकें, तब कल सायंकाल इन्हें मेरे पास लाओ। तब हम इनसे चर्चा करेंगे। चन्द्रगुप्तने गुरुदेवके आज्ञानुसार उस विदेशी यात्रीको राजकीय अतिथिशालामें ठहराया और दूसरे दिन सायंकालके समय जब सूर्यास्त हो चुका था, तब उसे साथ लेकर गुरुकी कुटियापर पहुँचे। वहाँ जाकर देखा महामति चाणक्य गम्भीर भावसे एकाग्र होकर कुछ विचार करते हुए लिख रहे हैं। सामने दीपक जल रहा है। दोनो मौन भावसे सामने चटाईपर जा बैठे। कुछ समय पश्चात् कार्य समाप्त कर चाणक्यने दृष्टि ऊपर उठायी और आगन्तुकोंको वाचिक सम्मान देते हुए जलता हुआ

दीपक बुझा दूसरा दीपक जला दिया और ह्वेनसांगको सम्बोधितकर पूछा—'कहो मित्र ! कैसा लगा यह देश ?' 'बहुत ही विचित्र'—ह्वेनसांगने उत्तर दिया । 'क्या विचित्रता देखी आपने ?'

सबसे पहली तो यही कि 'एक जलते हुए दीपकको बुझाकर दूसरा दीपक जलाना क्या कम विचित्र बात है ? क्या इस पहेलीका अर्थ समझानेका कष्ट करेंगे महामति चाणक्य ? जिसके बुद्धि-बलका डंका विश्वमे बज रहा है, वह व्यक्ति एक जलते दीपकको बुझा दूसरा दीपक जलाये यह कुछ समझमें नहीं आया ।'

चाणक्य विदेशी यात्रीका कथन सुन मुस्काराये और गंभीर स्वरमे बोले—'बन्धु ! मैने एक दीपकको बुझाकर दूसरा दीपक सोच-समझकर ही जलाया है । बात सामान्य है, पर तुम समझ नहीं सकोगे । वास्तवमें जब आपलोग आये तो मै राजकार्य कर रहा था । अत. उस समय जिस दीपकके प्रकाशमें मै कार्य कर रहा था उसमें राजकोषका तेल जल रहा था । परंतु अब जो बात-चीत होगी, वह हमारी निजी होगी, इसीलिये मैने राजकोषसे सम्बद्ध दीपकको बुझाकर अपनी कमायीके तेलसे जलनेवाला यह दीपक जलाया है ।'

यह सुनते ही ह्वेनसांग दंग रह गया । बरबस उसके मुखसे निकल पडा कि क्यो न ऐसा देश महान् और विश्वगुरु हो, जिसका प्रधानमन्त्री इतना जागरूक तथा देशके धनके अपव्ययके प्रति पूरी सावधानी बरतनेवाला हो । यह है उस समयके राष्ट्रके मन्त्रीका आदर्श चरित्र ।

पर आज क्या स्थिति है, इसका कटु अनुभव उन सबको यत्किंचितरूपमें है ही जिनका जरा-सा भी सम्पर्क राजकीय कार्यालयोंसे रहा हो ।

जहाँ प्राचीनकालमें नागरिक अपनी आयका छठा अंश चुपचाप ईमानदारीके साथ किसी तालाब, कूप आदिके पास रख आते थे वहाँ आज सही आयको छिपानेके लिये उन्हे अनेक उपाय खोजने पड़ते हैं । आयकर-विभाग झूठे और सच्चे दोनोंको एक नजरसे देखनेमे विवश है और उन्हे चोर समझता है । आज-कलके देन-लेन-कर्ममे निपुण व्यक्ति कुछ 'दे-लेकर' आसानीसे जब मुक्ति पा लेते हैं, तब दूसरोको भी प्रेरणा देते हैं; परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार दोनो दिशाओमें पनपने लगता है जो देशकी, राष्ट्रकी समृद्धिके लिये अभिशाप है । आज शिक्षाके क्षेत्रतकमे दोष आ गये हैं । बिना निश्चित राशि दिये प्रवेशतक सम्भव नहीं रहा है । योग्यतानुक्रमसे केवल गिने-चुने व्यक्तियोको ही प्रवेश मिल पाता है । अपनी रुचिके विषयमे प्रवेश पा लेना प्रतिभाशाली छात्रोंके लिये भी दुर्लभ हो गया है । फिर राष्ट्रमें योग्यतम, योग्यतर ही नहीं, योग्य व्यक्तियोकी कमी क्यो न होगी ? आज मूर्खता पनपती जा रही है ।

चिकित्सालयोमे कैसी व्यवस्था है; कैसी चिकित्सा होती है, यह भी किसीसे छिपा नहीं है । हर पगपर पैसेकी बात होती है और जो नहीं दे पाता, वह कितनी उपेक्षाका शिकार होता है, यह कोई भी भुक्तभोगी बता सकता है । प्राणरक्षक दवाइयोकी दुर्लभता हो गयी है । आतुरोंकी स्थिति चिन्तनीय है ।

खाद्यान्नों और किरानेमे कितनी मिलावट की जाती है, यह सबपर प्रकट है । कई स्थानोंपर तो चावलके आकार-प्रकारके पत्थर काटकर चावलोंमें मिलाये जानेके लिये तैयार किये जानेकी भी बात कही जाती है । दूध, घी, तेलमे क्या कुछ मिलाया जाता है, ईश्वर ही जाने । परिणामत: ऐसे नये-नये रोगोकी सृष्टि हो रही है जिनका नाम भी आयुर्वेदमे उपलब्ध नहीं है । नकली ओषधियोके कारण इनकी बाढ़को रोक पाना और कठिन हो रहा है । कैसी विषम स्थिति है ।

नकली कारतूस, नकली टिकट, तस्करी, जमाखोरी, घूसखोरी आदि भ्रष्टाचारके कारण राष्ट्र खोखला होता जा रहा है। उसे देखते हुए यह सुनिश्चितरूपसे कहना पड़ता है कि इसका कारण चरित्रका अभाव ही है। चरित्र धर्मका अनिवार्य अंग है, अतः यदि राष्ट्रको सशक्त और समृद्ध बनाना है तो हमें धर्मको किसी-न-किसी रूपमें अंगीकृत, आत्मार्पित करना होगा, अच्छाई और बुराईके अन्तरको स्पष्ट करना होगा, अपकार-परोपकारके दृष्टिकोणको प्रशस्त करना होगा। इसी प्रकार प्रतिभाका सम्मान करना होगा और इन सबके लिये ईश्वर तथा ईश्वरीय दण्ड, स्वर्ग-नरकके भयकी पुनः प्रतिष्ठा करनी होगी। अच्छे कार्यके लिये पुरस्कार तथा परपीडक निन्द्य कार्योंके लिये दण्डका विधान करना होगा। तभी हम अपने राष्ट्रको सच्चा गणतन्त्र, स्वस्थ न्यायप्रिय राष्ट्र सिद्ध कर सकनेमें सफल हो सकेंगे। आयुर्वेदमें 'स्वस्थ' की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

प्रसन्नात्मेन्द्रियग्रामो स्थिरधीः स्वस्थमुच्यते

हमें भी सर्वप्रथम आदर्श चरित्र-सम्पन्न बनाकर राष्ट्रको स्वस्थ बनाना है, अतः हमें निष्ठापूर्वक सद्गुणोंको प्रोत्साहित और दुर्गुणोंको निस्सारित करना होगा। अपने व्यवहारमें सत्यता, संयमशीलता, उदारता, परोपकारिता, सहिष्णुता, परदुःखकातरता, दानशीलता, गुणग्राहिता आदिको लाना होगा; तभी हम अपने राष्ट्रको आदर्श राष्ट्र बना सकेंगे। आज तो जो स्थिति चल रही है वह महाकवि कालिदासकी इस अनुभव-सिद्ध सूक्तिका स्मरण कराती है कि—

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यपूजाव्यतिक्रमः।
त्रीणि तत्र प्रजायन्ते दुर्भिक्षं मरणं भयम्॥

भारत अनादिकालसे विश्व-गुरु रहा है, आज भी हमारे 'हरे राम हरे कृष्ण' का नाद विश्वमें गूँज रहा है। अणुभयसे संत्रस्त मानव भोगसे विरत हो योगका आश्रय लेने भारतकी ओर उन्मुख हो रहे हैं। अतः हमें भी आजकी विस्तारवादी राजनीतिको एक मर्यादामें मर्यादित कर चारित्रिक विकासकी ओर अधिक ध्यान देना चाहिये। इसके फलस्वरूप हमारा राष्ट्र निश्चय ही पुनः शीर्षस्थ स्थानपर आरूढ हो विश्वको उचित दिशा-दर्शन देनेमें सफल हो सकेगा—

श्रीमता तदनुष्ठेयं महत्त्वं येन वर्तते।

राष्ट्रके प्रति हमारा चारित्रिक दायित्व

यद्यपि 'देश' और 'राष्ट्र' पर्यायवाची शब्द हैं, पर आज राष्ट्रका प्रयोग विशेषरूपसे स्वतन्त्र देशके लिये किया जाता है। विश्वमें शासनकी राजतन्त्र प्रभृति अनेक पद्धतियाँ प्रचलित रही हैं और आज भी हैं, परंतु सम्प्रति प्रजातन्त्रप्रणाली अपेक्षाकृत बहुमान्य है। प्रजातन्त्रका व्यक्तिनिष्ठ एक महान् दायित्व राष्ट्रके प्रति होता है जिसे हम अभीतक ३५ वर्षोंमें सम्यक्‌रूपसे सुव्यवस्थित न कर सके। वह दायित्व है, राष्ट्रिय चरित्रका आदर्श उत्कर्ष। हम अपने हृदयपर हाथ रखकर पूछें कि क्या हम राष्ट्रकी सम्पत्तिकी स्वसम्पत्तिवत् रक्षा करते हैं? क्या हम राष्ट्रिय गौरवके अनुरूप देशमें तथा विदेशोंसे व्यापार-व्यवहार करते हैं? क्या हम वर्णाश्रम-धर्मवाले इस धर्मप्राण देशमें धर्मनीतिके अनुसार चल रहे हैं? क्या हम कल्याण राज्यके अनुरूप अपने अधिकार एवं कर्त्तव्योंका ईमानदारीसे निर्वाह कर रहे हैं। हमारा आजका आचरण अन्यत्रके नैतिक आचरणसे ऊँचा है? क्या हम अपने राष्ट्रके प्राचीन गौरवको सम्मुख रखकर छल, दम्भ, द्वेष, पाखण्ड, झूठ, हिंसा-प्रतिहिंसा, बेईमानी आदि दुर्गुणोंसे बचे हैं और क्या हम राष्ट्रके गौरव एवं बलको गिरानेवाले, उत्कोच, अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, जमाखोरी चोरबाजारी, प्रभृति अनैतिक आचारोंसे बचे एवं समाजको बचाये हुए हैं? यदि आपका हृदय कहता है कि 'नहीं' तो सोचिये कि हम कहाँ जा रहे हैं? और, यह हमारे राष्ट्रके चारित्रिक उत्थानका या पतनका हेतु होगा? फिर आप यदि अपने देशको अपना राष्ट्र कहते-मानते हैं तो आपका उत्तर-दायित्व आपको राष्ट्रिय चारित्र्यकी दिशामें सुतरां प्रवृत्त करा देगा पर फिर भी प्रश्न है कि क्या हम अपने राष्ट्रिय चरित्रके उत्कर्षके लिये इच्छुक, लालायित, प्रयासशील हैं? यदि हाँ, तो निर्दिष्ट पद्धतिपर चलिये। राष्ट्रके प्रति अपना चारित्रिक दायित्व किंवा कर्त्तव्य पूर्णतः सँभालिये।

चरित्र-निर्माणकी शाश्वत उपयोगिता एवं सामयिक उपादेयता

(लेखक—निम्बार्काचार्य गोस्वामी श्रीललितकृष्णजी महाराज)

गत्यर्थक 'चर्' धातु और 'इत्र' प्रत्ययके संयोगसे निष्पन्न 'चरित्र' शब्द चरित्र एवं वृत्त अर्थात् छन्द या पद्य अर्थका द्योतक है—**'वृत्तं पद्ये चरित्रे च'** (अनेकार्थसंग्रहकोश) । वृत्त शब्द **'वृतु वर्तने'** धातुसे निष्पन्न होता है । यहाँ अनेकार्थक-कोशकारोने चरित्रको 'वृत्त' कहा है । पद्यको भी 'वृत्त' कहा जाता है । चरित्रमे भी पद्यवत् सुनियोजित व्यवहार होता है । स्वच्छन्द या स्वेच्छाचारमय जीवनसे चरित्रका हनन होता है । सुनियोजित जीवनचर्या ही चरित्र है, वही मानवकी सही गति है, उसीसे परलोकमे सुगति सम्भव है ।

चरित्रकी सँभाल सद्विचार और सदाचारकी परिधिमें ही हो सकती है । प्रायः शास्त्रोंमे इन्हे ही ऋत और सत्य कहा गया है । ये सृष्टिके समय ब्रह्माको तपसे प्राप्त हुए थे । ब्रह्माको सृष्टिकी सामर्थ्य तपसे ही प्राप्त हुई है । अनादिकालका सृष्टि-प्रवाह जड़-चेतनका छन्दोमय वृत्त ही है । सृष्टिके समस्त कार्यकलाप अनादिकालसे एकसे ही चले आ रहे हैं । दिन, सप्ताह, पक्ष, मास, वर्ष, युग, मन्वन्तर, कल्प आदि कालानुसार एवं स्वतः स्वभावानुसार घटित होते रहते हैं, रञ्चमात्र भी उनमे कोई परिवर्तन नहीं होता । समस्त जड़-चेतन कालकी गतिमे छन्दोमयरूपसे अनुस्यूत है । वैष्णवाचार्योंने इसीलिये चिदचित् और काल—इन तीन तत्त्वोंको ही स्वीकार किया है । इन्हीं तीनोका वृत्तान्त निगमागमपुराणेतिहासोंमे संकलित है । इन चिरंतन सत्योका विचार कर वर्ताव करना ही ऋत तथा सत्य है; और वही चरित्र है ।

पुराणोंके सृष्टिक्रममे कर्दम ऋषिका दिव्य चरित्र आता है । जीवन-गतिके संचालनके लिये वहाँ उनके विवाहकी चर्चा आती हैं । आदिराज मनुने उनके अन्तिम विवाहके अवसरपर अपनी कन्या देवहूतिको उन्हें समर्पित करते हुए प्रार्थना की थी—

ब्रह्मासृजत्स्वमुखतो युष्मानात्मपरीप्सया ।
छन्दोमयस्तपोविद्यायोगयुक्तानलम्पटान् ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २२ । २)

'ब्रह्माजीने अपनी आकाङ्क्षा-(सृष्टिविस्तारकी इच्छा-)की पूर्तिके लिये अपने मुखसे आप ब्राह्मणोको प्रकट किया है, आप लोगोंका वेदज्ञानमय जीवन तप, विद्या, भक्तियोगसे सम्पन्न तथा वासना रहित है ।' वेदविज्ञानमय जीवन तप, ज्ञान और भक्तिसे ही सँभलता है । तपका जो स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने गीतामे अर्जुनको बतलाया है, वह अनूठा है । वहाँ शारीरिक, वाचिक, मानसिक ये त्रिविध तप कहे गये है । देव, द्विज, गुरु और विद्वज्जनोका सत्कार, पूजन करना, पवित्र रहना, इन्द्रियोमे सरलता रखना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, हिंसा न करना ये शारीरिक तप हैं । इसी प्रकार अनुद्वेगकर, सत्य, प्रिय, हितकर वाणी, बोलना शास्त्राभ्यास और मन्त्रजप करना वाणीके तप हैं । मनको प्रसन्न रखना, मौनभावसे मनको शान्त रखना, भावोंको शुद्ध रखना मानस-तप हैं (गीता १७ । १४—१६) । प्राणिमात्रसे सौहार्द रखते हुए सारे विश्वको भगवद्-रूप मानते हुए व्यवहार करना सही ज्ञान है । इससे मनुष्य कष्ट नहीं पाता, ऐसा भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजी-से कहा था—

सर्वभूतसुहृच्छान्तो ज्ञानविज्ञाननिश्चयः ।
पश्यन् मदात्मकं विश्वं न विपद्येत वै पुनः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । ७ । १२)

भक्तियोगसे सम्पन्न तप और ज्ञान हो तभी वे लाभकर है । 'योगयुक्तान्' विशेषणका यही तात्पर्य है; जैसा कि भगवान् उद्धवसे स्पष्ट कहते हैं—

मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथाकर्म यथारुचि ॥
धर्ममेके यशश्चान्ये कामं सत्यं दमं शमम् ।
अन्ये वदन्ति स्वार्थं वा ऐश्वर्यं त्यागभोजनम् ॥
केचिद् यज्ञतपोदानं व्रतानि नियमान् यमान् ।
आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः ।
दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः ॥
धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । ९–११, २२)

'मेरी मायासे मोहित बुद्धिवाले पुरुष अपनी रुचि और कर्मानुसार अपने कल्याणका मार्ग अपनाते हैं। कोई धर्म, कोई यश, कोई काम, कोई सत्य, दम, शमका आश्रय लेते हैं, कोई ऐश्वर्य-भोगका तो कोई त्याग, यज्ञ, दान, तप, नियम, यमको महत्त्व देते हैं। किंतु ये साधन शाश्वत शान्तिके नहीं हैं। कर्मको आसक्ति परिणामतः प्राप्त होती है। इनसे क्षुद्र आनन्द मिलता है। ये तमोनिष्ठ और अन्तमें पश्चात्तापकारी दुःखदायी सिद्ध होते हैं। धर्म, सत्य, दयावान्, विद्या और तपसे सम्पन्न व्यक्ति भी जबतक मेरी भक्तिसे युक्त नहीं होता, तबतक पूर्णरूपसे पवित्र नहीं होता।'

इस भगवद्-वाक्यसे निश्चित होता है कि चरित्र-निर्माणमें तप आदि साधन तभी सहयोगी हैं, जब उनमें भक्ति-भावनाका भी पुट हो। भक्तिके अलालको तप आदिसे सिक्त किया जाय तो चरित्र-वृक्ष पुष्पित और फलित हो सकता है। उक्त भगवद्वचनसे यह भी निश्चित होता है कि भगवद्भक्तिके बिना मानव-चरित्रका उत्थान सम्भव नहीं है। इसीलिये शुकदेवजीने निर्णय किया—

स वै पुंसां परो धर्मः यतो भक्तिरधोक्षजे ।

'जीवका परम कर्तव्य है कि वह अधोक्षजकी भक्तिमें संलग्न हो जाय।' जागतिक सृष्टिप्रवाहमें जो कुछ भी घटित हो रहा है उसमें एकमात्र काल ही कारण है। वही एकमात्र इसमें प्रत्यक्ष सत्य है, जैसा कि भगवान्‌का वचन है—

ज्ञानं विवेको निगमस्तपश्च
प्रत्यक्षमैतिह्यमथानुमानम् ।
आद्यन्तयोरस्य यदेव केवलं
कालश्च हेतुश्च तदेव मध्ये ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २८ । १८)

'ज्ञान, विवेक, निगम, तप, प्रत्यक्ष, इतिहास और अनुमान—सभीसे यही प्रमाणित होता है कि आविर्भूत-तिरोभूत होनेवाले इस जगत्‌में केवल काल ही सत्य है।'

कहनेका तात्पर्य यह है कि अचित् तो परिवर्तनशील है, चित् अदृश्य है। एकमात्र कालका परिणाम ही प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है। काल इस विश्वका कारण है, अचित् कार्य है, चित् कर्ता है। ये तीनों सत्त्व, रज, तम—इन तीन गुणोंके अनुसार जिस महान् शक्तिके द्वारा ज्ञात और अज्ञात हो रहे हैं, वह चौथी वस्तु ही परम सत्य है—

विलानमेतत् त्रियवस्थमङ्ग
गुणत्रयं कारणकार्यकर्तृ ।
समन्वयेन व्यतिरेकतश्च
येनैव तुर्येण तदेव सत्यम् ॥

यह भागवतके इस श्लोकसे निश्चित होता है। मायारचित गुणोंकी आसक्ति छोड़कर जगन्नियन्ता तुरीय तत्त्वकी भक्ति कर अपने मनके मैलको स्वच्छ करते रहना चाहिये। इस रहस्यको भगवान् उद्धवको बतलाते हैं—

तथापि सङ्गः परिवर्जनीयो
गुणेषु मायारचितेषु तावत् ।
मद्भक्तियोगेन दृढेन यावद्
रजो निरस्येत मनः कषायः ॥
यथाऽऽमयोऽसाधुचिकित्सितो नृणां
पुनः पुनः संतुदति प्ररोहन् ।
एवं मनोऽपक्वकषायकर्म
कुयोगिनं विध्यति सर्वसङ्गम् ॥

*

'मायारचित गुणोंकी आसक्ति छोड़नी चाहिये, वह मेरी भक्तिसे ही सम्भव है। उसीसे मनके मैल स्वच्छ होते हैं। जैसे कि ठीक ढंगकी चिकित्सा न होनेसे रोग पुनः-पुनः अंकुरित हो जाता है, वैसे ही भक्तिरहित तप आदि साधनोंसे मनका मैल पूर्णतः स्वच्छ नहीं होता।'

इस विवेचनसे जगत् और जीवकी गतिका यथार्थ चित्रण हो गया। मायाकी आसक्ति चरित्रका हनन करती है और भगवान्‌की भक्ति चरित्र-निर्माण करती है, यह भी निर्णय हो गया। इसलिये मनुष्यको भगवद्भक्तिके आश्रयसे अपना उद्धार करना चाहिये और निर्भय होकर जीवन-यापन करना चाहिये। कपिलमुनिका भी उपदेश है—

तस्मान्न कार्यः संत्रासो न कार्पण्यं न सम्भ्रमः।
बुद्ध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेदिह॥
(श्रीमद्भा० ३। ३१। ४७)

'मनुष्यको जीवनमें हताश न होना चाहिये, न घबड़ाना चाहिये और न व्याकुल होना चाहिये। जीवकी चिरन्तन गतिको जानकर धैर्यके साथ अनासक्त होकर जीवनयापन करना चाहिये।' प्रश्न होता है कि क्या किसी सम्प्रदाय-विशेषमें दीक्षित होकर ही भक्ति करनी चाहिये अथवा भक्तिका कोई सामान्य मार्ग भी है जो कि सामान्य व्यक्तिके लिये ग्राह्य हो। यह तो सम्भव नहीं है कि प्राणिमात्र किसी सम्प्रदाय या धर्ममें सम्मिलित हो ही जाय। पर चरित्रोत्थान तो प्राणिमात्रके लिये आवश्यक है। इसका समाधान भी हमें श्रीमद्भागवतमें भगवान् कपिलके निम्न वचनमें मिल जाता है—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि।
सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥
(श्रीमद्भा० ३। २५। १९)

प्राणिमात्रके अन्तर्यामी परमात्माकी भक्ति चरित्रोत्थानका कल्याणमय मार्ग है। उसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इस कथनका तात्पर्य जीवमात्रके कल्याणकी भावना ही भक्ति है, किसीको किसी प्रकारका कष्ट प्राप्त न हो—ऐसा आचरण करना ही भक्ति है। ऐसा करनेवाले ही महान् हैं। वे स्वयं कष्ट उठाकर भी लोगोंकी भलाई करते हैं—

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥
(श्रीमद्भा० ३। २५। २१)

'जो सहनशील, प्राणिमात्रसे प्रेम करनेवाले, दयालु और काम-क्रोधादि अपनी दुर्भावनाओंसे रहित शान्त परोपकारी हैं, वे ही महान् हैं।'

यही चरित्रका मापदण्ड है, पर यह ईश्वरकी सत्ता मानकर ही सहीरूपसे सम्भव है, जबतक यह नहीं माना जायगा कि जीवमात्रका अन्तर्यामी ईश्वर है, तबतक उक्त धारणा नहीं बनती। भक्तिका यह सामान्य रूप है। यह किसी भी सम्प्रदाय या धर्ममें आबद्ध नहीं है। इस मार्गमें विकार-राहित्य, अहंकार-शून्यता होती है। अतः त्रिगुणात्मक प्रकृतिका आश्लेष भी सम्भव नहीं है। मनुष्य जगत्‌में रहता हुआ भी निर्द्वन्द्व और सुखी रह सकता है—

प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत्॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम्।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा॥
(श्रीमद्भा० ३। २७। १, २९। २७)

'उक्त प्रकारके आचरणसे मनुष्य प्रकृतिमें रहता हुआ भी प्राकृत गुणोंमें आसक्त नहीं हो सकेगा; क्योंकि उसके विचारोंमें विकार नहीं होगा, कर्तृत्वाभिमान नहीं होगा, गुणोंकी वृत्तियोंका आश्लेष नहीं होगा। ऐसे चरित्रवान् व्यक्तिको सदा ऐसा ही विचारना चाहिये कि प्राणिमात्रमें भगवान्‌का निवास है। अतः बिना किसी भेदभावके सभीसे मित्रताका भाव रखते हुए सभीका समादर करते रहना चाहिये।'

इस विस्तृत विवेचनसे निश्चित हो जाता है कि सुखी जीवनके लिये चरित्र-निर्माणकी शाश्वत उपयोगिता है। आजके परिवेशमें यह उपयोगी नहीं है—ऐसा कोई भी बुद्धिमान् नहीं कह सकता। विधाताने सृष्टि की, समस्त जीवोंके निर्माणके बाद भी उसे संतोष नहीं हुआ, उसने जब मानवको बनाया और उसमें व्यापक विवेकपूर्ण दृष्टिकोण स्थिर किया तो उसे बड़ी प्रसन्नता और संतोष हुआ—

तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः।
(श्रीमद्भा० ११ । ९ । २८)

इस दत्तात्रेय मुनिके वाक्यसे निश्चित होता है कि विधाताने मनुष्यका निर्माण ही चरित्रवान् की दृष्टिसे किया है; अतः चरित्रवान् होनेमें ही मानवकी मानवता है। चरित्रहीन मानव दानव बन जाता है। अतः चरित्रकी उपयोगिता निर्विवाद है। हाँ, उसकी साधना भक्ति-मूलक होनी चाहिये।

शास्त्रों एवं मनीषियोंकी दृष्टिमें चरित्र-निर्माणकी महत्ता

(लेखक—डॉ० श्रीउमाकान्तजी 'कपिध्वज,' एम्० ए०, पी-एच्० डी०, काव्यरत्न)

सदाचरण या सच्चरित्रता ही पुरुषकी श्रेष्ठताकी कसौटी है। श्रेष्ठ पुरुष जो व्यवहार करते हैं, वही सदाचार कहा जाता है। सदाचारको वसिष्ठस्मृति (१ । ४) तथा मनुस्मृति आदिमें 'आचार' शब्दसे भी निर्दिष्ट किया गया है। इसकी महत्ता मनुस्मृतिके निम्न श्लोकमें भी द्रष्टव्य है—

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च।
तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः॥
(१ । १८)

यहाँ श्रुति तथा स्मृतिसे समर्थित होनेपर ही आचारको अनुसरणीय कहा गया है। भगवान् शंकराचार्यने आचारको चरित्रका पर्याय स्वीकार किया है—

चरणं चारित्रमाचारः शीलमित्यर्थान्तरम्।[1]
(ब्रह्मसू० ३ । १ । ९ पर शाङ्कर-भाष्य)

चरित्रहीन अथवा आचारहीन व्यक्तिकी इहलौकिक और पारलौकिक स्थितिका वर्णन करते हुए भारतीय धर्म-ग्रन्थोंमें स्पष्ट उल्लेख है कि षडङ्गसहित अधीत वेद भी आचारहीनको पवित्र नहीं करते और वे मृत्युकालमें उन्हें उसी प्रकार छोड़ देते हैं, जैसे पंख निकल आनेपर पक्षी घोंसलेको छोड़ देते हैं—

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा
यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥

(सौक्तिको०, महाभा० ५ । ३५ । ४५, ४२ । ५, वसिष्ठधर्म० ६ । ३, देवीभाग० १२ । २ । १, वृद्धयोगि-याज्ञवल्क्य० ८ । ७१ इत्यादि)

वस्तुतः मनुष्यकी सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कसौटी है—उसका स्वयंका चरित्र। मनुष्य स्वयं अपने चरित्रके अनुसार ही प्रतिबिम्बित होता है। पाश्चात्त्य विचारक बेकनने ठीक ही कहा है—'Style is the man himself'। अतः मनुष्य स्वयं अपने चरित्रका दर्पण है।

चरित्र वह अनमोल रत्न है, जो समाजमें मनुष्यको प्रतिष्ठित करता है। यदि कोई व्यक्ति धनी हो, शक्तिशाली हो एवं उच्च शिक्षित भी हो तो भी चरित्ररूपी पूँजीके अभावमें वह कुछ भी नहीं है। चरित्रवान् मनुष्य पुष्पस्तबककी तरह है, जो सभीको सुवासित करता है।

चरित्रवान् व्यक्ति सागरकी तरह गम्भीर, वसुधाकी तरह धैर्यवान्, सूर्य-सदृश तेजस्वी, चन्द्रवत् शीतल,

१— चरण, चारित्र, चारित्र्य, आचार और शील पर्याय-वाचक शब्द हैं।

पुष्पवत् कोमल एवं वज्रवत् कठोर होता है। अनेक विपत्तियोंसे घिरकर भी वह अपने कर्तव्य-पथसे उस विशाल वटवृक्षकी तरह विचलित नहीं होता, जो प्रचण्ड वायुसे प्रताड़ित होकर भी मिट्टीके कठोर किनारोंकी तरह लहरोंके प्रवाहमें प्रवाहित नहीं होता।

दम, दान एवं यम—इन तीनोंके पालनको हमारी पुरातन वैदिक संस्कृति अत्यधिक महत्त्व देती रही है। इन तीनोंमें भी विशेषतः दम (इन्द्रिय-दमन) भारतीय तत्त्वार्थदर्शी पुरुषोंका सनातनधर्म है। इन्द्रिय-दमन आत्मतेज और पुरुषार्थको बढ़ानेवाला है। दमके अभ्याससे तेज बढ़ता है एवं दमका प्रयोग चरित्र-निर्माणका महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इसका आत्मिक उन्नति तथा ज्ञानसे गहरा एवं घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा यह शारीरिक, मानसिक एवं चरित्र-निर्माणसम्बन्धी तीनों उन्नतियोंका कारण है।

वैदिक साहित्यमें जितेन्द्रियता-(ब्रह्मचर्य-)का अद्भुत महत्त्व प्रतिपादित है। ऋग्वेदमें दो ब्रह्मचर्य सूक्त हैं तथा अथर्ववेदके ग्यारहवें काण्डका पाँचवा सूक्त 'ब्रह्मचर्य-सूक्त' है। इसमें २६ मन्त्र हैं। वहाँ ब्रह्मचर्यको ही जगत् तथा विश्व-संचालन-कार्यका आधार माना है—

ब्रह्मचारी स दाधार पृथिवीं दिवं च।
(अथर्व० ११।५।१)

वृद्धगौतमस्मृति-(३।१६)मे कहा गया है कि ब्रह्मचर्यसे आयु, तेज, बल, प्रज्ञा, लक्ष्मी, विशाल यश, परम पुण्य तथा भगवत्कृपा-प्रसाद, प्रीतिकी प्राप्ति होती है—

आयुस्तेजो बलं वीर्यं प्रज्ञा श्रीश्च महायशः।
पुण्यं च मत्प्रियत्वं च हन्यते ब्रह्मचर्यया॥
(३।१६)

वस्तुतः जितेन्द्रियता ही चरित्रबल है। जो मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं मदवश विचलित नहीं होता, निःसंदेह वही चरित्रवान् है। सच्चरित्रता उत्तम कार्यों और भावोंकी प्रेरक शक्ति है, अतः इसमे सभी मानवोचित गुणों—हृदयका विशालत्व, औदार्य, त्याग, सेवा, क्षमा, शक्ति, विनय, सत्य, ईमानदारी, धैर्य, कर्तव्य-परायणता, आत्म-संयम आदिका समावेश है। ऐसे सर्वगुणसम्पन्न एवं सच्चरित्र मनुष्यकी प्रशंसा उसके शत्रु भी करते हैं—

ॐ उत नः सुभगां अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः।
स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि॥
(ऋक्० १।४।६)

नेपोलियन बोनापार्टकी शिक्षा थी—'कर्मशील और सदाचारी बनो'—Be a man of Action and character. अंग्रेज कवि वेल्सने कहा है—'वही मनुष्य वास्तवमें मनुष्य है, जिसका हृदय निर्दोष और पवित्र है, जिसने जीवनमें बेईमानी और बुरा कर्म नहीं किया तथा जिसका मन अभिमानसे रहित है'—

The man of upright life,
Whose guiltless heart is free,
From all thoughts of vanity,
Is a real man indeed.

भारतीय धर्मग्रन्थोमे हृदय-परिवर्तन और चरित्र-निर्माणपर विशेष बल दिया गया है और इन दोनोसे ही मानवताका उदय माना गया है। प्राचीन भारतीय परम्परामें वही शासन सुखद और श्रेष्ठ समझा जाता था, जिसमें नागरिक जीवन सच्चरित्र-सम्पन्न और सद्भावनाओंसे भरा हुआ रहा हो। इसी सम्बन्धमे सुप्रसिद्ध विद्वान् स्पेंसरने कहा है—

'True criterion of good government is not the increase of wealth and population, it is the creation of character and personality.'

'श्रेष्ठ और सफल शासनका अर्थ सम्पत्ति और मनुष्य-गणनाकी वृद्धि नहीं, प्रत्युत चरित्र-बल एवं व्यक्तिका निर्माण है।' यजुर्वेदके ऋषिका भी स्पष्ट

उद्घोष है कि जिस राष्ट्रमें या समाजमें ज्ञानी और शूरवीर परस्पर मिलकर रहते हैं, वह राष्ट्र और वह समाज निश्चय ही पुण्यलोक अर्थात् स्वर्गको जाता है, जहाँ सब प्रकारका सुखैश्वर्य विद्यमान है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥
(२० । २५)

'अथर्ववेद'का आदेश है कि राष्ट्र, समाजके निर्माण करनेवालोंको उचित है कि वे अपने शरीर, मन और कर्मसे समाज और राष्ट्रमें समता—एकता स्थापित करें। किसी प्रकार भी परस्पर विरोध खड़ा न होने पावे—

सं वः पृच्यन्तां तन्वः सं मनांसि समु व्रताः।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्॥
(६ । ७४ । १, ६)

समता और एकत्वसमन्वित यह वैदिक भावना मानव-जीवनको आदर्शमय (चारित्र्यशील) बनानेमें मुख्य प्रयोजक है। इस दिव्य भावनाके परिपालनसे चरित्र-निर्माणके क्षेत्रमें जड़ता झड़ती जाती है, चेतनता निखरती आती है, तम हटता जाता है एवं प्रकाश अनावृत होता जाता है। इस संदर्भमें पाश्चात्य विद्वान् रासने ठीक ही कहा है—'चारित्र्यशील मानव देवताके ही समान अल्प-न्यून गौरव एवं प्रतिष्ठासे विभूषित होता है। उसका परमात्माकी अन्य समस्त कृतियोंपर अधिकार होता है।' (Ground Work Of Educational Theory—P. 115)

चरित्र या सदाचारकी महती आवश्यकता व्यक्तिसे लेकर सामाजिक, राष्ट्रिय और अन्तरराष्ट्रिय जीवनतक है। व्यक्तिगत और सामाजिक—किसी भी धरातलपर चरित्रकी अवहेलना नहीं की जा सकती। व्यक्तिगत जीवनमें मनुष्य जितना स्वतन्त्र होता है, सामाजिक जीवनमें उसकी स्वतंत्रतामें उतनी ही बाधाएँ आती हैं। अतः उसे स्वयंको सीमित ही नहीं संयत भी रखना पड़ता है। जीवनमें जो कुछ मिला है, उसका भोग वे ही करते हैं, जो अदूरदर्शी, अविवेकी एवं मूढ़ हैं और उसका सेवामें सदुपयोग वे जन करते हैं, जो परिणामदर्शी हैं और विद्वान् होनेके साथ ही विवेकी हैं। जो धन मान-अधिकारका भोगी है, जो वस्तुओंका लोभी है, जो व्यक्तियोंका मोही है और जो ममतासे आबद्ध है, वह चरित्र-निर्माणकी साधनामें सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकता। भय, चिन्ता एवं आसक्तियोंसे आबद्ध मनुष्य चरित्र-निर्माणके क्षेत्रमें पिछड़ जाता है। उसके संकल्पमें दृढ़ता नहीं होती। परंतु जब लोभमें उदारता, क्रोधमें क्षमा, हिंसापर अहिंसा एवं द्वेषपर प्रेम तत्काल विजयी होता है तो चरित्र-निर्माणकी पूर्णता सिद्ध होती है। सम्भवतः इसीलिये निम्नलिखित वैदिक मन्त्रमें आदर्श मानव (चारित्र्यशील) बननेकी इच्छावाले मनुष्यको षड्वृत्तियोंपर विजय प्राप्त करनेका आदेश दिया गया है—

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्रमृण रक्ष इन्द्र॥
(ऋक्० ७ । १०४ । २२)

'ओ मनुष्य! तू साहसी बनकर गरुड़के समान 'मद' (घमंड), गीधके समान 'लोभ', कोक-(चकवे-)के समान 'काम', श्वानके समान 'मत्सर', उल्लूके समान 'मोह' और भेड़ियेके समान 'क्रोध'को समझकर मार भगा।' ऋग्वेदका एक और मन्त्र यहाँ ध्येय है, जिसमें व्यष्टि-समष्टि-मूलक, सार्वभौम और सार्वजनीन मानवोचित सप्त मर्यादाओंका अत्यन्त सुन्दर नामकरण, वर्गीकरण और मानव-साध्य आदर्श पाठ प्रस्तुत किया गया है—

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥
(१० । ५ । ६)

'हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्य-पान, जुआ, असत्य-भाषण तथा पापसहायक दुष्ट—इन्हींका नाम सप्त मर्यादा है। इनमेंसे प्रत्येक मानव-जीवन-घातक है, यदि कोई एकके भी फंदेमें पड़ जाता है तो उसका जीवन नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है, किंतु जो इनसे बचकर निकल जाता है, निःसंदेह वह आदर्श मानव (चारित्र्य-शील) बनकर रहता है।

सम्प्रति इन सर्वदा अनुकरणीय वैदिक मान्यताओंको व्यवहारमें लाकर सबका समन्वय करना आवश्यक है। इसीसे चिरसुख, असीम शान्ति, तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का यथार्थ अनुभव करानेवाले ज्ञानयुक्त, शील-चारित्र्य-युक्त, धर्मनियन्त्रित, परस्पर विश्वास तथा सहकार्यसम्पन्न मानव-समाजका निर्माण होगा और उससे सुखकी चरम सीमा प्राप्त हो सकेगी।

चरित्र-निर्माणकी उपयोगिता

(लेखक—श्रीरवीन्द्रनाथजी, बी० ए०, एल्० एल्० बी०)

मनुष्यने बुद्धि और विवेकसे जिस उत्कृष्ट कोटिकी जीवन-प्रणालीका निर्माण किया, उसे चरित्र कहा जाता है। ऐसी जीवन-प्रणालीकी रूप-रेखा हमें ऋग्वेदकी एक ऋचामें देखनेको मिलती है। उसमें यह कहा गया है कि 'सबलोगोंके संकल्प, निश्चय, अभिप्राय समान हों, सबके हृदयमें समानताकी भव्य भावना जागरित हो और सब लोग पारस्परिक सहयोगसे मनोनुकूल सभी कार्य करें[1]।' चरित्र-निर्माणकी जो दिशा ऋग्वेदमें निर्धारित है, वह आज भी अपने मूलरूपमें मानवके लिये कल्याणकारी है। मानव-समाजको प्रगतिके पथपर आगे बढ़नेहेतु ऐसे ही उपयोगी गुणोंकी आवश्यकता है। समाजमें सह-अस्तित्वकी भावना जागरित करनेके लिये यह आवश्यक है कि इन नीतियोंका प्रतिपादन धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तरोंपर निरन्तर किया जाता रहे। यजुर्वेदमे निवास, अर्थोपार्जन एवं पराक्रमके क्षेत्रोंमें प्रीतियुक्त, रुचिकर और अन्य लोगोंके कल्याणका संकल्प लेकर एक साथ चलनेका निर्देश इसी उद्देश्यसे किया गया है[2]। समाजका गठन बिना किसी ठोस आधार और निश्चित नीतिके सम्भव नहीं है। दिशाविहीन प्रगतिसे न तो समाज लाभान्वित होता है, न मनुष्यमें चारित्रिक विकास ही हो पाता है। आधुनिक कालमें समाज और व्यक्तित्वका स्वरूप ऐसा ही (दिशाविहीन ही) निर्मित हो रहा है। आर्थिक प्रगतिके साथ-साथ नैतिक मूल्योंकी प्रगति भी आवश्यक है। नैतिक मूल्योंको तिलाञ्जलि देकर मानसिक या आर्थिक क्षेत्रमें जो भी प्रगति होती है, उसकी कोई दिशा नहीं हुआ करती। ऐसी स्थितिमें चारित्रिक ह्रास अवश्यम्भावी है।

धर्म्यनीतिके आदि प्रणेता मनु नैतिक मूल्योंके प्रति अधिक जागरूक थे। उनकी यह धारणा थी कि नैतिक मूल्योंका दृढ़तासे पालन किये बिना ऋग्वेद तथा यजुर्वेद-द्वारा प्रतिपादित सामाजिक और आर्थिक प्रगतिकी उक्त नीतियाँ प्रभावी नहीं हो सकतीं। इसी उद्देश्यसे मनुने सत्य, धर्म, आर्यवृत्ति और शौचके[3] पालनपर अधिक बल देनेके साथ ही यमोंके[4] पालनको अनिवार्य बताया है।

१—समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ (ऋ० १०। १९१। ४)

२—समितं सं कल्पेथा सं प्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ। इषमूर्जमभि संवसानौ॥ (यजु० १२। ५७)

३—सत्यधर्मार्यवृत्तेषु शौचे चैवारमेत् सदा। (मनु० ४। १७५)

४—यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः। (मनु० ४। २०४)

मनु यह भी कहते हैं कि इनके परिपालनमें वाणी, बाहु और उदरपर नियन्त्रण रखा जाना चाहिये[5]। प्रायः यह देखा जाता है कि चरित्र और नैतिक मूल्योंकी उपेक्षा वाणी, बाहु और उदरको संयत न रखनेके कारण होती है। जो व्यक्ति वाणी, बाहु एवं उदरको नियन्त्रित रखनेमें सफल हो जाता है, उसका चरित्र ऊँचा होता है। सभ्यताका विकास आदर्श चरित्रसे ही सम्भव है। जिस समाजमे चरित्रवान् व्यक्तियोंका बाहुल्य है, वह समाज सभ्य होता है। वही उन्नत कहा जाता है।

शास्त्रोंमे चरित्र-निर्माणको आचारका विषय माना गया है। आचारवान् व्यक्ति ही चरित्रवान् होता है। चरित्र और आचारका अभिन्न सम्बन्ध है। व्यापक अर्थोंमें चरित्र आचारका एक अंश है, किंतु सामान्य अर्थोंमें यह जीवन-प्रणालीका एक पृथक् तत्त्व है और नैतिकता या नैतिक मूल्योंतक सीमित है। इस विषयमे भी मनुका मत सुस्पष्ट है। वे आचारको परम धर्म घोषित करते हुए कहते हैं कि अपनी उन्नति चाहनेवाले द्विजको नित्य आचारसे युक्त रहना चाहिये[6]। वे आगे कहते हैं कि आचारहीन द्विज वेद अर्थात् ज्ञानका फल नहीं प्राप्त कर सकता। ज्ञानका फल आचारवान्को ही प्राप्त होता है[7]। कहनेका तात्पर्य यह है कि ज्ञानकी उपयोगिताका पता उसके व्यवहृत होनेपर ही चलता है। उस ज्ञानकी कोई उपयोगिता लोकमे नहीं है, जिसका पालन मनुष्य न कर सके। तोड़-मरोड़कर ज्ञानका स्वार्थसिद्धिहेतु पालन करना भी उचित नहीं है। ज्ञानके माध्यमसे उपार्जित धर्म मुनियोंद्वारा आचरित होनेपर ही समाजद्वारा अनुकरणीय होता है, अतएव सभी तपस्याओंका मूल होनेसे आचार महान् है[8]। इससे यह भी स्पष्ट है कि आचारके पालनसे न केवल पालनकर्ता लाभान्वित होता है, वरन् उसका अनुकरण करके समाजके अन्य लोग भी लाभान्वित होते रहते हैं। जब आचारवान् व्यक्तियोंके आचार या चरित्रका अनुकरण समाजके अधिकांश लोगोंद्वारा किया जाने लगता है तब वह समाज सभ्य हो जाता है। ऐसा समाज दूसरे समाजोंके लिये अनुकरणीय होता है।

मनुके राज्यकालमें भारतवर्षका चरित्र उज्ज्वल और महान् था। यही कारण है कि उन्होंने अन्य देशवासियोंको भारतीयोंसे अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा ग्रहण करनेकी संस्तुति की थी[9]। ऋग्वेद भी कहता है कि विश्वको आर्य बनानेका दायित्व भारतवासियोंपर[10] है। वैदिक शब्दावलीमें आर्य चरित्रवान् व्यक्तियोंका सूचक है। प्राचीनतम कालमें अधिकतर भारतवासी चरित्रवान् और सदाचारी थे। अतएव इन्हे 'आर्य' कहा जाने लगा। मनुने अनार्यताके लक्षणोमें निष्ठुरता, क्रूरता और निष्क्रियता गिनाया है[11]। इन दोषोंसे रहित अर्थात् कोमलहृदय, दयावान् और कर्मशील व्यक्ति 'आर्य' है। इससे भी स्पष्ट है कि आर्यता चारित्रिक गुणोका सूचक अथवा पर्याय है। किसी व्यक्तिका चरित्र दूसरोंके लिये तभी अनुकरणीय हो सकता है, जब उसके भीतर आर्यत्वके गुण हों।

५–वाग्बाहूदरसयतः। (मनु० ४ । १७५)

६–आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च। तस्मादस्मिन् सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान् द्विजः ॥(मनु० १ । १०८)

७–आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते। आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ॥ (मनु० १ । १०९)

८–एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्। सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम् ॥ (मनु० १ । ११०)

९–एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ (मनु० २ । २०)

१०–इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तो अराव्णः ॥ (ऋ० ९ । ६३ । ५) ११–अनार्यता निष्ठुरता क्रूरता निष्क्रियात्मता। (मनु० १ । ५८)

चरित्र मानव-समुदायकी अमूल्य निधि है। इसके अभावमें व्यक्ति पशुवत् व्यवहार करने लगता है। आहार, निद्रा, भय और मैथुनकी वृत्ति सभी जीवोंमें विद्यमान रहती है, मनुष्यमें धर्म अर्थात् आचारकी ही एक विशेषता होती है, धर्महीन अर्थात् चरित्रहीन मनुष्य पशुके समान है।[12] चरित्रहीन मनुष्यमें मनुष्यत्व नहीं रह जाता। अतएव यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने जीवनमें उन यम-नियमोंका पालन नित्यप्रति करता रहे, जिनका सम्बन्ध उसके चरित्रसे है। मनु इसपर बल देते हुए कहते हैं कि 'नियमोंका पालन नित्य न कर सकनेपर भी यमोंका पालन सदा करे; अन्यथा व्यक्ति नीचे गिर जाता है।[13] जिन यमों और नियमोंकी ओर मनुने संकेत किया है, उनका विस्तृत विवरण पातञ्जल-योगदर्शनमें देखनेको मिलता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहको यम[14] कहते हैं और शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधानको नियम[15] कहते हैं। मनुने यमोंके पालनको इसलिये अनिवार्य घोषित किया कि इनके पालनसे व्यक्तिका चरित्र समाजमें ऊँचा उठता है। व्यक्ति पवित्र, संतोषी, तपःशील, स्वाध्यायी और ईश्वरको माननेवाला ही क्यों न हो, यदि वह अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रहका व्यवहारमें पालन नहीं करता अथवा इनके विरुद्ध व्यवहार करता है तो निश्चित-रूपसे उसका चरित्र नीचे गिरता है और वह दूसरोंके लिये अनुकरणीय नहीं रह जाता। जो व्यक्ति नियमतः नित्य उक्त पाँचों यमोंका पालन करता रहता है, उसका चरित्र महान् होता है।

महर्षि पतञ्जलिद्वारा प्रतिपादित योगके पाँचो नियमों-के पालनकी भी व्यावहारिक जीवनमें बडी उपयोगिता है। हाँ' उनके विभिन्न समय निर्धारित हैं। महर्षि पतञ्जलिने नियमोंके पालनकी उपयोगितापर भी अपने विचार विस्तारसे प्रकट किये हैं; वे इस प्रकार हैं—शौचके पालनसे व्यक्तिमें शारीरिक पवित्रताके प्रति रुचि विकसित होती है।[16] साथ-ही-साथ अन्तःकरण-की शुद्धि, प्रसन्नता, चित्तकी एकाग्रता, इन्द्रिय-विजय और आत्मदर्शनकी योग्यता आती है[17] एवं संतोषसे उत्तम सुख प्राप्त होता है।[18] तपसे मन शुद्ध होता है और शरीर तथा इन्द्रियोंपर नियन्त्रण स्थापित होता है।[19] स्वाध्यायसे इष्टदेवताका साक्षात्कार अर्थात् दर्शन होता है।[20] दूसरे शब्दोंमें जिस देवताको लक्ष्य करके तपस्याद्वारा ज्ञानार्जन किया जाता है, उसके दर्शन होते हैं; और अन्ततः प्रणिधानसे (साष्टाङ्ग दण्डवत् एवं सर्वसमर्पणकी भावनासे) समाधिकी सिद्धि होती है।[21] इष्टदेवका दर्शन हो जानेपर ही व्यक्ति अपनेको उसे समर्पित करके समाधि

१२—आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥ (भर्तृहरि, नारायण आदि)

१३—यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः। यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥
(मनु० ४। २०४)

१४—पातञ्जलयोगदर्शन (२। ३)। १५—वही २। ३२।

१६—शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः। (उसीका २। ४०)

१७—सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च। (उसीका २। ४१)

१८—संतोषादनुत्तमसुखलाभः। (पातञ्जलयोगदर्शन २। ४२)

१९—कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। (उसीका २।४३)

२०—स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः। (उसीका २। ४४)

२१—समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् (उसीका २। ४५)

लगानेमें सफल हो सकता है। यह नियमोंके पालनकी अन्तिम स्थिति है। जिस व्यक्तिको इष्टदेवका दर्शन हो जायेगा, वह कदापि हिंसा आदि दुर्गुणोंमें नहीं फँस सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि गृहस्थ-जीवनमें नियमोंके पालनकी कठिनाइयोंकी दृष्टिसे मनु नियमोंके पालनमें उदार हैं। कुछ भी हो चरित्र-निर्माणमें यमों और नियमोंका पालन समानरूपसे उपयोगी है। इतना ही नहीं, इनका दृढ़तासे पालन करनेपर व्यक्ति देवत्व-को प्राप्त कर सकता है। यही कारण है कि ऋषियों-मुनियोंको समाजमें देव-तुल्य स्थान प्राप्त है।

सामाजिक अनुशासन बनाये रखनेके लिये भी चरित्र-निर्माणकी आवश्यकता है। सामाजिक अनुशासन-की भावना व्यक्तिमें तभी जाग्रत् होती है, जब वह मानव-प्राणियोंमें ही नहीं, वरन् सभी जीवधारियोंमें अपनी आत्माका दर्शन करता है।[२२] समस्त प्राणियोंमें अपनी आत्माका दर्शन करनेवाला व्यक्ति कभी क्रूर नहीं हो सकता। दूसरोंको कष्ट न देनेवाला व्यक्ति सामाजिक अनुशासन बनाये रखनेके साथ-ही-साथ अपना परलोक भी उज्ज्वल बनाता[२३] है। यह सुनिश्चित है कि उज्ज्वल परलोक या भविष्यकी कामना ही व्यक्तिको चरित्रवान् और शिष्ट बननेका मार्ग प्रशस्त करती है। यही कारण है कि भारतीय दर्शनमें चरित्रको परलोकसे सम्बद्ध किया गया। परलोक बिगड़नेके भयसे व्यक्ति चरित्र-निर्माणके प्रति सजग रहता है। चरित्रको परलोकसे सम्बद्ध मान लेनेपर सभी प्रकारकी चरित्र-हीनता अशुभ फलदायिनी हो जाती है—भले ही समाजमें उसके लिये दण्डकी व्यवस्था न हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दो प्रकारकी भावनाएँ व्यक्तिको चरित्र-निर्माण-हेतु प्रेरित करती हैं—प्रथम आत्मज्ञान और द्वितीय परलोककी सिद्धि। मनुके अनुसार आत्मज्ञानी व्यक्ति सत्यासत्य और सब कुछ अपनी आत्मामें देखनेके कारण अधर्ममें (अनीतिमें, अनाचारमें) मन नहीं लगाता है।[२४] व्यक्ति जो भी कार्य इस संसारमें करता है उसका साक्ष्य आत्मामें अवस्थित सभी देवता करते हैं।[२५]

जो व्यक्ति इस तत्त्वको जानता है, उसे इस बातकी कल्पना रहती है कि अशुभ कर्मोंके कष्टकारक फलसे बचना कठिन है। इससे वह चरित्रहीनतासे विरत रहनेकी चेष्टा करता है। आत्मज्ञानसे अनभिज्ञ व्यक्ति चरित्र और दुश्चरित्रमें विभेद न कर सकनेके कारण चरित्रहीनताका कार्य करनेमें हिचकता नहीं है। ऐसी स्थितिमें विधिके माध्यमसे चरित्रहीनतापर काबू पाना कठिन होता है।

चरित्र मानव-जातिकी वह विशेषता है, जो मानवताके रक्षा-हेतु करना आवश्यक है। यह एक शाश्वत धर्म है। इसका केवल धर्म-विशेष या सम्प्रदाय-से ही सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत यह सार्वकालिक एवं सार्वदेशिक है। इसका दृढ़तासे प्रतिपादन किये बिना मानवताकी रक्षा सम्भव नहीं है, सामाजिक स्तरपर ही मानवताकी रक्षा सम्भव होनेके कारण चरित्र-निर्माणपर बल देना नितान्त आवश्यक है। इसे प्रभावी बनानेके लिये शास्त्रोंद्वारा प्रतिपादित आचरण तथा व्यवहारका मार्ग ही सर्वोत्तम है।

२२–एवं यः सर्वभूतेषु पश्यन्यात्मानमात्मना। (मनु० १२। १२५)

२३–परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन्॥ (मनु० ४। २३८)

२४–सर्वमात्मनि सम्पश्येत्सच्चासच्च समाहितः। सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः॥ (मनु० १२। ११८)

२५–आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्॥ (मनु० १२। ११९)

आयुर्वेदमें चरित्र-निर्माणकी महत्ता एवं उपादेयता

(लेखक—वैद्यरत्न श्रीप्रद्युम्नाचार्यजी निलगेकर)

तपःपूत विशुद्धबुद्धि त्रिकालदर्शी महर्षियोंने तथा विद्वान् आचार्योंने चरित्र-निर्माणको प्रधानता प्रदान की है; कारण, देशका वैभव एवं गौरव चरित्रपर ही प्रतिष्ठित है—

नात्मार्थं नापि कामार्थमयं भूतदयां प्रति ।

(चरकसंहिता)

इस सूक्त्यनुसार उन्होंने मानवमात्रके कल्याणार्थ शाश्वत सुखैकसाधनभूत सच्चरित्र-निर्माणोपादेय सदाचार एवं पालनीय नियमोंका निर्देश दिया है। 'शब्दरत्नावली'के अनुसार स्वभाव, चरित, चरित्र—ये शब्द परस्पर पर्यायवाचक हैं।

चरित्रं द्विविधं प्रोक्तं सदसल्लक्षणात्मकम् ।

सत् और असत्के भेदसे चरित्र दो प्रकारका है। इनमेंसे प्रथम पूर्वजन्मार्जित कर्मोंसे प्राप्त और श्रुति-स्मृति-पुराणादि प्रतिपाद्य एवं निर्दिष्ट परिपालनीय; दूसरा, नियमाचारसे संस्कृत। **'गुणातिशयाधानं संस्कारः'** (चरकटी०) कहा जाता है। वैदिक संस्कारसे विशिष्ट गुणोंका निर्माण होता है, अतः सच्चरित्र-निर्माणमें संस्कार भी आवश्यक हैं।

दुराचाररतो लोके गर्हणीयः पुमान् भवेत् ।

(स्कन्दपु०)

चरित्रहीन व्यक्ति व्यवहारमें घृणाका पात्र होता है और देश एवं देहको नष्ट-भ्रष्ट करता है तथा सदाचार-सम्पन्न मानव विश्ववन्द्य होता है। वह देश एवं देहका गौरव तथा वैभव बढाता है—

सदाचारो हि सर्वार्हो नाचाराद् विच्युतः पुनः ।
तस्मान्नरेण सततं भाव्यमाचारशालिना ॥

(स्कन्दपु०)

सच्चरित्रका निर्माण सदाचारसे होता है और सदाचार सद्धर्माचरणसे। श्रुति-स्मृति-पुराणादिप्रतिपाद्य स्व-स्व कर्मानुष्ठान ही मानवमात्रका कर्तव्य है—

श्रुतिस्मृतिभ्यामुदितं स्वेषु कर्मसु निष्ठितम् ।
सदाचारं निषेवेत धर्ममूलमतन्द्रितः ॥

(स्कन्दपुराण)

व्यवहारका यह नियम है कि वह केवल व्यक्तिका चरित्र ही प्रधान गुण मानता है और चरित्रकी प्रशंसा करता है; इतर गुणोंका मूल्य व्यवहारकी दृष्टिसे प्रायः नगण्य ही है—

सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावा नेतरे गुणाः ।
अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते ॥

(हितोपदेश, मित्रलाभ)

अतः मानवमात्रका प्रथम कर्तव्य है कि वह श्रुति-स्मृति-पुराणादिप्रतिपाद्य एवं निर्दिष्ट सदाचारका नियमपूर्वक परिपालन करे और अपना चरित्र उच्चकोटिका निर्मित करे। यह सच्चरित्र-निर्माण-कार्य आर्षप्रणीत भारतीय शिक्षा-दीक्षासे ही सम्भव है। सच्चरित्र-निर्माणार्थ आयुर्वेदशास्त्रकारोंने परिपालनीय महत्त्वपूर्ण नियमाचरणका निर्देश दिया है; वह मननीय एवं आचरणीय है। धर्म-मूल सदाचारके परिपालनीय महत्त्वपूर्ण नियम ये हैं—

हिंसास्तेयान्यथाकामं पैशून्यं परुषानृते ।
सम्भिन्नालापव्यापादमभिध्या दृग्विपर्ययम् ।
पापं कर्मेति दशधा कायवाङ्मानसैस्त्यजेत् ॥

(अष्टाङ्गहृदय सू० स्था० अ० २ श्लोक २१-२२)

१—हिंसा—प्राणिमात्रका वध, २—स्तेय—चौर्य कर्म, ३—अगम्यागमन—ये तीन प्रकारके निन्द्य कायिक कर्म हैं। १—पैशून्य—परनिंदा करना, २—परुष—कठोर एवं मर्मस्पर्शी वचन बोलना, ३—अनृत—

असत्य भाषण, ४—सम्भिन्नालाप—परस्पर भेदक एवं कलहमूलक भाषण—ये चार प्रकारके वाचिक निन्द्य कर्म हैं। १—व्यापाद—परानिष्ट-चिन्तन, २—अभिध्या—पर-द्रव्यादि हरण करनेकी इच्छा, ३—दृग्विपर्यय—श्रुति-स्मृति-पुराण-प्रतिपाद्य अनुष्ठेय विषयमें अविश्वास—ये तीन प्रकारके मानसिक निन्द्य कर्म हैं। इस प्रकार दशविध निन्दनीय एवं पाप कर्मोंका परित्याग ही चरित्र-निर्माण करनेका प्रशस्त मार्ग है। यह नियम मानवमात्रके लिये सदैव परिपालनीय एवं धर्मशास्त्राचार्य-सम्मत है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेदाचार्योंने भी सदैवाचरणीय नियमोंका निर्देश दिया है—

अवृत्तिव्याधिशोकार्त्ताननुवर्तेत शक्तितः।
(अष्टाङ्गहृदय सूत्रस्थान अध्याय २, श्लोक २३)

जीवनोपायहीन, व्याधिग्रस्त, शोकाकुल व्यक्तिकी यथाशक्ति सहायता करनी चाहिये—

अर्चयेद्देवगोविप्रवृद्धवैद्यनृपातिथीन्।

'देवद्विज, गो, वृद्धत्रयी (वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध), जनहितरक्षक, शासक एवं अतिथिका सम्मान करना चाहिये। किसी समय भी गृहागत एवं अर्थार्थी व्यक्तिसे कठोर भाषण और उनको निराश नहीं करना चाहिये।'

विमुखान्नार्थिनः कुर्यान्नावमन्येत नाक्षिपेत्।
आत्मवत् सततं पश्येदपि कीटपिपीलिकम्।
(वही २४)

जीवमात्रको अपने समान ही समझना चाहिये एवं उनको उपेक्षा तथा हेय दृष्टिसे नहीं देखना चाहिये।

उपकारप्रधानः स्यादपकारपरेऽप्यरौ।

'अपकार-परायण शत्रुका भी उपकार ही करना चाहिये।'

आर्द्रसंतानता त्यागः कायवाक्चेतसां दमः।
स्वार्थबुद्धिः परार्थेषु पर्याप्तमिति सद्व्रतम्॥
(अष्टाङ्गहृदय १।२।४६)

'उदार एवं विशाल अन्तःकरणसे उत्साहित रहकर यथाशक्ति सत्पात्रको दान देना, कायिक, वाचिक एवं मानसिक कार्य संयमपूर्वक करना तथा इतर व्यक्तियोंके दृष्ट कार्यको अपना ही कार्य समझकर उनकी कार्यपूर्तिमें सहायता करना चाहिये।' इस उच्च कोटिके भारतीय जन-चरित्रको दृष्टिगत करके ही भारतेतर (पाश्चात्त्य) देश-वासियोंने हमसे ही शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की थी और भारतको गुरुवत् सम्मान दिया था। इस विषयमें भारत-गौरव-निदर्शक यह पद्य है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

परंतु यह दैव-दुर्विलसित है कि पाश्चात्त्य शिक्षा-दीक्षासे प्रभावित एवं मोहित भारतीय ही विश्वमान्य भारतीय संस्कृति, सभ्यता एवं सदाचारको स्मृति-बाह्य एवं विस्मृत करके कुमार्गका समाश्रय ले एवं अन्धानुकरण कर रहे हैं—

पाश्चात्त्यशिक्षादीक्षायाः प्रभावान्मोहमागताः।
भारतीया भारतत्वं विस्मृत्य कुपथंगताः॥
(स्वरचित)

मैं अत्यन्त नम्रतापूर्वक भारतके शासक एवं इसके कर्णधारसे निवेदन करता हूँ कि वे आर्षप्रणीत भारतीय शिक्षा-दीक्षापर विशेष बल देकर भारतका उच्चकोटिका चरित्र विश्वके समक्ष प्रस्थापित करनेका प्रधान कार्य सम्पन्न करें। सत्-शिक्षासे ही सत्-चरित्र बनता है—

आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं चरित्रं देशपोषकम्॥
(लिङ्गपुराण उत्तरार्द्धके आधारपर)

वैदिक सदाचार

(लेखक—डॉ० श्रीनन्दकिशोरजी गौतम (उपाध्याय) 'निर्मल' एम्० ए०, पी-एच्० डी०, सा० आयुर्वेदाचार्य)

समस्त विश्वमे ऐसा कोई देश नहीं, जिसमें धर्मकी कोई स्थिति न हो। सर्वथा जातिविशेष अथवा सम्प्रदायविशेषको लेकर कुछ धार्मिक ग्रन्थ विद्यमान हैं। इस प्रकार सभी धर्मोके हजारो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। किंतु संसारके मूर्धन्य विद्वानोने इस बातको एक मतसे स्वीकार किया है कि वेद जगत्के प्राचीनतम सर्वविद्या-निधानके ग्रन्थ हैं। राजर्षि मनुने वेदके महत्त्वको प्रतिपादित करते हुए स्पष्ट ही उद्घोष किया है कि—

वेदोऽखिलं धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥
(मनुस्मृति २ । ६)

धर्मचिकीर्षुओंके लिये वेद समस्त धर्मोके मूल हैं। साथ ही स्मृतियाँ, शील, महापुरुषोंका चरित्र आदि भी धर्मचिकीर्षुके लिये अनुसंधेय है। इस बातको प्रायः सभी निर्विवाद स्वीकार करते हैं कि सदाचारसे रहित मानवका कहीं कोई मूल्य नहीं है। वस्तुतः जिसने अपने आचरणको नष्ट कर दिया, वह तो नष्ट ही हो गया—**'वृत्ततस्तु हतो हतः।'** सदाचारके महत्त्वका प्रतिपादन करते हुए ही भारतीय धर्मके प्रथम मर्यादा-व्यवस्थापक मनुने आचारको ही प्रथम धर्म माना है—**'आचारः प्रथमो धर्मः।'** फिर उन्होने धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, पवित्रता, संयम, बुद्धिमत्ता, विद्वत्ता, सत्य और क्रोध न करना आदि उसके अङ्गस्वरूप बताये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
(मनुस्मृति ६ । ९२)

पर चिन्त्य है कि इस कराल कलिकालमें आधुनिक लोग ईश्वरकी सत्ता तथा उपासनाकी बात भी स्वीकार नहीं करते, फिर सदाचारकी तो बात ही क्या ! प्राचीनकालमें भारतवासियोंमें चरित्रकी वह उत्कृष्ट शक्ति थी, जिसके कारण यह देश समस्त विश्वका गुरु था और इस भूमण्डलपर विश्वके इतर देश इस देशरत्नसे ही चरित्रकी शिक्षा लेते थे—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥
(मनुस्मृति २ । २०)

वर्तमान शिक्षापद्धतिमे धार्मिक शिक्षा तो दी ही नहीं जाती हाँ, सदाचारकी शिक्षाकी ओर थोड़ा ध्यान दिया जाता है। पर सायं-प्रातः प्रभुका गुणगान, संध्यावन्दन, गुरुजनोंका चरणस्पर्श इत्यादि सदाचरण उनके लिये आवश्यक कर्तव्य हैं जिन्हें अपने जीवनको सफल बनानेके लिये यदि वे इनका पालन करें तो जीवन सार्थक हो सकता है; क्योकि सदाचारके बिना किसी भी जाति, देश अथवा राष्ट्रका उत्थान असम्भव है।

व्यक्ति जाति, देश अथवा राष्ट्रकी इकाई है। मानवजाति मननशील व्यक्तियोका एक समुदाय है। अतः सभी व्यक्ति यदि अपने-अपने आचरणके विषयमें सावधान हो जायँ तो सारी मनुष्यजाति ही निष्पाप एवं सुखी हो सकती है। आयुर्वेदमे शरीर, बुद्धि और आत्माके संयोगको व्यक्तित्व कहा गया है। अतः जबतक चित्त ज्ञानयुक्त नहीं, शरीर स्वस्थ नहीं और आत्मा निर्मल नहीं, तबतक मनुष्य सुखी नहीं हो सकता। महाकवि कालिदासने भी—**'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'**—शरीर धर्मका प्रथम साधन है—यह कहकर शरीर तथा मन दोनोंका स्वस्थ होना आवश्यक बताया है। आयुर्वेदका यह सूत्र सदा स्मरणीय है—

पथ्याशी व्यायामी स्त्रीषु जितात्मा नरो न रोगी स्यात्

अर्थात्—'पथ्यसे रहनेवाला, व्यायाम करनेवाला और ब्रह्मचारी मनुष्य रोगी नहीं होता।' अथर्ववेदमें कहा गया है—

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥
(अथर्व० १० । २ । ३१)

देवोंकी नगरी अयोध्या ८ चक्रों एवं ९ द्वारोंकी है। उसमें हम ज्योतिस्स्वरूप परमात्माका दर्शन करते हैं; अतः इसकी हमे कभी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

मनुष्यमें बुद्धि ही एक ऐसी वस्तु है, जिसके द्वारा उसका विकास होना सम्भव है। ऋग्वेदका कथन है—

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो
मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षासउत्वे ह्रदा इव
स्नात्वा उत्वे ददृश्ने ॥
(ऋग्० १० । ७१ । ७)

समाजमे देखा जाता है कि मनुष्योंका आकार-प्रकार तो प्रायः समान है, किंतु बुद्धिमे महान् अन्तर है।

व्यक्ति बुद्धिके अनुसार ही ज्ञानसरोवरमें गोते लगा सकता है। अतः बुद्धिको प्रधान मानकर ऋषिने उसकी श्रेष्ठताके लिये संध्या तथा स्वाध्यायादि नित्य कर्मोकी योजना बनायी। अब भी द्विजलोग प्रतिदिन तीन बार संध्योपासन कर सूर्यदेवसे याचना करते है कि वे हमारी बुद्धियोंको सन्मार्गकी ओर प्रेरित करें—**'धियो यो नः प्रचोदयात्।'** स्वस्थ मनुष्य भी आत्मविकासहीन, चोर, डाकू, असत्यवादी और क्रूरकर्मा हो सकता है, किंतु सदाचारी और धर्मात्मा ऐसा नहीं। मनुष्य जब कोई भी अनुचित कार्य करनेके लिये उद्यत होता है, तब उसे न करनेके लिये उसके अन्तःकरणमें एक ईश्वरीय प्रेरणा होती है। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा निर्मल है। शास्त्रोंमें आत्मशुद्धिके बहुतेरे उपाय बताये गये हैं, किंतु सत्य उनमें सर्वोपरि है। एक बार बोला गया असत्य भी आत्माको मलिन बना देता है और उस असत्यको छिपानेके लिये कई बार असत्य बोलना पड़ता है। इसलिये वेद भगवान्‌ने कहा है—'सदाचारसे हीन मानव अन्धकारावृत्त लोकोंको प्राप्त होता है—

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥
(यजु० ४० । ३)

पापोंसे मनुष्य कैसे बचे इसका भी बड़ा सरल उपाय वेदमें प्रस्तुत है—

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि
रात्रिं जहात्युषसश्च केतून्।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता
कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ॥
(अथर्व० १० । १ । ३२)

'जिस प्रकार सूर्य अन्धकारसे मुक्त होता है, रात्रि उषाकालीन प्रकाशको छोड़ देती है, हाथी धूलको झाड़ देता है, उसी प्रकार मै भी सब पापोके कृत्यसे सम्बद्ध हिंसक कर्मोका त्याग करता हूँ।'

बालकका पहला विद्यालय उसका परिवार होता है। प्रारम्भिक जीवनमें उसपर जो संस्कार पड़ जाते हैं, उन्हींपर उसका जीवनभवन निर्मित होता है। मनुष्यका अधिक समय परिवार या घरमें ही व्यतीत होता है। यदि परिवार या घरमें शान्ति न हो तो कोई भी सुखी नहीं रह सकता। अतः परिवारमें जीवन व्यतीत करनेकी कुशलता मानवके लिये आवश्यक है। हम देखते हैं कि परिवारके मुखियाका सम्बन्ध उसके माता-पितासे, भाई-बहनोसे, पत्नी तथा संतानसे कैसा होता है? यदि परिवारके नेताका परिवारके साथ कुशलतापूर्वक व्यवहार न हो तो वहाँ शान्तिका दर्शन दुर्लभ रहेगा। इसी बातको ध्यानमें रखकर अथर्ववेदमें कहा गया है कि—

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
(अथर्व० ३ । ३० । १)

'आपके हृदय तथा मन द्वेषभावसे रहित होकर समभावको प्राप्त रहे। आपलोग आपसमे इस प्रकार स्नेहका प्रदर्शन करे, जैसे गाय अपने वत्सके लिये दिखाती है। मै आपलोगोके लिये सामनस्य कर्म करता हूँ।'

इसी सूक्तमे अग्रिम मन्त्रोमे पुत्र, कलत्र तथा भाई-बन्धुओके कर्तव्योंका भी उपदेश दिया गया है—

अनुव्रतः पितु पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्ति वाम्॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुतस्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदतु भद्रया॥

(अथर्व० ३। ३०। २-३)

'पुत्र माता-पिताका अनुगत हो, पत्नी पतिके साथ मीठी वाणी बोलकर मधुर व्यवहार करे'—'वचने का दरिद्रता' (मधुर बोलनेमे कंजूसी क्या) इसको ध्यानमें रखकर हमे सबके साथ सद्व्यवहार करना चाहिये।

जब हम अपने परिवारको छोड़कर बाहर जाते हैं तो समाज सामने आता है। इस समाजमें स्वदेशी-परदेशी, सहधर्मी-विधर्मी, सुहृद्-मित्र, तटस्थ, गुरु, अतिथिजन सभी आते हैं—यद्यपि परदेशियोकी अपेक्षा स्वदेशियोमें परस्पर स्नेहाधिक्यका होना स्वाभाविक है। यहाँ भोजन-विषयक श्रुतिका उपदेश देखने योग्य है—

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा
नाभिमिवाभितः॥

(अथर्व० ३। ३०। ६)

यहाँ वेद हमें खान-पान तथा यज्ञादिमे एक साथ मिलकर ही कर्म करनेका उपदेश देता है। यह भी स्मरणीय है कि वेद दुष्टोंके प्रति प्रेमोपदेश नहीं है। दुष्ट तो प्रताडनीय एवं संहारणीय ही बताये गये हैं। इस विषयमे अथर्ववेद ६५-६७ सूक्तोंमे सम्यक् प्रतिपादन करता है।

सृष्टि संसरणशील है। इस धराधामपर केवल मनुष्य ही नहीं, अपितु अगणित प्राणी रहते हैं। हम उनको उपकारी और अपकारी ये दो श्रेणियाँ कर सकते हैं। उपकारी पशुओकी प्राप्ति और रक्षाके लिये वेदमन्त्रोंमें बहुत-सी प्रार्थनाएँ दिखायी देती हैं; जैसे—

स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते।
शं राजन्नोषधीभ्यः॥

(साम० उ० १। २। ३)

'ईश्वर हमारे गाय, अश्व आदि पशु और ओषधियोंके कल्याणकारक बनें।'

किंतु अथर्ववेदके चतुर्थ काण्डके तृतीय सूक्तमें सिंह, सूकर तथा सर्पादि हिंसक जन्तुओके विनाशके लिये भी आदेश दिये गये हैं। अतः सार यही है कि उपकारी पशुओकी रक्षा की जानी चाहिये और हिंसक पशुओको दूर कर देना चाहिये। प्राचीनकालसे ही भारतीय गृहस्थजन दरिद्रतासे द्वेषकर सुखको चाहनेवाले रहे हैं, अतः वैदिक साहित्यमे इस प्रकारके उपदेश प्राप्त होते है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।

(यजु० ४०। २)

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर।

(अथर्व० ३। २४। ५)

इन सूक्तियोका अभिप्राय यह है कि 'मनुष्य जबतक जीवित है कर्ममे संलग्न रहे और उत्साहके साथ धनोपार्जन कर दसगुने उत्साहके साथ उस धनको लोकोपकारक कार्योमे खर्च कर दे।' वेदमें द्यूतादिके द्वारा अर्थार्जनकी निन्दा की गयी है—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व
वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।

(ऋग्० १०। ३४। १३)

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।

(यजु० ४०। १)

'मनुष्यको अर्थोपार्जन व्यापार तथा कृषि आदि सत्कर्मोंसे करना चाहिये न कि चरित्रनाशक द्यूतादि दुर्व्यसनोंसे।

गृहस्थ अपने ही परिश्रमसे उपार्जित द्रव्यका भोग और त्याग करे, दूसरोंके द्रव्यकी वाञ्छा नहीं करे, अपने द्वारा उपार्जित द्रव्यसे केवल अपने परिवारका ही भरण-पोषण न करे, अपितु विपत्तिग्रस्त अन्य व्यक्तियोकी सहायता भी अवश्य करे। वेदके मतमे वह व्यक्ति पापीकी श्रेणीमें ही गिना जाता है, जो केवल अपना ही भरण-पोषण करता है—

नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी।
(ऋग्० १० । १७ । ६)

संक्षेपमें वैदिक सदाचारका सार तो यही है कि हमे इस प्रकारका उद्योग करना चाहिये जिससे हमारे शरीर स्वस्थ रहें, बुद्धियाँ समुज्ज्वल रहें तथा हमारी आत्मा निर्मल रहे। परिवारके जनोंमें हमारा स्नेह रात-दिन बढ़े।

मानव-समाजमें कोई भी केवल जन्म लेनेमात्रसे ऊँचा और नीचा न समझा जाये, अपितु सभी मनुष्योंके साथ धर्मपूर्वक और प्रीतिपूर्वक व्यवहार किया जाना चाहिये। उपकारी प्राणियोंका वध सर्वथा त्याज्य है और अपकारी प्राणी दण्डके या अरण्यके भागी हैं। मनुष्योंको जीवनयात्राके लिये धनादिका उपार्जन न्यायानुकूल साधनोंसे करना चाहिये, पापपूर्ण साधनोंसे नहीं। यह संसार दुःखरूप नहीं है, अपितु अपने आत्मविकासका विशाल क्षेत्र है। इस प्रकार मानव शुभकर्मोंका आचरण एवं चराचरमें व्याप्त उस परमपिता परमेश्वरका चिन्तन करता हुआ लोकयात्राको पूर्ण करे। इसीमें जीवनका साफल्य है। यही चरित्रकी वास्तविकता है।

वेदोंकी चरित्र-शिक्षाके सप्त सोपान

(लेखक—डॉ० श्रीसियाराम सक्सेना 'प्रवर')

व्यक्तिका समाजसापेक्ष सर्व-हितकारी आचरण उसका सच्चरित्र है। चरित्रको क्रम-क्रमसे उच्चतर बनानेकी प्रक्रिया 'चरित्र-निर्माण' है। यह चरित्र-निर्माण मनुष्यकी कर्मशीलताको विश्व-हितोन्मुख होनेकी अपेक्षा रखता है। **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'** मन्त्रका एवं वेदके प्राकट्यका भी यह एक विशेष उद्देश्य है। वेदोंमे शाश्वत सत्यका स्फुरण है। मन्त्रद्रष्टा ऋषियोने उसे अपनी आलोकित बुद्धिमें ग्रहण किया था। ऋषिको 'कवि' भी कहा गया है। कवि वे द्रष्टा हैं, जो दिव्य सत्यका श्रवण करते हैं—**'कवयः सत्यश्रुताः'** (ऋग्वेद ५। ५७। ८)। जो सद्वस्तु सुनायी देती है, साक्षात् अनुभूतिका विषय बनती है, वह है श्रुति। ऋषि, कवि, श्रुति और मन्त्रके इन अर्थोंसे स्पष्ट है कि ये सत्यके परम संधान हैं। इस सत्यको 'महाभारत'में धर्मका और आचरणका अर्थात् चारित्र्यका मूलाधार कहा गया है।* सत्य त्रिकालमे एकरस रहता है। निर्विकार और परिवर्तन-हीन शाश्वत तत्त्वका नाम सत्य है। इस दृष्टिसे सत्य परमात्माका नाम है। यह सत्य या परमात्मा कूटस्थ—अविकारी रहते हुए अनेक रूपोंमें व्यक्त होता है—**'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।'** विश्वमें जो कुछ भी व्यक्त है, उसके मूलमे अव्यक्त परमतत्त्व 'सत्य' या 'परमात्मा' ही है। इन्द्रादि विश्वकी संचारक महान् शक्तियाँ भी उसी एक अद्वय परमात्माके रूप हैं—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहु-
रथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्-
यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
(ऋ० १। १६४। ४६)

---

* न सत्याद् विद्यते परम्॥ (महाभारत, शान्तिपर्व १०९। ४) सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥ (वही १६२। ५)

परमात्माको सत्, चित् और आनन्दमय कहा गया है। उनके 'सत्' तत्त्वकी अनुभूति हमें प्रतिष्ठा अर्थात् अवस्थानके रूपमें होती है। श्रुतिमे प्रतिष्ठाको 'ब्रह्म' कहा है। 'चित्'की अनुभूति ज्योतिके रूपमें होती है। ज्योतिके तीन स्वरूप होते हैं, नाम, रूप और कर्म। ये पदार्थोंका भेद-द्योतन करते हैं, वस्तुओंका पृथक्-पृथक्रूपमे परिचय कराते हैं; अतः ये प्रकाश (ज्योति) हैं। 'आनन्द'की अनुभूति यज्ञ-रूपमें होती है। यज्ञ अर्थात् विश्वहितका सहज कार्य। यज्ञके दो स्वरूप हैं—अन्न और विकास। श्रुतिमें अन्नको भी 'ब्रह्म' कहा है। अन्न विकासका मूलाधार है, अर्थात् वह उपचय-अपचयकी समन्वित क्रिया है। नाम, रूप और अन्न सत्यके प्रकट रूप हैं। श्रुतियोमें कहा गया है—**'प्रतिष्ठा वै सत्यम्', 'नाम-रूपे सत्यम्'**। आशय यह कि ये तीनों (नाम-रूप-अन्न) सत्यसे अर्थात् अव्यय पुरुषसे आविर्भूत हुए हैं—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते॥

जगत्में प्रकट सत्यके इन स्वरूपोंकी—नाम, रूप और अन्नकी—उपासना करना, अर्थात् यज्ञके—सर्वहित-कारिणी क्रियाओंके—अबाधरूपसे होनेमे इनके सहायक बननेकी प्रक्रियामें सहकारी होनेकी प्रेरणा प्राप्त करना वैदिक चारित्र्य-शिक्षाका मूल सूत्र है। तात्पर्य यह कि वेदके चारित्र्यविधानका मूलाधार (नींव) 'सत्य' है; छाजन 'सत्य' है और अलंकरण भी 'सत्य' है। वेदोंकी चरित्र-शिक्षाका सर्वस्व भी यही 'सत्य' है। अन्य समस्त गुण सत्य-संजात और इसीके धारक होनेपर चारित्र्यके अङ्गीभूत हो जाते हैं।

इस सत्यके दो रूप हैं—निरपेक्ष (परम) सत्य और सापेक्ष सत्य। निरपेक्ष सत्य अपने-आपमे परिपूर्ण है, उसकी पुष्टिके लिये किसी अन्य तत्त्वकी विचारणाकी आवश्यकता नहीं। वही विधान और वही विधेय है। सापेक्ष सत्य जीवनकी अपेक्षामें व्यवहार्य बनता है, जीवनका सम्यग् धारण-पोषण उसका संप्रेरक है। ये क्रमशः 'सत्य' और 'ऋत' कहलाते हैं। ये दोनो ही तपस्यासे उपलब्ध होते हैं।[1] सत्य और ऋत दो नेत्र हैं,[2] जो मनुष्यको देखने-पहचाननेकी शक्ति देते हैं; उसे विवेक-सम्पन्न करते हैं। सत्यकी प्राप्ति एक उपलब्धि है। सत्य श्रद्धासे प्राप्त होता है—**'श्रद्धया सत्यमाप्यते'**[3]। श्रद्धा स्वयं एक तपस्या है। श्रद्धा दिव्य गुणोंमें सर्वोपरि है, समस्त उपलब्धियाँ श्रद्धासे ही होती हैं और दानादिक समस्त कर्मोंमें श्रद्धालु मनुष्यका सदा कल्याण एवं प्रिय होता है।[4] श्रद्धा जगत्की धारिका है। श्रद्धा-जैसे दिव्य गुणोंको तपसे प्राप्त करके ही जीव ऊपर (दिव्यलोकको) उठता है तथा इस लोककी भी समस्त बाधाओंको दूर कर लेता है।[5] श्रद्धासे प्राप्त सत्से विश्वका संधारण होता है। अतः कहा है—भूमि सत्यसे ही टिकी हुई है—**'सत्येनोत्तभिता भूमिः।** (ऋ० १०।८५।१, अथर्व १४।१।१०) व्यक्तिशः भी मनुष्यका परिरक्षण सत्य वचनसे ही होता है। इसी लिये कहा जाता है—**'सा मा सत्योक्तिः परिपातु विश्वतः।'** (ऋ० १०।३७।२)

अतः सत्पुरुषको अपनी वाणी सत्यमयी करनी चाहिये—**'वाचःसत्यमशीमहि।'** (यजु० ३९।४) एतदर्थ अपने मनोरथो और संकल्पोंको सत्यनिष्ठ करना होगा। सत्यके ऐसे संधानपर विश्वकी समस्त सम्पदाएँ न्योछावर हैं—**'संकिर सत्या वाजयः।'** जीवनके प्रत्येक आचार-व्यवहारमें सत्यका अनुसरण होना चाहिये। यही 'ऋत' का मार्ग है। सज्जन उषा देवीके समान ऋत पथपर

१—ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत। ऋक्० १०।१९०।१, २—सत्यं च ऋतं च चक्षुषः। ३—तथा इस प्रकार—'अनृतात् सत्यमुपैमि'। ४-श्रद्धा भगस्य मूर्धनि। श्रद्धया विन्दते वसुः। ५—दिवमारुहत् तपसा तपस्वी। तपसा युजा विजति शत्रून्।

चलते हैं—'ऋतस्य पन्थामन्वेति साधुः।' (ऋ० १०। १२। ३) ऋतके धारणसे पाप नष्ट होते हैं,[6] अतः सज्जन संसारके अनृतसे ऊपर उठकर सत्यपर पहुँचता है—'अहमनृतात् सत्यमुपैमि।' वह बोलचाल-व्यवहारमें सत्य-परायण रहता है, अनृतसे लिप्त नहीं होता—ऋतका यह मार्ग जीवनको सरल और सुखावह बनाता है—'सुगा ऋतस्य पन्थाः।' इस प्रकार सत्य, ऋत, श्रद्धा और तपस्यासे मनुष्य पवित्र बनता है। ऋषिकी प्रार्थना है कि पवित्रकारी देव, मुझे बुद्धि, शक्ति, जीवन और अनापद्के लिये पवित्र करें।[7] वैदिक ऋषि भगवान्से प्रार्थना करते हैं—'हमें पवित्र बनावें, हमारे मन, वाणी, नेत्र, आयु सबमें पवित्रताका संचार हो।'[8] हमारा भौतिक जीवन अनृत, असत या मिथ्यात्वसे आवृत है। इस अनृतको हटाकर सत्यका संवरण करना है—'असतो मा सद् गमय।' सरस्वतीकी कृपासे सत्य-दर्शन, सत्संकल्प, सद्भाव और सत्क्रियाका प्रवाह बढ़ता है—

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्।
…यज्ञं दधे सरस्वती। (ऋक्० १। ३। ११)

यही सच्चा जीवन है। इस सत्य-जीवनके लिये सचेत और सक्रिय रहना वैदिक चरित्र-निर्माणका प्रथम सोपान है। चारित्र्य-शिक्षा-मालिकाका सुमेरु है—परमात्मा-(सत्य-) का ज्ञान। सत्यका ज्ञान हो जानेपर सत्योपलब्धिकी कामना एक सहज उपक्रम है। 'विद्' धातु जानने और प्राप्त करने दोनों अर्थोंमें है। परमात्माको ठीकसे जान लेना उसे पा लेना है। प्राप्ति भावाश्रित होनेपर सान्निध्यलक्ष्मी हो जाती है। अतः जब हमारा मन भक्तिभावसे आप्लावित होता है, तब हम परमात्माके सांनिध्यके आकाङ्क्षी होते हैं। सत्य या परमात्माके सान्निध्यमें रहना वैदिक चरित्र-शिक्षाका द्वितीय सोपान है। इससे हमारे अन्तःकरण और कर्म सब सत्यको समर्पित हो जाते हैं, उनकी सत्ता अपने लिये नहीं, परमेश्वरके लिये हो जाती है।

परमात्माके सान्निध्यमें पहुँचनेके लिये साधना करना आवश्यक है। यह साधना वैयक्तिक स्तरपर और सामाजिक स्तरपर—दो स्तरोंपर होती है। व्यक्तिगत साधनामें व्यक्ति सत्यकी ज्योतिको अपनेमें धारण करता है। ज्योतिर्मय परमात्माको 'अग्नि' नामसे जाना गया है। वेद कहते हैं कि अग्निका घर 'सत्य' है। अग्निको, प्रकाशको, ज्ञानको उपलब्ध करना और उसकी उपासना करना परमात्माके सान्निध्यमें रहना है (ऋ० १०। ७५। ५)। यह चरित्रके उदात्तीकरणका प्रमुख साधन है। सत्यकी ज्योतिको धारण करनेपर मनुष्य 'आर्य' हो जाता है। यह आर्य-ज्योति वह आनन्दमय विश्वास है, जो देवोंके साथ मनुष्योंकी सुखद सम-स्तरीय मित्रता स्थापित करता है। सत्य-ज्योतिसे युक्त होना 'अमरता'की प्राप्ति है (ऋ० १०। ४३। ४)।

ज्योति-धारणकी कामना ही 'धी' या मननमयी 'सुमति' है। धी वह समझ है, जो प्रत्येक वस्तुका स्वरूप निर्धारित करती है और उस वस्तुको वैचारिक व्यवस्थामें उचित स्थानपर रखती है। धीके द्वारा हमारे विचारोंकी क्रिया निर्दिष्ट होती है। इससे मनका सत्य-चेतनाके साथ अबाध संसर्ग होता है। अतः चरित्रको उदात्त, उज्ज्वल और विश्व-श्रेय-साधक बनानेवालेके लिये 'धी' का धारण अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि वेदोंमें मननशीलता या धीकी धारणा-

६—ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।—ऋक्० ८। २३। ८

७—पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे। अथो अरिष्टतातये॥ —अथर्व० ६। १९। २

८—देव सवितः मा पुनीहि विश्वतः।—यजु० १९। ४३, जातवेदो पुनीहि माम्। पुनन्तु मा देवजनाः। मनस्त आप्यायताम्। वाक् त आप्यायताम्। चक्षुस्त आप्यायताम्॥

*

पर बार-बार बल दिया गया है। गायत्रीमन्त्रमें भी ज्योति-(भर्ग-) के धारण करनेकी प्रार्थना है।

सत्य-ज्योतिसे युक्त होना ही आध्यात्मिक युद्धमें विजय-प्राप्ति है; क्योंकि सत्यसे ही चतुष्पाद धर्म पुष्ट होता है। अश्वमेधयज्ञका आध्यात्मिक भाव है—अश्व अर्थात् आवेगमयी प्राण-शक्ति और मेधका अर्थ है—कामोप-भोगोंकी अभिलाषा एवं ऐसे ही अन्य आवेगोंसे भरी प्राण-शक्तिको परमात्माके प्रति समर्पित कर देना। इस समर्पणसे 'प्राणमय' पुरुष स्वयं अश्वमेध अर्थात् ज्योतिर्मय द्रष्टा बन जाता है; क्योंकि यज्ञकी अग्निशक्ति प्राणिक स्तरपर अन्तर्दृष्टि प्राप्त कराती है—

यो मे इति प्रवोचत्यश्वमेधाय सूरये।
दद्दृचा सनिं यते ददन् मेधामृतायते॥
(ऋक्० ५। २७। ४)

'जो मुझे अपनी सहमतिसे प्रत्युत्तर देता है, वह अश्वमेधयज्ञके इस ज्ञान-प्रदीप्त दाताके लिये प्रकाशपूर्ण स्तुति-वचनके द्वारा उसकी जीवन-यात्राके लक्ष्यकी उपलब्धि प्रदान करे और सत्यके अभिलाषीके लिये मेधाशक्ति प्रदान करे' (वेदरहस्य, उत्तर० १२०)।

श्रीअरविन्दके विचारसे जीवन एक अश्वके समान है। हमारी शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक शक्तियाँ सरपट दौड़ती हुई हमारे जीवनको दिव्यताके क्षेत्रमें आगे बढाती हैं और ऊपर चढाती हैं। सत्य-ज्योति धारण ही आर्यत्व है। 'आर्य' (या अर्य)का अर्थ है—यज्ञकर्ता। यज्ञके तीन प्रमुख अर्थ हैं—(१) श्रम करना या संघर्ष (प्रयत्न) करना, (२) आरोहण करना और (३) यात्रा करना। आर्य मानवीय निर्बलताओंको, अवचेतनकी तिमिरपूर्ण भौतिक क्रियाओंको हटाकर उसके स्थानपर दिव्य कार्योंकी प्रतिष्ठा करनेके लिये संघर्ष करता है, भरपूर प्रयत्न और परिश्रम करता है, फिर वह 'स्वः' की उन्नतम चोटियोंपर आरोहण करता है और असीम सत्तामें प्रवेशके लिये आध्यात्मिक यात्रा करता है। सभी सत्कर्म ईश्वरके प्रति एक हैं। यज्ञाहुतिकी समस्त कर्म-प्रक्रिया इसीके द्वारा मान्य होती है। ईश्वरको समर्पित सत् कर्म ही यथार्थतः यज्ञ हैं। सतत यज्ञनिरत रहनेका स्वभाव बनाना चरित्र-विधानका तृतीय सोपान है। इस प्रकार दान या त्याग करनेसे अनन्तकी प्राप्ति होती है। इससे जीवन उन्नत होता है। इस कर्मके योगसे अनन्तता, अमरत्व और पारमात्मिक आनन्दकी प्राप्ति होती है और प्रकृतिके बन्धनसे उद्धार होता है, मुक्ति होती है। यज्ञ एक सहज शाश्वत कर्म है। यह आत्माकी पवित्रताका, दिव्यताका प्रकाशन है, उद्बोधन है। वेद बतलाते हैं कि व्रतकी दिव्य क्रियाएँ ही शुद्ध सत्कर्म हैं। वैदिक कर्म-विधान 'अज्ञान' नहीं, आत्म-ज्ञानकी आधारशिला है। कर्मके दो रूप हैं। आत्म-प्रसादकी भावनासे किये जानेवाले कर्म 'यज्ञ' हैं, और आत्म-दर्शनके विचारसे किया हुआ आन्तरिक कर्म 'योग' है। यज्ञ आत्म-समर्पण या आत्म-बलिदान है, जो अपने भूत, वर्तमान और भविष्यमें अर्जित और अर्ज्य सर्वस्वको अमृतमय परमात्माको लक्ष्य कर तपोऽग्निमें हविरूपमे क्षिप्त करता है।

सर्वहितभावना वेदमें **'भद्रम्'** शब्दद्वारा व्याख्यात हुई है। भद्रभावनाका आधार 'ऋत' है और ऋतसे ही इसका विकास भी होता है। कहा है—**'अधा ह्यग्ने क्रतो-र्भद्रस्य दक्षस्य साधोः। रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूव।'** 'अग्ने! तू सुखमय संकल्पका, सिद्ध करनेवाले विवेकका, विशाल सत्यका रथी होता है।' (ऋ० ४। १०। २)। इस मन्त्रमें 'क्रतु' और 'दक्ष' अर्थात् बल और ज्ञानको, अथवा संकल्प और विवेकको बृहत् सत्यकी पूर्णताको साधक कहा गया है। क्रतु संकल्प-शक्ति है और दक्ष विवेक शक्ति। सच्चारित्र्यमें इन दोनोंका योग रहता है। भद्र भावनाकी अभिव्यक्ति **'सौमनस्य'**में होती है। परस्पर साथ रहने और एक-दूसरेके विचारोंका आदर करनेसे

| सायणादिके अनुसार यहाँ ५। २७। ४-६में यज्ञ नहीं भरतकुलमें उत्पन्न अश्वमेध नामका राजर्षि अभिप्रेत है, यथा—'अस्मै अश्वमेधाय राजर्षये मे मह्यं देहीति······'।

सौहार्द बढ़ना है।[9] द्वेष-रहित व्यवहार और मधुर वाणीसे सौहार्दमें वृद्धि होती है। पिता-पुत्र, माता-पुत्र, पति-पत्नी, भाई-बहन सब संमनस्क होकर भद्र व्यवहार करें (अथर्व० ३ । ३० । १-३)। भद्रता हमारे जीवन-व्यवहारमें घुल-मिल जानी चाहिये।

'सौमनस्य' प्रेम-मूलक है। प्रेमके अधिपति 'मित्र' सकल्प देव हैं। मित्र हमारी सकल्प-शक्तिको उद्‌बुद्ध करते हैं, जिससे हम द्वेषके अवरोधोंके पार हो जाते हैं (ऋ० ५ । ९ । ६)। प्रेम दिव्य आनन्दका प्रवाह है तथा प्रेम विश्व-आनन्द है। प्रेमके दो स्वरूप हैं श्रेयस् और प्रेयस्। सब विषयोंसे स्वतन्त्र आन्तरिक आनन्द-तत्त्वका नाम 'श्रेयस्' है और वह आनन्द जो आत्माको पदार्थों और प्राणियोंसे हर्ष तथा सुखके रूपमें मिलता है 'प्रेयस्' है। प्रेयस् आनन्दका बहिःप्रवाह है। किंतु प्रेयस्के मूलमें भी श्रेयस् ही रहता है और स्वय श्रेयस् सत्य एवं ऋतके संस्पर्शसे, विश्व-प्रेमसे प्राणान्वित होता है।

तैत्तिरीय श्रुति श्रेयके विषयमें कहती है कि 'इसके शीर्ष स्थानपर प्रेम है।'[10] उसमें प्रेमके लिये 'प्रिय' शब्द है। प्रियमें आत्मिक और वैषयिक दोनो सुख हैं। मित्र देव इस दिव्य भोगको हमारी पहुँचके भीतर लाते हैं। मित्रके विधानसे आत्मा अपने विषयोंमें तृप्ति प्राप्त करती है। ऐसा आत्मा अवध्य, अजेय और अपाप-विद्ध रहता है।[11] ऐसे आनन्दकी उपलब्धिके लिये प्रेममय बनना, विश्वके प्रति प्रेम-भावना जागरित करना वैदिक चरित्र-निर्माण-शिक्षाका चतुर्थ सोपान है।

भद्र भावना, प्रेम और सौमनस्यसे मनुष्यमें समस्त विश्वके प्रति अपनत्व जाग जाता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'की भावना दृढ हो जाती है। वैदिक ऋषियोंने मानवमात्रके कल्याण और योगक्षेमके लिये प्रार्थना की है। वैदिक प्रार्थनाएँ कुछ इस प्रकार-की हैं—'हमारी यही कामना रहे कि हम सब परस्पर मित्र-दृष्टिसे देखें (यजुः ३६ । १८)। हम परिचित-अपरिचित सभी मनुष्यों-(प्राणिमात्र-)के प्रति सद्‌भावना रखें (अथर्व १७ । १ । ७)। हम ऐसे ही कार्य करें जिनसे मनुष्योंमें परस्पर सुमति और सौमनस्यका विस्तार हो (वही ३ । ३० । ४)। प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्यकी सब प्रकारसे रक्षा और सहायता करे (वही ७ । ७५ । १४)। हमारी भावना यही रहनी चाहिये कि विश्वमें सर्वत्र शान्ति रहे। सूर्य और दिशाएँ हमें शान्ति दें (वही ७ । ३५ । ८)। वायु और मेघ भी सुखमय रहें (यजुः ३६ । १०)। द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और भूलोक सबमें शान्ति रहे। जल, ओषधि, वनस्पति, विश्वदेव, ब्रह्म और सब कोई शान्तिमय हो और विश्वव्याप्त शान्ति मुझे भी प्राप्त हो।' (वही ३६ । १७)।

यह भद्रभाव, दूसरे शब्दोंमें हमारा विश्व-प्रेम या समाजप्रेम, 'अहिंसा'के रूपमें चरितार्थ होता है। अहिंसा पाँच यमोंमेंसे प्रथम है। 'मा हिंसेथाः' वेदका एक प्रमुख सूत्र है। सौमनस्य,[12] विश्व-बन्धुत्व,[13] और विश्व-

९—समानो मन्त्रः समितिः समानी। समानं मनः सह चित्तमेषाम् (३)। यथा वः सुसहासति (४)। ऋक् १० । १९१ । ३-४ । १०—तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविधि एव। तस्य पुरुष विधतामन्वय पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः॥ (तै० उ० २ । ५ । १) ११—प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन। न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्॥ (ऋ० ३ । ५९ । २) १२—ऋग्वेद दशम मण्डलका १९१ वाँ सूक्त, यथा—संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्॥ समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ १३—पुमान् पुमांसं परिपातु विश्वतः॥ (ऋ० ६ । ७५ । १४) यांश्च पश्यामि यांश्च न तेषु सुमतिं कृधि॥ (अथर्व० १७ । १ । ७)

शान्ति[१४] के भावोंके द्वारा वेद अहिंसा एवं प्रेमका प्रसार करते हैं। इन भावोंसे युक्त होना वैदिक चारित्र्य-विधानका पञ्चम सोपान है। सत्यके विपरीत असत्य है। सत्य प्रकाश-रूप है, असत्य तिमिररूप। अन्धकार अज्ञानका नाम है। अतः असत्य पाप-तापका आमन्त्रक है। सत्यसे सद्गुण जन्मते हैं, असत्यसे दुर्गुण और दुर्व्यसन। प्लूटार्कका कथन है—'सद्गुण स्वास्थ्य है और दुर्व्यसन रोग।' किंतु यह ध्यान रहना चाहिये कि व्यसनोंके विरोध या वैपरीत्यका नाम सद्गुण नहीं है, प्रत्युत व्यसनोंकी ओर प्रवृत्तिका न जाना सद्गुण है। सच्चारित्र्यके आधारभूत सद्गुण धनात्मक (स्वीकारात्मक) प्रवृत्तियाँ है, ऋणात्मक (नकारात्मक) नहीं।

वैदिक चरित्र-शिक्षाका षष्ठ सोपान है—हृदय, चित्त, मन, वाणी, नेत्र, आयु सबका निष्पाप होना। इनमेंसे किसीमें भी पापका प्रवेश न हो, पाप इनसे दूर हट जायँ और हम दुरितोंसे बचे रहें। ऋषि प्रार्थना करते हैं—'हे पवित्रताकारी देव! मुझे बुद्धि, भक्ति, जीवन और आपत्ति-निवारण-(आत्म-रक्षा-) के लिये पवित्र कीजिये'—

पवमान! पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
अथो अरिष्ट तातये॥　　(अथर्व ६। १९। २)

हम पापी न बनें और ईश्वरके समक्ष निष्पाप हों।[१५] पवित्रतासे आयुकी वृद्धि होती है। दीर्घ-जीवनके लिये आयुको—अपने सम्पूर्ण आचरण और क्रिया-कलापको—पवित्र बनाओ।[१६] निष्पाप रहनेके लिये चारित्रिक दोषोंसे बचना आवश्यक है। दोष अनेक हैं, पर उनमें काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मत्सर ये छः मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त हिंसा, उग्र कटु वचन, ईर्ष्या-द्वेष, कर्म-हीनता, यश-हीनता, भय आदि बहुत-से दुर्गुण हैं, जिन्हें हटानेके लिये वेदका अनुशासन है।[१७] जीवनको सन्मार्गपर आरूढ रखनेके लिये वीरताका भाव भी आवश्यक है। हमारी ऐहिक-आमुष्मिक प्रगतिके बाधक अनेक तत्त्व हमे सत्पथसे विचलित करनेको तत्पर रहते हैं। ऐसी दशामें हमे भयभीत और उद्विग्न नहीं होना चाहिये। वेदका निर्देश है—'**मा भेः। मा संविक्थाः**' (यजु० १। २३)। द्युलोक और पृथिवी, तथा सूर्य और चन्द्रमा अपने कर्तव्य-पालनमें न तो डरते हैं, न किसीसे हिंसित और बाधित होते हैं, उसी प्रकार मेरे प्राणोंको निर्भय रहना चाहिये[१८]। शूर-वीर होना बाह्य एवं आन्तरिक शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये भी आवश्यक है। शूरताके छः उपादान हैं—तेज, वीर्य, बल, ओज, मन्यु (अनीतिपर क्रोध) और सहस (विरोधोंपर विजय पानेकी) सामर्थ्य एवं साहस। इन्हें धारण करना चाहिये। वैदिक प्रार्थना है—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि वीर्यमसि वीर्यं मे धेहि बलमसि बलं मे धेहि ओजोऽस्योजो मयि धेहि मन्युरसि मन्युं मे धेहि सहोऽसि सहो मयि धेहि।
(यजुः० १९। ९)

१४—शं न सूर्य उरुचक्षा उदेतु, शं नश्चतस्रः प्रदिशो भवन्तु॥　　(ऋक्० ७। ३५। ८)

१५—अपैतु सर्वमतः पापम्। एनो मा निगाम्। आरे स्याम दुरितानि परासुव। परो पेहि मनस्पाप। अनागसो अदितये स्याम। ऋक् ५। ८२। ६। १६—आयुः पवत आयवे। १७—मा गृधः (लालच मत कर) ईश० उप०। मा रिषण्यत (हिंसा मत करो) सा० पू० ४। ६। ३ तथा उ० ११। २। ५ (१), वि मृधोनुदस्व (हिंसकको निकाल दो।) मा वयं रिषाम ('हम किसीकी हिंसाके पात्र न बनें)। सा० उ० ७। ३। ७ (१) जम्भयाताअनप्नसः (कर्महीन नष्ट होते हैं)। मा नो द्विषत कश्चन (हमसे कोई द्वेष न करे)। मा नो मर्त्ता अभिद्रुह (मनुष्य परस्पर द्वेष न करें)। उग्र वचो अपावधीः (कठोर वचन त्याग दो)। सा० पू० ४। १। २, अध्यजियो हतवर्चा भवति (यजहीन पुरुष तेजहीन होता है)। गृहा मा विभीत (गृहस्थो! डरो मत) यजु० १। २३, १८—यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः। यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः॥ ३॥ (अथर्व० २। १५। १, ३।)

आरोग्य परम बल है। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सबका मूल कारण आरोग्य है। अतः हमें चाहिये कि नीरोग रहें और अपने शरीरको सुदृढ बनायें—'अश्मा भवतु नस्तनुः'—हमारे शरीर पुष्ट रहें और हम पूर्ण आयुष्य प्राप्त करें। हमारी वाणी, प्राण, नेत्र, कान, बाल, दाँत और बाहु रोग-हीन रहें तथा ऊरुओंमें ओज, जंघाओंमें वेग और पैरोंमें प्रतिष्ठा (दृढता) रहे (अथर्व० ९ । १२)। हम पूर्ण आयु सौ वर्षतक स्वस्थ रहते हुए जियें, देखें, सुनें, बोलें और अदीन रहें। हमें पराश्रित न होना पड़े (यजु० ६ । २४)। मनुष्यका स्थान सृष्टिमें सबसे ऊँचा है।[19] पृथ्वीपर उसका उत्कृष्ट पद है।[20] मनुष्य सृष्टिकर्ता परमेश्वरके अत्यन्त समीप है।[21] अतः हमें मनुष्यताका गौरव बनाये रखना चाहिये और मनुष्यताका सम्मान करना चाहिये। मनुष्य-जीवनका चरम लक्ष्य आनन्दकी प्राप्ति है। आनन्द एक मिश्रानुभूति है, जो सत-चित्तसे सदैव संयुक्त रहती है। अतः हमें यज्ञके द्वारा—आत्म-निर्माणके द्वारा—चेतनकी अमरताकी ओर उद्बोधन और प्रयाण करना[22] चाहिये। यह वैदिक चरित्र-शिक्षाका सप्तम सोपान है।

ब्रह्म-सूत्रमें चारित्र्य-चर्चा

(लेखक—पद्मश्री डॉ० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, शास्त्री, आचार्य, एम० ए०, पी-एच्० डी०)

कृष्णद्वैपायन महर्षि वेदव्यासने अपने ब्रह्मसूत्रके पुरुषार्थाधिकरणमें कर्मकाण्डके प्रकाण्ड पण्डित एवं समर्थक महर्षि जैमिनिके मतका उपन्यास करते हुए आचारकी महिमाका प्रख्यापन किया है—'आचारस्तद्-दर्शनात्' (३ । ४ । ३)।

इस सूत्रके भाष्यमें आचार्य शंकरने बृहदारण्यक उपनिषद्के—'जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे' (३ । १ । १) 'विदेहके शासक महाराज जनकने एक ऐसा यज्ञ किया, जिसमें बहुत-सी दक्षिणा दी गयी थी'—इस वाक्यको उद्धृत किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जनकजी, जो उच्चकोटिके ब्रह्मवेत्ता थे, यज्ञ भी किया करते थे। सारांश यह कि जब जनकके समान परमादरणीय ज्ञानी व्यक्ति भी यज्ञ किया करते थे, तब हम लोगोंको अपने आध्यात्मिक विकासके लिये उनके इस सदाचारसे अवश्य शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।

जैमिनिजीके मनमें जीवके लिये कर्म ही प्रधान है और ब्रह्मविद्या गौण है अथवा कर्म अङ्गी है और ब्रह्मविद्या अङ्ग है; किंतु ब्रह्मसूत्रके प्रणेताको ब्रह्मविद्याका ही प्राधान्य अभिप्रेत है। उनके मनमें ब्रह्मविद्याके द्वारा ही परम-पुरुषार्थ अर्थात् अपवर्गकी प्राप्ति होती है। कर्म विद्याका सहायक है। सर्वापेक्षाधिकरणमें सूत्रकारने मानवको वेदाध्ययन, यज्ञ, दान और तपस्या करते रहनेकी स्पष्ट शब्दोंमें अनुमति दी है। ब्रह्म-साक्षात्कारमें शास्त्रोक्त सभी साधनोंकी अपेक्षा है—'सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्' (३ । ४ । २६)।

इसपर भाष्यकार आचार्य शंकरने बृहदारण्यक उपनिषद्के—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा नाशकेन' (४ । ४ । २२)—इस वचनको उद्धृत किया है। इसका यह भाव है कि परमात्मा वेद-प्रवचन, यज्ञ, दान और तपस्याके द्वारा

१९–यशा विश्वस्यभूतस्याहमस्मि यशस्तमः।—(अथर्व० ६ । ५० । ३)
२०–अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्। (अथर्व० १२ । १ । ५४)
२१–मनुष्यः प्रजापतेर्नेदिष्ठः। (शत० ब्रा० [illegible] । ५ । २ । ६)
२२–मृत्योर्मामृतं गमय। (बृहदा० १ । ३ । [illegible])

जाना जा सकता है; क्योंकि ये सत्कर्म चित्तके शोधक हैं। गीता-(१८ । ५) में श्रीभगवान्‌का भी एतद्विषयक उपदेश है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥

यज्ञ, दान और तपके कर्त्तव्य करते ही रहना चाहिये, ये मनीषियोंको पवित्र करनेवाले है।

नित्य यज्ञ पञ्चविध हैं—ब्रह्म-यज्ञ (स्वाध्याय), देव-यज्ञ (अग्निहोत्र), पितृयज्ञ (श्राद्ध-तर्पण), मनुष्य-यज्ञ (अतिथि-सत्कार) और भूत-यज्ञ (गौ आदिको ग्रास-दान)—

बलिकर्मस्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसत्क्रियाः।
भूतपित्रमरब्रह्ममनुष्याणां महामखाः॥
(याज्ञवल्क्य-स्मृति १ । ५ । १०२)

दान यथाशक्ति सभी कर सकते हैं। यदि धनी व्यक्ति प्रचुर धनके दानद्वारा मनःशान्ति प्राप्त कर सकते है तो साधारण व्यक्ति जलपान कराकर और मधुर वचनोंद्वारा वैसा लाभ ले सकते हैं। मनुका वचन है—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

आसन, स्थान, जल और चौथी सुन्दर वाणी—ये चारों तो सज्जनोंके यहाँ किसी भी अतिथिके लिये सदा प्रस्तुत रहते हैं।

त्रिविध तपका निर्देश श्रीभगवान्‌ने स्वयं गीतामें विशदरूपेण कर दिया है (द्रष्टव्य अध्याय १७, श्लोक १४, १५, १६)। शमदमाद्यधिकरणमें भगवान् द्वैपायनने साधकको शान्ति, मनोनिग्रह, उपराम, सहनशीलता और एकाग्रताको बनाये रखनेका अभ्यास करनेकी सम्मति दी है—**'शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामप्यवश्यानुष्ठेयत्वात्'** (३ । ४ । २७)। इसपर अपना विवरण प्रस्तुत करते हुए भाष्यकारने बृहदारण्यक उपनिषद्के **'तस्मादेवंवित् शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वात्मन्ये**वात्मानं पश्येत्' (४ । ४ । २३)—इस वचनको उद्धृत किया है। विहितत्वाधिकरणमें व्यासजीने साधकको अपने आश्रमके कर्तव्योंको करते रहनेका विधान किया है—**'विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि'** (३ । ४ । ३२)। अग्निहोत्राद्यधिकरणमें अग्निहोत्र आदिक नित्य और नैमित्तिक कर्मोंको करते रहनेका आदेश है—**'अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्** (४ । १ । १६)।'

ये सत्कार्य ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिमें सहायता करते हैं। आचार्य रामानुजने लिखा है—**'विद्याख्या-कार्यायैव हि विदुषोऽग्निहोत्राद्यनुष्ठानम्।'** (श्रीभाष्य)।

ब्रह्मसूत्रके अन्तमें साधनपादमें योगदर्शनके समान ही आसन, प्राणायाम, धारणा, ध्यान, निदिध्यासनके द्वारा परमात्मसाक्षात्कारकी विधि निर्दिष्ट है। इस प्रक्रियामें शुद्ध ब्रह्मचर्यका मूलस्थान है। इसके साथ अनवरत वेदान्तचिन्तनका भी निर्देश है। कहा गया है कि उत्थानसे शयनतक और साधनारम्भसे जीवनतक इनका चिन्तन करते हुए कामादिके लिये लेशमात्रका अवसर नहीं देना चाहिये—

आसुप्तेरमृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिन्तया।
दद्यान्नावसरं किञ्चित् कामादीनां मनागपि॥

उपर्युक्त विवरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आध्यात्मिक विकासके लिये, ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये, किंवा श्रीपुरुषोत्तम भगवान्‌के सान्निध्यकी प्राप्तिके लिये प्रत्येक साधकको अपने आश्रम-धर्मका पालन, नित्य और नैमित्तिक यज्ञोंका अनुष्ठान, यथाशक्ति दान एवं त्रिविध तपका अभ्यास करते रहना चाहिये। ऐसे सभी गुण चरित्रमयी मालाकी मङ्गलमयी मणियाँ हैं।

चारित्र्यकी उदात्तता जीवनकी मङ्गलमयी चरितार्थतामें ही उपयोगिनी होती है। ब्रह्मसूत्रमें इसकी चर्चा इसी रूपमें है।

श्रीवैखानसकल्पसूत्रमें चरित्र-निर्माणके मूल सूत्र

(लेखक—श्रीचल्लपल्लि भास्कर रामकृष्णमाचार्युलु, एम्० ए०, बी०एड्०)

भारतीय संस्कृतिका मुख्य लक्ष्य है—जीवमात्रको आनन्दकी प्राप्ति कराना । इसकी दृष्टिमें जड-चैतन्यरूप समस्त सृष्टिके सभीमें भगवान्की व्याप्ति है तथा सभीमें भगवत्प्राप्तिका समान अधिकार है । जन्म-मरण-रूप संसारचक्रमें जीव पत्थर, पेड़, पक्षी, जानवर, मानव आदि किसी भी रूपसे अपने प्रारब्धके अनुसार जन्म पा जाता है । इन सभीमें मानव-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है—**'जन्तूनां नरजन्मदुर्लभमिदम् ।'** इस अलभ्य नर-जन्मको भगवत्प्राप्तिके साधनके रूपमें बनानेके लक्ष्य-को रखकर ही सभी भारतीय शास्त्र प्रवर्तित हुए हैं ।

भारतीय वाङ्मयमें कल्पसूत्रोंका विशिष्ट स्थान है । कल्पसूत्र मानवको सुशिक्षित, धर्मबद्ध जीवन-निर्माणके विधान-निरूपण करनेमें प्रवृत्त हैं । इनमें 'वैखानस-कल्पसूत्र'की अपनी निजी विशेषता यह है कि इसमें अत्यन्त अल्प वचनोंमें—गृह्य, धर्म, और श्रौतसूत्र सम्मिलित हैं । इसकी दूसरी विशेषता यह है कि यह वैदिक विष्णु-पूजा-विधिका निरूपण, सगुणाराधनाका भी निर्देशक है । केवल इसी सूत्रमे भगवान्की प्रतिमा-राधनाके विधानका निरूपण किया गया है । वैखान-सागम इसी कल्पसूत्रके आधारपर प्रवर्तित है । वस्तुतः वैखानसागमका निर्देश 'भगवच्छास्त्र' नामसे शास्त्रोंमें पाया जाता है । इस विशिष्ट कल्पसूत्रमें सूचित चरित-निर्माण-सम्बन्धी अंशोंका परिचय दिङ्मात्रसे किया जाता है ।

श्रीवैखानसगृह्यसूत्रमें संस्कारोंद्वारा बहुदुर्लभ इस मानव-शरीरको भगवदाराधनयोग्य बनानेका मार्ग प्रशस्त हुआ है । उन संस्कारोंका क्रम इस प्रकार पाया जाता है—**'ऋतुसंगमनगर्भाधानपुंसवनसीमन्तविष्णुबलि-जातकर्मोत्थाननामकरणान्नप्राशनप्रवासागमनपिण्ड-वर्धनचौलोपनयनपारायणव्रतबन्धविसर्गोपाकर्मसमा-वर्तनपाणिग्रहणानीत्यष्टादशसंस्काराः शरीरस्य ।'**

(वै० गृह्यसूत्र, प्रश्न १, खण्ड १, सूत्र २)

इसमें (१) ऋतुसंगमन, (२) गर्भाधान, (३) पुंसवन, (४) सीमन्त, (५) विष्णुबलि, (६) जातकर्म, (७) शय्योत्थान, (८) नामकरण, (९) अन्नप्राशन, (१०) निष्क्रमण (११) पिण्डवर्धन, (१२) चौल, (१३) उपनयन, (१४) पारायण-(१५) व्रतबन्ध, (१६) विसर्ग, (१७) उपाकर्म, समावर्तन और (१८) पाणिग्रहण—इन १८ संस्कारों-का निरूपण हुआ है । इस प्रकार जन्मसे लेकर विवाह-तक सभी कर्म संस्कारयुक्त होते रहनेके कारण वे मानव-जीवनको सुसंस्कृत बनानेमें तथा चरित्र-निर्माणमें विशेष योग-प्रदान करते हैं । इन संस्कारोंके अतिरिक्त मानवके जीवनको धर्मपथसे सुबद्ध करनेके लिये आवश्यक अंशों-का निरूपण किया गया है ।

सदाचार-क्रम वैखानसधर्मसूत्रके द्वितीय प्रश्न (गृह्यसूत्रके नवम प्रश्न-)में निरूपित है—**'धर्म्यं सदाचरम्'** (वै० सू० ९ । ९ । १) ।

इस खण्डमे शौचाचार-विधि, नवम प्रश्नके (धर्मप्रश्नके २ के) दशम खण्डमें आचमन, प्राणायाम, गायत्री-जप, अभिवादन-क्रम तथा आशीर्वचन-क्रम निरूपित हैं । यदि कोई अभिवादन करनेपर आशीर्वाद नहीं देता है तो उसको अभिवादन नहीं करने का शासन है—**'अनाशीर्वादी नाभिवन्द्यः ।'** वर्णधर्म, आश्रमधर्म, विशेष धर्म जो चरित्र-निर्माणके मूलस्तम्भ हैं, इनका विवरण धर्मसूत्रोंमें किया गया है । इनमें आहारनियम, वाङ्नियमसे ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासीके धर्म विशदरूपसे सूचित हैं । इन आश्रमोंके

अवान्तर भेद भी हैं, जिनका विवरण 'कल्याण'के 'सदाचार-अङ्क'के १८६वें पृष्ठपर प्रकाशित 'वैखानस-सूत्रमें वर्णाश्रम-धर्मरूप सदाचार' लेखमें दिया गया है। इस प्रकार मानव-चरित्र-निर्माणमें वैखानसकल्पसूत्रके गृह्य, धर्म-विभागोंमें अत्यन्त आवश्यक नियमोंका उल्लेख किया गया है। चरित्रनिर्माताको उनसे लाभ उठाना चाहिये।

कल्पसूत्रोंमें अनेक देवता आराध्य बताये गये हैं। उनकी पूजा-आराधना अमूर्तरूपसे ही वर्णित है। उन देवताओंसे श्रीविष्णुकी विशेषता दिखाकर विष्णुकी प्रतिमाराधना करनेका आदेश न केवल गृहस्थोंको, अपितु भिक्षु-(सन्यासी-) को भी स्पष्टतासे व्यवस्थित रूपमें दिया गया है। भगवान्‌की आराधनाके लिये आवश्यक अर्चक, आचार्य तथा भक्तोंके लक्षण वैखानस और आगममें वर्णित हैं, जो सभीके लिये उपादेय हैं। परमपद-प्राप्तिके लिये साधना करनेके विधानका विवरण भगवान् मरीचिमहर्षिकृत 'विमानार्चनकल्प' ग्रन्थके 'तत्त्वोपदेशपटल'में वर्णित है—**'तस्माद्भगवन्मायया मोहितत्वाद् भगवन्तं समाश्रित्य भक्त्या नारायण-मुपासीत। तदुपासनात् सोऽपि भक्तवत्सलत्वाद् भक्तानुकम्पया स्वमायां विमोचयति। तत आत्मा सम्यक् ज्ञानं प्रविशति। पश्चादाश्रमधर्मयुक्तो भगवदाराधनं करोति। तदाराधनेन संसारार्णव-निमग्नो जीवात्मा परमात्मानं नारायणं पश्यति।'** (पटल ८८)

जीव भगवान्‌की मायासे मोहित होनेके कारण भगवान्‌का आश्रय लेकर भक्तिसे 'नारायण'की उपासना करे। इस उपासनासे भगवान् अपनी मायासे उसका (भक्तका) सर्वथा विमोचन करते हैं और उसे ज्ञानकी प्राप्ति कराते हैं। उसके बाद आश्रमधर्मके अनुसार भगवदाराधना करनेसे जीव परमात्मा नारायणका दर्शन करता है। उसके बाद पुनरावृत्तिरहित परम पदको प्राप्त कर लेता है। वैखानसकल्पसूत्रके अनुसार इस आराधनाके चार अङ्ग होते हैं। ये हैं—जप, हुत, अर्चन तथा ध्यान। इनमें अर्चन अत्युत्तम कहा गया है—**'तेष्वर्चनं सर्वार्थसाधनं स्यात्।'** (पटल ८९)

अपने घर या देवालयमें प्रतिमा आदिको वैदिक मार्गसे पूजा करे तो वह अर्चन है—**'गृहे देवायतने वा वैदिकेन मार्गेण प्रतिमादिषु पूजयेत्तदर्चनम्'** (पटल ८९)। उक्त आराधनाके 'ध्यान'-के अंशके विवरणके रूपमें 'अष्टाङ्गयोग'का निरूपण किया गया है। 'योग' शब्दका विवरण इस प्रकार दिया गया है—**'जीवात्मपरमात्मनोर्योगो योग इत्यामनन्ति'** (पटल ९०)।

जीवात्माका परमात्मासे संलग्न होना योग कहा गया है। योगाधिकारीको २० गुणोंसे युक्त होना चाहिये, जो आदर्श मानवमात्रके लिये उपादेय हैं। ये हैं—पारिभाषिक रूपमें यम तथा नियम। इनका विवरण इस प्रकार दिया गया है:—**यम—'तेषु यमः अहिंसा सत्यम् अचौर्यं गृहस्थस्य स्वदारनिरतिः, अन्येषाम् सर्वत्रमैथुनत्यागो दया आर्जवं क्षान्तिः धैर्यं मिताशनं शौचमिति यमगुणा दशधा भवन्ति।'** (पटल ९०)

नियम—'नियमस्तु तपःसंतोषास्तिक्यं दानं विष्णुपूजा वेदार्थश्रवणं कुत्सितकर्मसु लज्जा, गुरूपदेशेऽश्रद्धा मन्त्राभ्यासो होम इति यमगुणा दशधा भवन्ति' (पटल ९०)।

इस प्रकार जीवकी परम पद-प्राप्तिकी साधनाके अङ्गके रूपमें मानवके चरित्र-निर्माणके लिये आवश्यक सभी अंशोंका निरूपण वैखानस भगवच्छास्त्रमें किया गया है, जिनमें यम-नियमोंका पालन अनिवार्यतः चरित्रगठनमें उपादेय है। अतः चरित्र-निर्माणके लिये हमें वैखानस-कल्पसूत्रानुसार आचरण करना चाहिये।

रामचरितमानस और चरित्र-निर्माण

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणलालजी शर्मा, एम० ए०, पी-एच्० डी०)

चरित्र मनुष्यके सम्पूर्ण व्यक्तित्वको प्रकट करता है। इसमे समस्त मानवोचित गुणोंका समावेश हुआ है। सरल शब्दोंमे मनुष्यकी आदतोंके समूहको 'चरित्र' कहा जाता है। आदतें सत् और असत्के भेदसे दो प्रकारकी होती है। इसी आधारपर चरित्र भी द्विविध माना गया है—उत्तम चरित्र और निकृष्ट चरित्र। उत्तम चरित्रमें हृदयकी निर्मलता, उदारता, कर्तव्यपरायणता, आत्मसंयम, वचन-पालन, सत्यनिष्ठा आदि समस्त सद्गुण समाविष्ट रहते हैं। समस्त असद्गुण या दुर्गुण निकृष्ट चरित्रके द्योतक होते हैं।

संसारमें उत्तम चरित्रका बडा महत्त्व है। किसी भी समाज, जाति, देश या राष्ट्रकी उन्नति सच्चरित्र मानवोंपर ही निर्भर करती है। निकृष्टचरित्र व्यक्ति महत्त्व-हीन होता है। वह मानव-समाज एवं देशको कलङ्कित कर उन्हे पतनकी ओर उन्मुख कर देता है। आज हमारे समाज एवं राष्ट्रपर निकृष्ट चरित्रका भरपूर प्रभाव दृष्टिगोचर हो रहा है। इसीलिये हमारा राष्ट्रिय वातावरण झूठ, सशय, ईर्ष्या, स्वार्थ, रिश्वत, चोर-बाजारी, छल, कपट, बेईमानी आदि अनैतिक तत्त्वोसे दूषित हो गया है। समाजमे अत्याचार, दुराचार, बलात्कार और भ्रष्टाचारका बोलबाला है। समाजका हर व्यक्ति आज इनसे अत्यधिक क्षुब्ध एवं त्रस्त है। बेईमानी हमारे जीवनकी नीतिपद्धति बन गयी है। आज हमारे राष्ट्रिय चरित्रका पतन हो रहा है।

राष्ट्रको पतनके गर्तमें गिरनेसे बचानेके लिये आज हमें उत्तम चरित्रवान् नागरिकोकी बड़ी आवश्यकता है।

रामचरितमानस ऐसे समयमें उत्तम चरित्रवान् नागरिकोका निर्माण करनेमें योग दे सकता है। उत्तम अथवा आदर्श चरित्र-निर्माण करनेकी दृष्टिसे रामचरित-मानस-जैसा अनुपम और अद्वितीय ग्रन्थ संसारभरमें कोई दूसरा नहीं है। यह मानवके चरित्रको ऊँचा उठानेमें, पारिवारिक आदर्शोंकी स्थापना करनेमें, समाज-के लिये माङ्गलिक विधानकी सृष्टि करनेमें तथा राष्ट्रिय चरित्रके मालिन्यको दूरकर उसे आलोकित करनेमें पूर्णतः सक्षम है। इसके सभी प्रमुख पात्र—श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, हनुमान्, सीता आदि लोकानुप्रेरक उत्तम एवं आदर्श चरित्रकी साकार एवं सजीव प्रतिमाएँ हैं। इनमे भी मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामका चरित्र सर्वाधिक प्रशस्त और प्रेरक है। उनका चरित्र मानवताके पावन-पुनीत एव उज्ज्वल धरातलपर प्रतिष्ठित है। एक मानव, एक कुटुम्बी, एक मित्र और एक जन-नायकके रूपमे उनका चरित्र, उनका आदर्श अनुकरणीय है। उनका मानवरूप अखण्ड आत्मविश्वास, अनासक्ति, कर्तव्यनिष्ठा, स्वावलम्बन, शौर्य आदिसे समुज्ज्वल एवं मण्डित है। कुटुम्बिरूप बड़ोके प्रति श्रद्धा एवं सम्मान, छोटोके प्रति स्नेह-क्षमा आदि सद्गुणोसे आलोकित है। आज्ञापालन और सेवाभावका जो अनुपम आदर्श उन्होंने प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त श्लाघ्य, ध्येय और मानवमात्रके लिये नितान्त अनुकरणीय है। उनका मित्ररूप सौहार्दसे देदीप्यमान है और उनका जननायकरूप, जन-प्रेम, सामाजिक समता, लोकमत-निष्ठा, अन्याय-प्रतीकार, अत्याचार-दमन, ऊँच-नीच भेद-भावरहित वन्य जाति-प्रेमसे ओत-प्रोत है। इस प्रकार मानसके नायक श्रीरामका चरित्र उत्तम चरित्रके लिये वांछित सभी सद्गुणोसे परिपूर्ण है।

रामचरितमानसमें रावणपर श्रीरामकी जो विजय दिखायी गयी है, वह एक प्रकारसे निकृष्ट चरित्र-पर उत्तम चरित्रकी विजय है। दूसरे शब्दोंमें निकृष्ट

चरित्रके समक्ष उत्तम चरित्रकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है, जो उत्तम चरित्र-निर्माणकी दृष्टिसे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रेरणाप्रद है।

सच्चरित्रका निर्माण मुख्यतः तीन साधनोके अनुसरण करनेसे होता है, ऐसा विद्वानोका मत है। ये तीन साधन हैं—सत्सङ्ग, स्वाध्याय और अभ्यास। उत्तम आचरणवाले महापुरुषो तथा साधु-संतोका सत्सङ्ग करनेसे सुन्दर चरित्रका निर्माण होता है। सत्सङ्गसे दुर्गुणोका नाश और सद्गुणोका विकास होता है। रामचरितमानसमे सत्सङ्गकी महिमाका उद्घाटन अनेक स्थलोपर हुआ है। एक स्थलपर कहा गया है—

'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधातु सुहाई।'

अर्थात्—'दुष्ट व्यक्ति भी सत्सङ्ग पाकर सुधर जाते हैं, जैसे पारसके स्पर्शसे लोहा सुन्दर सोना बन जाता है।' इतना ही नहीं, रामचरितमानसमे सत्सङ्गकी उत्कृष्टता और कुसङ्गकी निकृष्टताका उद्घाटन संतोके सद्गुणो और असंतोंके दुर्गुणोंके चित्रणके माध्यमसे भी किया गया है। इस चित्रणका उद्देश्य ही यह है कि लोग असंतोके आचरणोंके प्रति घृणा कर उनका त्याग करें और संतोंके आचरणोका अनुकरण कर अपने सुन्दर चरित्रका निर्माण करे। चरित्रनिर्माण एवं सत्सङ्गकी प्रेरणा प्राप्त करनेकी दृष्टिसे निम्नाङ्कित पङ्क्तियॉ, जो संतोके लक्षणोकी प्रतीक हैं, अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण, ग्राह्य एवं अनुकरणीय हैं—

सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाव सबहिं सन प्रीती॥
दभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
जे हरषहिं पर संपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेखी॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं

संत-महात्माओने उत्तम ग्रन्थोके अध्ययनको भी सत्सङ्गका ही एकरूप माना है। उनकी दृष्टिमें उत्तम ग्रन्थोमें ग्रथित महान् आदर्शोंका सुन्दर चरित्र एवं ऋषि-मुनियोंकी पवित्र वाणीका पठन सत्सङ्गके सदृश ही लाभदायक एव कल्याणप्रद होता है। इस दृष्टिसे रामचरितमानस निस्संदेह एक अद्वितीय श्रेष्ठ ग्रथ है, जिसमें श्रीराम, लक्ष्मण, भरत, हनुमान्, सीता आदि आदर्श-पात्रोका परम पवित्र चरित्र ग्रथित है तथा भारद्वाज, वाल्मीकि, अत्रि आदि महर्षियोकी पावन एवं पुनीत वाणी मुखरित है।

उत्तमचरित्र-सृजनके लिये सद्ग्रन्थोका अध्ययन नितान्त आवश्यक है। श्रीरामचरितमानस विश्वके सभी सद्ग्रन्थोमे मूर्धन्य है—यदि ऐसा कहे तो अत्युक्ति न होगी। यह सभी उत्तम एव पवित्र गुणोंका आगार है। इसके अध्ययन मनन एवं चिंतनसे उत्तम चरित्रके लिये वाञ्छित सभी गुण उपलब्ध हो सकते है।

उत्तम चरित्र-निर्माणके लिये सद्गुण तो किसी भी अच्छी पुस्तकमे मिल सकते है, किंतु अपने अन्दर उत्तम गुणोके विकासके लिये अभ्यास अपेक्षित है। अभ्याससे तात्पर्य है कि जो बाते हमने पढी है, जिनका हमने मनन एव चिंतन किया है, उनको हम प्रतिदिनके व्यवहारमें लायें। नित्य-निरन्तर व्यवहारमें लानेसे अभ्यासवश दुर्गुण दूर हो जायँगे और उनके स्थानपर सद्गुणोकी स्थापना हो जायगी। अतएव श्रीरामचरितमानसके अध्येताको चाहिये कि वह मानसमे वर्णित सद्गुणोका नित्य निरन्तर अभ्यास करे। निश्चित हो उसका चरित्र सुन्दर बन जायगा। मानसका पाठमात्र करनेसे कोई लाभ नहीं होगा, जबतक कि उसमें निहित सुन्दर संदेशोको जीवनमे नहीं ढाला जायगा।

उत्तम चरित्रका सृजन कोई साधारण कार्य नहीं है। यह मानव-जीवनकी सर्वोच्च साधना है, कठोर तपस्या है, अग्नि-परीक्षा है। पूर्वोक्त तीन साधनोके अतिरिक्त सुन्दर चरित्र बनानेके लिये कतिपय अन्य बातें भी आवश्यक होती हैं, जिनमें सत्यका अनुसरण करना प्रमुख है। श्रीरामचरितमानसके नायक श्रीराम सत्यका अनुसरण करनेके कारण ही आदर्श एवं मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाये।

सत्यका पालन करनेमें व्यक्तिको घोर कष्टोंका सामना करना पड़ता है; यहाँतक कि कभी-कभी प्राणोंकी बाजीतक लगा देनी पडती है। मानसमें महाराज दशरथ इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। सत्यका पालन करनेके लिये भयकी भावनापर नियन्त्रण आवश्यक होता है। भयके कारण हम सत्य नहीं कह सकते और जब सत्य नहीं कह सकते तो चरित्रका विकास भी नहीं हो सकता। भयके कारण ऊँचे आदर्श और स्वस्थ भावनाएँ नहीं पनप सकतीं। भयसे आत्मबल दुर्बल हो जाता है जिससे व्यक्ति जो कुछ सुधार अपनेमें लाना चाहता है उसे नहीं कर पाता। इस भावनापर नियन्त्रण पानेकी प्रेरणा हम श्रीराम, लक्ष्मण, हनुमान् और सीताके चरित्रोंसे प्राप्त कर सकते हैं।

चरित्रनिर्माणके लिये वचन और कर्मकी एकरूपता भी आवश्यक है। इसकी प्रेरणा मानसके नायक श्रीरामसे लेनी चाहिये। मानसकी निम्न पङ्क्तियोंमें वचन और कर्मकी एकरूपता द्रष्टव्य है—

सुनि सुग्रीव मैं मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।
ब्रह्म रुद्र सरनागत गएँ न उबरिहिं प्रान॥

और वचनका पालन करनेके लिये—

बहु छल बल सुग्रीव करि हियँ हारा भय मानि।
मारा बाली राम तब हृदय माँझ सर तानि॥

चरित्रकी उदात्ततामें वचन-पालन एक महान् गुण है। जो व्यक्ति अपने वचनका पालन नहीं करता वह चरित्रशील नहीं बन सकता। वचन और कर्ममें एक रूपता चाहिये।

स्पष्ट है कि श्रीरामने सुग्रीवसे बालीको एक ही बाणसे मारनेके लिये कहा था और उसे एक ही बाणसे मार दिया। इतना ही नहीं, सुग्रीवसे मित्रता करते समय उसे जो 'वचन' दिया था····'सब बिधि घटब काज मैं तोरे' उसे भी पूरा किया और आजीवन मित्रताका निर्वाह किया। इसीप्रकार श्रीरामकी कथनी और करनीमें अन्यत्र भी एक-रूपता पायी जाती है। लक्ष्मणके वचन और कर्ममें भी एकरूपता मिलती है, जो चरित्र-निर्माणकी दृष्टिसे प्रेरक एवं ग्राह्य है। लक्ष्मणद्वारा मेघनादका वध करनेका पण करना और उसे मार डालना इसका प्रमाण है।

रामचरितमानसमें नारी पात्रोंमें भगवती सीताका चरित्र महिलामात्रके लिये सर्वोत्तम आदर्श एवं अनुकरणीय है। उनका चरित्र असाधारण पातिव्रत, त्याग, शील, क्षमा, धर्म-परायणता, विनम्रता, निर्भीकता, सेवा, संयम, साहस आदि दिव्यगुणोंका ज्योति-पुञ्ज है। मानसके अन्य नारी पात्रोंमें, जिनका चरित्र अनुकरणीय है उनमें देवी कौसल्या, सुमित्रा, उर्मिला, माण्डवी और सती शिरोमणि अनसूयाके नाम उल्लेखनीय हैं। यदि आज की पाश्चात्य सभ्यतामें ढली महिलाएँ भगवती सीता और सती साध्वी अनसूयाकी भाँति मनसा, वाचा, कर्मणा पातिव्रत धर्मका पालन करना ही अपना कर्त्तव्य मानें तो समाजमें, देशमें **'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते'** गूँजने लगे।

रामचरितमानसमें वैसे तो स्थल-स्थलपर उत्तम चरित्र-सृजनहेतु संकेत एवं संदेश मिलते हैं, किंतु लङ्का-काण्डमें धर्मरथके मिस मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामने विभीषणको विजय प्राप्तिका जो उपाय बतलाया है, वह सर्वोत्तम चरित्रकी सृष्टि एवं मानवजीवनकी सफलताके लिये अत्यन्त ही उपयोगी है। वह है धर्मरथका रूपक—

सौरज धीरज तेहि रथ चाका। सत्य सील दृढ़ ध्वजा पताका॥
बल बिबेक दम परहित घोरे। छमा कृपा समता रजु जोरे॥
ईस भजनु सारथी सुजाना। बिरति चर्म संतोष कृपाना॥
दान परसु बुधि सक्ति प्रचंडा। बर बिग्यान कठिन कोदंडा॥
अमल अचल मन त्रोन समाना। संयम नियम सिलीमुख नाना॥
कवच अभेद बिप्र गुरु पूजा। एहि सम बिजय उपाय न दूजा॥
सखा धर्ममय अस रथ जाकें। जीतन कहँ न कतहुँ रिपु ताकें॥

महा अजय संसार रिपु जीति सकइ सो बीर।
जाकें अस रथ होइ दृढ़ सुनहु सखा मति धीर॥

अर्थात्—'शूरता और वीरता जिस रथके चक्के (पहिये) हैं, सत्य और शील दृढ़ पताका हैं, बल, विवेक, दम और परहित जिनके घोडे हैं, जो क्षमा, कृपा और समताकी रस्सियोसे बँधे हैं, ईश-भजन जिनका सारथि है, वैराग्यरूपी ढाल और संतोषरूपी कृपाण जिसके पास है, जो दानरूपी फरसा, बुद्धिरूपी शक्ति और विद्यारूपी धनुषसे युक्त है, अमल और अचल मन ही जिसका कवच है, संयम और नियमरूपी वाण जिसके पास है, उसके लिये कोई भी शत्रु जीतनेको शेष नहीं रहता। वह अपराजेय और सर्वजयी होता है।

मानवमें मानवताका संचार करनेके लिये कैसा सुन्दर रूपक-सदेश रामचरितमानसमें तुलसीने प्रथित किया है। यह दिव्य संदेश मानवको सच्चा संत बनानेमें समर्थ है। यदि मनुष्यमें ये सभी गुण समाहित हो जावें तो निश्चित ही उसका चरित्र सर्वोत्कृष्ट और आदर्श वन जावेगा। आज हमें ऐसे ही चरित्रवान् लोगोंकी आवश्यकता है। ऐसे ही लोग हमारे समाज और राष्ट्रमें व्याप्त बुराइयोको दूरकर उन्हे समृद्ध एवं शक्तिशाली बना सकेंगे।

श्रीरामचरितमानसका यदि सच्चे मनसे और सच्ची लगनसे चिंतन, मनन और अनुशीलन किया जाय तो हमारे देश-वासियोमें मानवता, राष्ट्रियता एवं विश्व-बंधुताके लिये वाञ्छित सभी नैतिक गुणोंका प्रचार-प्रसार हो जायँगे। चरित्रनिर्माणके क्षेत्रमें तुलसीकी यह अमर कृति जो योग दे सकती है, वह विश्वकी कोई अन्य कृति नहीं। इसका योगदान शाश्वत एवं चिरंतन है।

चरित्रकी महत्ता

(लेखक—डॉ० श्रीजयमन्तजी मिश्र)

चरित्र[1]का अर्थ होता है—स्वभाव, व्यवहार, आचरण अथवा जीवनका वह कार्य जिससे मानवकी योग्यता, मानवता, कर्तव्यपरायगता आदिका द्योतन होता है। इसी अर्थमे चरित[2], चारित्र[3], चारित्र्य[4] आदि शब्दोका भी प्रयोग होता है। अंग्रेजी भाषाके विहेवियर, कन्डक्ट, कैरेक्टर, आदि शब्दोसे भी इसी अर्थका बोध होता है।

भौवादिक गत्यर्थक 'चर्'[5] धातुसे करणमे 'इत्र'[6] प्रत्यय करनेपर 'चरित्र' शब्द निष्पन्न होता है। अतः चरित्र शब्दके व्युत्पत्तिलभ्य अर्थके साथ व्यावहारिक अर्थका पूर्ण सामञ्जस्य है।

विश्वका इतिहास साक्षी है कि चारित्रिक सद्गुण होनेपर ही कोई व्यक्ति महापुरुष होता है। ऋषि-मुनि, शिष्ट, आप्त, साधु-संत-महात्माके धर्मशास्त्रानुकूल सदाचरण ही सच्चरित्र हैं और ऐसे सच्चरित्रवाले पुरुष भी सच्चरित्र (—**सत् चरित्रं यस्य असौ सच्चरित्रः**) कहलाते हैं। उनकी सच्चरित्रताके लिये मन, वचन और कर्म—इन तीनोकी पवित्रता और एकरूपता अपेक्षित है।

१—अचिन्त्यं शीलगुप्तानां चरित्रं कुलयोषिताम्। (कथासरित्सागर—३९६)
विहितवहित्र चरित्रमखेदम् (गीतगोविन्द)

२—न कुतूहलिकस्यमनश्चरितं हि महात्मनां श्रोतुम्। (हर्षचरित)
उदारचरितानां हि वसुधैव कुटुम्बकम्। (हितोपदेश १। ७०) उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते।

३—अनृतं नाभिधास्यामि चारित्रभ्रंशकारणम्। (मृच्छकटिक)

४—चारित्र्यविहीन आढ्योऽपि च दुर्गतो भवति। (वही) ५—चर् गतौ भक्षणेऽपि। (पा० अष्टा ३। २। ८४)

६—अर्तिलूधूसूखनसहचरइत्रः। (पा० अष्टा ३। २। ८४)

इस एकरूपताके रहनेपर ही[7] व्यक्ति महात्मा होता है। अनेकरूपता आनेसे वह दुरात्मा कहलाता है। अतः सच्चरित्र पुरुषके मनमें जैसा सद्विचार आता है, उसे अभिव्यक्त करनेके लिये वह वैसी ही सत्यवाणीका प्रयोग करता है और वचनके अनुसार ही सद्-व्यवहार करता है। इससे उसके चरित्रका निर्माण होता है और वह उस चरित्रके बलपर महान् व्यक्ति बनता है। वह सच्चरित्र महापुरुषकी वाणीके अर्थका अनुसरण करता है। इसके विपरीत लोकहितके प्रतिकूल असत्य भाषणसे चरित्रका पतन होता है तथा वह अनृतवक्ता समाजमें गर्हित माना जाता है। कोई कितना भी धनवान् क्यों न हो, यदि वह चरित्रहीन है तो दुर्गति पाता है।[10]

धृति, क्षमा[11] आदि धर्मके दस लक्षण कहे गये हैं। इनके आचरणसे व्यक्तिकी धार्मिकता प्रकट होती है। ये सभी व्यक्तिके चरित्र-निर्माणमें असाधारण कारण हैं। इनके सदाचरणसे व्यक्ति सच्चरित्र बनकर महान् हो जाता है। ऐसे व्यक्तिमें दैवी सम्पदाएँ आती हैं और वह व्यक्ति जीवन्मुक्त होकर मानव-जीवनका अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करता है। चरित्र-निर्माणके साधक इस मानव-धर्मको श्रीमद्भागवतमें तीस लक्षणोंमें बतलाया गया है जिनके आचरणसे सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं।[12] सच्चरित्रके निर्माणमें दक्ष व्यक्तियोंने ही इस विश्वमें अपना नाम अजर-अमर किया है और यशोमय शरीरको अनश्वर बनाया है।

सर्वश्री सीता, सावित्री, अनसूया, मीरा, लक्ष्मीबाई आदि सती-शिरोमणि सीमन्तिनियाँ अपने-अपने चारित्रिक बलपर ही विश्ववन्दनीया हो गयी हैं। सर्वश्री शंकर, कुमारिल मण्डन, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि आचार्य तथा रामानन्द, कबीर, चैतन्यमहाप्रभु, तुकाराम, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, गोरखनाथ, गुरुनानक, गुरुगोविन्दसिंह, विद्यापति, सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास, रसखान, पृथ्वीराज, राणाप्रताप, शिवाजी, बाजीराव, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द, महात्मा गान्धी, मदनमोहन मालवीय, तिलक, गोखले, नेहरु, रानाडे, राजेन्द्रप्रसाद, टैगोर, सुभाष आदि महापुरुष अपने-अपने चरित्रबलपर ही विश्वमें समादरणीय होकर अमर हो गये हैं। अतः चरित्रनिर्माणकी महत्ता स्वतःसिद्ध है। वर्तमान कालिक सामाजिक अशान्ति भी चरित्रबल तथा ईश्वराराधनसे अवश्य दूर की जा सकती है। आज देशमें और भारतीय समाजमें चरित्र-साधनाकी नितान्त आवश्यकता है।

७–मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्। मनस्यन्यद् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥ (हितोपदेश)

८–ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनु धावति॥ (उत्तररामचरित)

९–अनृतं नाभिधास्यामि चारित्रभ्रंशकारणम्। (मृच्छकटिक, द्रष्टव्य टिप्पणी ३)

१०–(द्रष्टव्य टिप्पणी ४)

११–धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥ (मनु० ६। ९२)

१२–सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः। अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम्॥
सन्तोषः समदृक् सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः। नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम्॥
अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हतः। तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव॥
श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम्॥
नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः। त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति॥
(श्रीमद्भागवत ७। ११। ८–१२)

चरित्र-निर्माणका महत्त्व

(लेखक—मध्वगौड़ेश्वराचार्य डॉ० श्रीवराङ्ग गोस्वामी, एम्० डी० एच्०, डी० एस्-सी० ए०)

अनादिकालसे भारतीय समाज, भारतीय आर्य धर्म एवं महापुरुषोंकी गौरव-गाथाएँ संसारको आदर्श चरित्रकी शिक्षा देते आ रहे हैं। वेद, शास्त्र, पुराण और उपनिषदोंके अध्ययनसे हमें गौरव प्राप्त होता रहा है। पर अब जब हम अपनी ओर देखते हैं तो बड़ी चिन्ता होती है कि हमारे गौरवमय अतीत कालके पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक आदर्श भ्रष्टाचार आदिके कारण हमारी टूट रहे हैं एवं संस्कृतिकी धाक नष्ट-भ्रष्ट हो अब वह अपने प्राचीन चरित्र-गौरवको प्राप्त करनेके लिये सिसक रही है। आज उस खोयी हुई निधिके लिये हमे बहुतसे अपने स्वार्थोंको छोड़ना पड़ेगा, तभी चरित्र-निर्माण हो सकेगा।

चरित्रके महत्त्वको समझनेके लिये चरित्र-निर्माणकी परिभाषा क्या है, यह जानना आवश्यक है। मनोवैज्ञानिकोंकी दृष्टिसे—'Character is a bundle of habits'—इस परिभाषाके अनुसार आदतोंके समूह अर्थात् तात्पर्यके पुञ्जको चरित्र कहते हैं; मानवकी आदतें ही उसका चरित्र है। ऐसे चरित्रका चिन्तन और निर्माण व्यक्ति और समाज—दोनोंके लिए आवश्यक है। परंतु आजका विश्व 'चरित्र-निर्माण'के महत्त्वके विपरीत असदाचरणमे व्यस्त है। इससे स्पष्ट है कि 'मानव अपनेको पतनकी गहरी, भयंकर खाईमें धकेलनेके लिये बड़ी तेजीसे आगे बढ़ रहा है।'

मनोविज्ञानके अनुसार चरित्र-निर्माणमे वंशपरम्परा, मूलप्रवृत्ति, अवधान, अनुकरण, व्यक्तित्व, स्वास्थ्य, पारिवारिक-सामाजिक-सदाचारपूर्ण अवस्थाएँ, आर्थिक दशा, पड़ोसियोंकी रहन-सहन, शिष्टाचार, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक अनुशासन और उनके उचित, अनुचित सङ्ग-कुसङ्गकी छाप अबोध शिशुओंपर विशेष पड़ती है। बालक अपने परिवार-पड़ोसमें जो कुछ देखता है उसे देखकर और विद्यालयके वातावरणसे शिक्षा प्राप्त करता है। इतिहास साक्षी है कि शकुन्तलाके उपदेशके ही कारण भरत भारतके चक्रवर्ती राजा हुए और जीजाबाईके उपदेशके कारण शिवाजीने इतने महान् कार्य किये, जिनसे मुगलोंको परास्त करने एवं महाराष्ट्रमे 'हिंदू-राज्यकी स्थापना करनेमें सफल हुए। श्रीसमर्थ गुरु रामदासने विशेष योगदान देकर उन्हे उन उपदेशोंको सार्थक कराया। इस ऐतिह्य उत्कर्षमें मूल कारण चारित्र्य था।

यह अकाट्य सत्य है कि बालकके भावी विकासपर जितना उसकी माँकी रहन-सहन, बोल-चाल, चरित्र आदिका प्रभाव पड़ता है, उतना अन्योंका नहीं। इटलीकी महिला लेडी मौन्टसरीने मौन्टसरी-शिक्षाकी स्थापना की। इन स्कूलोंमें महिला अध्यापिकाएँ बालकोंको शिक्षा प्रदान करती हैं। हर कमरेमें पाँच या छः बालकोंकी देख-रेखके लिये एक महिला-अध्यापिका रहती है। उससे बालकका चतुर्मुखी विकास होकर व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त होता है। वहाँ शिष्टाचार, अनुशासन, बड़ोंकी आज्ञाकापालन, सहनशीलता, नम्रता, देशभक्ति, समाज और परिवार, धर्म एवं राज्यके प्रति कर्तव्यपालन करना आदि सिखाया जाता है और उन्हे सहिष्णु भी बनाया जाता है।

चरित्र सत्सङ्ग एवं महापुरुषोंके आदर्शात्मक चरित्र-निर्माणके निदर्शनोंसे बनता है एवं कुसङ्गसे बिगड़ जाता है। इस सम्बन्धमे भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

'श्रेष्ठ मानव जैसा आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उसीका अनुकरण करते हैं', यह मनोविज्ञानका नियम है। ऐसे मानवोंद्वारा जो कुछ समाज ग्रहण करता है वह प्रमाणस्वरूप हो जाता है।' इस कारण कुसङ्गसे बचना आवश्यक है। 'श्रीरामचरितमानस'में कहा गया है—

बरु भल बास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ विधाता॥

आज हमारा 'चरित्र' इसलिये भी मलिन हो रहा है कि प्रत्येक भारतीय मनुष्य चाहे किसी अवस्थाके क्यों न हों, अपने देशकी वेष-भूषा-संस्कृति आदिका परित्याग कर विदेशी फैशनपरस्त होते जा रहे हैं। इससे हमारे पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक क्षेत्रोंका चरित्र इतना भ्रष्ट होता जा रहा है कि हमारे सम्पूर्ण देशका राष्ट्रिय चरित्र ही भ्रष्ट होने लग गया है।

जिस देशकी महिलाओंका चरित्र असत् हो जाता है, उस देशके नागरिकोंके पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक चरित्र भ्रष्ट हो जाते हैं। वहाँ चरित्रनाशकी समस्या खड़ी हो जाती है तथा प्राचीन आदर्श गौरव नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। अतः चरित्र-निर्माणके लिये ऐसी 'आचार-चरित्रसंहिता' बनानी होगी जिससे भारत पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक प्राचीन आदर्शोंका गौरव पुनः प्राप्तकर सके।

आज अधिकार अपने असत् आचरणोंद्वारा समाजको घृणित मार्गका अनुकरण करानेमें कारण बनता जा रहा है—भले ही यह आनुषंगिक हो। हमारी संस्कृति उच्च आदर्श, विचार, सदाचार, नम्रता, सहन-शीलता, शिष्टाचार, अनुशासन, एवं कर्तव्य-पालनकी निष्ठाका चारित्रिक प्रकाशस्तम्भ है। इस प्रकाश-स्तम्भके प्रकाशमें आनेपर मानव देवतुल्य हो जाता है।

आध्यात्मिक भगवत्-चिन्तन एवं उपासना सच्चरित्र निर्माणके आदर्श कर्तव्य हैं। परम भक्त-शिरोमणि प्रह्लाद, ध्रुव, महर्षि दधीचि अपने चरित्र-बलसे सर्वत्र सफल हुए। पर देवराज इन्द्रको अपनी कुचालोंके कारण प्रशंसा नहीं मिली। चरित्रबलकी क्षमता भी प्राप्त नहीं हो सकती है। किंतु बिना भक्ति हमारे अनुपम अनुकरणीय आदर्शोंसे भरा गौरव आज नष्ट हो रहा है एवं हमारी इस प्रकारकी सभी पारिवारिक, सामाजिक धार्मिक, राजनीतिक गौरवगाथाएँ नष्ट होती जा रही हैं। हम क्या थे! क्या हो गये!! एवं अब किस महापतनकी ओर अग्रसर हो रहे हैं!!!!

प्रायः देखा गया है कि संयुक्त परिवारमें बड़े भाईके न रहनेपर उसकी संतानसे उसके चाचा-चाचीका व्यवहार असमुचित होता है। इस प्रकारके व्यवहारसे हमारे देशमें जो समाजको शिक्षा मिलती है, उसके परिणामसे परिवारके व्यवहार इतने छल, कपट, विश्वासघातोंसे परिपूर्ण एवं भयङ्कर होते जा रहे हैं कि उस परिवारके होनहार बालकका जीवन नष्ट हो जाता है।

अतः परिवारके मुखियाको सर्वस्वत्यागी मुखके समान होना चाहिये जो खानेको स्वयं खाता दीखता है, पर रस-संचारादिद्वारा हाथ, पाँव, नाक, कान, सिर आदि सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंका पोषण करता है। गोस्वामीजीने भी कहा है—

मुखिया मुख सो चाहिये खान पान को एक।
पालै पोसै सकल अग तुलसी सहित बिबेक॥

हमें अपने प्राचीन पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं संस्कृतिके गौरवमय महत्त्वका जो अभिमान रहा, वह सब आजके चरित्र-सम्बन्धी भ्रष्टाचारोंके कारण नष्ट हो गया है। हम महापतनकी चरम सीमाकी ओर जा चुके हैं। यदि हम अपनी प्राचीन संस्कृतिके गौरवमय महत्त्वशील अभिमानको फिरसे प्राप्त करना चाहें तो हमें अपने चरित्र-निर्माणकी व्यवस्थाओंको सुधारना चाहिये, अन्यथा हमारा प्राचीन गौरव नष्ट हो जायेगा।

चरित्रके महान् उपदेशक—महर्षि व्यास
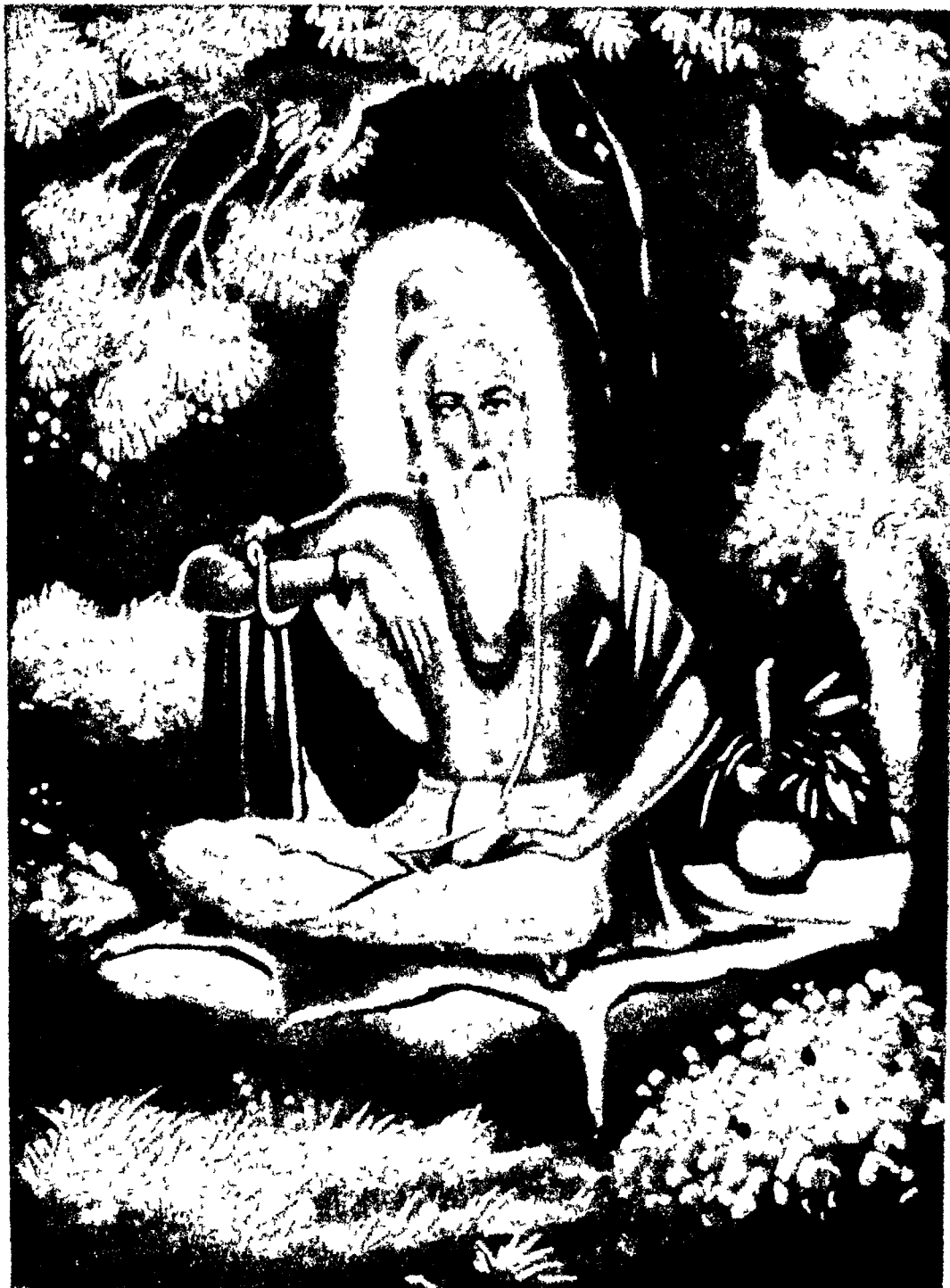
बहुपूजित सम्मानित शक्ति ऐसे कहीं न और हैं,
वसुधाके बुधजनोंके श्री व्यासदेव सिरमौर हैं।

(हरिऔध)

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद्

(लेखक—आचार्य श्रीतारिणीशजी झा)

इस शीर्षकका पूरा श्लोक इस प्रकार है—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥

(महा० ५ । ३६ । ३०)

'चरित्रकी यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिये, धन तो आता-जाता रहता है। धनके नष्ट होनेपर भी सदाचारी मनुष्यका नाश नहीं होता, किंतु चरित्रके नष्ट होनेसे मनुष्यका पूरा विनाश ही समझना चाहिये।' उक्त श्लोकका ही भाव लेकर अंग्रेजीमे रचा गया एक वाक्य बहुत ही तथ्यपूर्ण एवं सबके लिये परमोपादेय है जिसका आशय है—'जब धन नष्ट हो गया तो समझिये कि कुछ नष्ट नहीं हुआ, जब स्वास्थ्य नष्ट हुआ तो समझिये कि कुछ नष्ट हो गया है और जब चरित्र नष्ट हो गया तो समझिये कि सब कुछ नष्ट हो गया।' आज अपने देशमें क्या, संसारमे ही चरित्रका महान् पतन हो गया है। इसीसे छल-छद्म, चोरी-बेईमानी, घूसखोरी, अनाचार, व्यभिचार, हत्या, दुःख-दारिद्रय आदि सभी संकटोसे मानव-समाज त्रस्त है। अपने ही देशको लीजिये, जबतक यहाँ चरित्रका प्राबल्य था, तबतक दही, दूध, घी आदिकी अतिशय अधिकताके कारण इन्हें कोई पूछता न था। आज ये ही वस्तुएँ मानव-समाजके लिये दुर्लभ होती जा रही हैं। अपने यहाँ चारित्रिक शिक्षाका डिण्डिमघोष इन शब्दोंमे किया गया है—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥

(हितोपदेश १ । १४)

'दूसरेकी स्त्रीको माताके समान देखो, दूसरेके धनको मिट्टीके ढेलेके समान समझो और समस्त प्राणियोंको अपने आत्माके समान मानो। जो ऐसा देखता है, वह (वास्तविक) पण्डित है।'

आज यदि एकमात्र उक्त श्लोककी शिक्षाको मानव-समाज अपना ले तो धरतीपर स्वर्ग उतर आये। पहले अपने देशमें अधिकतर लोग उक्त शिक्षाका अनुसरण करते थे। इसके अनेक प्रमाण शास्त्र-पुराणोंमे मिलते हैं। शंखलिखित नामकी तीन स्मृतियाँ मिलती हैं। इनके प्रणेताके विषयमे कहा जाता है कि शंख और लिखित दोनों सहोदर भाई अलग-अलग रहने लगे थे। एक बार लिखित अपने बडे भाई शंखसे मिलनेके लिये उनके आश्रमपर गये। उस समय शंख वहाँ उपस्थित नहीं थे। उनके आश्रममे एक आमका पेड था, जिससे एक पका आम नीचे गिरा हुआ था। उस फलको लिखितने उठाकर अपने पास रख लिया। कुछ देर बाद शंख भी आ गये। उन्होंने लिखितसे पूछा—'यह आम तुम्हें कहाँ मिला?' लिखितने बताया—'यह तो आपके ही वृक्षसे गिरा हुआ था, मैने उठा लिया।' इसपर शंख बोले—'तब तो तुमने चोरी की। किसी वस्तुको उसके स्वामीकी अनुमतिके बिना उठा लेना चोरी है। इसका प्रायश्चित्त करो।' उन दिनों चोरीका दण्ड था, हाथ काट लेना। किंतु दण्ड उस देशका शासक ही दे सकता था। अतएव लिखितको राजा सुद्युम्नके पास जाना पडा। वहाँसे हाथ कटवाकर वे भाईके पास लौट आये। भाईने उनसे धवला नदीमे स्नान कराकर शेष प्रायश्चित्त-हेतु पितरोंका तर्पण करनेके लिये कहा। उन्होंने कहा—'अब मै किस हाथसे तर्पण करूँ?' भाईके तपोबल तथा धवलाकी कृपासे उन्हे नवीन हाथ प्राप्त हुए और उन्होंने तर्पण किया। इस घटनासे नदीका नाम 'बाहुदा' हुआ।* यह रासीकी सहायक धवला नामसे अब भी प्रसिद्ध है (महाभा० १२ । २३)।

* बाहुदा रासीके ऊपरी भागमे एक सहायक नदी है। यह गोरखपुर शहरके पश्चिम-दक्षिणकी ओरसे बहती हुई सरयू नदीमे बरहजके पास मिल गयी है।

इसी तरह अर्जुन जब इन्द्रसे मिलनेके लिये स्वर्ग गये थे, तब वहाँ स्वर्गकी परम सुन्दरी वेश्या उर्वशी उनपर कामासक्त होकर एकान्तमें उनके पास गयी और उसने अपनी कामेच्छा प्रकट की। किंतु साधुचरित्र एवं दृढ़संयमी अर्जुनने उसे 'माँ' कहकर लौटा दिया। इसपर उर्वशीने उन्हे शाप दे दिया, जिसे उन्होने स्वीकार किया, पर अपने चरित्रको नहीं डिगाया। चरित्र-निर्माणका यह एक आदर्श उदाहरण है।

वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास आदि ग्रन्थोमे उक्त प्रकारके चारित्रिक निदर्शन भरे पडे हैं। किंतु उन्हीं महापुरुषोके वंशज हम भारतीय आयेदिन चारित्रिक पतनके गड्ढेमें गिरते जा रहे हैं। यह बहुत ही दुःखद एवं चिन्तनीय बात हैं। अब भी समय है, यदि हम निम्नलिखित शास्त्राज्ञाके पालनमे दत्तचित्त हो जायँ तो हमारा कल्याण सुनिश्चित है—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरिव॥
(शार्ङ्गधरपद्धति १४। १)

'मनुष्यको प्रतिदिन अपने चरित्रको टटोलना चाहिये कि क्या हमने आज पशुओंके समान आचरण किया या सत्पुरुषोके समान? हमे क्या-क्या करना चाहिये?'

मनुष्य और पशुमें आहार, निद्रा, भय, मैथुनमें सब समान है, मनुष्यमें केवल ज्ञान, विवेक एवं चरित्रकी भिन्नता है। **'सर्वान् अविशेषण पश्यति इति पशुः'** अर्थात् जो माँ, बहन, स्त्री आदि सबको एक ही दृष्टिसे देखे, वह पशु है। मनुष्य पशुसे भिन्न है; क्योंकि मनुष्यमें विवेक रहता है। वह विवेककी दृष्टिसे माँ, बहन, स्त्री आदिको यथायोग्य देखता है। वह विवेक जिस मनुष्यमे जितनी अधिक मात्रामें रहेगा, वह उतना ही उच्च मानव कहलायेगा। इसलिये मानवको प्रतिदिन अपने कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यका विवेचन करना चाहिये। उत्तम आचरण कर्त्तव्य हैं और दूषित आचरण अकर्त्तव्य है। कर्त्तव्य कर्मपर दृढ रहना सच्चरित्रता है और गर्हित आचरण करना दुश्चरित्रता है। इसलिये जो अपना कल्याण चाहता है, उसे सच्चरित्रताको अपनाना चाहिये और दुश्चरित्रताको त्यागना चाहिये। सच्चरित्र बनानेकी यही प्रक्रिया है।

चरित्र-निर्माणकी समस्या

(लेखक—प्रो० रामजी उपाध्याय एम्०ए०, डी०लिट्०)

सम्प्रति यद्यपि सारे संसारमें चारित्रिक मान्यताएँ शिथिल होती जा रही है, तथापि भारतमे चारित्रिक ह्रास विशेष खलता है। कारण, भारत वह देश है, जिसके चारित्रिक उत्तरदायित्वका उल्लेख मनुने इन शब्दोमे किया है—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनुस्मृति २। २०)

'भारतसे अखिल विश्वको चारित्रिक शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये।' इसीसे कल्पना कर सकते हैं कि भारतीय चरित्र कितना ऊँचा था। स्वाभाविक है कि भारतका चारित्रिक पतन सारे विश्वके विचारकोको चिन्तानिमग्न कर देता है। जिस भारतसे विश्वको अपने चारित्रिक अभ्युत्थानकी आशा थी, वह स्वयं अपने निजी चारित्रिक प्रकाशको खोता जा रहा है। हमें विचार करना है कि ऐसा हो क्यों रहा है? क्या चारित्रिक भ्रंशके प्रवाहको रोका जा सकता है? इन प्रश्नोका उत्तर भारतीय संस्कृतिकी परम्परागत प्रवृत्तियोकी कतिपय विशेषताओको समक्ष रखते हुए प्रस्तुत करना समीचीन होगा। भारत सनातनधर्मका प्रतिष्ठापक देश है। सनातनधर्मसे तात्पर्य है—भारतीय जीवनकी अमिट

मान्यताओंसे, जो अपरिहार्य हैं और जिन्हें बदलने या जनजीवनसे पृथक् करनेका प्रश्न नहीं उठता। ऐसी सनातन मान्यताओंका प्रथम उत्स वैदिक साहित्य है। वेदोंमें जो कुछ कहा गया है, वह सत्य है। उसके विरुद्ध यदि कुछ सत्य प्रतीत होता है तो वह सत्य नहीं है, मिथ्याभास है। वेदोंमें प्रतिष्ठित सत्यको सूत्र और स्मृति साहित्यमें तत्कालीन संस्कृत भाषामें स्पष्ट किया गया है। प्राचीन कालसे लेकर प्रायः पचास वर्ष पूर्वतक सामान्यतया सभी विद्यार्थियोंके लिये यह आवश्यक था कि वे वेद, शास्त्र और स्मृतिको केवल कण्ठाग्र ही न करें, अपितु उनमें प्रतिपादित चरित्रको आत्मसात् करें। राजासे लेकर रङ्कतकके सामने यही आर्ष जीवन-पद्धति थी कि ऋषियोंने पूर्वोक्त ग्रन्थोंमें जो जीवन-विधि बतायी है, उसे समग्रतः अपनानेका प्रयास करना चाहिये। तदनुसार चारित्रिक स्तर बना हुआ था।

ऋषि वेदोंके द्रष्टा थे। उन्होंने देवताओंके आदर्श चरित्रको मानवताके समक्ष प्रस्तुत करनेके लिये पुराणों आदिका प्रणयन किया। ऋषियोंका व्यक्तित्व अतिशय उदात्त और उज्ज्वल था। वे तपः-परायण थे। उनके द्वारा साक्षात्कृत् वेदोंमें चरित्रनिर्माणात्मक तत्त्व भरे पड़े हैं; यथा——**न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।** (ऋ० । ४ । ३३ । ११)

'परिश्रमीको छोड़कर देवता किसी अन्यकी सहायता नहीं करते।

'सत्यं तातान सूर्यः।' (ऋग्वेद । १ । १०५ । १२) 'सूर्यने सत्यको फैलाया है।'

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवꣳ रजः।
मधु द्यौरस्तु नः पिता। (ऋ० । १ । ९० । ७)

'हमारी रात्रि और उषाएँ मधुर हों, पृथ्वीलोक मधुमान् हो, पिताके तुल्य रक्षक आकाश मधुर हो।'

माता पृथ्वी महीयम्। (ऋ० १ । १६४ । ३३)
'यह बड़ी पृथिवी हमारी माता है।'

विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवाः। (ऋ० । २ । २४ । १६) 'वह सब भलकी है, देवता जिसकी रक्षा करते हैं।' **मा नो मर्तस्य दुर्मतिः परिष्टात्।** (ऋ० ३ । १५६) 'मानवकी दुर्मति हमें न घेरे।'

निन्दितारो निन्द्यासो भवन्तु। (ऋ० ५ । २ । ६) 'निन्दक निन्द्य हो जाते हैं।'

अस्ति रत्नमनागसम्। (ऋ० । ८ । ६७ । ७) 'निष्पापको रत्न मिलकर ही रहता है।'

सत्येनोत्तभिता भूमिः। (ऋ० । १० । ८५ । १) 'सत्यसे भूमि प्रतिष्ठित है।'

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः। केवलाघो भवति केवलादी॥ (ऋ० । १० । ११७ । ६) अङ्ग (एवं) 'अनुदारका अन्न पाना व्यर्थ है, जो अकेले खाता है, वह पापमय है।'

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्॥ (ऋ० । १० । १९१ । २) 'साथ चलो, साथ बोलो। तुम्हारे मन साथ विचार करें।'

इन चरित्र-निर्माणात्मक तत्त्वोंके उत्स ऋग्वेदादिमें नित्य-स्नात भारत शाश्वत रूपसे सारे संसारको चारित्रिकप्रकाश-विच्छुरित करनेमें समर्थ था। चरित्र-निर्माण करनेवाले परवर्ती युगमें ऋषियोंकी परम्परामें महामानव हुए हैं। इनमें राम, कृष्ण बुद्ध और महावीर मुख्य हैं। उन्होंने आजीवन जनता-जनार्दनके बीच अनवरुद्ध गतिसे भ्रमण करते हुए उन्हें चारित्रिक सत्पथपर अग्रसर किया। उनकी वाणी महिमशालिनी थी। बुद्धने धम्मपदमें कहा है——

न हि वैरेन वैराणि सम्मन्तीध कुदाचन।
अवैरेन च सम्मन्ति एस धम्मो सनंथनो॥

'वैर वैरसे शान्त नहीं होता, वह प्रेमसे शान्त होता है। यह सनातनधर्म है।'

न परेसं विलोमानि न परेसं कताकतं।
अत्तनोव अवेक्खेय्य कतानि अकतानि च॥

'दूसरोंकी बुराइयोंको मत देखो, उनके किये और न कियेका विचार न करो। अपने ही किये और न किये को सोचो।'

न भजे पापके मित्ते न भजे पुरिसाधमे।
भजेथ मित्ते कल्याणे भजेथ पुरिसुत्तमे॥

'पापीको मित्र न बनाओ और न नीच पुरुषोंको। कल्याणप्रद मित्रों और उत्तम पुरुषोंका सङ्ग करो।'

सब्बे तसन्ति दण्डस्स सब्बेसं जीवितं पियं।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥

'सभी दण्डसे डरते हैं। सबको जीवन प्रिय है। अपने समान समझकर न किसीको मारे न मरवाये।'

सुकरानि असाधूनि अत्तनो अहितानि च।
यं वे हितं च साधुं च तं वे परम दुक्करं॥

'बुरे काम सरलतासे किये जा सकते हैं, जो अपनेको वस्तुतः हानि पहुँचाते हैं। जो वास्तवमें हितकर और अच्छा है, वह परम दुष्कर है।' इन्हीं गौतमके पथ-प्रदर्शनसे प्रभावित सम्राट् अशोकने सारी प्रजाको सच्चरित्र बनानेके उद्देश्यसे शिला-लेख लिखवाये, जिनका सारांश है—'छोटे लोग भी उच्च कर्मसे विपुल स्वर्ग प्राप्त कर सकते है। माता-पिता तथा वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करनी चाहिये। प्राणियोंके प्रति गौरव-प्रदर्शन करना चाहिये। सत्य बोलना चाहिये। विद्यार्थी आचार्यकी सेवा करे। अपनी जातिके लोगोंसे सद्-व्यवहार करना चाहिये। स्वल्प व्यय करना तथा स्वल्प संग्रह करना समीचीन है। सभी धार्मिक सम्प्रदायोंके अनुयायी परस्पर सहानुभूतिका संवर्धन करें।' इस प्रकार जैन और बौद्ध सम्प्रदायमें तीर्थंकरों, गणधरों और अर्हतोंने चरित्र-निर्माणकी दिशामें अनवरत प्रयास किया और अपने व्यक्तिगत जीवनसे समाजके समक्ष आदर्श जीवन-पद्धति प्रस्तुत की। प्राचीन कालसे लेकर प्रायः बीसवीं शतीके मध्ययुगतक शास्त्रों-द्वारा वैदिक साहित्यके आदर्शोंको पल्लवित किया गया और उसके द्वारा '**रामादिवत् वर्तितव्यं न क्वचिद् रावणादिवत्**' इस उद्देश्यको पूरा किया गया। जैसा मम्मटने लिखा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥

वाल्मीकि, व्यास, अश्वघोष, भास, कालिदास, भारवि, भवभूति आदि संस्कृतके कवियोंने और कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, केशवदास, भारतेन्दु, प्रेमचन्द, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्द पन्त आदि हिन्दीके कवियोंने काव्यके सनातन उद्देश्यको दृष्टिमें रखा। इस युगमें भारतकी अन्य आधुनिक भाषाओंमें भी मानवताका समुन्नयन करनेवाले कवियोंका अभाव नहीं रहा है। ज्ञानेश्वर, विद्यापति और रवीन्द्रनाथकी रचनाएँ इस दृष्टिसे महनीय हैं। भारतीय समाजके चारित्रिक अभ्युत्थानकी दिशामें इनका अपरिमेय श्रेय रहा है। चाहे भारतके किसी भागमें हिन्दू राजा हो या मुसलमान या विदेशी, उन्होंने भारतको सुसंस्कृत भारत बनाये रखनेका सनातन संकल्प अपने हृदयमें सँजोये रखा और अपनी वाणीकी पावनतासे समाजको पावन प्रवृत्तियाँ प्रदान कीं।

साहित्यके साथ-साथ आचार्योंकी परम्परा भी चारित्रिक संरक्षणकी दिशामें विशेष उल्लेखनीय रही है। यह परम्परा बीसवीं शतीके मध्य भागतक अपनी अनुपम प्रभासे भारतको समुज्ज्वल करती रही है। इनमें भी सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक आचार्य शंकर थे, जिन्होंने दिग्दिगन्तमें अद्वैतके प्रकाशमें भारतीय चरित्रको समुज्ज्वल किया। शंकरकी परम्परा उनके विश्वविद्यालयरूपी मठोंमें भारतके विभिन्न भागोंमें आज भी चल रही है। शृङ्गेरी,

पुरी, द्वारका तथा बदरिकाश्रममें आज भी चार शंकराचार्य प्रतिष्ठित है। परवर्ती युगमे अन्य आचार्योंने भी समय-समयपर चारित्रिक आदर्शोंको समुन्नत करते हुए समाजको विपथगामी होनेसे बचाया है। इनमें रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ, रामानन्द आदि प्रमुख हैं। इन्हींकी कोटिमें महाप्रभु चैतन्यका नाम भी अनुपम प्रभासे देदीप्यमान है। इन आचार्योंके अतिरिक्त ज्ञानेश्वर, समर्थगुरु रामदास, गुरुगोविन्द सिंह, रामकृष्ण, विवेकानन्द, रामतीर्थ, दयानन्द, महामना मालवीय, महात्मा गान्धी और योगी अरविन्द आदि सत महापुरुष भी चरित्रनिर्माता हुए हैं।

यहाँ चरित्रनिर्माणकी दिशामें तीन तत्त्वोकी विशेष चर्चा हुई है—साहित्यके द्वारा, राजाओंके द्वारा और आचार्योंके द्वारा। पुरातन साहित्य एवं राजाओं और आचार्यों-की बातें आज भी पुस्तकोंमें देखी जा सकती हैं, पर उन्हें देखने-सुननेवालोंकी संख्या कम है और जो उन्हें देखते-सुनते हैं, उनपर भी कायापलट प्रभाव नहीं पड़ रहा है। यही हमारे समाजका दुर्भाग्य है, जो चारित्रिक ह्रासका प्रमुख कारण है। इसका मूल कारण है, अपनी संस्कृतिमे हमारी श्रद्धाका अभाव। हम भारतीय होनेका, भारतीय संस्कृतिके अनुयायी होनेका अथवा हिन्दू होनेका दावा करते हैं, पर उन गुणोंको अपनानेको उद्यत नहीं हैं, जिनसे हमारी भारतोचित महिमा व्यक्त होती हो। हमारा सर्वोच्च गौरव आध्यात्मिक प्रवृत्तियोमे था, जिन्हे छोड़कर हम आधिभौतिक प्रवृत्तियोंमें निमग्न हैं। अधिक स्पष्ट शब्दोमे कहा जा सकता है कि आज हम तपोमय साधनासे प्राप्तव्य आनन्दानुभूतिको तिलाञ्जलि देकर भौतिक पदार्थोंसे चिपटे हुए ऐन्द्रिय भोगविलासको चरम सत्य माने बैठे हैं। यही नहीं, प्रत्युत आजके साहित्य-स्रष्टा कवि, मठाधीश, राजतन्त्रके मन्त्री—ये तीनों भी अपने जीवनकी छवि निरन्तर मलिन करते जा रहे है। कविकी वाणीमे उपनिषदोका संदेश नहीं है, मठाधीशोमें शंकरकी तेजस्विता और कर्मठता नहीं है और मन्त्री विलास-प्रवण मदमे उन्मत्त नहीं है तो भी चाणक्यका आदर्श उनमे नहीं है। उन्हे लोक-कल्याण और लोक-सेवाका पूर्ण ध्यान नहीं है। देशकी ऐसी दयनीय स्थिति, पता नहीं, कबतक रहेगी? इसे बदलनेके लिये कब क्या होगा? ऐसे अनेक प्रश्न विचारकोके मनमे उठते हैं। वे समाजमें सर्वत्र चारित्रिक निर्माणकी प्रवृत्तियोकी उपेक्षा और चारित्रिक ह्रासका बोलबाला देखकर उत्साह खो बैठे हैं और मिल-जुलकर भी कोई सफल प्रयत्न इस राष्ट्रिय दारुण रोगको दूर करनेके लिये नहीं कर पा रहे हैं। परिणाम यह हो रहा है कि राष्ट्रको खोखलाकर देनेवाला यह रोग निरन्तर बढ़ता जा रहा है। इसके प्रतीकारके लिये कारगर उपायकी शीघ्र ही आवश्यकता है; अन्यथा चरित्र-निर्माता यदि स्वयं अपने कर्तव्यका पालन नहीं कर रहे हैं, स्वयं अन्धवत् गिरते जा रहे हैं या हाथपर हाथ धरे बैठे हैं तो क्या 'प्रकृति' उन्हें सदा-सदाके लिये इस प्रकार राष्ट्रको ह्रासोन्मुख बनानेके लिये मस्तकपर धारण किये रहेगी? कदापि नहीं। गङ्गा और हिमालयके इस पावन प्रदेशमें पाशविक प्रवृत्तियोंको बढावा देनेवाले तथाकथित कवि, आचार्य और शासक सदा ही पनपते रहें, यह असम्भव है। अतः आवश्यकता है आज चरित्र-निर्माण करनेवाले साहित्यकी, सदुपदेश और सात्त्विक जीवनादर्शकी और प्रजामे विनयाधान करनेवाले सत् शासनकी। इसके लिये प्रकृतिका नियोजन प्रयासके रूपमे सफल होकर रहेगा और लीलारूप भगवान् स्वयं ही महामानव बनकर व्यक्तिके साथ ही समष्टिको भारतीय चारित्रिक अभ्युत्थानके लिये प्रेरित करेंगे—वह दिन दूर नहीं है।

चरित्र-निर्माण—सिद्धान्त और विनियोग

(लेखक—प्रो० श्रीइन्द्रदेवजी उपाध्याय, एम्० ए० (हिन्दी, संस्कृत)

जीवनके समस्त गुणो, ऐश्वर्यों, अक्षय कीर्तिकलापों तथा सफलताकी आधारशिला चरित्र ही है। चरित्रकी सुगन्धसे ही जीवन-पुष्प अपना चतुर्दिक् सौन्दर्य बिखेर कर सार्थक होता है। सच्चरित्र पुरुष विधाताकी वाटिकाके वैसे दिव्य पुष्प हैं, जिनकी सुगन्ध कभी कम नहीं होती। चरित्रवान् महापुरुष ऐसे अमर आकाश दीप है, जो कभी बुझते नहीं और जिनके अमित आलोकमें हम अपने जीवनके जलयानको ले जा सकते हैं। 'चरित्र' शब्द **चर्-गतिभक्षणयोः—** इस गति और भक्षणार्थक धातुसे निष्पन्न होता है। पर इस गति अर्थमें आचार्य पाणिनिने एक सूत्रद्वारा करण कारकमें 'इत्र' प्रत्यय जोड़कर चरित्र शब्दकी **—चरति अनेन इति चारित्रम्—** निष्पत्तिमें ऐसी विशिष्ट गति दी। इससे मानव विशेष गतिशील होता है। पर सामान्य चलना मात्र चरित्र नहीं है। जिससे मानव जीवनपथमे थककर बैठ नहीं गया, बल्कि अविराम गतिसे जीवनके उदात्त लक्ष्य मार्गपर गतिशील है और अन्य जीवोंको स्फूर्ति, प्रेरणा एवं नव-जीवन देता रहता है एवं जिस चरित्रसे परमात्माका संदेश अमर एवं शाश्वत बनकर संगीतज्ञोकी वीणामें, महाकवियोंकी वाणीमे गूँजा करता है तथा कलाकारोकी तूलिकामें सौरभ बनकर बस जाता है, वह चरित्र है। चरित्र या आचरणके विचारसे सम्पद् दो प्रकारकी होती है—एक दैवी और दूसरी आसुरी। गीता (१६। ५) कहती है—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

दैवी सम्पद्द्वारा, जिसमें अभय, सत्त्व, संशुद्धि, ज्ञानयोग-व्यवस्थिति, दान, शम, दम आदिका समावेश है, मोक्षरूपी श्रेय प्राप्त होता है और आसुरी सम्पद्द्वारा, जिसमे दम्भ, दर्प, पाखण्ड इत्यादि सम्मिलित है, संसारका बन्धन होता है। इस आसुरी सम्पद्मे सबसे अधिक अनिष्टकारक काम, क्रोध और लोभ हैं, जिन्हे नरकका द्वार कहा गया है। वस्तुतः चरित्र धर्मका ही वह मुख्य पहलू है, जिसमे विनयशीलता, क्षमा, निर्भयता, परोपकार और सहिष्णुता आदि दैवी सम्पद् समाविष्ट है। लोकमें झूठ, कपट, चोरी, बेईमानी, विश्वासघात आदि दुर्वृत्तियोंको तिलाञ्जलि देकर स्वार्थत्यागपूर्वक निष्कामभावसे उत्तम व्यवहार करनेवाला व्यक्ति ही चरित्रवान् कहलाता है और इसी आचरणसे व्यक्ति, समाज और विश्वका कल्याण होता है। धर्मकी उत्पत्ति उत्तम आचरणसे ही होती है। महाभारतमें बतलाया गया है कि—

सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः॥
(अनुशा० १४९। १३७)

सब शास्त्रोंमे आचार प्रथम माना गया है। आचारसे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है और धर्मके स्वामी भगवान् अच्युत हैं। सच्चरित्रतासे ही मनुष्यको अतुल धनराशि, सुशील संतान एवं दीर्घायुकी प्राप्ति होती है। कहा गया है—

आचाराल्लभते ह्यायुः आचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराल्लभते ख्यातिं आचाराल्लभते धनम्॥

मनुस्मृतिका कथन है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

यदि हम सच्चरित्र हैं, धर्मशील हैं तो समस्त विभूतियाँ, ऋद्धि-सिद्धि, सुख-सम्पत्ति अपने-आप हमारे चरणोंमें लोटने लगती हैं।

जिमि सरिता सागर महुँ जाहीं। जद्यपि ताहि कामना नाहीं॥
तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाए। धरम सील पहँ जाहिं सुभाए॥
(रा० च० मा०)

यदि हमारा जीवन दुश्चरित्रताका आगार है तो हम समाजमे निन्दा और तिरस्कारके पात्र बन जाते हैं। अपने बल, बुद्धि और वैभवको अपने ही हाथों खो बैठते हैं। दुश्चरित्र मनुष्य अपने परिवार, समाज और देशके लिये अभिशाप सिद्ध होता है, जबकि सच्चरित्र वरदान। दुश्चरित्र कायर और कपटी पुरुषसे देश लज्जित होता है और सच्चरित्र वीर एवं संतोके पावन तथा प्रातःस्मरणीय चारु-चरित्रसे समाज और देश सुशोभित एवं गौरवान्वित होता है।

तीन सजावत देश को सती, संत और सूर।
तीन लजावत देश को कपटी, कायर, क्रूर॥

कविवर मैथिलीशरण गुप्तजीने सदाचारको ही स्वर्ग एवं मुक्तिका द्वार कहा है—'सुनो, स्वर्ग क्या है? सदाचार है। मनुष्यत्व ही मुक्तिका द्वार है।' कहनेवालों की कमी नहीं हैं, कमी होती है कर्मकी पगडंडियोपर दो कदम बढ़नेवालोकी। जिसने सिद्धान्तोंको जीवनमे उतारा है, सत्कर्मोसे जीवनको सँवारा है, आदर्शोंको विनियोगका आयाम देकर उन्नयनकी नयी भूमिका दी है, उसीका जीवन श्लाघ्य है, धन्य है। बचपनमे गुरु नानक प्रभुस्मरणमें इतने लीन रहते कि खान-पानकी सुधि ही नहीं रहती थी। पिताने उनकी उपेक्षापर दुःख प्रकट कर खेतीकी ओर पग उठानेको कहा। इसपर नानकने कहा—मेरी खेती अलग है—'मैने शरीररूपी खेतमें सत्कर्मोका हल चलाकर प्रभु-भजनके बीज बोये हैं। मै उसमे साधु-संगतिका जल और संतोष-की खाद दे रहा हूँ। मुझे विश्वास है इस फसलसे मै धन्य हो जाऊँगा।' सच पूछिये तो सचरित्रताकी सीपीमे ही जीवनका आबदार मोती ढलता है।

गङ्गामे एक युवती डूब रही है। तटसे अनेक व्यक्ति बचानेके लिये चिल्ला रहे हैं। वहींसे एक मौन व्यक्ति गङ्गामें कूदकर युवतीको बचाकर तटपर रख देता है और कर्त्तव्यपूर्तिका संतोष लेकर चुपचाप चल देता है। उसके इस मौन आचरणकी सभ्यतामे, निष्कामकर्मके सौन्दर्यमे जो गरिमाकी सुगन्ध है, प्रभावकी मार्मिकता है, आकर्षणका जादू है, उदात्तताकी ज्योति एवं पवित्र भावका मोती है, उसपर कोई भी अभिभूत एवं मुग्ध हो सकता है और वह इतिहासकी अनमोल धरोहर बनकर शताब्दियोतक जीवन्त रह सकता है।

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम त्याग, बलिदान और भ्रातृ-प्रेमके प्रतीक भरत, सेवा और प्रीतिके अनन्य आदर्श हनुमान्का चरित्र हमारे लिये प्रेरणाके अजस्र स्रोत हैं। शिवाजी, महाराणाप्रतापकी चारित्रिक विशेषताओंपर आज हिंदू जातिको गर्व है। लोकमान्यतिलक, महामना मालवीयजी तथा राष्ट्रपिता बापू अपने चारित्रिक सौन्दर्य-के कारण ही आज भारतीय जनताके गलेके हार बने हुए है। सीता, सावित्री, अनसूया, लक्ष्मीबाई, जीजाबाई आदि स्त्रीरत्नोके उदात्त चरित्रोसे भारतीय इतिहास जगमगा रहा है। जौहरके व्रतमें अपने धर्मकी रक्षाके लिये प्राणोकी आहुति देनेवाली चित्तौड़गढ़की पद्मिनी आदि क्षत्राणियोके कीर्तिगानसे राजस्थानका कण-कण आज मुखरित हो रहा है। इतिहास उनकी गौरव-गाथाका ऋणी है।

पद्मिनी आदि रानियाँ जौहर-व्रतमे जलकर भस्म हो गयीं, किंतु वे रूपलंपट अलाउद्दीनके स्पर्शसे अपनी भस्मको भी अपवित्र करना नहीं चाहती थीं। इसीलिये वायु देवतासे उन्होने प्रार्थना की कि हे वायुदेव! मेरी राख पृथ्वीसे आकाशमे उड़ा दो जिससे पातकी शरीर तो नहीं ही छू सका, राखको भी न छू सके और ब्रह्मासे जाकर कह दो कि यदि किसी नारीको रूप दो तो शक्ति भी दो और पति मिले तो पतिके चरणोमे अटूट भाव-भक्ति दो—

पातकी रज छू न पावे, नभ हिले मेरे निधन पर
और विधि से कह तू जाकर रूप दे तो शक्ति भी दे।
पति मिले तो पतिचरण में भाव भी दे, भक्ति भी दे॥

आज व्यक्ति, समाज, देश तथा विश्व अस्त-व्यस्त एवं सन्त्रस्त है। सर्वत्र मानवीय मूल्योंका विघटन हो रहा है। चारों तरफ अशान्ति, विद्रोह, शोषण, बलात्कार एवं अनैतिकताका बाजार गर्म है। विद्याके पावन मन्दिर भ्रष्टाचारके शिकार हो रहे हैं। आस्थाकी देव-देहलीपर अनास्थाके साँप फुफकार रहे हैं। इसका मूल कारण चरित्रका ह्रास है। जबतक धर्ममूलक चरित्रका हृदयमें निवास नहीं होगा, तबतक विश्वमें सुख, शान्ति और एकताकी स्थापना नहीं होगी। किसीने ठीक ही कहा है कि 'हृदयमें धर्मका निवास होनेसे चरित्रमें सौन्दर्यका वास होगा। चरित्रमें सौन्दर्यका वास होनेसे गृहमें सामञ्जस्यका विस्तार होगा। गृहमे सामञ्जस्यका विस्तार होनेसे राष्ट्रमें एकताका प्रसार होगा। राष्ट्रमें एकताका प्रसार होनेसे विश्वमें शान्तिका संचार होगा।' हमारी भारतीय संस्कृति सदैव चरित्रप्रधान रही है। भारतके अग्रजन्माओंसे विश्वभरके लोग चरित्रकी शिक्षा लेते रहे हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनुस्मृति २।२०)

किंतु आज दुःखके साथ कहना पड़ता है कि पश्चिमकी भोग-प्रधान भौतिकवादी संस्कृति हमारी भारतीय संस्कृतिपर इस तरह हावी हो गयी है कि हम भौतिक सुख-समृद्धिके लिये पागल-से हो गये हैं और चरित्रको खोकर निरन्तर विनाशकी ओर अग्रसर हो रहे हैं। अतः आज सच्चरित्र बननेके लिये सुशिक्षा, सुसंगति और सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय नितान्त आवश्यक है। यदि आजसे हम भारतीय, महापुरुषोंके आदर्श चरित्रको जीवनमें उतारें तो हमें विश्वास है कि चारित्रिक मंगल-प्रभातकी स्वर्णिम किरणोंसे जीवन आलोकमय हो उठेगा और जीवनका प्रधान लक्ष्य श्रेयकी प्राप्ति अवश्य हो सकेगी।

मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे चरित्रका निर्माण और विकास

(लेखक—डॉ० श्रीरामचरणजी महेन्द्र एम० ए०, पी-एच्० डी०)

आधुनिक मनोविज्ञानके अनुसंधानने मानव-चरित्र-निर्माण और विकासके क्षेत्रमें एक अभिनव क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। एक युग था, जब लोग मनोविज्ञानके सूक्ष्मक्षेत्रसे परिचित न थे। मानव-चरित्र और मनुष्यकी मूल-प्रवृत्तियोंके सिद्धान्त—रूप-परिवर्तन, संवेग (Emotion) एवं स्थायीभाव-(Sentiment)का स्वरूप, विशेषताएँ और महत्त्व, सामान्य प्रवृत्तियोंका अर्थ और प्रकार अभिवृद्धि तथा विकासकी प्रक्रिया, मस्तिष्कके विकासकी मुख्य अवस्थाएँ और नाना पहलू—शैशवावस्था, बाल्यावस्था और किशोरावस्थामें होनेवाले निर्माण और विकाससे परिचित नहीं थे। पर आजके वैज्ञानिक युगमें मनोविज्ञानकी शिक्षण-पद्धतिने बालकोंके चारित्रिक विकासके क्षेत्रमें नये क्षितिज स्पर्श किये हैं। मनोवैज्ञानिकोंने बताया है कि मानव-चरित्रका पहला आधार वंशानुक्रम एवं वातावरण है।

वुडवर्थ नामक मनोविज्ञानवेत्ताका मत है कि मनुष्य अपने वंशानुक्रम और वातावरणकी उपज है। यह वंशानुक्रम क्या है—इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है कि बालकको अपने माता-पिता और पूर्वजोंसे अनेक शारीरिक और मानसिक गुण जन्मसे ही प्राप्त होते हैं, जिन्हें हम 'संस्कार' कह सकते हैं। वंशानुक्रममें वे सभी संस्कार आ जाते हैं, जो जीवनके आरम्भ करते समय ही नहीं, वरन् गर्भाधानके समय—जन्मसे लगभग नौ माह पूर्व—व्यक्तिमें उपस्थित थे। डगलस

और हालैण्ड आदि विचारकोंने इस मतमे और परिष्कार किया और बताया कि वंशानुक्रममे वे सभी शारीरिक विशेषताएँ या क्षमताएँ सम्मिलित हैं, जिनको मनुष्य न केवल अपने पूर्वजोसे प्राप्त करता है, बल्कि अपनी जाति-प्रजाति-(Species) से भी प्राप्त करता है। हम जिस प्रजाति, नस्ल या प्रान्तके हैं, उसका भी प्रभाव हमारे चरित्रपर रहता है। उपर्युक्त सभी तत्त्वोंका सामूहिक फल हमारा चरित्र होता है।

आधुनिक वैज्ञानिकोने वंशानुक्रमके सम्बन्धमें नयी-नयी खोजे की हैं। वे बतलाते है कि मानव-शरीर सूक्ष्म कोशों-(cells) का योग है। पितृकोश और मातृकोश नामक दो उत्पादक कोशोंसे एक संयुक्त कोश बनता है। पुरुष और स्त्रीके प्रत्येक कोशमे २३-२३ गुणसूत्र होते हैं। इस प्रकार संयुक्त कोशमे ४६ गुणसूत्र होते हैं। हमारे गुण, अवगुण, परम्पराएँ तथा विशेषताएँ इन गुणसूत्रोमें निहित हैं। 'हिन्दुस्तान टाइम्स'के अक्टूबर १९७४ के अङ्कमे नोबुल पुरस्कारविजेता डॉ० हरगोविन्द खुरानाके अनुसंधानके आधारपर की हुई निम्न घोषणाको देखिये कि भविष्यमे वंशानुक्रमकी क्रियामें क्या-क्या परिवर्तन किया जा सकता है—'निकट भविष्यमे एक प्रकारके पित्र्यैकको दूसरे प्रकारके पित्र्यैकसे स्थानापन्न करना ओषधि-शास्त्रके क्षेत्रमें अत्यन्त सामान्य कार्य हो जायगा। इस प्रयोगके द्वारा भावी संतानकी मधुमेहके समान दुःसाध्य रोगोसे रक्षा की जा सकेगी।' वेल्समैनके अनुसार जो बीजकोश बालकको अपने माता-पितासे मिलता है, उसे वह अगली पीढीको हस्तान्तरित कर देता है। इस सिद्धान्तके अनुसार माता-पिता बालकके जन्मदाता न होकर केवल बीज-कोशके संरक्षक माने जा सकते हैं। यह सिद्धान्त वंशानुक्रमकी सम्पूर्ण प्रक्रियाकी व्याख्या नहीं करता। वंशानुक्रमकी समानताके नियमके अनुसार जैसे माता-पिता होते हैं, वैसी ही उनकी संतान होती है। कुछ बालक माता-पिताके बिल्कुल समान न होकर कुछ विभिन्नता लिये हुए होते हैं। इस विभिन्नताके कारण माता-पिता तथा उनके पूर्वजोके उत्पादक कोशोंकी विशिष्टताएँ हैं। प्रत्यागमन (Law of agression) सिद्धान्तके अनुसार बालकमें कभी-कभी अपने माता-पितासे विपरीत गुण भी पाये जाते हैं। प्रकृति विशिष्ट गुणोके बजाय सामान्य गुणोंका अधिक वितरण करती है और इस प्रकार एक जातिके प्राणियोंको एक ही स्तरपर रखनेका प्रयास करती है। यही कारण है कि प्रायः बड़े व्यक्तियोके बच्चे साधारण या निम्न कोटिके रह जाते हैं।'

व्यक्तियोंद्वारा अर्जित गुण (Special talents) साधारणतः उनकी सब संतानोमें नहीं पाये जाते। वुडवर्थने लिखा है कि 'वंशानुक्रमकी प्रक्रियाके अपने आधुनिक ज्ञानसे सम्पन्न होनेपर यह बात प्रायः असम्भव जान पड़ती है कि महान् पुरुषोंके अर्जित गुणोको संक्रमित किया जा सके।' मैडलके सिद्धान्तके अनुसार वर्णसंकर प्राणी या वस्तुएँ अपने मौलिक या सामान्य रूपकी ओर अग्रसर होती हैं।[1] पाश्चात्त्य मनोवैज्ञानिकोने वंशानुक्रमके महत्त्वको स्पष्ट करते हुए कुछ सूत्र बताया है कि १—बालककी मूलशक्तियोका प्रधान कारण वंशानुक्रम है (Thorndike), २—माता-पिताकी शारीरिक बनावट, लम्बाई या मोटाई माता-पिताके अनुसार होती है (Karl pearson), ३—बुद्धिकी श्रेष्ठताका कारण प्रजाति है (Klindey), ४—व्यावसायिक योग्यताका मुख्य कारण वंशानुक्रम है (Catteel), ५—गुणवान् और प्रतिष्ठित माता-पिताकी सन्तान प्रतिष्ठा

1-When the hybrides tocomeform their own sperms (male) or egg-cells (female), they produce pure parental types with dominant characters (Mendelism).

प्राप्त करती है—(Winship) ६—चरित्रहीन माता-पिताकी सन्तान अपराधी होती है—(Dugdale) ७—महानताका कारण उसका वंशानुक्रम होता है—(Galton) ८—मन्दबुद्धि माता-पिताकी सन्तान मन्दबुद्धि और कुशाग्र-बुद्धिवाले माता-पिताकी सन्तान तीव्रबुद्धिवाली होती है (Goddar) इन निष्कर्षोंसे स्पष्ट हो जाता है कि बालकपर वंशानुक्रमका बहुत प्रभाव रहता है।

लेकिन वंशानुक्रमसे भी अधिक प्रभाव वातावरण-(Environment) का है। व्यक्तिके चारों ओर जो कुछ है, वह उसके चरित्रको प्रभावित करता है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डगलस व हॉलैण्डके मतानुसार 'वातावरण' शब्दका प्रयोग उन सब बाह्य शक्तियों, प्रभावों और दशाओंका सामूहिक रूपसे वर्णन करनेके लिये किया जाता है, जो जीवित प्राणियोंके जीवन, स्वभाव, व्यवहार, बुद्धि-विकास और परिपक्वता पर प्रभाव डालते हैं। भौगोलिक कारणोंसे शारीरिक बनावट प्रभावित होती है। उत्तम, सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण न मिलनेपर मानसिक विकासकी गति धीमी हो जाती है (Gordon)। कुछ ऐसी प्रजातियाँ हैं जो अपने स्वस्थ वतावरणके कारग बौद्धिक श्रेष्ठता प्राप्त कर रही हैं। क्लार्क नामक मनोवैज्ञानिकका मत है कि उत्तम शैक्षिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक वातावरण मिलनेसे बुद्धि तीव्र बनती है। अमेरिकाकी श्वेत प्रजातिको ऐसा ही उपयोगी वातावरण मिला है। प्राय. देखा जाता है कि सुविधा-सम्पन्न और धनि-वर्ग अपने साधनोंके बलपर उत्तम वातावरण उपस्थित कर साधारण कोटिके बालकोंकी भी बुद्धि विकसित कर लेते हैं। उत्तम वातावरणसे उत्तम चरित्रके विकासमे बहुत सहयता मिलती है। निष्कर्षके रूपमें हम स्टीफेनका (Stephen's) मत उद्धृत कर सकते है। वे कहते हैं—'एक बच्चा जितना अधिक समय उत्तम वातावरणमें रहता है, उतना ही अधिक चरित्रका विकास करनेमे समर्थ होता है। यदि बच्चा चतुर माता-पिताके साथ अधिक रहता है, तो वह सम्पर्कसे उतना ही चतुर बनता जाता है। जितने समय वह हानिकारक वातावरणमें रहता है (जैसे गन्दे मित्र, गन्दी बस्ती, अश्लील साहित्य, कामुकताकी वृद्धि करनेवाले चित्र, पुस्तके, फिल्म, पोस्टर, दूषित गोष्ठी इत्यादिमें) वह प्रायः उतना ही गिरता जाता है। वंशानुक्रम तथा वातावरणके अतिरिक्त मनुष्यका चरित्र जैविक विरासत और सामाजिक संस्थाओं-(जैसे—परिवार, मुहल्ला, नगर, प्रदेश)के एकीकरणकी उपज है।

चरित्रके सही विकासके लिये उत्तम वातावरणका निर्माण हमारे हाथमें है। प्रत्येक माता-पिता, अध्यापक, और जिम्मेदार नागरिक स्वस्थ वातावरण-निर्माणकी दिशामे बहुत कुछ योगदान दे सकता है। परिवार, पड़ोस, मित्र, सलाहकार, खेलका मैदान, पुस्तकालय, स्कूल, कालेज, उत्कृष्ट वातावरणसे बुद्धि-विकास और ज्ञानवृद्धि कर सकते हैं। यूनेस्कोके विशेषज्ञोंका यह मत विचारणीय है कि 'वातावरणका बालकोंकी भावनाओंपर व्यापक प्रभाव पड़ता है और उससे चरित्रका निर्माण होता है।' हमें ऐसे स्वस्थ, सन्तुलित और उत्कृष्ट वातावरणका निर्माण करना चाहिये, जिससे उसकी सही भावनाओंका भी विकास होता रहे। हम ऐसे उत्तम वातावरण बनानेकी कोशिश करें, जिसमें बालकोंके उत्तम विचारोंकी अभिव्यक्ति, शिष्ट सामाजिक व्यवहार, कर्तव्यो और अधिकारोंका ज्ञान और प्रवृत्तियोंका सही दिशाओमे विकास हो।

१—आत्म-नियंत्रण, २—विश्वसनीयता, ३—कार्यमे दृढ़ता, ४—कर्मनिष्ठा, ५—अन्तःकरणकी शुद्धता और ६—उत्तरदायित्वकी भावना—उत्तम चारित्रके गुण हैं। हमें चाहिये कि अपनी मूल प्रवृत्तियोंको स्वस्थ दिशाओंमें

विकसित करे। सवेगोंको गुणोमे परिवर्तित करे, अच्छी आदते विकसित करे। आत्म-सम्मानका भाव बढाएँ। Ross (रोस) नामक विद्वान्के अनुसार 'जब आत्म-सम्मान नष्ट हो जाता है, तब चरित्र छिन्न-भिन्न हो जाता है।' आत्म-सम्मानका पुनर्निर्माण ही चरित्रका सवारना है। हमे अच्छे कार्योंको करनेमे आनन्दकी अनुभूति हो, इच्छाशक्ति दृढ बनती चले। डम्बीली नामक विद्वान्के अनुसार इच्छाशक्ति हमारे चरित्रका सबसे महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। हम स्वयं प्रसन्नचित रहे और आशावादी दृष्टिकोणसे कार्यमे प्रवृत्त हो। हम जिन लोगोंके सम्पर्कमे आवे, वे ऊँचे चरित्रवाले हो; क्योंकि दूसरोंके सम्पर्कमे आनेसे चरित्रका विकास होता है।

चरित्र-विकासमे धार्मिक शिक्षाका स्थान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। आजके भौतिक युगमे हमारा राष्ट्रिय चरित्र धर्मोपेक्षासे कमजोर होता जा रहा है। हमारे देशमे धार्मिक शिक्षाका अभाव है। बच्चोमे दिव्य संस्कार जागृत करनेके लिये नैतिक आदर्श बार-बार उनके सामने प्रस्तुत करनेकी आवश्यकता है। उत्तम चरित्रवाले देशप्रेमी, वैज्ञानिक, विचारक, लेखक, कलाकार, विद्वान्, समाजसुधारक, रचनात्मक कार्यकर्ता, उद्योगपति, कृषक, शोधकर्ता आदि सभी क्षेत्रोमे आदर्श चरित्रोंको आकर्षक ढंगसे पेश करे तो नयी पीढ़ीका ध्यान स्वस्थ दिशाओंकी ओर आकृष्ट किया जा सकता है और उस आदर्श पर चलकर बालक चरित्रशील बन सकते हैं।

महापुरुषोंके पत्रोंसे चरित्र-निर्माण

(लेखक—डॉ० श्रीकमल पुजाणी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

महापुरुषोंके पत्र बड़े ही मनोरञ्जक एवं उत्प्रेरक होते हैं। विश्वमे अनेक महान् लेखक हुए हैं, जिनके पत्र उनके साहित्यसे कम रोचक या महत्त्वपूर्ण नहीं है। जिस प्रकार महापुरुषोके जीवन-चरितके अध्ययनसे हमे समुन्नत जीवनकी प्रेरणा मिलती है,[1] उसी प्रकार उनके पत्रोंको पढ़नेसे भी हमे महती प्रेरणा प्राप्त होती है। जब हम महान् व्यक्तिके तिथिक्रमसे संकलित पत्रोको पढ़ने बैठते है तो हमे ऐसा लगता है कि हम उनका जीवन-चरित ही पढ रहे है। अमेरिकाके प्रेसीडेण्ट स्वर्गीय रुजवेल्टके पत्र 'Roozvelt's Letters' एक प्रकारसे उनकी जीवनी ही हैं।[2] महापुरुषोंके जीवन-चरितके लेखनमे उनके पत्रोका बहुत बड़ा महत्त्व है। महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराजकी जीवनीके लेखक डॉ० भगवतीप्रसाद सिंहने अपने ग्रंथमे कविराज-द्वारा लिखित और प्राप्त पत्रोंके लिये 'पत्रालोक' शीर्षक एक स्वतन्त्र अध्याय रखा है। इस अध्यायके आरम्भमे उन्होने कहा है—

जीवनकी अन्तर्धाराओके संधानमे पत्रोका महत्त्व निर्विवाद है। इनसे व्यक्तिके मानसकी उन सूक्ष्मतम प्रवृत्तियोंके अनुचिह्नोका पता लगता है जो जीवन-निर्माणके अन्य उपकरणोंसे सामान्यतया लक्षित नहीं किये जा सकते।[3] युगविधायक महापुरुषो एवं साहित्यकारोकी पत्र-मैत्री हमारे सम्मुख विश्व-मैत्रीका आदर्श उपस्थित करती हैं। मार्क्स और एन्जिलसका पत्र-व्यवहार विश्व-इतिहासमें सुप्रसिद्ध है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर-द्वारा दीनबन्धु एण्ड्रूजको लन्दनसे लिखे गये पत्र—'Letters to a

1-Lives of great men all remind us We can make our lives sublime,
And departing, leave behind us footprints on the sand of time —Longfellow

२—हिंदी साहित्यमे जीवनचरितका विकास डॉ० चन्द्रावतीसिंह पृ० २१।

३—डॉ० भगवती सिंह—मनीषीकी लोकयात्रा, पृ० २२९।

Friend' शीर्षकसे पुस्तकके रूपमें प्रकाशित हुए हैं। विश्वविख्यात मानवतावादी रूसी साहित्यकार लियो-टाल्सटायद्वारा सन् १८८७ ई० मे फ्रांसीसी नवयुवक रोमाॅ रोलाॅको जो पत्र लिखा गया था, वह सांस्कृतिक विचारोसे ओत-प्रोत था। उस पत्रने युवक रोमाॅ रोलाँकी जीवनधारा ही बदल दी। इस सम्बन्धमें पं० बनारसीदास चतुर्वेदीने लिखा है—

"लियो टाल्सटायकी 'What is to be done?' पुस्तक पढकर युवक रोमाॅ रोलाँकी मानसिक स्थिति डॉवाडोल हो गयी थी। वह टाल्सटायको अपना आदर्श मानता था। उसने टाल्सटायको पत्र लिखा, कुछ दिनोतक उत्तरकी प्रतीक्षा भी की और फिर इस बातको भूल ही गया। उसे इस बातकी बिल्कुल आशा नहीं थी कि टाल्सटाय-जैसा महान् लेखक उस-जैसे मामूली युवकके पत्रका उत्तर देगा। किंतु एक दिन शामके समय वह अपने कमरेमें लौटा, तो देखता क्या है कि कहींसे फ्रासीसी भाषामे एक लम्बी चिट्ठी आयी पड़ी है। उसको खोलनेपर माॅलूम हुआ कि यह तो टालसटायका पत्र है। वह पत्र २८ पृष्ठोंका था, या यो कहिये कि एक छोटा-सा ट्रेक्ट ही था। उस अपरिचित साधारण युवकको टाल्सटायने 'प्रिय बन्धु' लिखा था। पत्रके प्रारम्भिक शब्द थे—'तुम्हारी पहली चिट्ठी मुझे मिली। उससे मेरा हृदय द्रवित हो गया। पढते-पढ़ते ऑखोंमें ऑसू आ गये।'[४]

इस पत्रने युवक रोमाॅ रोलाॅके हृदयपर बड़ा भारी प्रभाव डाला। सबसे महत्त्वपूर्ण बात उसे यह जॅची कि इस विश्वविख्यात महापुरुषने मेरे-जैसे एक अपरिचित युवकको इतनी लम्बी और सहृदयतापूर्ण चिट्ठी भेजी। और, तबसे उस युवकने यह निश्चित किया कि यदि कोई आदमी संकटके समयमे अन्तरात्मासे कोई पत्र भेजेगा तो मै अवश्य ही उसका उत्तर दूँगा; क्योंकि संकटग्रस्त मनुष्यकी सेवा ही कलाकारका सर्वोत्तम गुण है। उस नवयुवकने आगे चलकर विश्व-साहित्यमें अपना एक विशेष स्थान बना लिया और अनेक अमर ग्रथोंकी रचना की। उसके ग्रंथोंके समान उसके पत्रोंका भी महत्त्व है जिनके द्वारा उसने असंख्य दुःखितोंके हृदयको सान्त्वना प्रदान की है। टाल्सटायकी उस एक चिट्ठीने जो बीज बोया था, वह वटवृक्षके रूपमें पल्लवित हुआ।"

महान् शब्दमर्मी और भारतीय संस्कृतिके अन्यतम व्याख्याता डा० वासुदेवशरण अग्रवालके पत्रोंके विषयमें पं० बनारसीदास चतुर्वेदीने कहा है—'जिस दिन स्पष्ट अक्षरोंमें लिखा गया उनका विस्तृत पत्र आता था, उस दिन मानो सात्त्विक, मानसिक भोजन हो जाता था और मै अपने साथियोके साथ उस पत्रका उपभोग करता था।'[५] माननीय श्रीनिवास शास्त्री भारतके सर्वश्रेष्ठ पत्र-लेखक थे। उनके द्वारा अंग्रेजीमें लिखे गये पत्रोका सम्पादन श्रीटी० एन० जगदीशने किया है। पत्र-संग्रह-की भूमिकामे सम्पादकने लिखा है—Mr. Sastri is a master in the art os letter-writing. His friends know that even a post-card with a few lines from his pen is a thing of beauty and a joy ever.[६] ......

महात्मा गाँधीके पत्र भी अत्यन्त मननीय एवं मूल्यवान् हैं। आचार्य काका कालेलकरने बजाज-परिवारके नाम लिखे गये महात्माजीके पत्रोंको 'संत-संवाद'की संज्ञा दी है।[७] इसी प्रकार 'बापूके पत्र—कुमारी प्रभा बहन कंटकके नाम' शीर्षक पत्र-संग्रहकी भूमिकामें उन्होंने लोकोत्तर साधकोके पत्र-पठनको 'तीर्थ-स्नान'

४-पत्र लेखन कला, पृ० ११-१२, ५-स्वर्गीय वासुदेवशरण अग्रवालके पत्र (लेख), सम्मेलनपत्रिका भाग ५२, सं० ३-४, पृ० ३०, 6-Letters of Srinivasa Sastri, Preface, P. vii

७—बापूके पत्र—बजाज-परिवारके नाम सम्पादकीय, पृ० ८।

जैसा पुण्य कार्य माना है।[८] ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाकी 'परमार्थ-पत्रावली'से जिज्ञासुओंकी परमार्थविषयक रुचि एवं सत्सङ्ग-प्रेमको बढ़ाने तथा आन्तरिक जिज्ञासाकी पूर्ति करनेमें अभूतपूर्व सहायता मिलती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महापुरुषोंके पत्र उनके चरित्रके निर्मल दर्पण होते हैं, अतएव महत्-विभूतियोंके जीवन-चरित्रके समान ही उनके पत्र-संग्रहके स्वाध्यायसे भी हमें चरित्र-निर्माणकी प्रेरणा मिलती है।

चरित्र-निर्माणमें सत्सङ्गका योगदान

(लेखक—डॉ० धनवतीजी मिश्र)

सुचारित्र्यके दो सशक्त स्तम्भ हैं—प्रथम सुसंस्कार, द्वितीय सत्संगति। सुसंस्कार भी पूर्व जीवनकी सत्सङ्गति, सत्कर्मोंका अर्जित सम्पत्ति है और सत्संगति वर्तमान जीवनकी दुर्लभ विभूति है। इसीलिये तो भक्त तुलसीने आधी-से-आधी घड़ीके सत्सान्निध्यमें भी कोटि-कोटि अपराधोंके क्षयकी क्षमता सिद्ध की है। और कबीर तो कुछ और आगे आकर समझा गये कि—

कबीरा संगति साधुकी, ज्यों गंधीकी वास।
जो कछु गंधी दे नहीं, तो भी वास सुवास॥

न कुछ लेना, न देना, फिर भी वातावरण महक गया—यह है सत्संगतिकी देन। जहाँतक चरित्र-निर्माणका प्रश्न है, वहाँ तो सत्संगतिका योग-दान अपूर्व है, अनुपम है। गोस्वामीजीने कहा है—

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस कुधात सुहाई॥

जिस प्रकार कुधातुकी कठोरता और कालिख पारसके स्पर्शमात्रसे कोमलता और कमनीय रंगमें बदल जाती है, ठीक उसी प्रकार कुमार्गीका कालुष्य क्षणमात्रके सत्संगमें स्वर्णिम आभासे परिपावन हो उठता है। कथनकी पुष्टिमें उदाहरणोंकी कमी नहीं है। रत्नाकर महाकवि वाल्मीकि कैसे बने? क्रूरकर्मा अङ्गुलिमालका हृदय-परिवर्तन कैसे हुआ?—बस क्षणमात्रकी सत्संगतिसे। सत्संगतिमें वह शक्ति है, जो मानव-चरित्रको आमूल-चूल बदल देती है। सतत सत्संगसे विचारोंको नयी दिशा मिलती है और अच्छे विचार ही अच्छे कार्योंको करानेमें समर्थ होते हैं। एक अनुभव स्वयं लीजिये, किसी पुष्प-वाटिकाके पाससे निकल जाइये, मन कितनी देर महकेगा, यह बात सभी स्वीकार करेंगे। भक्त कवि सूरदासकी अनुभूति है—

जा दिन संत पाहुने आवत।
तीरथ कोटि समान करे फल, जैसो दरसन पावत।

सत्संगमात्रसे करोड़ों तीर्थोंमें स्नानका फल प्राप्त हो जाता है और शरीरके पाप दूर हो जाते हैं।

दूर क्यों जायँ, अपने राष्ट्रपिताका ही उदाहरण लीजिये। अपनी आत्मकथामें उन्होंने कुसंगतिके अपने दोषों और दुर्बलताओंपर विजय पानेका श्रेय जिसे दिया है, वह है 'श्रवणकुमार' और 'सत्यहरिश्चन्द्र' नाटकका प्रभाव। यद्यपि सात्त्विक संस्कारोंके वे धनी थे फिर भी कुसंगतिने उन्हें दुर्बल कर दिया था। सत्संगतिका चमत्कार देखिये, बालकपर सत्य और सेवाका वह प्रभाव पड़ा कि आगे चलकर वह 'महात्मा' ही नहीं, जन-जनका प्रिय 'बापू' हो गया। मानव दुर्बल प्राणी है, साथ ही वह अनेक प्रच्छन्न विभूतियोंका भण्डार भी है। कुसङ्गमें वह गिर जाता है और सुसङ्गमें ऊँचा उठ जाता है; देखिये—

८-बापूके पत्र—कुमारी प्रभा बहन कण्टकके नाम, भूमिका, पृ० १।

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यम्,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥

सत्संग मानवको ऊँचा उठा देता है, उसके चरित्रमें परिवर्तन कर उसे यशस्वी बना देता है । सत्सङ्गसे बोध होता है, विवेक जागता है । सत्संगके बिना चरित्र-गठन सर्वथा असंभव है—बिनु सतसंग बिबेक न होई । मनुष्य ही क्या, पशु-पक्षियोंके उदाहरण भी कम नहीं हैं—काक होहिं पिक बकउ मराला । सहोदर शुकोंमें, एक ऋषि-परिवारमें पलकर सुभाषाभाषी हो जाता है और दूसरा कुपथगामियोंके यहाँ बढ़कर, कटु-कर्कश-कुवचनवाची । गोस्वामीजी कहते हैं—

साधु असाधु सदन सुक सारीं । सुमिरहिं राम देहिं गनि गारीं ॥

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदीने लिखा है—'महाकवि टैगोरके पास बैठनेमात्रसे ऐसा प्रतीत होता था, मानो भीतरका देवता जाग गया हो ।'

कारण, जीवनकी सफलता चरित्रमें है । चरित्रवान् व्यक्ति समाजकी शोभा है, शक्ति है । सुचारित्र्यसे व्यक्ति ही नहीं, समाज भी सुवासित होता है और यह सुवास जहाँसे मिलती है उसका एक स्रोत सत्सङ्ग भी है । सत्सङ्ग चरित्र-निर्माणमें अद्भुत योगदान करता है । गोस्वामीजीका दृढ़ विश्वास है—

मति कीरति गति भूति भलाई । जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई ॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ । लोकहुँ बेद न आन उपाऊ ॥

सत्संगतिसे सद्व्यवहारकी प्रेरणा मिलती है । सद्व्यवहारका जीवनमें उतर आना ही सच्चरित्र है । अतः निश्चित है कि सत्संगतिसे चरित्र-निर्माण होता है ।

वैदिक वाङ्मयमें इन्द्रका चरित्र

(लेखक—श्रीप्रशान्तकुमारजी रस्तोगी, एम० ए०)

वेदोंमें लगभग ३३ करोड देवी-देवताओंकी अभिव्यक्ति की गयी है । उन देवताओंको तीन वर्गोंमें विभक्त किया गया है—१–द्युस्थानीय (आकाशवासी) देवता, २–अन्तरिक्ष (मध्य) स्थानीय देवता तथा ३–पृथिवीस्थानीय देवता ।

इनमे अन्तरिक्षस्थानीय देवताओंमें 'इन्द्र'का नाम विशेषरूपसे उल्लेखनीय है । भारतीय आर्योंके सर्वाधिक प्रिय वैदिक देवता 'इन्द्र'की स्तुतिमें ऋग्वेदमें लगभग २५० सूक्त कहे गये हैं तथा आंशिक स्तुतिके सूक्तोंको मिलानेपर इनकी संख्या लगभग ३०० तक पहुँचती है । अतः वेदोंके सर्वाधिक स्तोतव्य इन्द्र देवके चरित्रका अध्ययन करना आवश्यक दीखता है ।

इन्द्र शत्रुसंहारक रूपमें—ऋग्वेदमें इन्द्रको वृत्रासुरका विनाशक, शत्रुपुरीका विध्वंसक[1], शम्बर नामक दैत्यके पुरोंका नाश करनेवाला[2], रथियोंमें सर्वश्रेष्ठ, वाजिपतियोंका स्वामी[3], दुष्ट-दलनकर्ता[4], शत्रुओंको पर्वतकी गुफाओंमें खदेड़नेवाला[5] तथा वीरोंके साथ युद्धमें विजयी बतलाया गया है ।[6] वहाँ ऐसा भी उल्लेख है कि इन्द्र मात्र अपने आयुध वज्रसे ही सम्पूर्ण शत्रुओंको पराजित करनेकी अद्भुत क्षमता रखते हैं । परंतु अथर्ववेदके एक स्थानपर वज्रके आयुध स्थानपर हाथोंमें बाण एवं तरकस लेकर उनके युद्ध करनेका उल्लेख भी मिलता है ।[7] ब्राह्मणग्रन्थोंमें इन्द्रको वृत्रासुर नामक दैत्यका नाश करनेवाला[8], नमुचि नामक दैत्यका संहार करनेवाला[9], महान् बलवान्[10] तथा देवताओंमें अत्यन्त बलशाली

१–ऋग्वेद २ । २० । ७, २–वही ६ । २१ । ४, ३–वही २ । ११ । १, ४–वही ३ । ३० । १७, ५–वही २ । १२ । ४, ६–१ । १७८ । ३, ७–अथर्ववेद १९ । १३ । ८, ८–तैत्तिरीयब्राह्मण २ । ४ । ३, ९–वही १ । ७ । १, १०–शतपथब्रा० ११ । ८ । ३ । १२, तैत्तिरीयब्रा० २ । ५ । ७ । ४, मैक्डानल-'वैदिक माइथालोजी' ५३-६३,

कहा गया है।[11] उपनिषदोंमे इन्हे त्वष्टाके पुत्र विश्वरूपका, जिसके तीन मस्तक थे, वज्रद्वारा संहार करनेवाला कहा गया हैं। इन्द्रने आश्रमोचित आचरणसे भ्रष्ट अनेक संन्यासियोके अङ्ग-भङ्ग कर उनके टुकडे श्रृगालोको बॉट दिये थे। उन्हे प्रह्लादके परिचारक दैत्योको मौतके घाट उतारनेवाला भी कहा गया है। इसी प्रकार इन्हे पुलोमासुरके परिचायक दानवो तथा पृथ्वीपर रहनेवाले कालकाश्य नामक दैत्यका संहार करनेवाला भी कहा गया है।[12]

इस प्रकार वैदिकवाङमयमे—ऋग्वेदसे उपनिषद्-तक इन्द्रका एक महान् शत्रुसंहारकके रूपमे विशद वर्णन मिलता है। आभिचारिक पूजन-हेतु इन्द्रकी प्रतिमाका निर्माण भी होता था। युद्धके देवताके रूपमे, शत्रुको पराजित करनेवाले स्वरूपको व्यक्ति पूजते थे तथा कामना करते थे कि इन्द्र उन्हे उनके शत्रुओके विरुद्ध युद्धमे विजय प्राप्त कराते। वैदिकसाहित्यमे इन्द्रकी राष्ट्रिय देवता या युद्धके देवताके रूपमे ख्याति-सतत बनी हुई देखी जा सकती है।

इन्द्र महान् सत्ताधारी रूपमें—ऋग्वेदमे इन्द्रके प्रभावको आकाशसे भी अधिक श्रेष्ठ, उनकी महिमाको पृथ्वीसे भी अधिक विस्तीर्ण तथा भीषण, बलमे सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ कहा गया हैं।[13] उल्लेख है कि उन्होने आकाशमे द्युलोकको स्थिर किया। द्यावा-पृथ्वी-अन्तरिक्षको अपने तेजसे पूर्ण किया तथा विस्तीर्ण पृथ्वीको धारण कर उसको प्रसिद्ध किया।[14] इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थोमे इन्द्रको सूर्य[15], वाणी[16], मन[17] का राजा[18] कहा गया है। उपनिषदोमे इन्द्रको अन्य देवताओंसे श्रेष्ठ कहा गया है।[19] स्वरोको इन्द्रकी आत्मा[20] तथा प्राणको स्वयं इन्द्र कहा गया है।[21] इन्द्रके आश्रित होकर ही समस्त रुद्रगण जीवन धारण करते है।[22] इन्द्रको स्पष्टरूपसे देवता मानते हुए उनकी स्तुति करनेका निर्देश दिया गया है।[23] गर्भाधानके समय इन्द्रको देवता मानते हुए उनका यजन करनेका उल्लेख है।[24] देवलोकको इन्द्रलोकसे ओत-प्रोत बताते हुए[25] कहा गया है कि दक्षिण नेत्रमे विद्यमान पुरुष इन्द्र ही है।[26] इन्द्रको आत्मा, ब्रह्मा एवं सर्वदेवमय कहा गया है।[27] इन्द्रका प्रिय धाम स्वर्ग है[28] तथा वायुमण्डलमे विद्यमान पुरुष भी इन्द्र ही है।[29]

इस प्रकारसे इन्द्र महान् सत्ताधारीके रूपमें सार्वभौमिक स्वरूपको अग्रसर करते हुए अपनी सत्ताको विद्यमान रखनेमे पूर्णरूपसे सफल रहे। वैदिककालमे उनकी सत्ता, प्रभुता एवं सम्पन्नता निश्चितरूपसे उनकी सार्वभौमिकताको प्रस्तुत करती है। उनका प्रत्येक स्थलपर उपस्थित रहना, सर्वत्र विद्यमान रहना निश्चितरूपसे उनकी लोकप्रियताको प्रस्तुत करता है।

इन्द्र महाप्रज्ञावान् रूपमें—ऋग्वेदमे इन्द्रकी बुद्धिकी प्रशसा की गयी है।[30] ब्राह्मणग्रन्थोमे इन्द्रको श्रुति[31] एवं वीर्य[32] कहा गया है। पाणिनिने अपनी 'अष्टाध्यायी'मे इन्द्रको इन्द्रियोका शासक बताते हुए कहा कि इन्द्रसे ही इन्द्रियोको शक्ति मिलती है[33]। उपनिषदोके अनुसार

११–कौषीतकिब्राह्मण ६। १४, १२–कौषीतकि-उप० ३। १, १३–ऋग्वेद १। ५५। १, १४–वही २। १५। २, १५–शतपथब्राह्मण ८। ५। ३। २, १६–जैमिनीयब्राह्मण १। ३३। २, १७–गोपथब्राह्मण ४। ११, १८–तैत्तिरीय-ब्रा० ३। ८। २३। २, कौषीतकिब्राह्मण ६। ९, १९–केन-उपनिषद् ४। १-२, २०–छान्दोग्य-उपनिषद् २। २२। २, २१–कठ-उपनिषद्, २२–छान्दोग्य-उप० ३। ७, २३–बृहदारण्यक-उप० १। ४। ५-६, २४–छान्दोग्य-उप०, २५–बृहदारण्यक-उप० ३। ६। १, २६–वही ४। २। २, २७–ऐत० उप० ४। ३। १४, ५। ३, २८–कौषीतकि-उप० ३। १, २९–वही। ३०–ऋग्वेद १। ५४। ८, ३१–तैत्तिरीयब्राह्मण २। ३। १, ३२–ताण्ड्यब्राह्मण ९। ७। ५, ऐतरेयब्राह्मण ८। ७, ३३–पाणिनिका अष्टाध्यायी सूत्रपाठ ५। २। ९३,

इन्द्रने प्रजापतिके समीप १०१ वर्षोतक ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करते हुए ज्ञान प्राप्त किया था[३४]। उन्होंने ब्रह्मको सर्वप्रथम जाना था[३५] तथा दिवोदासका पुत्र प्रतर्दन उनके समीप ज्ञान प्राप्त करने गया था, जिसे उन्होने ज्ञान प्रदान किया[३६]। इन्द्रको ब्रह्ममन्दिरके द्वारका रक्षक कहा गया है[३७] तथा प्रज्ञाका साक्षात् रूप प्राण कहा गया है।[३८] एक स्थानपर तो उनको आयु एव अमृत भी कहा गया है।[३९]

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि 'इन्द्र'की प्रसिद्धि उनकी अपरिमित अजेयता, वीरता, सार्वभौमिकता एवं ज्ञान आदिकी पराकाष्ठाके सारभूत तत्त्वोंकी अधिकताके कारण ही रही। इसी कारण उनका चरित्र आज भी एक उल्लेखनीय व्यक्तित्वके रूपमें उपस्थित है। उनकी लोकप्रियताको बनाये रखनेमें उनके चरित्रका विशेष योगदान रहा है, जिसके कारणस्वरूप वे आज भी एक महान् देवताके रूपमे जाने जाते हैं। यद्यपि कालके प्रभावसे देवताओंके महत्त्व घटते-बढ़ते रहे, किंतु इनके चरित्र एव महत्त्व आज भी उल्लेखनीय हैं। वे आज भी स्वर्गके राजा हैं और उन्हें देवताओंका सहयोग सदा रहा है।

कठोपनिषद्में नचिकेताका चरित्र

(लेखक—श्रीप्रशान्तकुमारजी रस्तोगी, एम्० ए०)

'नचिकेता'का उल्लेख स्पष्टरूपसे कठोपनिषद्मे है। यज्ञफलकी कामनावाले वाजश्रवाके पुत्र-(नचिकेताके पिता)ने विश्वजित् नामक यज्ञमे अपना सर्वस्व दान कर दिया। जब वे पूर्णरूपसे जर्जर एवं वृद्ध गायोंको भी दान करने लगे तब उनके पुत्र नचिकेताने पितासे कहा कि न देने योग्य गायोको भी आपने दान कर दिया। मैं भी आपका धन हूँ, अतः आप मुझे किसको देंगे ? प्रथम तो महर्षिने उपहासमे टाल दिया, किंतु नचिकेताके बार-बार कहनेपर क्रोधवश उन्होंने कहा—'मै तुमको यमराजको दूँगा।'

पिताके मनोरथको जानकर नचिकेता स्वयं यमराजके समीप पहुँचा तथा तीन दिनोंतक बिना भोजन किये उनके गृहपर रहा। इसपर प्रसन्न होकर यमराजने उसे तीन वरदान माँगनेको कहा। प्रथम वरदानके रूपमें नचिकेताने कहा कि मेरे पिताका क्रोध शान्त हो जाय तथा उनका स्नेह पूर्ववत् बना रहे। द्वितीय वरके रूपमे नचिकेताने अग्नि-सम्बन्धी विज्ञानकी जानकारी प्राप्त की, जिसको यज्ञके समय करके व्यक्ति स्वर्गको प्राप्त करता था। तृतीय वरके रूपमे जब नचिकेताने यमराजसे मोक्ष-विषयक विज्ञानके विषयमें जाननेकी जिज्ञासा प्रकट की तो यमराजने उसे अनेक प्रलोभन दिये तथा कहा कि तुम स्वर्ग आदि अनेक ऐसे ऐश्वर्योंको भोग सकते हो, जिनको किसी अन्य व्यक्तिने कभी न भोगा हो; किंतु तुमको इस मोक्ष-विषयक विज्ञानके विषयमे जाननेकी जिज्ञासा नहीं प्रकट करनी चाहिये। किंतु नचिकेताने कहा कि ये समस्त भोग नश्वर हैं तथा सदैव व्यक्तिके उत्थानमे बाधा उपस्थित करते हैं। किंतु मोक्षविषयक ज्ञानको प्राप्त करनेके पश्चात् व्यक्ति आत्मतत्त्वमे लीन हो चिरकालीन अविनाशी सुखका उपभोग करता है, अतः उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। मुझे तृतीय वरके रूपमे वही चाहिये।

३४—छान्दोग्य-उपनिषद् ८। ११। ३, ३५—केन-उपनिषद् ४। २, ३६—कौषीतकि-उपनिषद् ३, ३७—वही १। ३, ३८—वही ३। २, ३९—वही १। ३।

यमराजने जब विविध रूपोंमें नचिकेताको संसारसे निर्लिप्त पाया तथा यह देख लिया कि यह वास्तवमें तत्त्वज्ञान (मोक्ष)का अधिकारी है, तब उसे आत्मविषयक ज्ञान कराया, जिसको प्राप्त करनेके पश्चात् नचिकेता परब्रह्म पदको प्राप्त होकर अनन्तकाल-तक सुखका उपभोग करता रहा। इस प्रकार नचिकेताके चरित्रसे ज्ञान होता है कि ब्रह्मज्ञान वास्तवमें सांसारिक सुखोंके त्यागके पश्चात् ही प्राप्त किया जा सकता है। [यह ब्रह्मज्ञान चरित्रके संगठनसे ही साधित होता है। चारित्र्यबल ही आत्मबल हो जाता है। अतः आत्म-बलसे आत्मज्ञान साधनेकी योग्यता चरित्र-संगठनसे प्राप्त करनी चाहिये। नचिकेताकी गाथासे यही शिक्षा मिलती है।]

श्वेतकेतुका चरित्र

(उपनिषत्प्रोक्त चारित्र्य)

(लेखक—श्रीप्रशान्तकुमारजी रस्तोगी, एम्० ए०)

श्वेतकेतुका उल्लेख छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषदोंमें स्पष्टरूपसे प्राप्त होता है। ये उद्दालकके पुत्र थे, जो स्वयं ब्रह्मज्ञानके आचार्य थे। श्वेतकेतुको पिताने स्वयं प्रारम्भिक शिक्षा देकर उसे बारह वर्षकी अवस्थामें वेदोंका अध्ययन करने-हेतु गुरुकुलमें भेजा तथा कहा कि 'तुम कुलके मर्यादानुसार ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करते हुए समस्त शास्त्रोंका अध्ययन कर श्रेष्ठताको प्राप्त करना।'

पिताके आज्ञानुसार बारह वर्षतक विद्या ग्रहण करनेके पश्चात् २४ वर्षकी अवस्थामें जब श्वेतकेतु पिताके समीप पहुँचा, तब विद्याका अभिमान होनेके कारण वह घमण्डी एवं उद्दण्ड स्वभाववाला हो गया था। पिताने उसके इस मिथ्याभिमानको देखकर सोचा कि अभिमानसे युक्त विद्याके कारण यह शिक्षित होते हुए भी प्रायः अशिक्षित ही है, अतः इसके अभिमानको समाप्त करना चाहिये। अतः उन्होंने श्वेतकेतुसे प्रश्न किया—'सौम्य! श्वेतकेतु! तू जो ऐसा विद्याका अभिमानी और अविनीत दिखायी देता है, क्या तूने आचार्यसे उस उपदेशको ग्रहण किया है, जिसके द्वारा अश्रुत श्रुत हो जाता है, तर्क न किया हुआ तर्कयुक्त हो जाता है, अविज्ञान ज्ञात हो जाता है?'

किंतु श्वेतकेतु इसका कुछ भी उत्तर न दे सका। अपने स्वभावसे लज्जित होकर उसने पितासे विनयपूर्वक जाननेकी जिज्ञासा प्रकट की। इसपर श्वेतकेतुके पिता उद्दालकने विविध दृष्टान्तोंको सम्मुख रखते हुए, प्रश्नका उत्तर देते हुए श्वेतकेतुको ब्रह्म-सम्बन्धी ज्ञानकी शिक्षा दी तथा दृष्टान्तोंमें उन्होंने ब्रह्मका अनुभव किस प्रकार होता है, स्पष्ट किया। पिताद्वारा ब्रह्मज्ञानको जाननेके पश्चात् श्वेतकेतु अत्यन्त सौम्य हो गया।

इस प्रकार श्वेतकेतुका यह प्रसङ्ग उसके चरित्रकी विशेषताको स्पष्ट करता है तथा यह ज्ञान कराता है कि शिक्षा (ज्ञान) एवं अभिमान दोनों परस्पर शत्रु ही हैं। ज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् भी यदि व्यक्तिमें उस ज्ञानका अभिमान रहता है तो वह ज्ञान अपूर्ण रहता है, जो उसे कभी उच्चपद नहीं प्राप्त करने देता।

महाशाल महर्षि शौनकका वैदिक वाङ्मयमें विनय एवं स्वाध्यायपूर्ण चारित्र्य

(लेखक—प० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

शुभ-चरित्रके लिये वाङ्मयज्ञान आवश्यक है। महर्षि शौनक इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं। मुण्डक-उपनिषद् १।१।३ तथा परब्रह्मोपनिषद् १।१ आदिमें इन्हें महाशाल—विश्व-विद्यालयादिका सचालक या कुलपति कहा गया है। भागवत प्रथम स्कन्धमें इनका बार-बार उल्लेख आया है। वहाँ ४।१में इन्हें कुलपतिके साथ 'बह्वृच' (ऋग्वेदाचार्य) भी कहा गया है—

वृद्धः कुलपतिः सूतं बह्वृचः शौनकोऽब्रवीत्।[1]

ब्रह्मपुराण ११।३४, विष्णुपुराण ४।८।६, हरिवंशपुराण १।३१ एवं वायुपुराण २।३०।३-४के अनुसार ये महर्षि गृत्समदके पुत्र हैं एवं चातुर्वर्ण्यके विशेष प्रवर्तक हुए हैं। भागवत, महाभारत आदिमें जो इन्हें बह्वृच कहा गया है, उससे इनका ऋग्वेदका आचार्यत्व तथा उसके व्याख्यानसे विशेष सम्बन्ध दीखता है। इन्होंने उसकी शाकल एवं बाष्कल शाखाओंको परिष्कृत रूप दिया। तथापि ये अथर्ववेदके भी द्रष्टा हैं। अतः उसकी मुख्य संहिताको शौनक-संहिता कहते हैं। ऋग्वेदके दूसरे मण्डलके द्रष्टा भी ये ही हैं। ऋष्यनुक्रमणी तथा ऋग् द्वितीय मण्डलमें सर्वत्र इन्हें पहले आङ्गिरस और बादमें भार्गव होना कहा है। इनके नामसे रचित ग्रन्थ बहुसंख्यक हैं—ऋक्प्रातिशाख्य, चरणव्यूह, बृहद्देवता, अथर्ववेदके ७२ परिशिष्ट, छन्दोनुक्रमणी, ऋष्यनुक्रमणी, अनुवाकानुक्रमणी आदि; वेदोंके विस्तृत ऋग्विधान, सामविधान, यजुर्विधान, शौनक-स्मृति, आयुष्यहोम, उदकशान्ति, संन्यासविधि, स्वाराष्ट्रक आदि ग्रन्थ तथा बृहत्सर्वानुक्रमणी, पादविधान, चरणव्यूह, शौनक-स्मृति आदि भी इन्हींकी रचनाएँ हैं। अथर्वप्रातिशाख्यका तो दूसरा नाम ही शौनकीय चातुराध्यायिका है। पुरुष-सूक्तपर इनका ही भाष्य सर्वोत्तम माना है। (द्रष्टव्य वाजस० संहि० ३१।१ का उवटभाष्य)

मत्स्यपुराणके अनुसार वास्तुशास्त्रके भी ये ही प्रमुख प्रणेता हैं। शौनकगृह्यसूत्र एवं परिशिष्टसूत्र भी इन्हीं-की रचनाएँ हैं। आश्वलायन इन्हें अपने गृह्यसूत्र (४।९।४५)के अन्तमें दो बार—'नमः शौनकाय नमः शौनकाय' कहकर गुरुरूपमें स्मरण करते हैं। 'वंशब्राह्मण' इन्हें कात्यायनका भी गुरु बतलाता है। इसके अतिरिक्त शौनकीयकल्प, शौनकीयशिक्षा आदि भी इनके ग्रन्थ हैं। इनके सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

पाणिनिसूत्र 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि'-४।३।१०६ की काशिकावृत्तिमें एक 'शौनकीयशिक्षा'का भी उल्लेख है और इनके द्वारा उक्त शाखासूत्रोंके अध्ययन करनेवालोंके लिये 'वाजसनेयिनः'की तरह 'शौनकिनः' पद कहनेकी बात कही गयी है। इस गणमें वाजसनेय, कठ, तलवकार आदि १५ शब्दोंको पीछे रखकर शौनककी विशेष महिमा दिखायी गयी है। 'विकृतिकौमुदी'[5] तथा षड्गुरुशिष्य द्वारा बृहत् सर्वा०वृत्तिमें इनकी विस्तृत

१—मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नपानादिना भरेत्। अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः॥ (पद्मपु०, कूर्मपुराण)

२—महाभारत १।१।२में भी ऐसा ही कहा है—शौनकस्य कुलपतेर्द्वादशवार्षिके सत्रे।

३—य आङ्गिरसः शौनहोत्रो भूत्वा भार्गवः शौनकोऽभवत्······द्वितीयं मण्डलमपश्यत्। (ऋग्वेदीय सायणभा० भूमि० २ ऋ० अनु०)

पुराणोंमें भी—'शुनहोत्रस्य दायादास्त्रयः परम धार्मिकाः······।—पुत्रो गृत्समदस्यापि शुनको यस्य शौनकः' ब्रह्मपु० ११।३२-३, वायु० ९२, ब्रह्माण्ड २।६७, हरिवं० १।२९—ऐसा ही कहा गया है।

४—पाणिनीय अष्टाध्यायी ४।१।१०४ के 'बिदादिगण'में—'शुनक' पाठ है। उससे गोत्रापत्यमें शौनक शब्द बनता है। इस प्रकार शुनक इनका गोत्र मानना चाहिये। बृहदारण्यकोपनि० शा० भा० ४।३।५में ये कपिगोत्रज हैं। पाणि० ४।१।१०२, ३।१०६ आदि प्रायः सभी ऋषिगणोंमें इनका उल्लेख है।

५—यह 'विकृतिवल्ली'की गङ्गाधरभट्टरचित टीका है।

*

चर्चा है। ये शतप० बृह० २। ५। २०, ४। ५, ३०, गोपथ ५ आदिमें सर्वत्र शास्त्रार्थजयी होते हैं। व्याडीको इनका प्रधान शिष्य कहा गया है। व्याकरण महाभाष्य १। २। ६४, ६। २। २९ के अनुसार व्याडीने लक्षश्लोकीय 'संग्रह' नामक व्याकरण-ग्रंथकी रचना की थी। इन्होंने—'गणानां त्वा' मन्त्र (२। २३। १) में सत्य, वेद और जगत्के स्वामी होनेसे 'ब्रह्मणस्पति-बृहस्पति'की यथा नाम गुण चरितार्थता मानी है—'ब्रह्म वाग् ब्रह्म सत्यं च ब्रह्म सर्वमिदं जगत्। पातारं ब्रह्मणस्तेन बृहस्पतिरितीरितः।' (बृहद्देवता २। ३०-४० तथा निरुक्त १०। १२)

भागवतमें शतानीकको याज्ञवल्क्यका शिष्य कहा गया है। उन्होंने तीनों वेदोंका ज्ञान याज्ञवल्क्यसे प्राप्त किया था, किंतु कर्मकाण्ड एवं शास्त्रका ज्ञान महर्षि शौनकसे ही प्राप्त किया था। इससे इनके दीर्घजीवित्व एवं धनुर्विद्यादिके पाण्डित्यका भी परिचय मिलता है—

तस्य पुत्रः शतानीको याज्ञवल्क्यात् त्रयीं पठन्।
अस्त्रज्ञानं क्रियाज्ञानं शौनकात् परमेष्यति॥
(भागवत ९। २२। ३८)

इतना होनेपर भी आचार्य शौनककी विनयपूर्ण चरित्रशीलता एवं जिज्ञासा देखते बनती है। इसीलिये 'प्रपन्नगीता'में ये द्वादशमहाभागवतोंमें भी ८वीं संख्यापर परिगणित हैं। ये १८ पुराणों, उपपुराणों तथा महाभारत आदिको उग्रश्रवा, लोमहर्षणादिसे श्रवण करते हैं। अट्ठारह पुराणोंमें उनके प्रश्न, उनकी भगवद्भक्ति आदि अद्भुत हैं। भागवत १। १६। ५-६में वे कहते हैं कि यदि भगवच्चर्चासे अथवा भक्तोंकी चर्चासे युक्त हो, तभी आप यह कथा कहें—

तत्कथ्यतां महाभाग यदि कृष्णकथाश्रयम्।
अथवाऽस्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम्॥

अन्य बातोंसे कोई लाभ नहीं, क्योंकि उसमें आयुका व्यर्थ अपव्यय होता है—

किमन्यैरसदालापैरायुषो यदसद्व्ययः॥
([illegible])

वे श्रीभगवान्की कथा-श्रवण-कीर्तनसे रहित कान मुँह-जीभको साँपका बिल और मेढककी जीभ कहते हैं (भाग० २। ३। २०)। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी—

'श्रवनरंध्र अहिभवन समाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥'

आदिमें इन्हींके भाव दिये हैं। वैसे ये नैमिषारण्यवासी ८८ हजार ऋषियोंके नेता या कुलपति थे। यह बात सत्यनारायण-कथासे लेकर सभी पुराणोंमें बार-बार आती है। भविष्यपुराणमें ये सभी ८८ हजार ऋषियोंको लेकर म्लेच्छाक्रान्त नैमिषारण्यको छोड़कर बदरिकाश्रममें जाकर कथाश्रवणका प्रबन्ध करते दीखते हैं। इस प्रकार स्वाध्यायचरित्रशील होनेके साथ ये बड़े विनयी, सभी देवताओंके उपासक तथा विष्णुभक्त भी रहे हैं। 'बृहद्देवता'के ध्यानपूर्वक अवलोकन-आलोचन करनेसे इनके कठोर तप, ब्रह्मचर्य, विशाल वैदिक ज्ञानका परिचय मिलता है।

पुराणों, धर्मशास्त्रों आदिके समान वैदिक-ग्रन्थ भी असंख्य हैं। पर चारित्र्यके अनुष्ठानके लिये इनका अधिकाधिक स्वाध्याय, ज्ञानाप्ति आवश्यक है। यहाँ केवल शौनक-रचित ग्रन्थोंका निर्देश हुआ है। याज्ञवल्क्य, व्यास, कात्यायन, जैमिनि, भारद्वाज, विश्वामित्र आदिके भी ग्रन्थ इसी प्रकार असंख्य हैं। बृहद्देवताको देखनेसे स्पष्ट होता है कि शौनकने इन सभी-के-सभी ग्रन्थों, अनेक व्याकरणों तथा अनेक निरुक्तोंका भी अवलोकन कर इसकी रचना की थी। महाभारत वनपर्वके दूसरे अध्यायमें इन्हें सांख्ययोगकुशल भी कहा गया है। वहाँके इनके चरित्रसम्बन्धी उपदेश बड़े ही सुन्दर हैं। वहाँ ये युधिष्ठिरसे कहते हैं कि आसक्तिके कारण दुःख, भय, आयास, शोक-हर्ष सभी उपद्रव आ घेरते हैं। अतः रागको छोड़ विरक्त बनना चाहिये, रागसे तृष्णा उत्पन्न होकर प्राणान्तक रोग बन जाती है। अर्थ भी घोर अनर्थकारी है। उसमें दर्प, अनीति, कार्पण्य आदि अनेक दोष प्रकट होते हैं, अतः

तृष्णादिका त्यागकर संतोषका आश्रय लेना चाहिये। इसीमे परम सुख है——

अन्तो नास्ति पिपासायाः संतोषः परमं सुखम्॥
तस्मात्संतोषमेवेह परं पश्यन्ति पण्डिताः॥

(महा० ३। २। ४७)

प्रायः ये ही बातें योगवासिष्ठ, भागवत, स्कन्दपुराण, माहेश्वर कौमारि (४६। २१-४०) तकमें कही गयी हैं।

वस्तुतः इन शौनक, जैमिनि व्यासादि ऋषियोंने स्वाध्यायादिक-द्वारा लोकरक्षा, धर्मरक्षा, सदाचार एवं चरित्ररक्षाके लिये अपना सारा जीवन ही लगा दिया था। यही आज भी कर्तव्य है।

चरित्र-निर्माणमें रामचरित्रका योगदान

(लेखक——श्रीआर० वेंकटरत्नम)

संस्कृत भाषाकी 'चर्' धातुका अर्थ है——चलना। इसी धातुसे चरित्र, आचरण, दिनचर्या इत्यादि शब्द बनते हैं। इनमे अन्तिम शब्द दिनचर्याका अर्थ दैनिक व्यवहार है। अतः 'चर्' धातुका अर्थ केवल इधर-उधर घूमना-भटकना ही नहीं, परंतु सभी व्यवहार गमन-आगमन तथा रहनेका ढंग आदि भी इस शब्दमे इङ्गित है।

'चरित्र'का अर्थ है——जीवन-वृत्तान्त। निजी कथा चरित्र है, इतिहास भी चरित्र है। देश-चरित्र पढते समय इसे हम इसी शब्दसे समझते हैं। घटनाओंका खाली विवरण हो, तो कहा जा सकता है——चरित। पर इधर एक कदम और बढनेपर चरित्रसे मानवजाति-का स्तर ऊँचा उठना चाहिये तो हमें चरित्रका तात्पर्य कुछ और गहरेसे समझना चाहिये। यह न जीवन-चरित है, न कथा-लेखन। परतु मनुष्यके तमाम व्यवहारको नैतिक आधारपर नियमान्वित कर उत्तम जीवन जीनेका उपाय बताना है——चरित्रनिर्माण। अंग्रेजीके कैरेक्टर (Character) शब्दकी व्युत्पत्ति संस्कृतके चरित्रसे ही हुई दीखती है।

संस्कृत शब्द चरित्र सारगर्भित है। इसी एक शब्दसे हम जीवन-वृत्तान्त एवं चाल-चलन——दोनोको व्यक्त करते है। यदि हम अपने धार्मिक, पौराणिक एवं नैतिक साहित्यकी ओर ध्यान दें तो चरित्र शब्दका दोनो अर्थोंमे समावेश दीखता है। चरित्र जीवन कथा होनेके साथ-साथ पढनेवालेको, श्रोताको मार्ग भी दर्शायेगा। ऐसे अनमोल ग्रन्थोंमे रामचरित्रमानसको कौन भूल सकता है? इस दिव्य ग्रन्थका नाम स्वयं ग्रन्थ-विषयका 'परिचायक है। रामचन्द्रजीकी जीवनी तथा रामचन्द्रजीका उत्तम आचरण दोनोंका दिग्दर्शन इस ग्रन्थमें होता है।

साधु चरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥

(मानस १। २। ३)

इन वाक्योमे गोस्वामीजी साधुचरितकी महिमा गाते हैं। ऐसे साधु-चरितोका श्रीरामचरितमानस मानो एक पीयूष-सागर है। आदिकवि वाल्मीकि तो अपने ग्रन्थको 'सीतायाश्चरितं महत्' कहते है——

काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।
पौलस्त्यवधमित्येवं चकार चरितव्रतः॥

(वा० रा० बाल० ४। ७)

इस श्लोकसे हमें यह बोध होता है कि सीताजीकी जीवन-कथा एक महान् चरित है। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणके नित्य पारायणमे आदिकविकी वन्दनाके प्रसङ्गमे हम लोग पढते हैं——

यः पिबन् सततं रामचरितामृतसागरम्।
अतृप्तस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम्॥

यहाँ फिर एक बार यह सिद्ध होता है कि श्री-रामजीकी जीवनी एक पीयूषसमुद्र है।

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्।
एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम्॥

यह भी पारायण श्लोकोंके अन्तर्गत है। रामायणका प्रत्येक अक्षर बड़े-बड़े पापोंको मिटानेवाला है। रघुनाथजीका चरित जो विस्तृत ढंगमे लिखा हुआ है, पूरे पारायणपर कितना पुण्यदायक होगा। प्रत्येक अक्षर ही महापातक नाशक हो तो रामायणजी कितने उन्नत ग्रन्थ है, कोई कल्पना भी नहीं कर सकता।

रामचरितसे हम अपने व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राष्ट्रिय चरितको महोन्नत बनानेकी चेष्टा करे।

श्रीरामजीके चरित्रसे शिक्षा

(लेखक—महामण्डलेश्वर स्वामी श्रीभजनानन्दजी सरस्वतीजी महाराज)

विदुरने कहा है—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥
(महा० उद्यो०)

उनका यह कथन हम सभीको सन्मार्गपर चलनेकी प्रेरणा देता है। चरित्रवान् ही संसारमे सबसे बलवान् होता है और वही समाजका आदर्श होता है। किसी कविने भी कहा है—

ऊँचे गिरिसे जो गिरै मरै एक ही बार।
जो चरित्र गिरिसे गिरै बिगडै जनम हजार॥

मर्यादा एवं चरित्रकी स्थापनाके लिये ही अखिल ब्रह्माण्डनायक परब्रह्म परमात्माने मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामजीके रूपमे अवतरित होकर नर-लीला की, जो भारतवर्षके लिये आदर्श है। साक्षात् धर्मके स्वरूप श्रीरामजीने हमारे लिये विभिन्न आदर्श प्रस्तुत किये, जहाँपर रावण यह कहता है कि—

मरकट हीन करहु महि जाई। जिअत धरहु तापस दोउ भाई॥

वहीं श्रीरामजी अङ्गदको लंका भेजते समय कहते है कि—

काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई॥

इससे श्रीरामजीके समत्वका बोध होता है। शत्रुका भी आत्मीयवत् हितचिन्तन कर रहे हैं। स्वकार्य सिद्ध हो जानेपर राज्य-भोगादिमे तल्लीन सुग्रीवको माँ सीताजीके अन्वेषणका स्मरण न रहा। श्रीरामजीके प्रति सुग्रीवका यह अपराध था, क्योंकि उन्होंने ही प्रथम कहा था—

कह सुग्रीव नयन भरि बारी। मिलिहि नाथ मिथिलेस कुमारी॥
सब प्रकार करिहउँ सेवकाई। जेहि बिधि मिलिहि जानकी आई॥

तत्पश्चात् श्रीरामजीने उनसे वनमें रहनेका कारण पूछा था—

'कारन कवन बसहु बन मोहि कहहु सुग्रीव।'

और सुग्रीवका सम्पूर्ण वृत्तान्त श्रवण कर बादमे सुग्रीवके विघ्न-निवारण-हेतु बालिवधकी प्रतिज्ञा की—

'सुनु सुग्रीव मै मारिहउँ बालिहि एकहिं बान।'

श्रीरामजीने तो अपने वचनका पालन तुरत किया, लेकिन सुग्रीव सब कुछ भूलकर सत्ता-सुखमे मस्त हो गये और चिरकालतक उन्हे होश न आया। तब भगवान्ने लक्ष्मणको समझाते हुए सुग्रीवके पास भेजा—

'भय देखाइ लै आवहु तात सखा सुग्रीव।'

भगवान्राम अपराधीके प्रति भी क्षमादृष्टि रखते हुए 'सखा सुग्रीव' सम्बोधनको न भुला सके। बौद्धजातकोंके अनुसार एक बार काशीकेराजमार्गपर दो राजाओंका रथ आमने-सामने आ रुका, बीचमे एक पुलिया थी, जिसमे एक ही वाहन निकल सकता था, अत. दोनो रथ रुक गये। समस्या यह थी कि किसका रथ पहले निकले। राजाओंकी

राज्यकी दृष्टिसे, वयकी दृष्टिसे, अन्य दृष्टिकोणोंसे विचार हुआ, किंतु आश्चर्य ! दोनों बिल्कुल समान थे । तत्पश्चात् दोनोंके सारथियोंने अपने-अपने राजाओंके आदर्श एवं गुणोंका वर्णन आरम्भ किया । समस्याकी जटिलता प्रतिक्षण बढ़ती जा रही थी; क्योंकि गुणोंमें भी दोनों समान ही थे । अन्तमें एक सारथिने कहा—हमारे महाराज शास्त्रानुसार **'शठे शाठ्यं समाचरेत्'** अर्थात् 'बुरोंके साथ बुरा व्यवहार करो', की नीतिपर चलते हैं । इसपर द्वितीय सारथिने कहा—हमारे राजा इसके विपरीत 'बुरोंके साथ भी अच्छा व्यवहार करो', 'बुराईसे घृणा करो, व्यक्तिसे नहीं'—इस नीतिपर चलते हुए प्रजाको संतुष्ट रखते हैं । ऐसा सुनकर प्रथम सारथिके रथपर आरूढ़ राजा नीचे उतरते हुए बोले—सारथि अपने रथको शीघ्र हटा लो, निर्णय हो गया । हमसे ये सामनेवाले राजा श्रेष्ठ हैं ।

श्रीरामजीके चरित्रमें भी 'बैरिहु जासु बड़ाई करहीं' का हेतु वर्तमान है । आप आदर्शोंके लिये शत्रु भी मुक्त हृदयसे प्रशंसा करते हैं । युद्धमें प्रमुख योद्धाओंके मारे जानेपर रावणने अपने अनुज कुम्भकर्णको जगाया और सारी स्थिति समझाते हुए युद्धहेतु प्रेरित करने लगा—

व्याकुल कुंभकरन पहिं आवा। बिबिध जतन करि ताहि जगावा॥
कुंभकरन बूझा कहु भाई। काहे तव मुख रहे सुखाई॥
कथा कही सब तेहिं अभिमानी। जेहि प्रकार सीता हरि आनी॥
तात कपिन्ह निसिचर संहारे। महा महा जोधा सब मारे॥
(रा० च० ६। ६१। ३६)

तब कुम्भकर्णने कहा—

'जगदम्बा हरि आनि अब सठ चाहत कल्यान'

'शठ ! तू जगज्जननीका अपहरण कर कल्याण चाहता है ? लेकिन 'महिष खाइ ,करि मदिरा पाना । गर्जा बज्राघात समाना ॥' तामसी आहारके कारण बुद्धिमें तमोगुणका प्राबल्य होते ही कुंभकर्णने रावणसे कहा—'तुम तो अनेक रूपोंको धारण करनेमें सक्षम हो' फिर रामके रूपमें आकर तुमने सीताको वशमें करनेका प्रयास क्यों नहीं किया ? तब रावण कहता है कि—'जब मैं रामरूप धारण करनेके लिये राघवेन्द्रके स्वरूपका ध्यान करने लगता हूँ, तब शनैः-शनैः मेरे हृदयके सारे कल्मष नष्ट हो जाते हैं—

रामः किं नु भवानभूच्छृणु सखे तालीदलश्यामलम्
रामाङ्गं भजतो ममापि कलुषो भावो न संजायते ।

रामके रूपमात्रसे रावण-जैसे दुश्चरित्रका भी भाव शुद्ध हो जाता है । यह है भगवान् श्रीरामजीका आदर्श और प्रभाव । चरित्रादर्शका प्रेरक प्रकाश होता है । विभीषणके राजगद्दीपर बैठनेके बाद एक बार विभीषणके रथसे कुचलकर एक ब्राह्मणकी मृत्यु हो गयी। लोगोंने विभीषणको एक भूगृहमें बन्द कर दिया । यह बात जब भगवान्‌को ज्ञात हुई तो उन्होंने वहाँके लोगोंसे कहा—'विभीषण मेरा भक्त है, भक्तका अपराध स्वामीका अपराध होता है, अतः **'भृत्यापराधेन स्वामी दण्डमर्हति ।'** तब सभी उनके चरणोंमें गिरकर क्षमा माँगने लगे । इस प्रकार श्रीरामजीके अनन्त गुण हैं, हर कार्य शिक्षाप्रद है । यहाँ दो-एक प्रसङ्गोंका स्वान्तःसुखायकी भावनासे उल्लेख किया गया है, यथार्थमें 'श्रीराम विग्रहवान् धर्म ही हैं ।'

धर्म चरित्रका आगार है और धर्माचरण ही चारित्र्य-पालन है । अतः मूर्तिमान् धर्म श्रीरामके चरित्रोंके आदर्शपर चरित्रके निर्माणकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये ।

आदर्श चरित्रशीला–श्रीसीता

रामचरितमानसमें सीताचरित्रका आदर्श

(लेखक—डॉ० श्रीशुकदवरायजी, एम० ए०, पी-एच्० डी०)

चरित्र जीवनकी शिखा-मणि है। चरित्रवान् व्यक्ति ही आत्मज्योतिपूर्ण होता है। वह अपनेको भी द्योतित करता है और साथ ही अपने परिसरमें आये हुए अन्य लोगोंको भी। सत्सङ्गको इसीलिये कायाकल्प कहा गया है, इसके फलस्वरूप—'काक होहिं पिक बकहु मराला।' कौवा कोयल और बगुला हंस हो जाता है। रामको देखकर सर्प-बिच्छू विषका परित्याग करते हैं—

जिनहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिषु तामस तीछी॥

चरित्रवान व्यक्ति अपने लिये आत्म-बल-पूर्ण होता है और दूसरोंके लिये प्रेरणाका आदर्श स्रोत। साहित्यमें चित्रित ऐसे ही उदात्त चरित्र समाजके लिये आदर्श बनते हैं। रामचरितमानसमें श्रीसीताजी-सा चरित्र ऐसा ही एक आदर्श चरित्र है। तुलसीके मानसमें श्रीसीताजीका चरित्र तीन रूपोंमें वर्णित है—

(१) जग जननि जानकी और (२) अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥ (मानस १। १८। ७)

प्रथम चित्र बेटीका, दूसरा माँका और तीसरा पत्नीका है। अपने तीनों रूपोंमें श्रीसीताजी समस्त नारी जगत्के लिये आदर्शका मानदण्ड हैं। वे परवर्ती पीढ़ीके लिये प्रेरणास्रोत हैं। अपने तीनों रूपोंमें श्रीसीताजी आदर्श-की सीमा हैं, पर तीन विभिन्न रूपोंका विशेष समाहार जिस एक रूपमें हुआ है, वह है—सती सीताका रूप, करुणा-निधानकी प्रियाका।

श्रीसीताजी करुणाकी प्रतिमा हैं। अनावृष्टि-सम्भूत दुर्भिक्ष निवारणार्थ श्रीजनकद्वारा हल-संचालन-क्रममें आप धरतीसे प्रकट हुईं और जनकजीने आपको पुत्रीके रूपमें ग्रहण किया। इस प्रकार विगलित करुणाके रूपमें प्रकट होकर श्रीसीताजीने मिथिलाके इस क्षेत्रको कृषि-कार्यमें आगे बढ़ाया और इसे धन-धान्यसे पूर्ण किया। वन-गमनके संदर्भमें मन्त्री सुमन्तसे श्रीसीताजीने अपने पिता गृहके विशाल वैभवका वर्णन किया है—

पितु बैभव बिलास मैं डीठा। नृप मनि मुकुट मिलित पद पीठा॥
सुखनिधान अस पितु गृह मोरें। (मानस २। ९७। १)

इसी संदर्भमें श्रीकौसल्याने भी सीताके सुख और सुकुमारिताको इङ्गित करते हुए श्रीरामके सामने स्पष्ट किया था—

पलँग पीठ तजि गोद हिंडोरा। सियँ न दीन्ह पगु अवनि कठोरा॥
(मानस २। ५९। ५)

बेटीके रूपमें राजकुलमें पालित, सुकुमारिताकी प्रतिमूर्ति सीता छोटे-मोटे गृह कार्योंके सम्पादनमें रुचि रखती थीं। जनश्रुति है कि शिवजीका धनुष जिस स्थानपर रखा था, उसको लीपनेका काम श्रीसीताजी ही करती थीं। इसी क्रममें एक दिन उन्होंने धनुषको उठाकर उस स्थानपर उगे घास-फूसको साफ कर दिया था। पूजा-कालमें इस साफ-सुथरेपनको देखकर श्रीजनकजीकी प्रसन्नताकी सीमा न रही और सीताजीके बलका अनुमान कर उन्होंने निश्चय कर लिया कि उस धनुषको तोड़नेवाले बलशाली पुरुषके साथ ही वे अपनी इस बेटीका विवाह करेंगे। इस लोककथासे एक ओर जहाँ श्रीसीताजीका बल व्यञ्जित होता है, वहीं दूसरी ओर उनकी सफायीकी अभिरुचि, कर्तव्य-निष्ठा तथा गृहकला-कुशलता भी प्रकट होती है। पुत्रीरूपमें सीता अनन्य लोकप्रिय थीं। परिवारसे, समाजसे उन्हें लाड़-प्यार मिला था, स्नेह मिला था और उन्होंने समाजको, परिवारको एवं खग-मृगको भी स्नेह दिया था। ऐसी लाड़ली बेटीके विदाके समय माताका हृदय विदीर्ण कैसे नहीं हो। श्रीरामके प्रति सुनयनाके शब्दोंमें—

परिवार पुरजन मोहि राजहि प्रानप्रिय सिय जानिबी।
(रा० मा० १। ३३६ छं०)

विदाके समय खग-मृगोंने भी अपनी बेकलीकी मूक भाषामें सीता-बेटीको विदा किया था, अपने स्नेहका दूब-धान उनके अञ्चलमें बाँधकर—

सुक सारिका जानकी ज्याए। कनक पिंजरन्हि राखि पढाए॥
ब्याकुल कहहिं कहाँ बैदेही। सुनि धीरजु परिहरइ न केही॥
भए बिकल खग मृग एहि भाँती। मनुज दसा कैसें कहि जाती॥
(मानस १। ३३८। १-३)

माता-पिताके, परिजनके, पुरजनके इस लाड़-प्यारका, पोषणका, शिक्षणका, उपदेशका प्रतिफलन श्रीसीतामें पूर्णरूपेण हुआ और इन्हींके फलस्वरूप मन, वचन तथा कर्मसे वह पतिकी प्राण-वल्लभा, अनुचरी, सहचरी और आदेशपालिका बनकर सती नारियोंमें अग्रगण्य बनीं। श्रीसीताकी यह मान्यता कितनी गौरवपूर्ण है—

जहँ लगि नाथ नेह अरु नाते। पिय बिनु तियहि तरनिहु ते ताते॥
तनु धनु धामु धरनि पुर राजू। पति बिहीन सबु सोक समाजू॥
(मानस २। ६५। ३-४)

शैशवके इन समस्त अभ्यासोंको, मान्यताओंको श्रीसीताजीने अपने जीवनमें प्रतिफलित किया। परिवार-सुखको छोड़कर, राज्य-सुखको त्यागकर उन्होंने दुःखमें और सुखमें समभावसे पतिका साथ दिया। उनकी हर आज्ञाका पालन उनकी हर इच्छाकी पूर्ति श्रीसीता करती रहीं। अशेषव गृह-कार्यकुशल श्रीसीताजी वनमें रहकर तो सेवा कार्य करती ही रहीं, राजरानी होनेपर भी पतिसेवाका सारा काम स्वयं करती गयीं—

पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभा खानि सुसील बिनीता॥
जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल मन लाई॥
जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी। बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आयसु अनुसरई॥
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ॥
(मानस-उत्तर)

इतना ही नहीं-वनगमनके अवसरपर श्रीकौसल्यासे विदा लेते समय जिन क्षोभ भरे शब्दोंमें उन्होंने कहा था—

सेवा समय दैव दुखु दीन्हा। मोर मनोरथु सफल न कीन्हा॥

उस मनोरथको यथा-अवसर उन्होंने दोबारा हाथसे न जाने दिया और वनमें चित्रकूटमें उन्होंने सासुओंकी सेवा बड़ी तन्मयतासे की—

सीय सासु प्रति बेष बनाई। सादर करइ सरिस सेवकाई॥
(मानस २। २५२। २)

और इस अभ्यासका निर्वाह पुनः राजरानी होनेपर भी अनवरत रूपसे करती रहीं—

कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं॥
(मानस ७। २३। ८)

सेवा मानो सीताजीका व्रत था। पति-सेवाका भाव इनमें कूट-कूटकर भरा था। इसकी पराकाष्ठा हमें चित्रकूटमें जनक-परिवारसे मिलन-प्रसङ्गमें दीख पड़ती है। वे आग्रह किये जानेपर भी मातृकुलके लोगोंके साथ रातमें ठहरना नहीं चाहतीं। पति-सेवाका क्रमभङ्ग उन्हें खटकता था। वे रामकी सेवासे थोड़ी देरके लिये भी अलग होना नहीं चाहती थीं। पर शील और संकोचके कारण मनोगत भावोंको स्पष्ट करते नहीं बन रहा था—

कहति न सीय सकुचि मन माहीं। इहाँ बसब रजनीं भल नाहीं॥
(मानस २। २८७। ७)

इस बातको रानी सुनयनाने ही श्रीजनकसे स्पष्ट किया—

लखि रुख रानि जनायउ राऊ। हृदयँ सराहत सीलु सुभाऊ॥
(वही ८)

संयोग-पक्षमें श्रीसीताका प्रेम और पति-सेवाका हृदयहारी चित्र तो मिलता ही है, वियोग-पक्षमें भी यह चित्र कहींसे धूमिल नहीं होने पाया है। श्रीरामके वियोगमें श्रीसीताजी सूख गयी हैं—'कृस तनु सीस जटा एक बेनी'। क्षीणता इतनी है कि—'कनगुरिया के मुदरी कंकन होत।' (बरवै० ३८) श्रीरामके दर्शन और सेवाके अभावमें श्रीसीताजी अपने प्राणोंको

विसर्जित करना चाहती हैं। पर आँखे ऐसा नहीं करने देतीं—

बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ।
ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देत बुताइ॥
(बरवै रा० ३६)

नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी। जरैं न पाव देह बिरहागी॥
(मानस ५।३१।६)

सीता पति-वियोगको नहीं सह सकतीं। श्रीसीता मरणको वरण करना चाहती हैं, मगर उसके तीन बाधक हैं। (१) श्रीरामका स्मरण, (२) गुण-श्रवण, (३) उत्तर-दायित्वका निर्वाह। प्रथमका संचालन नामद्वारा, दूसरेका त्रिजटा और हनुमान्द्वारा, तीसरेका लव-कुशद्वारा होता है। श्रीरामद्वारा पूछे जानेपर हनुमान्जीने स्पष्ट किया था—

कहहु तात केहि भाँति जानकी। रहति करति रच्छा स्वप्रान की॥

श्रीहनुमान्ने प्रश्नके दो उत्तर बताये—

बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरइ छन माहिं सरीरा॥
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी। जरैं न पाव देह बिरहागी॥
नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥
(मानस ५।३०)

श्रीसीताने प्राणत्यागमे त्रिजटासे सहायताकी याचना की तो उसने राम-गुण सुनाकर इनकी प्राणरक्षा की और दूसरी बार हनुमान्जीने। त्रिजटा—

सुनत बचन पद गहि समुझाएसि।
प्रभु प्रताप बल सुजस सुनाएसि॥
(मानस ५।१२।५)

हनुमान्—रामचन्द्र गुन बरनै लागा। सुनतहिं सीता कर दुख भागा॥ (मानस ५।१३५)

निष्कासनकालमे वे प्राणत्याग कैसे करे? रामका दायित्व जो है—

दुखी सिय पिय बिरह तुलसी सुखी सुत सुख पाय॥

श्रीसीताका वधूजीवन दुःखका एक महासागर है। श्रीहनुमान्ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा था—

निमिष निमिष करुनानिधि जाहिं कलप सम बीति।
बेगि चलिअ प्रभु आनिअ भुज बल खल दल जीति॥

और पुनः उन्होने श्रीरामकी—'बचन काय मन मम गति जाही। सपनेहुँ बूझिअ बिपति कि ताही॥' इस शङ्काका समाधान करते हुए कहा था—

कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तब सुमिरन भजन न होई॥

श्रीहनुमान्जीके शब्दोमे श्रीसीताजीकी विपत्ति-कथा अकथनीय है—

सीता कै अति बिपति बिसाला। बिनहिं कहे भलि दीनदयाला॥

सती सीताकी निष्ठा श्रीराममे इतनी प्रगाढ है कि वे जीवनमे श्रीरामको या मरणको ही चाहती है। यही कारण है कि सीताने काञ्चनपुरीमे आकर लङ्कापतिको नजर उठाकर भी नहीं देखा। उससे बाते करनेमे भी उन्होने 'तृण'का सहारा लिया।

अपने सतीत्वपर श्रीसीताको अटल विश्वास है और प्रभु-नामका पूरा भरोसा। ये ही दोनो संबल उनके निर्वासित जीवनमे भी धैर्य, सहिष्णुता और जिजिप्सा प्रदान करते रहे। अपूर्व कष्ट-सहिष्णुता है—उनमे। रावणकी विशाल शक्ति और प्रभुताको उन्होने ठुकरा दिया और श्रीराम-प्रतापके बलपर जीती रहीं। अपने सतीत्वकी उन्होने प्रवासमे भी रक्षा की। यही कारण है कि महासती अनसूयाने श्रीसीताके सामने सतीके लक्षण और वर्गीकरण उपस्थित करते हुए श्रीसीताको सती नारियोके प्रथम वर्गमे रखा और अपनेको दूसरे वर्गमे। उन्होने यह भी स्पष्ट कर दिया कि सब लक्षणोके लक्ष्य तो सीताजी स्वयं ही है, कथा तो मात्र जगत्-कल्याणके लिये कही गयी है—

उत्तम के अस बस मन माहीं। सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं॥
मध्यम परपति देखइ कैसें। भ्राता पिता पुत्र निज जैसें॥
सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं।
तोहि प्रान प्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित॥
(मानस ३।४।१२ दो० ५,)

ऐसी ही अपनी बेटी सीताको जब जनकजीने चित्रकूटमें तापस वेषमें देखा था उनकी प्रसन्नताकी सीमा न रही। उल्लसित कण्ठसे वे बोल उठे—

पुत्रि पवित्र किए कुल दोऊ। सुजस धवल जग कह सब कोऊ॥

सती सीताकी पवित्रताकी उपमा उन्होंने गङ्गासे दी और श्रीसीताको गङ्गासे भी महत्तर बतलाया—

जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी। गवनु कीन्ह बिधि अंड करोरी॥
गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे। एहिं किए साधु समाज घनेरे॥
(मानस २। २८६। ३-४)

इस प्रकार यहाँ भी सीताचरित्र परम धन्य है—'पितहिं प्रबोध चरित सुनि जासू।' सती-साध्वी सीताके चरित्रपर ज्ञात-अज्ञात जो भी शङ्काएँ उत्पन्न हुईं, उनका निराकरण साध्वीने प्रथमबार लङ्कामें अग्नि-परीक्षा देकर यह कहते हुए किया था—

जौं मन बच क्रम मम उर माहीं। तजि रघुबीर आन गति नाहीं॥
तौं कृसानु सब कै गति जाना। मो कहुँ होउ श्रीखंड समाना॥

और सतीके प्रतापसे सब श्रेयस्कर हुए—

प्रतिबिंब अरु लौकिक कलंक प्रचंड पावक महँ जरे।
(६। १०८। छ० ५७)

दूसरी बार कलङ्कका निवारण सीताको निर्वासिता होकर करना पड़ा। लोकमें चर्चा चलने लगी थी। श्रीरामने लोकहितमें यह निर्णय ले लिया था—

चरचा चरनिसों चरची जानमनि रघुराइ।
दूत-मुख सुनि लोक धुनि घर घरनि बूझी आइ।
तात तुरतहि साजि स्यंदन सीय लेहु चढ़ाइ।
बालमीकि मुनीस आश्रम आइहु पहुँचाइ॥
(गीतावली ७। २७)

सीताजी निष्कासिता होकर वाल्मीकिके आश्रममें चली गयीं। सीता-चरित्रकी यह विशेषता है कि उन्होंने पतिकी इच्छाके विरुद्ध आनाकानी नहीं की और न अपने अधिकारोंको ही मनमें स्थान दिया। आश्रमतक पहुँचाने-वाले लक्ष्मणसे उन्होंने मात्र इतना ही कहा था—'पालिबी सब तापसिनि ज्यों राजधर्म बिचारि।' सीताजीने अपने लिये किसीसे कुछ न माँगा। विवाहके पूर्व उन्होंने गौरीसे मात्र मनोरथ-पूर्तिकी याचना की और वैवाहिक जीवनमें गङ्गासे अपने पति-देवरके साथ सकुशल लौटनेकी।

श्रीसीताजीके चरित्रका तीसरा रूप उनके सफल मातृत्वमें है। लव-कुशके जन्मके बहुत पूर्व ही उन्होंने श्रीहनुमानजीको पुत्र मान लिया था—'अजर अमर गुननिधि सुत होहू' और आजीवन उन्हें पुत्र मानती रहीं। श्रीसीताजीके मातृहृदयको परखका ही श्री-सुमित्राने वनगमनके समय श्रीलक्ष्मणसे कहा था—'तात तुम्हारि मातु बैदेही'। श्रीसीताजी मात्र इतने ही लोगोंकी माँ नहीं हैं। वे जगज्जननी हैं, संसारकी उद्भवकारिणी हैं। लौकिक रूपसे लव-कुशको जन्म देकर भी सीता दुःखी ही रहीं। उनका जीवन हर्ष-विषादका विचित्र सम्मिश्रण रहा।

दुखी सिय पिय-बिरह तुलसी, सुखी, सुत-सुख पाइ।
आँच पय उफनात सींचत सलिल ज्यों सकुचाइ॥
(गीता० ३६)

श्रीसीताका सम्पूर्ण जीवन भावी पीढ़ीके लिये एक संदेश है। नारी करुणाकी प्रतिमूर्ति है। उसका जीवन जगतकी उत्पत्ति और पालनके लिये है। उसकी पूर्णता मातृत्वमें है और सफलता पातिव्रतमें। वह पुरुषसे भिन्न नहीं, उसका अभिन्न अङ्ग है। वे माया हैं, ब्रह्मकी आह्लादिनी शक्ति हैं।

'गिरा अरथ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।'

भ्रातृ सेवी लक्ष्मणजीका आदर्श चरित्र

(लेखक—डॉ० श्रीदेवकीनन्दनजी श्रीवास्तव)

शेषावतार लक्ष्मण परात्पर परब्रह्मके नरावतार भगवान् रामके अनन्य सहचर, नित्य-बन्धु और परम नैष्ठिक भक्त हैं। वे लोकमें सामान्य धर्मके प्रतिष्ठापक मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामकी रहस्यमयी लीलामे विशेष धर्मके चरम आदर्श हैं। आदिकवि वाल्मीकिने लक्ष्मणको श्रीरामका **'बहिः प्राण इवापरः'** कहकर दोनोको अभिन्नात्माके रूपमें देखा है। लक्ष्मणसे भगवान् रामका इतना प्रगाढ़ ममत्व था कि शैशवकालमे बिना लक्ष्मणके न वे सो पाते न खा पाते थे—**'न च तेन विना निद्रां लभते न पुरुषोत्तमः'**। गोस्वामी तुलसीदासने दोनोके सनातन सम्बन्धकी प्रगाढ़ताकी अभिव्यक्ति राजर्षि जनकके इस गूढ़ वाक्यमें की है—

ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय बेष धरि की सोइ आवा॥

(मानस १। २१६। ४)

एक ही परब्रह्म मानो दो वेष धारण करके प्रकट हुए हैं। तत्त्वतः रामसे अभिन्न होते हुए भी व्यवहारतः लक्ष्मण उनके सनातन सखा और सुहृद् हैं। स्वरूपतः उन्हींकी प्रतिमूर्ति होते हुए भी लीलार्थ उनके पूरक रूपमें हैं। स्वभावसे उग्र लक्ष्मण स्वभावसे प्रशान्त भगवान् रामके चरित्र एव व्यक्तित्वके सम्पोषक हैं। उनका यश रघुवंशमणि श्रीरामकी कीर्ति-पताकाको धारण करनेवाले दण्डके समान है—

रघुपति कीरति बिमल पताका। दंड समान भयउ जस जाका॥

(मानस १। १७। ३)

शुभ लक्षणोंके धाम, भगवान् रामके परम प्रिय तथा सकल जगत्के आधार होनेके कारण ही वसिष्ठने उनका लक्ष्मण जैसा उदार एव उदात्त नाम रखा था—

लच्छन धाम राम प्रिय सकल जगत आधार।
गुरु बसिष्ट तेहि राखा लछिमन नाम उदार॥

(मानस १। १९)

लक्ष्मणजीके स्वभावकी विचित्रता यह है कि उनकी सारी उग्रता, उनका सारा शेषावेश अवतार-लीलाके विविध प्रसङ्गोंमें सर्वांशेन अपने परम इष्टदेव रामके प्रति समर्पित है। उनका सारा व्यक्तित्व रामके व्यक्तित्वके लिये ही अनन्य भावेन सक्रिय रहता है। सिवा भगवान् रामके नित्य सामीप्य-लाभसे उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं, कोई परमार्थ नहीं। उनके विशेष धर्मका रहस्य यही है कि उनके लिये सामान्य धर्मकी उपयोगिता सर्वत्र नगण्य है। कोई भी ऊँचा-से-ऊँचा नैतिक, धार्मिक अथवा सांस्कृतिक-आदर्श उनके लिये उसी सीमातक महत्त्वपूर्ण है जहाँतक वह रामके अनन्य सान्निध्यमें सहायक हो। सहज सलोना उनका गौर शरीर परम सुकुमार और उनका संवेदनशील हृदय राम-प्रेमसे लबालब भरपूर है। परंतु अपने इष्टदेव रामपर किसी प्रकारकी आँच आनेकी सम्भावना मात्रसे वे परम कठोर और असहिष्णु हो उठते हैं। उनका सर्वस्व मनसा-वाचा-कर्मणा रामप्रेमकी प्रगाढ़ताके वशीभूत हो सम्पूर्ण वेगके साथ उर्जस्वित हो उठता है।

धनुष-यज्ञ-प्रसङ्गमें जनक और परशुरामके प्रति लक्ष्मणका तीव्र आक्रोश, चित्रकूट-प्रसङ्गमें भरत-शत्रुघ्नके प्रति उनका असाधारण रोषपूर्ण वीरोत्साह इस तथ्यके ज्वलन्त प्रमाण हैं। रामके चित्तमें तनिक-सी भी उलझन उन्हें सहन नहीं। वे तत्काल उस उलझनके मूलोच्छेद हेतु व्यग्र हो उठते हैं। स्वार्थसम्बन्धसे सर्वथा मुक्त उनकी यह असहिष्णुता भी रागबोधके स्तरपर कितनी भोली और सुकुमार लगती है! सच बात तो यह है कि उनके इस उग्र और अल्हड़ व्यक्तित्वके साहचर्यके बिना मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामके व्यक्तित्वका प्रभाव एवं उत्कर्ष भलीभाँति उजागर न हो पाता। श्रीरामका

असामान्य शील-निर्वाह अनेक अंशोमे लक्ष्मणके असामान्य तेज-प्रवाहके बलपर ही इतना आकर्षक एवं प्रेरणादायी हो सकता है।

धनुष-यज्ञमे आये हुए सारे राजा शंकरके धनुषको तिलभर भी हिलानेमे असमर्थ होकर बैठ जाते हैं और जनक अपना क्षोभ व्यक्त करते हैं। उस समय रघुनन्दन राम तो शान्त रहते हैं पर लक्ष्मणसे नहीं रहा जाता और वे पूरे वेगके साथ जनकपर बरस पड़ते हैं, उनकी उग्रमुद्रा सभीका ध्यान खींच लेती है——

माखे लखनु कुटिल भइँ भौंहें। रद पट फरकत नयन रिसौंहें॥

कहि न सकत रघुबीर डर लगे बचन जनु बान।
नाइ राम पद कमल सिरु बोले गिरा प्रमान॥
(मानस १।२५२)

उनकी यह गर्वोक्ति भी भगवान् रामके प्रतापकी अभिव्यक्तिसे ही प्रेरित है——

सुनहु भानुकुल पंकज भानू। कहउँ सुभाउ न कछु अभिमानू॥
जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकउँ मेरु मूलक जिमि तोरी॥
कमल नाल जिमि चाप चढावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं॥

तोरौं छत्रक दंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौं न करौं प्रभु पद सपथ कर न धरौं धनु भाथ॥
(मानस १।२५३)

परशुराम-लक्ष्मण-संवादमे लक्ष्मणकी व्यङ्ग्योक्तियाँ उनके हास्य-विनोद-व्यङ्ग्य-सम्पन्न वाक्चातुर्यका परिचय देती हैं। बाह्य लोकमर्यादाकी दृष्टिसे कहीं-कहीं उनकी उक्तियोमे शिष्टाचारका उल्लङ्घन भी प्रतीत होता है, पर इष्टदेव रामके प्रति उनका तीव्र अनुराग ही मर्यादातिक्रमण-हेतु उन्हे प्रेरित करता है। परशुराम क्रोधावेशमे अपना संयम खो बैठते हैं, पर लक्ष्मण उनकी सारी डॉट-फटकार सुनते हुए और उन्हे चिढाते हुए स्वयं प्रकृतिस्थ बने रहते हैं; क्योंकि उनकी सारी व्यङ्ग्योक्तियाँ अहंकारकी स्वार्थगत भूमिपर न होकर एकमात्र परम इष्टदेव रामके स्वभाव एवं स्वरूपकी गौरव-प्रतिष्ठाकी ओर अग्रसर हैं। उनके इस प्रकृतिस्थ व्यङ्ग्य-चातुरीकी एक झलक देखिये——

भयउ बाम बिधि फिरेउ सुभाऊ। मोरे हृदयँ कृपा कसि काऊ॥
आजु दया दुखु दुसह सहावा। सुनि सौमित्रि बिहसि सिरु नावा॥
बाउ कृपा मूरति अनुकूला। बोलत बचन झरत जनु फूला॥
जौं पै कृपाँ जरिहिं मुनि गाता। क्रोध भएँ तनु राख बिधाता॥
(मानस १।२८०)

चित्रकूट-प्रसङ्गमे जब दूरसे उड़ती हुई धूलिको देखकर और यह सुनकर कि भरत चतुरङ्गिणी सेनाके साथ आ रहे हैं, रामके चित्तमे कुछ उलझन होती है, उसका संकेतमात्र पाते ही लक्ष्मणका वीरोत्साह पूर्ण अमर्षके साथ जाग उठता है और वे राम-प्रेममे भ्रातृभावकी मर्यादाका अतिक्रमण करके कह उठते हैं——

आजु राम सेवक जसु लेऊँ। भरतहिं समर सिखावन देऊँ॥
राम निरादर कर फलु पाई। सोवहुँ समर सेज दोउ भाई॥
(मानस २।२३०)

भले ही लक्ष्मणका यह वीरोत्साह भरतके स्वभावकी गरिमा और महिमाको देखते हुए स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता, पर रामके अनिष्टकी संभावनाकी शंकामात्र लक्ष्मणकी सारी ऊर्जाको सक्रिय कर देती है। यह रामके प्रति उनकी असाधारण सावधानी और उनके विशेष अनन्य सेवाधर्मकी प्रबल भावनाका उन्मेष है। अयोध्यामे वन-गमनके अवसरपर भगवान् श्रीराम लक्ष्मणको धर्म एवं नीतिका उपदेश देते हुए रुकनेका आदेश देते हैं, पर अपने इष्टदेवका भी वह आदेश उन्हे नहीं सुहाता जो उन्हे इष्ट-सेवाके सुखसे वञ्चित करे। उनके इस विशेष सेवाधर्मके आगे सारे अन्य धर्म गौण हैं, त्याज्य हैं। यही कारण है कि वे माता, पिता, पत्नी आदि सभी आत्मीयजनोका ममत्व त्यागकर सर्वभावेन रामकी सेवाके लिये चल पड़ते हैं। वे किसी धर्म एवं नीतिका विरोध नहीं करते पर अपने विशेष धर्मके मार्गमे आनेवाले किसी भी आदर्शको स्वीकार करनेकी स्थितिमे नहीं हैं।

उनकी अपनी स्नेहपूर्ण विवशताकी अभिव्यक्ति स्वयं उन्हींके शब्दोंमें द्रष्टव्य है—

दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसाईं। लागि अगम अपनी कदराईं॥
नरबर धीर धरम धुर धारी। निगम नीति कहुँ ते अधिकारी॥
मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला। मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥
गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू॥
जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई॥
मोरें सबइ एक तुम्ह स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥
धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥
(मानस २। ७२। ३-४)

लक्ष्मण भगवान् रामके अनन्य सेवक ही नहीं, परामर्शदाता सनातन सखा भी हैं। विरही रामको आश्वासन देनेका दायित्व भी वे निभाते हैं।

लक्ष्मण और रामके प्रगाढ़ स्नेह-सम्बन्धकी सर्वाधिक मार्मिक अभिव्यक्ति लक्ष्मण-मूर्च्छा-प्रसंगमें होती है—जब राम स्वयं लक्ष्मणके बिना जीवन-धारणमें असमर्थ हो रहे हैं। फिर मर्यादापुरुषोत्तम सत्यसन्ध रामको लक्ष्मणकी अनन्य निष्ठासे अभिभूत होकर यहाँतक कहना पड़ा कि—

जौं जनतेउँ बन बंधु बिछोहू।
पिता बचन मनतेउँ नहिं ओहू॥
(मानस ६। ६१। ३)

'बन्धु-बाहु' लक्ष्मणके बिना उनका सारा पुरुषार्थ शिथिल हो जाता है और वे प्राण छोड़नेको आतुर प्रतीत होते हैं—

मेरो सब पुरुषारथ थाको।
बिपति बँटावन बंधु-बाहु बिनु करौं भरोसो काको॥
सुनु, सुग्रीव! साँचेहू मोपर फेर्‌यो बदन बिधाता।
ऐसे समय समर-संकट हौं तज्यो लषन-सो भ्राता॥
गिरि, कानन जैहैं साखा-मृग, हौं पुनि अनुज-सँघाती।
(गीतावली ६। ७)

सजीवनी पाकर मूर्च्छासे जाग्रत् लक्ष्मणसे जब पीडाके सम्बन्धमें पूछते हैं तो प्रेम-पुलकित-विभोर अनुजका कितना भोला, स्निग्ध एवं रोचक उत्तर निम्नलिखित पदमें वर्णित है—

हृदय घाउ मेरे, पीर रघुबीरै।
पाइ सजीवन, जागि कहत यों प्रेमपुलकि बिसराय सरीरै॥
मोहि कहा बूझत पुनि पुनि, जैसे पाठ-अरथ-चरचा कीरै।
सोभा-सुख छति-लाहु भूपकहँ केवल कांति-मोल हीरै।
तुलसी सुनि सौमित्रि-बचन सब धरि न सकत धीरो धीरै।
उपमा राम-लषणकी प्रीतिकी क्यों दीजै खीरै-नीरै॥
(गीतावली ६। १५)

क्षीरनीरको तो विवेकी हंस पृथक् भी कर सकता है, अतः रामसे सर्वात्मना अभिन्न लक्ष्मणके प्रेमकी उपमा उससे कैसे दी जाय?

जिनका अगाध प्रेम कोटि हिमगिरि-जैसे अचल धीर भगवान् मर्यादापुरुषोत्तम रामको इतना अधीर और किंकर्तव्यविमूढ़ बना दे, उन लक्ष्मणके व्यक्तित्वकी तुलना भला रामकथाके किस अन्य पात्रसे सम्भव है? 'चातक चतुर राम स्याम घनके' कहकर उर्मिलावल्लभ अनन्य विशेष धर्मनिष्ठ लक्ष्मणके जिस स्वभावका उद्घाटन गोस्वामी तुलसीदासने विनय-पत्रिकामें किया है, उसमें उनके सारे चरित्रकी रूपरेखाका सहज साक्षात्कार हो जाता है। उर्मिलाका त्यागमय जीवन भी प्रियतम लक्ष्मण सीता एवं रामके प्रति अनन्य निष्ठाकी परिपूर्णताको चरितार्थ करता है। जैसे लक्ष्मणका व्यक्तित्व रामके प्रति सर्वांगेन समर्पित है, वैसे ही सती-साध्वी सुकुमार-हृदय उर्मिलाका परोक्ष योगदान लक्ष्मणके प्रत्यक्ष योगदानकी अपेक्षा कहीं अधिक सूक्ष्म एवं गम्भीर है। सुमित्रानन्दन उर्मिलावल्लभ रामार्पित तन-मन-प्राण साक्षात् परात्पर पुरुषोत्तमके ही सनातन प्रतिरूप सुकुमार-हृदय लक्ष्मणका चरित्र एवं व्यक्तित्व अनूठी रहस्यमयतामें मण्डित है। भ्रातृ-भावके चरित्रोन्नायकके रूपमें इनका चरित्र अनुकरणीय है।

भरतका आदर्श एवं उत्प्रेरक चरित्र

(लेखक—श्रीमुकुटसिंहजी भदौरिया)

प्रनवउँ प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना॥
(मानस १ । १६ । २)

श्रीगोस्वामीजीने रामचरितमानसमें भाइयोंमें सर्वप्रथम श्रीभरतजीके चरणोंकी वन्दना की है। उनके नियम और व्रतोंका वर्णन नहीं किया जा सकता है। कहते हैं कि गोस्वामीजीने स्वयं अपने कानोंसे श्रीभरद्वाज मुनिद्वारा कही रामायण सुनी थी। इधर श्रीभरद्वाज मुनिद्वारा भरतजीको उच्चश्रेणीकी सनद प्राप्त हो चुकी थी। श्रीतुलसीदासजीने उन्हें किस लिये प्रथम स्मरण किया। श्रीभरद्वाज मुनिने कहा था—

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥
(वही २ । २०७ । ४)

अतः गोस्वामीजी इसकी पुष्टि करते हैं—

राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू॥
(वही १ । १६ । २)

श्रीभरतजीका मन रामजीके चरणकमलोंमें भौरेकी भाँति लुभाया हुआ है, कभी उनका पास नहीं छोड़ता। अतः सर्वप्रथम प्रभुप्रेमी भरतकी वन्दना करना आवश्यक था। श्रीभरतजी रामजीके स्वरूप ही हैं। वे व्यूहावतार माने गये हैं। उनका वर्ण भी श्रीरामसे मिलता है। उनके पहचाननेमें भ्रम हो जाता है; यथा—

भरत राम ही की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी॥
(वही २)

श्रीवसिष्ठजी नामकरण-संस्कार कर रहे हैं। उन्होंने विश्वका भरण-पोषण करनेवाले होनेके कारण इनका नाम 'भरत' रखा। मुनिने कहा था—

बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥
(वही १ । १९६ । ४)

धर्मके आधारपर ही सृष्टि है और धर्म ही पृथ्वीको धारण किये हुए है। भरत इस धर्मकी कीलको धारण करने वाले थे—

जौं न होत जग जनम भरत को। सकल धरम धुर धरनि धरत को॥
(वही २ । २३२ । १)

श्रीरामजीको मर्यादापुरुषोत्तम कहा गया है; उन्होंने कभी धर्मकी मर्यादा भङ्ग नहीं की। वे लक्ष्मणजीसे स्वयं कहते हैं कि भरतजीका चरित्र-चित्रण करना साधारण बात नहीं है। वह साधारण व्यक्तिकी बुद्धिसे परे है—

सुनहु लखन भल भरत सरीसा। बिधि प्रपंच महँ सुना न दीसा॥
(वही २ । २३० । ४)

'लक्ष्मण! सुनो, भरत-सरीखा उत्तम पुरुष ब्रह्माकी सृष्टिमें न तो कहीं सुना गया और न देखा गया।' इन सबका कारण भरतकी भ्रातृ-भक्ति, प्रभु-चरण-प्रेम और उनका आदर्शचरित्र ही था। जनकपुरमें धनुष टूटता है। अवधपुरीमें दूत वहाँसे समाचार लेकर आते हैं। उस समाचारको सुनकर भरतजी पुलकित हो जाते हैं। भरतजीके पवित्र प्रेमको देखकर सारी सभाने सुख पाया। महाराज दशरथके आदेशपर 'चलहु बेगि रघुबीर बराता।' भरत और शत्रुघ्न 'पुलक प्रेम पूरे दोउ भ्राता।' आप कहेंगे कि दोनो भाई पुलकित हुए, इसमें भरतकी ही क्या विशेषता रही। भाई! शत्रुघ्न तो भरतके अनुगामी थे। भरतको देखकर उन्हें तो पुलकित होना ही था; क्योंकि वे थे 'सुर सुसील भरत अनुगामी।'

श्रीभरतलालजी परिवारके शुभ-चिन्तक थे। माता कैकेयीके वर-याचनाके समय श्रीभरतलालजी ननिहालमें थे। परंतु,

अनरथु अवध अरंभेउ जब तें। कुसगुन होहिं भरत कहुँ तब तें॥
(वही २ । १५६ । ३)

अयोध्यामें अनर्थ प्रारम्भ होते ही भरतजीको अपशकुन होने लगे। वे रात्रिमे भयंकर स्वप्न देखते,

भ्रातृचरित्रके अनुपम आदर्श

उन स्वप्नोंके बारेमें जागनेपर करोड़ों प्रकारकी बुरी-बुरी कल्पनाएँ किया करते और इनके निवारणार्थ वे—

मागहिं हृदयँ महेस मनाई। कुसल मातु पितु परिजन भाई॥
(मानस २। १५६। ४)

शिवजीसे परिवारकी कुशल मनाते हैं। इसी बीच अयोध्यासे दूत आ जाते हैं। दूतोंने कहा—'भरतजी! आपको गुरुजीने बुलाया है।' फिर क्या था—

चले समीर बेग हय हाँके। नाघत सरित सैल बन बाँके॥
हृदय सोचु बड़ कछु न सुहाई। अस जानहिं जियँ जाउँ उड़ाई॥
(वही २। १५७। १)

हवाके समान चलनेवाले घोड़ोंको हाँकते हैं कि वे और तेज चलें। विकट नदियाँ, पर्वत और जंगलोंको लाँघते जा रहे हैं। उनके (भरतके) हृदयमें बड़ा सोच है। कुछ सुहाता नहीं। मनमें ऐसा विचार कर रहे हैं कि उड़कर पहुँच जाऊँ। परिवारसे चिन्तित होनेके कारण मार्गमें पुल आदिका विचार नहीं, सीधे चल रहे हैं। फिर भी आतुर हैं कि शीघ्र अयोध्या पहुँच जायँ। ऐसे थे, भरतजी परिवारके शुभचिन्तक। श्रीभरतजी अपने परिवारके सर्वप्रिय व्यक्ति थे। माता कौसल्याजीसे श्रीराम वन-गमनकी आज्ञा माँग रहे हैं। माता कहती हैं—

राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥
(वही २। ५५)

(राजा दशरथजीने) राज्य देनेको कहकर तुम्हें वन दे दिया, इसका मुझे लेशमात्र दुःख नहीं है। (दुःख तो इस बातका है कि) तुम्हारे बिना भरतको, महाराजको और प्रजाको बड़ा भारी कष्ट होगा। सबसे पहले माताजीको श्रीभरतलालकी चिन्ता हुई। श्रीरामचन्द्रजी चित्रकूटकी पर्णकुटीमें रहते हुए 'भरत सनेह सील सेवकाई'का स्मरण कर 'कृपा सिंधु प्रभु होहिं दुखारी।' तथा प्रभुको दुःखी देखकर 'लखि सिय लखन बिकल होइ जाहीं॥' चित्रकूटमें माता कौसल्या पुनः अपने वचनोंकी पुष्टिमें सुनयनाजीसे कहती हैं—

लखनु रामु सिय जाहुँ बन भल परिनाम न पोचु।
गहबरि हियँ कह कौसिला मोहि भरत कर सोचु॥
(वही २। २८२)

वे भरतजीको सान्त्वना भी देती हैं—

'कहहिं रामु प्रिय तात तुम्ह सदा बचन मन काँय।'

तथा बार-बार पुष्टि भी करती हैं—'तुम्ह रघुपतिहि प्रानहु तें प्यारे।' श्रीभरद्वाजजीने भी भरतजीसे इसका समर्थन करते हुए कहा था—

'सुनहु भरत रघुबर मन माहीं। पेमु पात्रु तुम्ह सम कोउ नाहीं॥'
'लखन राम सीतहि अति प्रीती। निसि सब तुम्हहि सराहत बीती॥'

निषादराज भी सौगन्ध खाकर भरतको विश्वास दिलाते हैं—'तुलसी न तुम्ह सो राम प्रीतमु कहत हौं सौहें किएँ।' इन प्रकरणोंसे सिद्ध है कि श्रीभरतजी परिवार-प्रिय व्यक्ति थे। वे संकोची भी कम न थे। संकोचवश वे कभी श्रीरामसे सीधी बात भी नहीं करते थे। उन्होंने स्वयं कहा है—

महूँ सनेह सकोचबस सनमुख कही न बैन।
दरसन तृपित न आजु लगि पेम पिआसे नैन॥

ऐसे संकोची एवं अनुरागी, भ्रातृ-भक्त भरतजीको जब पता लगा कि महाराज दशरथकी मृत्यु हो गयी है तो वे विषादसे बेहाल हो गये और तात! तात!! हा तात!!! पुकारते हुए भूमिपर गिर पड़े। परंतु, जब उन्होंने कैकेयीसे राम-वन-गमन सुना तो—

भरतहि बिसरेउ पितु मरन सुनत राम बन गौनु।
हेतु अपनपउ जानि जियँ थकित रहे धरि मौनु॥

श्रीरामजीका वन जाना सुनकर वे पितृ-वियोग-विषाद और घोर दुःख तुरत भूल गये। हृदयमें इस अनर्थका कारण स्वयं अपनेको ही जानकर वे मौन हो गये। वे सन्न रह गये। बड़ा संकोच हुआ उन्हें।

उन्होंने कैकेयीको बड़े कठोर शब्द कहे । परन्तु ऐसी दशामें भी वे दयाके सागर बने रहे । जिस मन्थराने यह सब उत्पात उत्पन्न किया था, उसे जब श्रीशत्रुघ्नजी दण्ड देने लगे तो छुड़ा दिया 'भरत दयानिधि दीन्हि छुड़ाई ।' माताको वे सान्त्वना देते समय दोनों हाथ जोड़कर पवित्र और सीधी बातें बोले—'हे माँ ! यदि राम-वन-गमनमें मेरी सम्मति हो तो कर्म, वचन और मनसे होनेवाले जितने पातक और उपपातक हैं, जिन्हें कविगण पाप गिनते हैं, वे सब पाप मुझे लगें ।'

वे श्रीभरद्वाज मुनिकी पहुनाई संकोचवश अस्वीकार न कर सके और यह सोचकर कि यह बिना अवसर बेढंगा संकोच आ पड़ा, बोले—'सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा ।' पहुनाई स्वीकार की । परंतु श्रीभरद्वाजजीकी आज्ञासे रातभर भोग-सामग्रियोंके पास रहनेपर भी भरतजीने मनसे भी उनका स्पर्श नहीं किया । धन्य हैं, श्रीरामप्रेम ! कैसे करते ? 'राम लखन सिय बिनु पग पनहीं । करि मुनि बेष फिरहिं बन बनहीं ॥' इस दुःखसे उनकी छाती जल रही थी । उन्हें 'भूख न बासर नींद न राती ॥' कुछ नहीं सुहाता था । उन्होंने अयोध्याकी राज्यसभामें अपनी स्पष्ट घोषणा की—

> आपनि दारुन दीनता कहउँ सबहि सिरु नाइ ।
> देखें बिनु रघुनाथ पद जिय कै जरनि न जाइ ॥

अब वे श्रीरामको लौटाने चल पड़े । चित्रकूट जाते समय वे स्वयं उपवास करते, कन्द-मूल-फल खाते और भूमिपर शयन करते थे । प्रथम दिनकी यात्राका प्रभाव भरतजीके पीछे चलनेवालोंपर पड़ा ।

फिर क्या था ? अश्वारोही अश्वको, गजारोही गजको और रथारोही रथको छोड़कर पैदल चलने लगे । परन्तु अपने पुत्रोपम प्रजाकी और सानुज भरतकी इस भावमयी यात्राका अवलोकन करनेमें राजमाता कौसल्याजी असमर्थ हो गयीं । वे डोली रुकवाकर कहने लगीं—मेरे लाल ! तुम रथपर आरूढ़ हो लो, अन्यथा तुम्हारा यह प्रिय परिवार महान् क्लेश प्राप्त करेगा । कवि-कुल-कमल-दिवाकर पूज्यचरण श्रीगोस्वामीजीने राजमाताद्वारा यह भी कहला दिया कि यदि न पैदल चलेगा तो मैं भी शिविकाका त्याग कर दूँगी । राजमाताकी आत्मीयतापूर्ण मधुरिमा-रससानी अनुरागवाली और आत्मस्निग्धा वाणी सुनकर भरतजी संकोचवश ननु-नच न कर सके और—

> सिर धरि बचन चरन सिरु नाई । रथ चढ़ि चलत भए दोउ भाई॥

अब भरतलालजीकी एक और अनुरागमयी झाँकीके दर्शन करें—

> प्रातक्रिया करि मातु पद बंदि गुरहि सिरु नाइ ।
> आगें किए निषाद गन दीन्हेउ कटकु चलाइ ॥
> (मानस २ । २०२)

प्रातःकालीन शौच, स्नान, सन्ध्या-वन्दनादि दैनिक कर्मोंसे निवृत्त होकर भरतजीने क्रमशः सम्मान्य माताओं तथा मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठजीके चरणोंकी वन्दना की । वन्य-पथ-प्रदर्शक निषादगणको आगे करके सेना- (समाज-) को प्रस्थान करनेकी अनुमति दे दी । तत्पश्चात् निषाद-राजको आगे करके इन्हींके संरक्षणमें माताओंकी शिविकाओंने प्रयाण किया । श्रीभरतलालजीने श्रीशत्रुघ्नजी-को बुलाकर निषादराजका सहगामी बना दिया । श्रीशत्रुघ्नजीको भी भरतजी आज अपने सहवासमें नहीं ले रहे हैं । यह एक विशेष बात है । भूसुरवृन्दोंके साथ गुरुदेवने भी प्रस्थान किया । समस्त समाजके प्रस्थान कर लेनेपर, भरतजी परम पवित्र-सलिला श्रीसुरसरिताकी वन्दना करके सानुज श्रीसीतारामका मङ्गलमय स्मरण कर आगे बढ़े । पर आजकी गतिविधिमें भूमि-आकाशका अन्तर है । अन्य समाज, समस्त जनसमुदाय वाहनोंपर है और श्रीभरतजी 'पयादेहि पाए' हैं । अश्व लेकर सुसेवक साथमें चल रहे हैं

और सोच रहे हैं कि कुछ दूर चलनेपर स्वामी अवश्य घोड़ेपर सवार होंगे। परंतु, यह क्या? बहुत समयपर्यन्त भी श्रीभरतजी उनकी ओर देखतेतक नहीं हैं। इसपर उन सेवकोंका धैर्य टूट जाता है। वे लोग प्रार्थना करने लगे—'स्वामिन्! आपके सुकोमल चरण इस कठोर भूमिमें चलने योग्य नहीं हैं। नाथ! अश्वारूढ़ हो जायँ।' इन वचनोंको सेवकोंने कई बार कहा—

कहहिं सुसेवक बारहिं बारा। होइअ नाथ अस्व असवारा॥

परंतु श्रीभरतलालजी प्रेमपर अटल रहे। उन्होंने जो उत्तर दिया, उसे श्रीमहाकविके शब्दोंमें ही पढ़िये—

रामु पयादेहि पायँ सिधाए। हम कहँ रथ गज बाजि बनाए॥
सिर भर जाउँ उचित अस मोरा। सब तें सेवक धरमु कठोरा॥

'भैया! जिस पथपर श्रीरामके चरण पड़े हैं, उचित तो यह है कि उस पथपर मेरा मस्तक पड़े।' वे पैदल ही चलते रहे। भरतकी इस पैदल यात्राका समाचार जब जनसमुदायको सन्ध्या-समय प्रयागमें मिला तब वे सब अत्यन्त दुखी हुए। आजकी इस प्रेममयी यात्राने श्रीभरतजीके मनपर तो नहीं, परंतु पैरोंमें छाले डाल ही दिये—

झलका झलकत पायन्ह कैसें। पंकज कोस ओस कन जैसें॥

श्रीरामजीको लौटानेके लिये भरतलालजी जन-समुदाय लेकर चित्रकूट पहुँचे। राजसभामें विचार हो रहा है—'अब क्या किया जाय?' उस समय मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्रजी भरतसे सकोच दूर करके स्पष्ट वचन कहनेको कहते है—

मनु प्रसन्न करि सकुच तजि कहहु करौं सोइ आजु।

यह सुनकर भरतजीने 'मिटी मलिन मन कलपित सूला।' यह समझकर अपने हृदयका संकोच श्रीरामजीकी ओर प्रेरित कर कहा—प्रभो!

प्रभु प्रसन्न मन सकुच तजि जो जेहि आयसु देब।
सो सिर धरि धरि करिहि सबु मिटिहि अनट अवरेब॥

और, श्रीरामचन्द्रजी यह सुनकर चुप रह गये।

श्रीभरतजीके संकोचका एक और उदाहरण देखिये—श्रीरामचन्द्रजी वनसे लौट आये हैं। अयोध्यामें राज-काज सुचारुरूपसे चल रहा है। भाइयोंसहित श्रीरामजी सुन्दर उपवन देखने गये। वहाँ सनकादि मुनि आ गये। सत्सङ्गके पश्चात् मुनिगण विदा हुए। अब श्रीहनुमान्‌जीने श्रीरामसे कहा—

नाथ भरत कछु पूछन चहहीं। प्रस्न करत मन सकुचत अहहीं॥

श्रीरामने कहा—मुझमें और भरतमें कुछ अन्तर नहीं है। वे बोले—

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ। भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ॥

श्रीरामके चरित्रसे होड़ लेनेकी सामर्थ्य रामचरितमानसमें केवल भरतको ही है। कुछ बातोंमें वे श्रीरामसे भी आगे हैं। श्रीरामने पिताके वचन पूरे करनेके लिये अयोध्याके चक्रवर्तित्वका जन्मसिद्ध अधिकार हँसते-हँसते छोड़ दिया था; किंतु भरतने तो उस राज्यको अनायास ही पाकर और माता कौसल्या, वसिष्ठ, मन्त्रिजन एवं प्रजा ही नहीं, स्वयं श्रीरामके अनुरोध करनेपर भी उसकी ओर आँख उठाकर देखातक नहीं। ऐसा था, भरतका अभूतपूर्व त्याग। राजसभामें श्रीवसिष्ठजी कहते हैं—

यह सुनि समुझि सोचु परिहरहू। सिर धरि राज रजायसु करहू॥
रायँ राजपदु तुम्ह कहुँ दीन्हा। पिता बचनु फुर चाहिअ कीन्हा॥

मन्त्री हाथ जोड़कर कहते हैं—

कीजिअ गुर आयसु अवसि······।

माता कौसल्या धीरज धर कर कहती हैं—

सिर धरि गुर आयसु अनुसरहू। प्रजा पालि परिजन दुखु हरहू॥

परंतु भरतजी सबको उचित उत्तर देते हैं—

एकहिं आँक इहइ मन माहीं। प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाहीं॥

चित्रकूटमें महाराज जनक भी भरतके त्यागके प्रमाणका समर्थन करते हैं। वे कहते हैं—

परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे॥

श्रीरामने स्वयं भरतजीके त्यागपर अपना विश्वास प्रकट किया है। वे श्रीलक्ष्मणजीको समझाते हैं—

भरतहि होइ न राजमदु बिधि हरि हर पद पाइ।

चित्रकूटसे लौटकर भरत नन्दिग्राममें रहे। उनके उस तप और सेवाका चित्र महाकविने खींचा है—

जटाजूट सिर मुनि पट धारी। महि खनि कुस साँथरी सँवारी॥
असन बसन बासन ब्रत नेमा। करत कठिन रिषि धरम सप्रेमा॥
भूषन बसन भोग सुख भूरी। मन तन बचन तजे तिन तूरी॥

श्रीभरतजीके नियमो और व्रतोंका वर्णन करनेके लिये महाकवि ही नहीं, अपितु सभी संकोच करते हैं।

बरनत सकल सुकबि सकुचाहीं। सेस महेस गिरा गमु नाहीं॥

भरतजी—

पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। जीह नाम जप लोचन नीरू॥

—रूपमें रहते थे। धन्य है उनका सेवाव्रत! उनके इस तपकी सब साधु सराहना करते हैं। सबने उन्हें रामकी तुलनामें उच्च स्थान दिया है—

दोउ दिसि (राम और भरत) समुझि कहत सब लोगू॥
सब बिधि भरत सराहन जोगू॥

श्रीभरतजी रामचरितमानसमें सर्वश्रेष्ठ रामभक्त थे। वे स्वयं कहते थे कि 'सियपति सेवकाई'में ही मेरा हित है। सच पूछिये तो भरत श्रीराम-स्नेहके रूप थे। उनकी भक्तिके कुछ प्रमाणक राम, जो भरतको प्राप्त हुए थे, उन्हें देखिये—भरद्वाज मुनि कहते हैं।

तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू॥

श्रीमुनिने भरतका स्वरूप कितना स्पष्ट कर दिया है। कोई भरतको चाहे कुछ समझे, परंतु श्रीमुनिकी सम्मतिमें वे मूर्तिमान् श्रीराम-प्रेम थे। देवगुरु श्रीबृहस्पति भी कहते हैं—

राम भगत परहित निरत पर दुख दुखी दयाल।
भगत सिरोमनि भरत ते जनि डरपहु सुरपाल॥

श्रीभरतजी चित्रकूट जा रहे हैं। श्रीसुरेशजी सोचमें पड गये, कहीं भरतजी श्रीरामको लौटा न लायें। अतः वे सहायतार्थ अपने गुरु बृहस्पतिजीके पास गये। गुरुजी बोले—खबरदार! अब भरतके मार्गमें कोई बाधा न डालना; क्योंकि—

जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥

और—

भरत सरिस को राम सनेही। जगु जप राम रामु जपु जेही॥

रानी सुनयनाको समझाते हुए जनकजी कहते हैं कि यद्यपि रामजी समताकी सीमा हैं; परंतु भरतजी भी प्रेम और ममताकी सीमा हैं—

अवधि सनेह भरत ममता की। जद्यपि राम सीम समता की॥

श्रीराम भी चित्रकूटमें भरतसे मिलनेके बाद कहते हैं—'भैया भरत! तुम दुःखी क्यों हो? अरे! तुम्हारे नाम-स्मरणमात्रसे सारे पाप और अज्ञान मिट जाते हैं। भरत! यह पृथ्वी तुम्हारे ही रखे रह रही है—शिवका साक्ष्य देकर सच कहता हूँ—

कहउँ सुभाउ,सत्य सिव साखी। भरत भूमि रह राउरि राखी॥

माता कौसल्या चित्रकूटमें रानी सुनयनासे कहती हैं कि 'भरतके शील, गुण, नम्रता, बड़प्पन, भाईपन, भक्ति, विश्वास और भलाइयोंका वर्णन करनेमें सरस्वतीजीकी बुद्धि भी हिचकिचाती है। सीपसे कहीं समुद्र उलीचा जा सकता है।' श्रीराम-माताने अपने प्रमाणमें कई हेतुओंका उल्लेख कर भरतको अतुल्य पात्र घोषित किया है—

भरत सील गुन बिनय बड़ाई। भायप भगति भरोस भलाई॥
कहत सारदहु कर मति हीचे। सागर सीप कि जाहिं उलीचे॥

महर्षि भरद्वाजने प्रयागमें भरतको जो उपदेश दिये हैं, उनके बहाने महाकवि तुलसीदासजीने संसारको भरत-चरित्रका अवगाहन कराया है। उनके उद्गार हैं—

तुम्ह कहँ भरत कलंक यहु हम सब कहँ उपदेसु।
राम भगति रस सिद्धि हित भा यह समउ गनेसु॥

सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं। उदासीन तापस बन रहहीं॥
सब साधन कर सुफल सुहावा। लखन राम सिय दरसनु पावा॥
तेहि फल कर फलु दरस तुम्हारा। सहित पयाग सुभाग हमारा॥

(मानस २। २०८, २०९। ३)

*

और—

भरत धन्य तुम्ह जसु जगु जयऊ ।

(मानस २ । २०९ । ३)

इस प्रसङ्गमे यह भी ध्येय है कि सत्ता प्राप्त करनेहेतु प्रायः सर्वत्र दो पक्षोमे युद्ध, विवाद अथवा संघर्ष हुए है । परंतु, यहाँ सत्ता-त्यागके लिये विवाद होनेपर सत्ताको दोनो ओरसे त्यागा गया है और इस प्रकार श्रीराम सत्ता छोडने और श्रीभरत सत्ता ग्रहण न करनेमें विजयी रहे है अर्थात् दोनों पक्षोंकी जीत ही रही है । क्या आज हम भरत-चरित्रका अध्ययन करके वर्तमान भाई-भाईके हत्याकाण्डों, मुकदमोंसे घृणा करना सीख सकते हैं ? अवश्य, अध्ययन तो करे । आज हम छोटे-छोटे पदोंके प्राप्ति-हेतु भाईकी हत्यातक करनेमें नहीं चूकते ! कहाँ गया हमारा सनातन चरित्र ?

भरत चरित करि नेमु तुलसी जे सादर सुनहिं।
सीय राम पद पेमु अवसि होइ भव रस बिरति॥

(मानस २ । ३२६)

भगवान् श्रीकृष्णके आदर्श चरित्रसे शिक्षा

(लेखक—श्रीरतनलालजी गुप्त)

समाजके चरित्रका जब ह्रास होने लगता है, उसके शीर्षस्थ व्यक्ति जब धर्मके वास्तविक रूपके ज्ञानसे वञ्चित हो जाते हैं अथवा जीवनमे उसकी अपेक्षा नहीं समझते और ऐसे ही जब अधर्म ही धर्मका स्थान ग्रहण कर लेता है, तब श्रीभगवान् अवतार ग्रहण करते हैं । इससे श्रुति, स्मृति एवं ऋषियोके कृतिवैचित्र्यसे धर्माधर्मके निर्णयमे असमर्थ साधकगण उनके चरित्रका श्रवण, कीर्तन, मनन एवं अनुकरण कर अपने वैयक्तिक, जातीय एवं राष्ट्रिय चरित्रका निर्माण कर सकें । अतएव यह धारणा समीचीन प्रतीत होती है कि भगवान् श्रीकृष्णका अवतार मानव-समाजको चरित्र-शिक्षा प्रदान करनेके उद्देश्यसे ही हुआ था ।

श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके अवसानमें श्रीकृष्णके उदात्त कर्मजीवनका सूत्रवत् परिचय देते हुए व्यासदेव कहते हैं—**'यत्कृतो गोत्रधर्मः, कृष्णस्यैतन्न चित्रं क्षितिभरहरणं कालचक्रायुधस्य'** (श्रीमद्भा० १० । ९० । ४७) अर्थात् 'जिन्होने ऋषियोके वंशो एवं प्रवरोंके धर्मोंका विधान किया, उन कालचक्रधारी श्रीकृष्णके लिये भूमिके भारका उद्धार कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ।' कालके अनवच्छिन्न प्रवाहमे सृष्टिके पूर्वजोके भी वे ही गुरु हैं । महर्षि पतञ्जलिने भी अपने योगसूत्रमें यह बात कही है—**'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**।' ऐसी स्थितिमें लोकचरित्रके शीर्ष-स्थानीय ऋषियोंने अपने पूर्ववर्ती जिन ऋषियोंके चरित्रका सुतरां अनुकरण करके अपने जीवनको दूसरोके लिये आदर्शरूपमें उपस्थापित किया, श्रीकृष्णका आदर्श चरित्र उनके भी उदात्त चरित्रकी आधारशिला बना । जैसे मनुष्य सीढ़ी-चौकी आदि किसी भी स्थानपर अपने पैर रखे, वे पृथ्वीपर ही रखे जाते हैं, उसी प्रकार किसी भी पूर्ववर्ती महापुरुषके जीवनादर्शपर सुसंगठित ऋषियोंका जीवन श्रीकृष्णके जीवनके चरित्रादर्शके धरातलपर ही आधृत है । भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करती हुई श्रुतियाँ कहती हैं—**'अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्'** (श्रीमद्भा० १० । ८७ । १५) ।

अपने अवतारजीवनमे श्रीकृष्ण एक आदर्श योगी, आदर्श वीर, आदर्श आध्यात्मिक नेता, आदर्श राष्ट्रनिर्माता, आदर्श गुरु, आदर्श सखा एवं आदर्श पति थे; किंतु मानवजीवनके इन आदर्श रूपोंके अतिरिक्त उनका एक

अलोकसामान्य रूप और भी था, जिसमें उन षडैश्वर्य-सम्पन्न, मायाधीश प्रेमानन्दघनमूर्तिमें भागवती सत्ताका परिपूर्णतम प्रकाश हुआ था। वे समस्त जागतिक सुख-दुःख, पाप-पुण्य, कर्तव्याकर्तव्य, विधि-निषेधके ऊर्ध्व स्तरपर विराजमान रहकर आत्मानन्दका सम्भोग करते रहते थे; इसी कारण उनकी सभी लीलाएँ, सभी चरित्र, सभी कर्म मायाधीन जीवोंके लिये अनुकरणीय नहीं हो सकते।

उनके कौन-से कर्म जीवोंके द्वारा अनुकरणीय हो सकते हैं, इसको समझनेके लिये उनके परम भक्त उद्धवके अनुसार हम उनके कर्मोंको दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। श्रीउद्धव श्रीकृष्णसे कहते हैं—**'योऽन्तर्बहिस्तनुभृतामशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति।'** (श्रीमद्भा० ११। २९। ६) अर्थात् जो शरीरधारियोंके भीतर और बाहर अन्तर्यामी और आचार्य दो विग्रह धारण करके उनके समस्त अशुभ संस्कारोंका नाश करते हैं, वे अन्तर्यामी पुरुष अपनेको दिव्य प्रेम, प्रेमानन्दघनमूर्तिको प्रकाशित करके अपने प्रेमी भक्तोंमें कृष्ण-प्रेम, कृष्णकामका संवर्धन एवं विस्तार करके अपने असीम प्रेम, अनन्त आनन्दका वितरण करते हैं; उनके चरित्र, कर्म, लीलाएँ, स्मरण, श्रवण एवं गायनकी वस्तु होती हैं एवं उससे अधमाधम, पतितसे भी पतित जीवका उद्धार हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥
(श्रीमद्भा० १०। ३३। ३६)

इसके अतिरिक्त श्रीभगवान्‌के वे चरित्र और कर्म जो उनके द्वारा करुणाघनविग्रह आचार्यरूपसे सम्पादित किये जाते हैं, जिनके अन्तर्गत उनके उपदेश-प्रदान, सदाचार-पालन और शास्त्रीय विधिसे जीवनयापन आदि आते हैं, समाजके लिये अनुकरणीय होते हैं। उनका अनुगमन कर मनुष्य अपने चरित्रका निर्माण कर सकते हैं। महाभारत, श्रीमद्भागवत एवं अन्यान्य पुराणोंमें उनकी इस प्रकारकी आदर्श दिनचर्या, वेद-शास्त्रानुमोदित सदाचार एवं उपदेश सर्वत्र उपलब्ध होते हैं।

आदर्श दिनचर्या

श्रीकृष्णकी आदर्श दिनचर्या श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार वर्णित हुई है—श्रीकृष्ण प्रतिदिन ब्राह्ममुहूर्तमें ही उठकर जलसे मुख प्रक्षालन करते और प्रशान्त मनसे स्वयंप्रकाश मायातीत आत्मस्वरूपका ध्यान करते थे। तदनन्तर वे निर्मल एवं पवित्र जलमें विधिपूर्वक स्नान करते, फिर शुद्ध वस्त्र धारण करके सन्ध्योपासना आदि द्विजोचित नित्यकर्म करते और तत्पश्चात् अग्निहोत्र एवं मौन-धारणपूर्वक गायत्री-जप करते थे। उसके बाद उदित होते हुए सूर्यका उपस्थान करके अपने कला-स्वरूप देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करते, फिर कुलके वृद्ध पुरुषों और ब्राह्मणोंकी विधिवत् पूजा करते थे। इसके पश्चात् वे ब्राह्मणोंको वस्त्र एवं आभूषणोंसे विभूषित सवत्सा पयस्विनी गौओंका दान देते, फिर अपने विभूतिरूप गौ, ब्राह्मण, देवता कुलके बड़े-बूढ़ों, गुरुजनों और समस्त प्राणियोंको प्रणाम करके माङ्गलिक वस्तुओंका स्पर्श करते थे।

चरित्र-निर्माण-सम्बन्धी उपदेश

भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें यत्र-तत्र-सर्वत्र योगी, भक्त, ज्ञानी, गुणातीत आदि साधकोंके लक्षणों, आसुरी एवं दैवी सम्पद् तथा सात्त्विक, राजस गुणोंके भेदोंके वर्णनपूर्वक मानवचरित्रके सभी विभागोंका सूक्ष्मतम विश्लेषण करते हुए आदर्श मानव-चरित्रकी स्थापना की है। जिसका अनुसरण कर मनुष्य अपने चरित्रको उच्चताके ऐसे शिखरपर उपनीत कर सकता है, जिससे उसका चरित्र स्वयं दूसरोंके लिये अनुकरणीय बन जाय। इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमें उन्होंने मानवमात्रके

चरित्र-संगठनके लिये ऋषियो एव स्वय अपने द्वारा आचरित श्रुति-स्मृतिसे अनुमोदित साधारण नियमावलीका उपदेश अपने परम भक्त उद्धवके समक्ष इस प्रकार किया है—

'अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), अनासक्ति, लज्जा, अपरिग्रह, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मान, स्थिरता, क्षमा और निर्भयता—ये बारह यम हैं और इसी प्रकार बारह नियम हैं—शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), जप, तप, होम, श्राद्ध, अतिथिसत्कार, भगवत्पूजा, तीर्थयात्रा, परोपकारकी चेष्टा, सन्तोष और गुरुसेवा। जो पुरुष इनका पालन करते हैं, वे भोग और मोक्ष दोनों प्राप्त कर लेते हैं।'

चरित्र-निर्माणके इन उपर्युक्त नियमोंका श्रीकृष्णने केवल उपदेश ही नहीं किया, अपितु उन्होंने अपने जीवनमें इनको सम्यक्-रूपेण अनुष्ठित भी किया था। इसके उदाहरण उनके कर्मजीवनके अनेक प्रसङ्गोंमें प्रकाशित हुए हैं। पाण्डुवंशके अन्तिम संतान-बीज उत्तराके गर्भपर जब द्रोणकुमार अश्वत्थामाने दुर्विषह ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया, उस अवसरपर श्रीकृष्णने उस परिक्षीण गर्भको पुनर्जीवित करनेके लिये अपने जीवन-व्रतकी जो शपथ उचरित की है एवं जिसके अमोघ प्रभावसे वह गर्भस्थ शिशु पुनः जीवित हो उठा है, उसमें श्रीकृष्णका लोक-समाजद्वारा अनुकरणीय आदर्श चरित्र आलोकित हो उठा है।

चरित्रगत गुण

श्रीकृष्णके परमधाममें प्रवेशके पश्चात् विरहातुरा भूदेवी वृषभरूपधारी धर्मसे उनके गुणोंका स्मरण करती हुई कहती है कि उन भगवान् अच्युतमे सत्य, पवित्रता, करुणा, क्षमा, त्याग, संतोष, सरलता, शम, इन्द्रियसंयम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्रविचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शौर्य, तेज, बल, स्मृति, स्वतन्त्रता, कौशल, कान्ति, धैर्य, मृदुता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, ओज, बल, सौभाग्य, गम्भीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, गौरव और निरहङ्कारिता—ये उन्तालीस एवं ब्राह्मणभक्ति और शरणागतवत्सल आदि महान् गुण कभी क्षीण नहीं होते थे। महत्त्वाकाङ्क्षी पुरुषोंको इनका निरन्तर सेवन करना चाहिये—

सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः संतोष आर्जवम्।
शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥
ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः।
स्वातन्त्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यं मार्दवमेव च॥
प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलं भगः।
गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिर्मानोऽनहंकृतिः॥
एते चान्ये च भगवन्नित्या यत्र महागुणाः।
प्रार्थ्या महत्त्वमिच्छद्भिर्न वियन्ति स्म कर्हिचित्॥

इस प्रकार श्रीकृष्णचन्द्रद्वारा उपदिष्ट, अनुमोदित एवं आचरित आदर्श चरित्रका सङ्कीर्तन, श्रवण, मनन एव अनुसरण करके वैयक्तिक, जातीय एवं राष्ट्रिय चरित्रको उन्नत करके मानवमात्र जगत्मे—अभाव, विषाद, दुःख-दैन्यके स्थानपर परिपूर्णता, आनन्द, सुख-शान्तिका उपभोग करते हुए विश्वके जड़-चेतन प्रत्येक पदार्थमे उन परम प्रभुकी मंगलमयी सत्ताका अनुभव कर सकते हैं। यही चारित्र्य-अर्जनका चरम लाभ है। अतः श्रीकृष्णके आदर्श चरित्रसे शिक्षा लेकर हमे उसीकी साधनामे तत्पर हो जाना चाहिये। शिक्षाकी सफलता उसके श्रवण और मननमें ही नहीं, निदिध्यासनमें निहित होती है।

श्रीहनुमान्‌के चरित्रसे शिक्षा

(लेखक—डॉ० श्रीस्वर्णकिरणजी, एम० ए०, पी-एच्० डी०)

हनुमान्‌जी श्रीरामके परम भक्त एवं आदर्श दूतके रूपमें विख्यात हैं। आज्ञापालन, सेवाभाव, शौर्य-प्रदर्शन, विवेक-प्रयोग आदिके कारण इनका चरित्र परम आदर्श है। जहाँ-जहाँ रामकी पूजा, वहाँ-वहाँ हनुमान्‌का दर्शन—यह हनुमान्‌जीको देवतारूपमें सिद्ध करता है। वस्तुतः रामावत् वैष्णव-धर्मके विकासके साथ हनुमान्‌जीका दैवीकरण हो गया। पहले ये रामके पार्षद तथा पुनः पूज्य देवताके रूपमें स्वीकार कर लिये गये। हनुमत्-पूजा अथवा मारुति-पूजाका एक अलग सम्प्रदाय बन जाना यह इस बातका सूचक है। 'हनुमत्कल्प'में इनके ध्यान और पूजाके विधानका उल्लेख है। चैत्रशुक्ल पूर्णिमाके दिन हनुमज्जयन्ती मानी जाती है। उस दिन उनका जन्म हुआ था। केसरी वानरकी स्त्री अञ्जनाके गर्भसे पवनके द्वारा ये उत्पन्न माने जाते हैं। यद्यपि एक मतसे इनका भगवान् शंकरके तेजसे उत्पन्न होना भी कहा जाता है। ये बड़े वीर और वज्राङ्गीके रूपमें लोगोंके द्वारा सहज स्वीकृत हैं। सीताको खोजना, लंका जलाना तथा संजीवनी बूटीके लिये सम्पूर्ण धवला-गिरिको उठा लाना इनके मुख्य कार्य हैं, जो इन्हें असाधारण वीर एवं साहसी कहनेको बाध्य करते हैं। आदिकवि वाल्मीकिने हनुमान्‌का वर्णन अपनी 'रामायण' में इस प्रकार किया है—

मारुतस्यौरसः श्रीमान् हनूमान् नाम वानरः।
वज्रसंहननोपेतो वैनतेयसमो जवे।
सर्ववानरमुख्येषु बुद्धिमान् बलवानपि॥

(वाल्मीकीयरामायण १। १७। १६)

'हनुमान् नामके ऐश्वर्यशाली वानर वायुदेवताके औरस पुत्र हैं। उनका शरीर वज्रके समान सुदृढ़ है। वे तेज चलनेमें गरुड़के समान हैं। सभी श्रेष्ठ वानरोंमें वे सबसे अधिक बुद्धिमान् और बलवान् हैं। स्पष्ट है कि हनुमान्‌का वज्रोपम शरीर हमें अपने शरीरको वज्रोपम बनानेका संकेत करता है और उनकी तेज चाल हमें अपनी चालको तेज करनेको संकेतित करती है। उनकी बुद्धिमत्ता हमें बुद्धिमान बननेको प्रेरित करती है।

रामायणकी परम्परा नमस्कारके संदर्भमें हनुमान्‌के देवत्व एवं रामदूतत्वको स्पष्ट रूपमें प्रस्तुत करती है—

गोष्पदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम्।
रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम्॥
अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम्।
कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लङ्काभयङ्करम्॥
उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवह्निं जनकात्मजायाः।
आदाय तेनैव ददाह लङ्कां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम्॥
आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम्।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम्॥
यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्॥
मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम्।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि॥

(श्रीमद्वाल्मीकीयरामा० पाठविधिः गीताप्रेस)

'मैं समुद्रको गौके खुरके समान पार करनेवाले, राक्षसोंको मच्छर समझनेवाले, रामायणकी महामालाके रत्न, पवनकुमार हनुमान्‌की वन्दना करता हूँ। अञ्जनाके पुत्र, वीर, जानकीके शोकको नष्ट करनेवाले, कपियोंके

सिरमौर, भयंकर, लंकाको नष्ट करनेवालेकी मै वन्दना करता हूँ। सिन्धुके जलको लाँघकर जिन्होंने जनकनन्दिनी सीताके शोककी आगको नष्ट किया, लंकाको जला दिया, उन अञ्जनानन्दन हनुमान्‌की मैं वन्दना करता हूँ। पाटलके पुष्पकी तरह लाल मुँहवाले, स्वर्ण-पर्वतकी तरह कमनीय विग्रहवाले, पारिजातके वृक्षके नीचे बसनेवाले पवनतनयका मै स्मरण करता हूँ। जहाँ-जहाँ रघुनाथजीका कीर्तन होता है, वहाँ-वहाँ हाथ जोडे हुए बाष्पवारिपूरित नेत्रवाले, राक्षसोंको नष्ट करनेवाले मरुतनन्दनको प्रणाम करना चाहिये, मनकी तरह गतिमान्, मारुतकी तरह वेगवाले, जितेन्द्रिय, बुद्धिमान्, वरिष्ठ, वानरयूथके मुख्य, वातात्मज, श्रीरामके दूतको मैं सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ।'

हनुमत्-नमस्कारके क्रममें हनुमान्‌के भीतर जो-जो गुण यहाँ वर्णित हैं, वे गुण वस्तुतः अनुकरणीय हैं और हम अपने चरित्रको इन गुणोंके द्वारा ऊँचा उठा सकते हैं। पर इन गुणोका आत्मावधान साधना और तपोनिष्ठासे ही सम्भव है। तदर्थ हमें चेष्टा करनी चाहिये।

हनुमान्‌जीका स्वरूप गोस्वामी तुलसीदासने इस रूपमें व्यक्त किया है—

अतुलितबलधामं हेमशैलाभदेहं
दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।
सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं
रघुपतिप्रियभक्तं वातजातं नमामि॥
(मानस ५ मङ्गलाचरण)

'अतुलित बलवाले, स्वर्णपर्वतकी आभासे पूरित देहवाले, राक्षसरूपी वनको जलानेके लिये अग्नि-रूप, ज्ञानियोंमे अग्रगण्य, सकल गुणोके निधान, वानरोके अधीश्वर, रघुपति श्रीरामके प्रिय भक्त, पवनतनय हनुमान्‌को मै प्रणाम करता हूँ।'

यहाँ हनुमान्‌के चरित्रमें जो-जो भी गुण हैं—बल, स्वर्णाभा, असीमित शक्ति, ज्ञान, रामभक्ति आदि सब गुण अनुकरणके योग्य हैं। पर यह तभी सम्भव है, जब हम उन-जैसा नैष्ठिक भक्त और अविप्लुत ब्रह्मचारी बनें। साधनसे ही सिद्धि मिल सकती है। रामभक्ति एवं साधनाके कारण हनुमान्‌के चरित्रमें लौकिक शक्तिका आ जाना सहज स्वाभाविक है। कहते हैं, साधनाके कारण सिद्धियाँ इनके वशमें थीं। अणिमा-सिद्धिके द्वारा इन्होंने सीता-अन्वेषणके क्रममें, मशक अथवा मच्छरका रूप धारण कर लिया था—

'मसक समान रूप कपि धरी। लंकहि चलेउ सुमिरि नरहरी॥'

महिमासिद्धिके कारण इन्होने सुरसाको चमत्कृत कर दिया था—

जोजन भरि तेहिं बदनु पसारा। कपि तनु कीन्ह दुगुन बिस्तारा॥
सोरह जोजन मुख तेहिं ठयऊ। तुरत पवनसुत बत्तिस भयऊ॥
जस जस सुरसा बदनु बढ़ावा। तासु दून कपि रूप देखावा॥
(मानस ५। २। ४–५)

सिद्धियोंको वशंवद बनाना हनुमान्‌के चरित्रका वैशिष्ट्य है। हम इससे प्रेरित-प्रभावित होते हैं। सम्भव है, हनुमान्‌की तरह हमें सिद्धियाँ प्राप्त न हों, पर निस्संदेह हम इस क्रममें कुछ शक्ति अवश्य पा सकते हैं, प्राप्त कर ले सकते हैं।

आज्ञापालन हनुमान्‌के चरित्रमें मुख्य गुण है। बालि-वधके पश्चात् जब सुग्रीवका अभिषेक हुआ, तब ये सुग्रीवके सचिव बने और सुग्रीवकी आज्ञासे, सीताके अन्वेषणके लिये तार नामक वानरके साथ दक्षिण दिशामें गये, श्रीरामने अपनी मुद्रिका पहचानके लिये दी और इस कार्यमें हनुमान् सफल हो वापस लौटे, तब श्रीरामका आशीर्वाद भी इन्हें प्राप्त हुआ। श्रीरामके साथ ये सदैव रहे और अङ्गदके साथ मिलकर लंकाकी युद्ध-भूमिमें गर्जन-तर्जन करते रहे—'**हनूमान अंगद रन गाजे**'। युद्धभूमिमें जब मेघनादके द्वारा श्रीरामके अनुज लक्ष्मणको शक्तिबाण लगा, तब ये राजवैद्य सुषेणको ले आये; पुनः उनकी आज्ञासे रातो-रात हिमालय पर्वतकी ओर जाकर धवलगिरिके साथ संजीवनी बूटी ले आये; तब जाकर लक्ष्मणकी मूर्च्छा दूर हुई। कहनेका तात्पर्य यह कि हनुमान्‌के चरित्रसे आज्ञापालनका संदेश हमें प्राप्त होता है। हमें अपने चरित्रगठनमें आज्ञा-पालनका गुण अपनाना चाहिये।

कहते हैं—हनुमान्‌जीके चरित्रमें विवेक-प्रयोगका आधिक्य है। इन्होंने सूर्यसे शिक्षा प्राप्त कर ज्ञानके आलोकको बटोरा था। श्रीरामके साथ रहनेके कारण भी इनमें असाधारण योग्यता आ गयी। सीता-अन्वेषणके क्रममें, एक गुफाके अंदर वृद्धा तपस्विनीसे भेंट होनेपर ये उसका परिचय पूछते और अपना वृत्तान्त सुनाते हैं। सुरसा-प्रसङ्गमें ये अपनी प्रत्युत्पन्नमतिका परिचय देते हैं। फिर लंकामें अशोकवाटिकाके नीचे बैठी हुई सीताके साथ अतिशय विनम्रतापूर्वक रामका संदेश सुनाते हैं। लंका नगरीको तो इन्होंने जला दिया, पर विभीषणके घरमें आग नहीं लगायी। सम्भव है, रामभक्त होनेके कारण विभीषणका घर नहीं जला हो। ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानके नेत्रसे हनुमान्‌ने पहले सब कुछ देख लिया था और विवेकके सहारे वह किया, जो सर्वथा उचित था। विवेक औचित्यका सम्पादक होता है।

हनुमान् महान् वीरता एवं गति-सम्पन्नताकी प्रतिमूर्ति हैं। इनमें अहंशून्यताकी भी पराकाष्ठा है। समुद्र-लङ्घनके क्रममें हम इन्हें पूर्ण तेजोमय एवं रामबाणकी गतिमें देखते हैं। जाम्बवान् नामक ऋक्षने इन्हें उत्साहित किया—यह जानकर कि वानरोंमें ये सर्वश्रेष्ठ हैं और समुद्र-लङ्घनमें सब प्रकारसे सक्षम हैं। हनुमान् जाम्बवान्‌की बात सुनकर पर्वताकार हो गये और इन्हें अपनी शक्तिका स्मरण हो आया। फलतः समुद्र-लङ्घनके लिये ये तत्पर हुए। आज हम शक्तिके मदमें चूर हैं, किंतु हमें हनुमान्‌के चरित्रसे सहजरूपमे अहंशून्य एवं विनम्र होनेकी शिक्षा प्राप्त करनी चाहिये।

हनुमान्‌की गति तर्कातीत एवं अनुकरणके योग्य है। वाल्मीकिने बतलाया है—**'गतिं हनूमतो लोके को विद्यात् तर्कयेत वा'** (वा० रा० ६। ९। ११) अर्थात् हनुमान् महान् गतिमान् हैं। इनकी गतिको कौन विद्या अथवा तर्कसे जान सकता है? स्मरणमात्रसे यह अपने भक्तोंकी रक्षामें दौडे आते हैं, रोगसे मुक्ति देते हैं, भयको हटाते हैं, शत्रुओंका संहार करते हैं, इत्यादि। इनकी गति साधारण नहीं है। यह इनके चरित्रकी विशिष्टता है। सेवाभावकी शिक्षा इनके चरित्रसे ली जा सकती है।

हनुमान् शक्तिकी दृष्टिसे असाधारण शक्तिसम्पन्न हैं। इन्होंने श्रीरामकी सेनामें मुख्यरूपसे सहायता की। देवान्तक, त्रिशिरा आदि अनेक राक्षसोका इन्होने वध किया। विभीषणके साथ हाथमें मशाल लेकर इन्होंने युद्धभूमिका निरीक्षण किया। इन्होने निकुम्भ नामक राक्षसके साथ युद्ध कर उसका वध किया और कपटी कालनेमिका संहार किया। रावणकी सेनाके कितने असुर इनके द्वारा मारे गये, इसका लेखा-जोखा नहीं है। रामायणसे स्पष्ट है कि ये श्रीरामके अभिषेकके लिये चारो समुद्रों और पाँच सौ नदियोसे जल ले आये थे। इससे इनकी असाधारण शक्तिमत्ताका पता चलता है। श्रीरामने अगस्त्यमुनिसे इनके विषयमे कहा था—

शौर्यं दाक्ष्यं बलं धैर्यं प्राज्ञता नयसाधनम्।
विक्रमश्च प्रभावश्च हनूमति कृतालयाः॥
(वा० रा० ७। ३५। ३)

'शौर्य, दक्षता, बल, धैर्य, प्राज्ञता, नयसाधन (नीति), विक्रम और प्रभाव—हनुमान्‌मे विद्यमान हैं, इनकी बराबरी करना कठिन है। बालि तथा रावणके बलके साथ हनुमान्‌के बलकी तुलना नहीं की जा सकती।' हम इनके चरित्रके माध्यमसे अपनेको बलवान् बनानेकी शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं।

हनुमान्‌ने सेवाभावना, रामभक्ति, समर्पण-शीलता, विनम्रता आदि गुणोंसे अपनेको चमकाया, ऊँचा उठाया। आजके अनास्थावादी युगके लिये ये एक प्रतिमान हैं। बल, विक्रम, साधन आदिके कारण हम औद्धत्यकी सीमाका छोर साधारणतः छूने लगते हैं, पर असीमित संयम एवं विवेकके कारण हमारा बचाव हो जाता है। हनुमान्‌के चरित्रमें असीम

संयम एवं विवेकका अधिवास है; अतः इनका चरित्र चुम्बककी तरह हमें खींचता है। रामभक्ति कलियुगके लिये वस्तुतः सजीवनी बूटी है, यदि यह किसीके पास है तो कलियुगकी व्याधि उस व्यक्तिविशेषको व्याप नहीं सकती। हनुमान्के पास रामभक्तिकी यह संजीवनी बूटी है, अतः कलियुगकी व्याधिसे वे परे हैं। साथ ही कलियुगके व्यक्तियोंको ही नहीं, युग-युगके व्यक्तियोंको मौन संदेश ये अपने चरित्रके माध्यमसे देते हैं कि रामभक्तिके अभावमें अपनेको ऊँचा उठाना कठिन काम है। केवल पुरुषत्व इस संसारमें पर्याप्त नहीं है। यद्यपि व्यक्तिके विकासके लिये पुरुषत्व अपेक्षित है, पर पुरुषत्वके साथ-साथ आस्तिकताका भाव चाहिये, श्रीरामके चरण-कमलमें अनुराग चाहिये। साथ ही विनयके साथ देश अथवा राष्ट्रके कल्याणपर भी ध्यान होना चाहिये। हनुमान्जीका जीवन इस संदर्भमें एक प्रकाशस्तम्भका काम करता है। ये श्रीरामके दूतके रूपमें प्रसिद्ध हुए, पर इस दूतत्वमें इन्होंने पूर्णानन्दका अनुभव किया। दूतकर्म निन्द्य नहीं है। दूतकर्मके साथ-साथ श्रीरामके चरण-कमलकी भक्ति हनुमान्के लिये वरदान सिद्ध हुई। ये इङ्गितसे हमें बतलाते हैं कि ईश्वरकी कृपासे जो कर्म करनेको मिले, उसीमें दक्षता प्राप्त करनी चाहिये। हनुमान् कर्मयोगी भक्तदेव हैं। ये **'योगः कर्मसु कौशलम्'**—'योग ही कर्ममुक्तिका उपाय है'—इसकी शिक्षा देते हैं। हनुमान्के चरित्रसे हम लोग कर्मयोगी बननेकी शिक्षा प्राप्त करते हैं। सामयिक चेतना, तत्परता, विनयशीलता, आस्तिकता, सेवापरायणता, वीरता, गतिमत्ता, निर्भयता आदि कतिपय गुण, जो हनुमान्के चरित्रमें प्राप्य हैं, हमें अपनेको ऊँचा उठानेकी शिक्षा देते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीतामें आध्यात्मिक चारित्र्योपदेश

(लेखक—श्रीसोमचैतन्यजी श्रीवास्तव, एम्० ए० (संस्कृत-हिन्दी), एम्० ओ० एल्०)

सृष्टिके सभी प्राणी सुख और शान्तिकी कामना करते हैं एवं एतदर्थ शरीर, इन्द्रियों और मन-बुद्धिसे विविध प्रकारकी चेष्टाएँ करते हैं। उनकी शुभाशुभ चेष्टाओंके अनुसार उनको विविध लोकों और योनियोंमें जन्म, आयु तथा भोगके रूपमें उत्तम, मध्यम या अधम कोटिके सुख-दुःखात्मक कर्मफलोंकी प्राप्ति होती है। मनुष्य ज्ञानवान् प्राणी है, अतः उसकी सभी चेष्टाएँ बुद्धिद्वारा प्रेरित और नियन्त्रित होती है। भ्रमपूर्ण एवं मिथ्या ज्ञान होनेपर व्यक्ति अशुभ कर्मका आचरण करके स्वयं दुःखी होता है तथा प्राणि-समाजको भी दुःख, कलह, विवाद, अशान्ति, युद्ध, घृणा, वैर आदिमें उलझा देता है। अतः ऐसे लोगोंको कर्मानुष्ठानका सही मार्ग बतानेके लिये एवं बुद्धिको सत्य ज्ञानसे युक्त करनेके लिये सत्-शास्त्रोंकी रचना हुई है। शास्त्र इष्टकी प्राप्ति एवं अनिष्टके परिहारका उपाय बताते हुए अतीन्द्रिय ज्ञानका भी वर्णन करते हैं। उनमें समाजके जन्म आदिकी सात्त्विकादि गुणोंके अनुसार वर्णाश्रमकी व्यवस्था की गयी है। इस व्यवस्थाका उद्देश्य यही है कि मनुष्य शास्त्रविधिका अनुसरण करता हुआ अपनी अशुभ प्रवृत्तियोंपर नियन्त्रण रखे तथा अपने गुण-कर्म-स्वभावके अनुकूल वर्णाश्रम-व्यवस्थाका पालन करता हुआ अन्तःकरणकी शुद्धिपूर्वक परतत्त्व-(परब्रह्म-)के ज्ञानकी उपलब्धि करके शाश्वत शान्ति और नित्य आनन्द-(मोक्ष-) को प्राप्त करे।

श्रीमद्भगवद्गीता जीवनके हर क्षेत्राङ्गणमें स्वकर्मका अनुष्ठान करते हुए ब्रह्मभावकी प्राप्तिका व्यावहारिक मार्ग बतानेवाला भगवत्प्रोक्त शास्त्र है। इसमें (१२। १३—१९में) आदर्श भक्तके चरित्र तथा (१४। २२—२६में) त्रिगुणातीत पुरुषोंके लक्षण प्रस्फुटित हुए हैं। गीतामें ब्रह्मकर्मका संकेत वेद

सृष्टि एवं यज्ञकी उत्पत्ति करने (१४ । ३, १८ । २३), गुण-कर्मविभागपूर्वक चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्था करने (४ । १३), आसुरी प्रकृतिके लोगोंको नियन्त्रणमे रखने (१६ । १९), साधुओंके परित्राण, दुष्टोंके विनाश एवं धर्मसंस्थापनाके लिये अवतार ग्रहण करने (४ । ८), अनासक्त एवं निःस्पृह होकर लोकसंग्रहार्थ कर्म करने (३ । २२—२५), सर्वलोकोंका शास्ता एवं यज्ञ-तपका भोक्ता होने (५ । २९), भक्तोंका उद्धार करने (९ । ३१, १८ । ६५) एवं उन्हें ज्ञान प्रदान कर (१० । ११) शाश्वतपद प्रदान करने (१८ । ५६), विश्वका गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण तथा सुहृद् आदि होने एवं विश्वरूपता (अ० ११) आदिमें प्राप्त होता है ।

गीताके अनुसार ब्रह्मका निर्देश शास्त्रोंमें 'ओम्' 'तत्' एवं 'सत्'—इन तीन शब्दोंके द्वारा तीन प्रकारसे किया गया है । इनमेंसे 'सत्' शब्द सद्भाव, साधुभाव, प्रशस्त कर्म, यज्ञ-दान एवं तपमें स्थिति तथा इनके हेतु श्रद्धापूर्वक किये गये कर्मोंका वाचक है । इस प्रकार ब्रह्मका 'सत्'-स्वरूप ही सभी सद्भाव सद्गुणों, सदाचरणों एवं सत्कर्मोंका मूल है तथा जगत्‌की स्थितिका आधार है । नारदभक्ति-सूत्रमें अहिंसा, सत्य, दया, दान आदि गुणोंको भक्तोंद्वारा पालनीय चरित्र-गुण बताया गया है । भगवद्गीता-(१० । ५)के अनुसार अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान आदि सभी भाव भी परमात्मासे ही उत्पन्न होते हैं । इन सद्गुणोंको धारण करनेवाला व्यक्ति सद्-ब्रह्मके साथ संयुक्त होकर ब्रह्मके सद्रूपमे प्रतिष्ठित हो जाता है ।

गीताका यह सिद्धान्त है कि सच्चिदानन्द ब्रह्म ही त्रिगुणात्मक प्रकृति एवं जीवके रूपोंमें द्विविध प्रकारसे इस विश्वमें व्यक्त हुआ है (७ । ४—५) । प्रकृतिसे सम्भूत सत्त्व, रज एवं तम—ये तीनों गुण न केवल शरीरी जीवको बन्धनयुक्त करते हैं, अपितु ये त्रिलोकमें सभीको अपने प्रभावाधीन रखते हैं (१४ । ५, १८ । ४०) । इन्हीं तीन गुणोंके आधारपर गीता प्राणि-सृष्टिको दो भागोंमे बाँटती है (१) आसुरसर्ग एवं (२) देवसर्ग । आसुर-सर्गमें दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य एवं अज्ञानकी प्रधानता होती है । आसुर स्वभावके व्यक्ति प्रवृत्ति और निवृत्तिकी व्यवस्था देनेवाले शास्त्रकी मर्यादाको नहीं मानते, ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार नहीं करते, उनमें न आचार होता है, न पवित्रता और न सत्य । वे संकुचित दृष्टिके अल्पबुद्धि व्यक्ति होते हैं, जो अपनी स्वार्थसिद्धिके लिये उग्र कर्मोंका आचरण करते हुए संसारका अमङ्गल एवं विनाश करते हैं । अपनी कामनाओंकी तुष्टि ही उनके जीवनका लक्ष्य होता है । वे नाना प्रकारकी आशाओंके जालमें फँसे हुए काम-क्रोधपरायण होकर अन्यायपूर्वक अर्थका संचय करते हुए शत्रुनाश एवं अर्थ-संग्रहकी कल्पनाएँ करते हुए अपने कुल, सम्पत्ति, गुण, बल, विद्या आदिके अभिमानसे युक्त हुआ करते हैं । वे यज्ञादि कर्म भी दम्भके साथ अविधिपूर्वक करते हैं । उनकी बुद्धि अज्ञान-मोहसे आवृत होती है एवं उनका चित्त सदा ही नाना प्रकारकी चिन्ताओंसे विभ्रान्त रहता है । अहंकार, बल, दर्प, काम एवं क्रोधका आश्रय लेकर प्राणियोंसे द्वेष करनेवाले वे आसुरसर्गके प्राणी मूढ एवं नराधम होते हैं तथा अपनी आसुरचेष्टाओंके कारण बार-बार अशुभ आसुरी योनियोंमें जन्म लेकर अधम गतिको प्राप्त होते रहते हैं । आसुरसर्गमें रजोगुण एवं तमोगुणकी प्रधानता होती है । काम-क्रोध और लोभ—ये तीनों नरकके द्वार हैं तथा रजोगुणसे उत्पन्न होते हैं । मोह, अज्ञान और प्रमाद—तमोगुणसे उत्पन्न होते हैं । काम, क्रोध, लोभ एवं मोहके अधीन होकर ही मनुष्य पाप-कर्म करके दुःख पाता है एवं संसार-बन्धनमें पड़ता है । इस प्रकारके पाप-कर्मोंसे मुक्त होनेपर ही वह श्रेयका आचरणकर उत्तम सुखको प्राप्त करता है (१७ । ४)

सुतरां ऐसे कर्मोंसे मुक्ति होनेपर सदाचरण या चरित्रका गठन स्वतः होने लग जाता है। रही देवसर्गकी बात; उसे देखें।

चरित्र-निर्माणार्थ स्वभावमें रजोगुण एवं तमोगुणको निरस्त कर दैवीसम्पद्के गुणोंके अर्जनकी साधना अपेक्ष्य है। यह कठिन साधना है, जिसमें एक ओर तो अध्यात्मशास्त्रका आश्रय लेकर स्वाध्याय, श्रवण एवं मननके द्वारा सत् तथा असत्का ज्ञान प्राप्त किया जाता है तथा दूसरी ओर विवेक और वैराग्यका आलम्बन लेकर रजोगुण और तमोगुणपर आश्रित सम्पूर्ण असत्प्रवृत्तियों, पापों, दुष्कर्मों, दुष्ट आचारों एवं आसुर भावोंका सर्वथा परित्याग करके सत्त्वगुणपर अवलम्बित दैवीसम्पद्के गुणों—अभय, सत्त्वसंशुद्धि आदि-(१६। १–३) का संचय किया जाता है। सात्त्विक गुणोंका संचय धर्माचरण है एवं मानवी प्रकृतिका दैवी-प्रकृतिमें रूपान्तरित करना तथा अध्यात्मज्ञानको जीवनमें आचरणके रूपमें प्रकट करना तप है। इसीसे अज्ञानसे मुक्ति मिलती है एवं मोक्षकी प्राप्ति होती है। दैवी-सम्पद्के गुण-कर्म और स्वभावके रूपमें आत्मा-प्रकाश सर्वत्र प्रतिफलित होता है। दैवी-प्रकृति भक्त और महात्माओंके चरित्रका मुख्य लक्षण है (८। १३)।

चरित्रनिर्माणके लिये प्रथम आवश्यक बात है कि श्रद्धाको सात्त्विक बनाया जाय; क्योंकि जैसी श्रद्धा होगी, वैसा ही ज्ञान एवं कर्म होगा। जैसी श्रद्धा होगी वैसा ही उपास्यका चुनाव और उसकी उपासना होगी। जैसी श्रद्धा होगी वैसा चित्त होगा। राजसी एवं तामसी श्रद्धावाले उच्छृङ्खल वृत्तिके होते हैं तथा दम्भाहंकारयुक्त होकर विभिन्न कामनाओंकी पूर्तिके लिये अशास्त्रविहित विधिसे यक्ष, राक्षस, भूत, प्रेत एवं देवोंके राजस, तामस रूपकी उपासना एवं यज्ञ-तप करते हैं (१७। ४। ६, ७। २०-२२)। ईश्वरके प्रति आस्तिक बुद्धि, गुरुके प्रति भक्ति एवं सत्कार-बुद्धि तथा सत्-शास्त्रोंमें प्रतिपादित सिद्धान्तोंको सत्य मानकर उन सिद्धान्तोंके अनुकूल आचरण करनेके लिये दृढ संकल्पपूर्वक प्रयत्न करनेका नाम श्रद्धा है। यह श्रद्धा ही साधकको दृढ़ता, उत्साह एवं संयम प्रदान करती है। सात्त्विक श्रद्धा ही बुद्धिको सात्त्विक बनाती है। सात्त्विक बुद्धि कर्तव्य-अकर्तव्य, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति तथा बन्ध-मोक्षको भलीभाँति जानती है (१८। ३०)। कार्य एवं अकार्यके लिये सदा शास्त्रको मानकर शास्त्रोक्त विधिसे श्रद्धायुक्त हो कर्तव्य-कर्मको करना चाहिये। शास्त्रविधिका उल्लङ्घन कर स्वेच्छानुसार कार्य करनेसे सुख-शान्ति एवं सफलता नहीं मिलती (१६। २३-२४)। स्वभाव-सम्भूत गुण-कर्मके अनुसार अपने-अपने वर्णके लिये नियत एवं धर्मशास्त्रोंमें वर्णित अथवा भगवद्गीतामें प्रोक्त चतुर्वर्णके गुण-कर्म-(१८। ४१–४६) का ज्ञान प्राप्त कर निज वर्णके लिये प्रतिपादित गुण तथा कर्मका पालन ईश्वरार्चनकी भावनासे करना चाहिये। ज्ञानकी प्राप्तिके लिये प्रयत्नशील होने, शास्त्रोंका अध्ययन एवं मनन करने तथा ज्ञानके अनुकूल आचरणके लिये सदैव तत्पर रहनेपर ज्ञानप्रकाशकी वृद्धिके अनुपातमें क्रमशः तमोगुणका अज्ञान नष्ट होता जाता है (१४। ८–१३)। अज्ञान, अश्रद्धा एवं संशय तमोगुणके चिह्न हैं तथा विनाश प्राप्त करानेवाले हैं। श्रद्धासे ज्ञान एवं जितेन्द्रियताकी प्राप्ति होती है, तत्पश्चात् ज्ञानाग्निद्वारा सर्वकर्मोंके दग्ध हो जानेपर परमशान्तिकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार ये श्रद्धादि परस्पर पूरक एवं उपकारक हैं (४। ३९–४१)।

रजोगुणमें क्रिया, लोभ, तृष्णा, अहंकार आदिकी प्रधानता है तथा ये ही मुख्य वैरी हैं। इन्द्रिय, मन एवं बुद्धिमें विक्षिप्तता भी रजोगुणके कारण आती

है । रजोगुणका मूल अहं (मैं) है तथा इस अहंका अङ्कुरण कामना (संकल्प) एवं कर्मफलकी प्राप्तिकी तृष्णासे होता है । अतः गीता देहधारीके लिये तथा सृष्टि-चक्रको प्रवर्तित रखनेके लिये कर्मकी अपरिहार्यता-को स्वीकार करते हुए आसक्ति और कर्मफलका त्याग करके समत्वमें स्थित होकर ईश्वरार्पित बुद्धिसे ईश्वरका सतत स्मरण करते हुए कर्म करनेका उपदेश देती है । ऐसा करनेसे रजोगुणके प्रभावसे मुक्ति मिल जायगी, कर्म-बन्धन नष्ट हो जायगा, संसारमें आसुर-सर्गमें कमी आनेसे शान्ति आयेगी तथा काम-क्रोध-लोभ-मूलक प्रवृत्तियोंके कारण जो सर्वत्र चरित्र-संकट, भ्रष्टाचार, अशान्ति और युद्ध-विनाश छाया हुआ है, वह सब भी समाप्त हो जायगा । (२ । ४७-५८, ३ । १०, ३०, ४ । २२—२४, ५ । २३) ।

ज्ञान सत्त्वगुणका फल है तथा अज्ञान एवं लोभ क्रमशः तमोगुण एवं रजोगुणके प्रभावसे उत्पन्न होते हैं (१४ । १७) । ज्ञानके आवृत होनेपर मोहद्वारा बुद्धिकी विवेकशक्तिके कुण्ठित हो जानेपर ही काम-क्रोध-लोभादिसे युक्त आसुरभावोंकी उत्पत्ति होती है । रजोगुण एवं तमोगुण एक-दूसरेके पोषक और सहयोगी बनकर सत्त्वगुणके ज्ञानको पराभूत करनेका प्रयत्न करते रहते हैं । जीव यदि रजोगुण और तमोगुणको ज्ञान एवं संयम-(तप-) द्वारा जीतनेका प्रयत्न नहीं करता तो वह अपना शत्रु आप ही बनता है । आत्मसंयमद्वारा अपना उद्धार न करनेवाले ही आसुरभावको प्राप्त होते हैं । गीताने ऐसे लोगोंकी मूढ, नराधम (७ । १५) कहकर निन्दा की है । ऐसे अकृतात्मा, अचेत लोग न तो अपने आत्माका ही दर्शन कर सकते हैं (१५।११) और न ब्रह्मके समीप पहुँच सकते हैं (७ । १५) । असंयमीके लिये तो योग-साधना दुर्लभ ही है (६।३६) । संयमहीन कामी मनुष्य बलवान् एवं चञ्चल मनको वशीभूत करने कब सकता है ? जिसका मन स्वच्छन्दगामी है, वह चरित्रशील कैसे हो सकता है ?

भगवद्गीताके अनुसार रजोगुणात्मक लोभ एवं तृष्णा ही मनुष्यको स्वार्थी, इन्द्रियोपभोग-परायण तथा आत्म-केन्द्रित बना देते हैं । केवल अपने ही सुखोपभोगके लिये जीनेवाला व्यक्ति पापकी जिन्दगी जीता है तथा निन्दनीय है । सृष्टिकी व्यवस्थामें उसका जीवन व्यर्थ एवं निष्फल माना जायगा (३ । १६) । यह सृष्टि यज्ञचक्र है, जिसमें देवगण, प्रकृति एवं सभी प्राणियोंका परस्पर सहयोग, परस्परका सम्मान तथा प्रत्येकके प्राप्य भागका नियमितरूपसे दान आवश्यक है । इस परस्पर सहयोग, सम्भावना एवं दानकी शृङ्खलाको जो भी तोड़ेगा, वही यज्ञ-भङ्गका दोषी होगा । यह प्रजाओंकी इष्ट कामनाओं-को पूर्ण करनेवाला है । कामनाओंकी यह पूर्ति देवोंके अनुग्रहसे होती है । देवगण यज्ञद्वारा हवि प्राप्त करके तृप्त होते हैं तथा प्रसन्न होकर समयपर वृष्टि करके पृथ्वीको उर्वरा बनाते हैं । इस प्रकार 'यज्ञ' देवों तथा मानवोंका सम्बन्ध जोड़नेवाली कड़ी है । अतः यज्ञ सभी-के द्वारा नित्य पालनीय सामाजिक आचार (धर्म) बन जाता है । देवोंको यज्ञ-भाग दिये बिना अकेला खानेवाला गीताकी विचार-दृष्टिमें चोर है, पापी है, अतएव दण्डनीय है (३ । १०—१६) । देवयज्ञ, अतिथियज्ञ एवं भूतयज्ञका प्रतिदिन अनुष्ठान करनेके बाद जो बचे वही यज्ञ-शेष है । इस यज्ञ-शेषका भोजन करनेवाले स्वार्थ-(रजोगुण-) रहित होनेसे सभी पापोंसे रहित हो जाते हैं । यह यज्ञ भी अनासक्त और निष्काम होकर करना चाहिये । देवोंकी तृप्ति एवं विश्व-मङ्गलके लिये यज्ञभावनासे किया गया कर्म बन्धनकारक नहीं होता (३ । ९) ।

भगवद्गीतामें जहाँ यज्ञ या वेदकी गौणतामूलक निन्दा मिलती है, वहाँ उन वचनों या कर्मकाण्डोंकी

निन्दा है जो विविध कामनाओंसे प्रेरित होकर भोगैश्वर्यकी प्राप्तिके लिये किये जाते हैं, अतः तीन गुणोंके बन्धनमें डालनेवाले हैं (२ । ४२–४५), अन्यथा आसक्ति एवं फलका त्याग कर शास्त्र-विधिका पालन करनेके हेतु यज्ञ, तप और दानके सात्त्विक अनुष्ठानको गीताने अवश्य अनुष्ठेय पावन कर्म बताया है (१८ । ५, २३, २६, १७ । ११, १४–१७, २०)। भगवद्गीताके १७वें अध्यायमें जिन शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक तपोंका वर्णन (१४–१७) मिलता है, उन्हें इन तीन अङ्गोंका संयम-रूपात्मक उत्तम आचार ही समझना चाहिये । गीतामें यज्ञके अर्थका विस्तार मिलता है तथा उसका प्रयोग दान, संयम, व्रत, उपासना, आराधना, आत्मार्पण, योग आदि प्रशस्त कर्मोंके अर्थोंमें किया गया है (४ । २३–३०, ९ । २३–२५, ३४, १८ । ६५) । इस अर्थ-विस्तारमें मूलकारण 'यज्' धातुका मूल अर्थ देवपूजा, संगतिकरण, दान अर्थात् ब्रह्म एवं देवोंकी पूजा, देवोंकी संगति तथा देवोंके साथ सम्बद्धता, मानवको देव बनाना तथा देवोंके उद्देश्यसे दान (त्याग) ही प्रेरक हेतु है । इस अर्थ-विस्तारके कारण ही द्रव्यदान, तप, योग (ध्यान, समाधि), स्वाध्याय, ज्ञानप्राप्ति, इन्द्रियसंयम, प्राणसयम आदि सभीको 'यज्ञ' माना गया है । ये सभी यज्ञ कल्मषका नाश कर ज्ञानप्रदीपके द्वारा अन्तमें ब्रह्मके परमपदकी प्राप्ति करानेवाले हैं (४ । ३०-३१) । इन सभी यज्ञोंमें ज्ञानयज्ञ सर्वश्रेष्ठ है । इस लोककी सम्पूर्ण व्यवस्था यज्ञ-कर्मपर टिकी हुई है । यज्ञहीन पुरुष जब इस लोककी ही प्राप्ति नहीं कर सकता तो उसे उच्चतर जीवनके अन्य श्रेष्ठ लोकोंकी प्राप्ति कैसे होगी (४ । ३१) । गीताकी जीवनपद्धति, कर्मयोगका तथा लोकव्यवस्थाका सिद्धान्त यज्ञचक्र, सर्वभूतहित, लोकसंग्रह एवं ईश्वर-शरणागतिपर टिका हुआ है । महाभारत (वन० २०७ । ६२) में यज्ञ, दान, तप, वेद एवं सत्य—इन पाँचोंको शिष्टाचरणका प्रमुख अङ्ग माना गया है ।

भगवद्गीता बतलाती है कि बहुसंख्यक लोग मन्दबुद्धि, गुण-संमूढ, कर्मसङ्गी और अनुकरणशील होते हैं । इस बहुसंख्यक समुदायको भी श्रेष्ठ जीवन तथा उत्तम कर्मके लिये प्रेरित करना श्रेष्ठ लोगोंका कर्तव्य है । इतर अन्यसाधारण जन श्रेष्ठ लोगोंके आचरणका ही अनुकरण करते हैं (३ । २१) । अत ज्ञानी एवं मुक्तात्मा लोगोंका यह विशेष दायित्व है कि वे लोगोंके सामने चरित्र, धर्मपालन और कर्तव्यके अनुष्ठानका अनुकरणीय आदर्श उपस्थित करें । श्रेष्ठजनोंद्वारा कर्तव्यकी उपेक्षा या अपने दायित्वको निभानेमें प्रमाद तथा चरित्र-स्खलनकी छोटी-सी भूल लोक-समुदायके पतन और विनाशका कारण बन जाते हैं । इस भूलसे मानव-जातिके मनो-चरित्रपर बहुत दूरगामी प्रभाव पड़ता है । अतः शासक, नेता, विद्वान् आदि श्रेष्ठ लोगोंको अपने शील और चरित्रकी सुरक्षा तथा कर्तव्य-कर्मको पूरा करनेमें सदैव ही जागरूक रहना चाहिये । जीवन्मुक्त पुरुषोंको भी लोकसंग्रह-हेतु शास्त्र-मर्यादाके अनुसार धर्माचरण एवं कर्तव्यकर्म करना चाहिये (३ । २०—२५) । लोकसग्रहसे तात्पर्य यह है कि लोक-समुदाय शास्त्रविहित शील एवं वर्ण-धर्मका पालन करे, सर्वभूतहितमें लगा रहे, वह मिलकर अभ्युदय एवं निःश्रेयसकी ओर अग्रसर हो तथा मानवोंका प्रकृति और देवगणके साथ आदान-प्रदान, सह-भाव एवं परस्पर सम्मान बना रहे । इस प्रकार लोकमें सभीका मङ्गल हो और धर्मव्यवस्था सुरक्षित बनी रहे । इस धर्म-व्यवस्थाको सुरक्षित बनाये रखनेके लिये अधर्मकी प्रवृत्तियोंको तथा दुष्ट कर्म करनेवालोंको नियन्त्रणमें रखना अथवा दण्ड-विधानद्वारा उन्हें नष्ट करना भी श्रेष्ठ पुरुषोंके चरित्र अथवा कर्तव्यकर्मका अङ्ग है ।

यज्ञ एवं लोकसंग्रहके लिये समत्वमें अवस्थित होकर निर्लिप्त भावसे कर्म करनेका कौशल प्रज्ञाके स्थिर होनेपर आता है। चित्तमें शान्ति, प्रसन्नता, निर्भयता, राग-द्वेष-हीनता, निःस्पृहता आदि गुण बुद्धिके स्थिर, एकाग्र एवं निश्चयात्मक होनेपर ही आते हैं। मनको सारथिवत् दिशा-निर्देश करनेवाली बुद्धि यदि अस्थिर, चञ्चल, मोहयुक्त रहेगी तो मन सुनिश्चित मार्गपर आगे नहीं बढ़ सकता। बुद्धिकी चञ्चलता या अस्थिरताका कारण इन्द्रियो एवं मनका शब्दादि विषयोंके प्रति निर्बाधगमन है (३। ६७)। शब्दादि विषयोंके चिन्तनके साथ काम, क्रोध, मोह एवं स्मृति-भ्रंशनकी परम्परा जुड़ी हुई है, जो बुद्धिको नष्ट कर देती है। अतः स्थिर प्रज्ञाकी प्राप्तिके लिये इन्द्रियोंका संयम (दम) एवं मनका नियन्त्रण (शम) दोनों ही आवश्यक हैं (२। ६२—६८)। भगवद्गीताका स्पष्ट मत है कि जिसकी इन्द्रियाँ नियन्त्रित हैं, उसीकी प्रज्ञा स्थिर है—**'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'** (२। ६१)। विवेकयुक्त निश्चलबुद्धिका योगसाधक ही फलकामनाका त्याग कर, सिद्धि-असिद्धि आदिमें समभावसे युक्त होकर निरहंकार-भावसे कर्म कर सकता है एवं समाधिमें बुद्धिको अचल, स्थिर रखते हुए ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त कर सकता है (२। ४८—५३, ७२)।

इन्द्रिय-संयमके लिये गीता सर्वथा निरोध या इन्द्रिय-नाशका उपदेश नहीं करती। वह युक्तियुक्त मार्गका अवलम्बन करनेका उपदेश देती है। गीता यह स्वीकार करती है कि इन्द्रियाँ प्रबल हैं एवं वे सहज प्रवृत्तिवश जब अपने-अपने शब्दरूपादि विषयोंकी ओर दौड़ती हैं, तब मन, बुद्धिको भी चंचल कर देती हैं (२। ६७)। परंतु अभ्यास और विवेकके द्वारा इन्द्रियोंकी प्रवृत्तियोंको समझकर तथा उनके आवेगात्मक सुखदुःखात्मक संवेदनोको आगमापायी, क्षणिक और परिवर्तनशील जानकर उन्हें तितिक्षा-वृत्तिद्वारा सहन करनेका अभ्यास करना चाहिये। दोषी इन्द्रियाँ नहीं हैं, दोष है भोग-प्रवृत्तिकी कामनासे इन्द्रियोंके अनियन्त्रित उपयोगका। इन्द्रियाँ ज्ञानके उपकरण हैं तथा जीवको बाह्य जगत्का ज्ञान देनेवाली एवं सम्पर्क स्थापित करानेवाली हैं। यदि जीवात्मा राग-द्वेषसे रहित होकर, इन्द्रियोंको अपने वशमें करके इन्द्रियोंको व्यवहारमें लावे तो उससे शान्ति और चित्तकी निर्मलता ही प्राप्त होगी (२। ६४)। आचार-व्यवहारमें गीता अतिवादका निषेध करके विवेक-सम्मत युक्तियुक्त मध्यम मार्गको ही अपनानेका उपदेश देती है—**'युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु'** (६। १७)। संक्षेपमें गीता चरित्र-निर्माणके लिये निम्नलिखित बातोंपर जोर देती है—

(१) मानव-जीवन न तो इन्द्रिय-भोगोंकी तृप्तिके लिये है और न अकेले ही स्वार्थी और स्व-केन्द्रित बनकर जीनेके लिये बना है। ऐसा जीवन आसुरी भावके लोगोंका होता है। मनुष्यका लक्ष्य आसुरी भावको त्यागकर दैवभावकी प्राप्तिपूर्वक मोक्ष या भगवत्को प्राप्त करना है।

(२) जीवनकी सम्पूर्ण प्रवृत्तियो और व्यवहारोंमें रजोगुण और तमोगुणपर आधारित काम, क्रोध, लोभ एवं मोहसे युक्त आसुरी भावोंका परित्याग कर देना चाहिये तथा सर्वत्र सत्त्वगुणको अपनानेपर बल देना चाहिये। दैवी स्वभावका आधार सत्त्वगुण है। दैवी सम्पद्को अपनानेसे दैवभावकी प्राप्ति होगी। गीताके चारित्रका आदर्श त्रिगुणातीत पुरुष अथवा ज्ञानी भक्त है।

(३) व्यक्तिके सभी आचार शास्त्रमर्यादित होने चाहिये। शास्त्रविधानके अनुसार अपने वर्णधर्मका कर्तव्य-बुद्धिसे पालन करना चाहिये। किसी भी कर्ममें फलकामना, आसक्ति, अहंकार और ममता नहीं होनी चाहिये। सर्वभूतके कल्याणमें निरत रहते हुए निष्काम भावसे भगवत्प्रीत्यर्थ अपने वर्ण-धर्मका पालन करते हुए

लोकसंग्रहार्थ एवं यज्ञचक्रको प्रवर्तित रखनेके लिये कर्म करना चाहिये।

(४) इस सृष्टिमें जीवन ब्रह्म, देवगण, प्रकृति एवं प्रज्ञाके परस्पर सहयोग तथा सम्भावनापर आधारित है। अतः इस सामञ्जस्यको यज्ञकर्मके द्वारा बनाये रखना चाहिये एव सभीको उनका प्राप्य अंश देना चाहिये। ज्ञान एवं कर्ममें हमारी दृष्टि विश्वजनीन होनी चाहिये।

(५) सम्पूर्ण चरित्रका मूल आधार कामना और अहंकारका उच्छेद तथा इन्द्रिय-संयम है । इन्द्रिय-संयमसे मन निर्मल होता है एवं प्रज्ञा स्थिर होती है। स्थिरप्रज्ञ बननेका अभ्यास करना चाहिये।

(६) अज्ञ प्राणियोंका आचरण भी ऐसा हो, जिससे जीवनमें उन्हे कीर्तिकी प्राप्ति हो, उनका गौरव बढ़े तथा इस लोक एवं परलोकमें सुखकी प्राप्ति हो।

(७) ब्रह्म इस सृष्टिका एवं जीवनका मूल है। ब्राह्मीस्थितिको प्राप्त होकर ब्रह्मके परमपदकी प्राप्ति जीवनका लक्ष्य है। ब्रह्म सभी तप, कर्म एवं यज्ञका भोक्ता तथा आनन्दका मूल है। अतः हमारे सभी कर्म और आचार सदैव ब्रह्माभिमुख हों। हम इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिको ब्रह्ममें ही संयुक्त कर, पूर्णतया ब्रह्मके प्रति सर्वभावेन समर्पित होकर सदैव ब्रह्ममे निवास करनेवाले जीवन्मुक्त बनें। यही भारतीय आध्यात्मिक चरित्र-गठनका फल है। गीता इसीका साङ्गोपाङ्ग निरूपण करती है।

कालिदासके काव्योंमें चारित्रिक लोकादर्श

(लेखिका—डॉ० विभा रानी दुबे)

अरविन्दका कथन था—'वाल्मीकि, व्यास और कालिदास भारतीय इतिहासकी अन्तरात्माके प्रतिनिधि हैं। सब कुछ नष्ट हो जानेके बाद भी इनकी कृतियोंमें भारतीय संस्कृतिके प्राणतत्त्व सुरक्षित रहेंगे।'[1] आगमसिद्ध कालिदासने शब्दब्रह्मको कान्तासम्मित काव्यरूप दिया। इन्होंने भारतीय अध्यात्म-साधनाका पोषण किया और समग्ररूपसे भारतीय जीवनादर्शको अपनी वाणीमें व्यक्त किया। इनके काव्योंमें व्यक्तिगत एवं सामाजिक आदर्श मुखरित हुए और इनके चित्रणमें इन्होंने पत्नी, पति, पुत्र, पिता आदिके कर्तव्यपालन और सामाजिक आदर्शमें वर्णधर्म तथा आश्रमधर्मके आचरणको इङ्गित किया।

इनके काव्योंमें नायिकाएँ अद्वितीय सौन्दर्यकी राशि हैं। उमाके वर्णनमे वे कहते हैं—'जान पड़ता है कि ब्रह्मा संसारका सम्पूर्ण सौन्दर्य एकत्र देखना चाहते थे, इसीलिये उपमा देनेके लिये व्यवहृत होनेवाली सभी वस्तुओंको एकत्र कर उनके सौन्दर्यको यथास्थान विनिवेशित कर पार्वतीका निर्माण किया'—

सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन यथाप्रदेशं विनिवेशितेन।
सा निर्मिता विश्वसृजा प्रयत्नादेकस्थसौन्दर्यदिदृक्षयेव॥
(कुमारसम्भव १ । ४९)

इसी प्रकार उनकी शकुन्तला निसर्गकन्या है। उर्वशी साक्षात् स्वर्गकी अप्सरा है। सीता, इन्दुमती और मालविका—सभी सौन्दर्यकी प्रतिमूर्तिके रूपमें अवतरित हैं। किंतु कविने यहाँ इस अलौकिक सौन्दर्यका सदाचारसे योग कराकर भी भारतीय आदर्शको ऊँचा रखा है। अविकल तपस्यामें रत उमासे ब्रह्मचारीके वेषमें आये हुए शिवका स्वयं कहते हैं—**'यदुच्यते पार्वती पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः॥'** (कु० सं० ५। ३६)। 'पार्वती! कहा जाता है कि रूप पापवृत्तिका कारण नहीं होता—वह वचन सत्य ही है।' जो रूप

1--The Harmony of Virtue, Vd. 3, P. 217, Sri Aurobind Birth centenery Library—Pondicherry, 1972

पापवृत्तिकी ओर ले जाता है—वह वास्तवमें रूप ही नहीं है, क्योंकि जो पापवृत्तिको बढाता है, वह तामसी है, उसमें सत्त्वोद्रेककी सामर्थ्य नहीं—अतः वह सुन्दरताकी श्रेणीमें नहीं आ सकता। किंतु **'तथा हि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम्।'** (कुमार० ५ । ३६) आपके अपापवृत्तिरूप एवं उदार, निष्कलुष शीलको देखकर बडे-बडे तपस्वी भी शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। सप्तर्षियोंके हाथोंसे चढ़ाये हुए फूल और आकाशसे उतरी हुई गङ्गाकी धाराएँ हिमालयपर गिरती ही रहती हैं, लेकिन इन सबसे हिमालय उतने पवित्र नहीं हुए, जितना आपके आचरणसे वे कुलसहित पवित्र हुए हैं—

यथा त्वदीयैश्चरितैरनाविलै-
र्महीधरः पावित एव सान्वयः।

(५ । ३७)

इस कुमारसम्भवके वचनमें स्पष्टतः कविने आचरणकी पवित्रतापर बल दिया है। इतना ही नहीं, स्त्रीके सौन्दर्यकी सार्थकता तभी है, जब वह अपने प्रियतमको जीत ले। शिवसे अपमानित पार्वती अपने रूपको कोसती हैं—**'प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता'** (वही ५ । १)। किंतु विवाहके उपरान्त ये ही पार्वती अपने रूपको दर्पणमें देखकर शिवसे मिलनेके लिये उतावली हो उठीं, क्योंकि **'स्त्रीणां प्रियालोकफलो हि वेषः'** (कु० स०) स्त्रियोंके शृङ्गारकी सार्थकता तभी है, जब वह पतिके दृष्टिपथमें आये। यही कारण है कि भारतीय परम्परामें विरहकी दशामें स्त्रियाँ मण्डन नहीं करतीं—**'भवन्त्यव्यभिचारिभ्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः'** (वही ६ । ८६)। जिसके हृदयमें भर्ताके चित्रका प्रतिबिम्ब सदा पड़ता रहे, पतिव्रता वही है। यही कारण है कि प्रियकी वियोग-दशाका अनुमान कर वे सुख-सौन्दर्यकी बातें भूल जाती हैं। पत्नी ही क्यों आदर्श पति भी तो दूर बैठा हुआ अपने संकल्पोंके द्वारा ही अपनी प्रियामें प्रविष्ट होना चाहता है—

अङ्गेनाङ्गं प्रतनु तनुना गाढतप्तेन तप्तं
साम्रेणाश्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन।
उष्णोच्छ्वासं समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
संकल्पैस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः॥

(मेघदूत २ । ३६)

इस प्रकार विरहकी दारुण निविड़ता दोनों ओर समान है—आदर्श दाम्पत्यकी कसौटी भी तो यही है। भारतीय आदर्शके अनुसार विवाहके पश्चात् पति ही पत्नीका सर्वस्व होता है, इसीलिये शारद्वत दुष्यन्तसे कहता है—

तदेषा भवतः कान्ता त्यज वैनां गृहाण वा।
अप्रपन्ना हि दारेषु प्रभुता सर्वतोमुखी॥

(अभिज्ञानशाकुन्तलम् ५ । २६)

'राजन्! यह आपकी पत्नी है; इसे रखिये या निकालिये; क्योंकि पतिका पत्नीपर पूरा अधिकार होता है।' पत्नीका जीवननिर्वाह पतिके घर ही हो सकता है और उसीमें संतोष करके उसे रहना भी चाहिये—

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया।
अथ तु वेत्सि शुचिव्रतमात्मनः
पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्॥

(अभिज्ञानशाकुन्तलम् ५ । २७)

'शकुन्तले! यदि राजाकी बात सत्य है तो तुझ-जैसी कुल-कलङ्किनीको पिताके घर कोई काम नहीं; यदि तू अपनेको पवित्र समझती है तो दासी बनकर भी तुम्हें पतिके घरमें रहना चाहिये।' सीताके चरित्राङ्कनमें कविने कहा है कि श्रेष्ठ नारियाँ अपने पतिको देवता मानती हैं **'पतिदेवतानाम्'** (रघुवंश १४ । ७४)। इसलिये स्वयं शिवने स्वीकार किया है—**क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम्'** (कुमारसम्भव ६ । १३)। पातिव्रत्यका प्रभाव समस्त संकटोंको दूर करनेवाला है—

उत्तिष्ठ वत्से ननु सानुजोऽसौ
वृत्तेन भर्त्ता शुचिना तवैव।
कृच्छ्रं महत् तीर्ण इति प्रियार्हां
तामूचतुस्ते प्रियमप्यमिथ्या ॥
(रघुवंश १४ । ६)

सीतासे उनकी सासुएँ कहती हैं—बेटी! उठ, तेरे ही पातिव्रत्यके प्रभावसे राम और लक्ष्मण सकटके मुखसे पार हुए हैं। साध्वी पत्नी पतिके लिये पत्नी, मित्र, सखी, मन्त्री तथा ललित कलाओंमें पतिकी प्यारी शिष्या आदि अनेक रूपोंमें समुपस्थित होती है—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः
प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
(रघुवंश ८ । ६७)

स्त्रीको क्षमाका वरदान देकर विधाताने इसे अपूर्व गौरवसे मण्डित कर दिया है। रामद्वारा परित्यक्ता सीताके हृदयमें भी रामके प्रति कितना स्वाभाविक प्रेम है। वे कहती हैं—'यदि मेरे गर्भमें स्थित आपका वह तेज बाधा न देता, जिसकी रक्षा करना आवश्यक है तो मैं आपसे सदाके लिये बिछुडे हुए अपने प्राण भी छोड़ देती। पर पुत्र हो जानेपर मै सूर्यमें दृष्टि बाँधकर ऐसी तपस्या करूँगी कि अगले जन्ममें भी आप ही मेरे पति हों, पर आपसे मुझे अलग न होना पडे—

भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि
त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः।
(रघुवंश १४ । ६६)

नारीका ऐसा उदात्त एव आदर्श रूप संसारमें और कहाँ मिल सकता है! जन्म-जन्मान्तरमें पतिके साहचर्य-की कामना रखनेके कारण हिंदूनारी पतिके दिवङ्गत हो जानेपर, उसकी चितामें उसके साथ ही भस्म हो जाना चाहती है। कामदेवके नष्ट हो जानेपर रति अपने प्राणोंको त्यागनेके लिये तत्पर है; क्योंकि चाँदनी चन्द्रमाके साथ चली जाती है और बिजली बादलके साथ विलीन हो जाती है। अतएव पतिके मार्गका अनुगमन करना जब जड़ोंमें भी देखा जाता है, तब वह चेतन होकर अपने प्यारेके पास कैसे न जाये?—

शशिना सह याति कौमुदी
सह मेघेन तडित् प्रलीयते।
प्रमदाः पतिवर्त्मगा इति
प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥
(कुमारसम्भव ४ । ३३)

और 'वह वसन्तसे चिता सजानेकी प्रार्थना करती है, जिससे वह सहमरणका पुण्यलाभ कर सके। कण्वके द्वारा पतिगृह जाती हुई शकुन्तलाको दिया जानेवाला—

शुश्रूषस्व गुरून् कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भोगेष्वनुत्सेकिनी
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥
(अभिज्ञानशाकुन्तल ४ । १८)

—यह उपदेश आज भी भारतीय पिताओंके द्वारा पुत्रियोको दिया जाता है। पिता योग्य वर ढूँढकर संतुष्ट हो जाता है—**'वत्से! सुशिष्यपरिदत्ता विद्येव अशोचनीयासि संवृत्ता'** (शाकुन्तलम्, पृ० ४८२)। 'जैसे योग्य शिष्यको विद्या देनेसे दुःख नहीं होता, वैसे ही तुझे भी योग्य पतिके हाथमें देनेसे मुझ (कण्व)को दुःख नहीं है।' किंतु माँको तभी संतोष होता है, जब कन्याको उसका पति प्यार करता है—

भर्तृवल्लभतया हि मानसीं मातुरस्यति शुचं वधूजनः ॥
(कुमारसम्भव ८ । १२)

शकुन्तलाको विदा करते समय विचारमग्न कण्वकी—**'अर्थो हि कन्या परकीय एव तामद्य सम्प्रेष्य परिग्रहीतुः'** इस (शाकु० ४। २२की) उक्तिमें भारतीय पिताकी भावना मुखरित हो उठती है। कालिदासके अन्य पुरुष पात्रोंमें भी विलक्षण शौर्य, दृढ चारित्र्य, स्वार्थोत्सर्ग, शास्त्रानुशीलन, शासनकुशलता, वर्णाश्रम-धर्मके प्रति निष्ठा एवं प्रेयकी अपेक्षा श्रेयकी ओर झुकाव परिलक्षित होता है।

दिलीप, रघु, अज, राम आदि रघुवंशियोंका पराक्रम तो लोकविश्रुत है ही, दुष्यन्त और पुरूरवाका भी शौर्य इतना बढ़ा-चढ़ा है कि इन्द्रको भी अपने शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनेके लिये इनकी शरण लेनी पड़ती है। ये सभी राजा होते हुए भी चरित्रके इतने दृढ़ थे कि पर-स्त्रीके प्रति इनकी मानसिक वृत्ति भी उन्मुख नहीं होती थी—'वशिनां रघूनां मनः परस्त्री-विमुखप्रवृत्तिः' (रघुवंश १६ । ८)। शूर्पणखा जब रामसे विवाहका प्रस्ताव रखती है तो राम सद्यः कह उठते हैं—'मेरा तो विवाह हो चुका है, तुम मेरे छोटे भाईके पास जाओ।' यहाँ कवि एकपत्नीव्रतकी ओर इङ्गित करना चाहते हैं (रघुवंश १२ । ३४)। पर जब वह लक्ष्मणके पास जाती है, तब वे कहते हैं—'तू पहले मेरे बड़े भाईके पास विवाहकी इच्छासे जा चुकी है, अतः तू मेरी माताके समान है, मैं तुझसे विवाह नहीं कर सकता' (रघुवंश १२ । ३५)। स्पष्ट है कि कालिदास मानसिक व्यभिचारके भी विरोधी थे। दुष्यन्त अपनी विस्मृतिकी अवस्थामें भी तर्कना कर रहा है—'अनिर्वर्णनीयं परकलत्रम्' (शाकुन्तल पृ० ५०१) और वह सहज भावसे कह उठता है—

कुमुदान्येव शशाङ्कः सविता बोधयति पङ्कजान्येव।
वशिनां हि परपरिग्रहसंश्लेषपराङ्मुखी वृत्तिः॥
(अभि० कु० ५ । २८)

'जैसे चन्द्रमा केवल कुमुदोंको ही विकसित करता है और सूर्य केवल कमलोंको ही विकसित करता है, वैसे ही जितेन्द्रिय लोग परायी स्त्रीको स्पर्श करनेकी इच्छा नहीं करते।' ये समस्त कथन दुष्यन्तकी चारित्रिक उदात्तताके ही सूचक हैं। एक जगह कविने इसी दुष्यन्तको शकुन्तलाके साथ अत्यधिक रागासक्त दिखाया है और यही विस्मृतिकी अवस्थामें उसकी तरफ आँख भी उठाना पाप समझ रहा है। उसे अपने चरित्रपर अदम्य विश्वास है, शकुन्तलाके प्रति आकृष्ट होते समय भी वह इस बातके लिये आश्वस्त है कि पुरुवंशियोंका मन कुपंथकी ओर जाता ही नहीं है—'न च परिहार्ये वस्तुनि पौरवाणां मनः प्रवर्त्तते' (शाकुन्तलम् पृ० २१८)। यह कथन उसके आत्मबलको द्योतित कर रहा है।

भारतीय संस्कृतिमें संग्रह करनेकी अपेक्षा त्यागपर अधिक बल दिया गया है; क्योंकि यहाँके लोग धनके लिये नहीं जीते, यशके लिये ही जीते हैं। महात्माओंकी सम्पत्ति बादलोंके जलके समान दानके लिये ही संगृहीत होती है—

'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव।'

धन तो बहुत तुच्छ वस्तु है। दिलीप जब स्वयंको सिंहके समक्ष अर्पित कर देते हैं तो सिंह उनसे कहता है—

एकातपत्रं जगतः प्रभुत्वं
नवं वयः कान्तमिदं वपुश्च।
अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्
विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्॥
(रघुवंश २ । ४७)

'राजन्! लगता है, कर्तव्याकर्तव्यका तुममें विवेक नहीं रह गया है; क्योंकि एक साधारण-सी गौके पीछे तुम इतना बड़ा राज्य, यौवन और ऐसा सुन्दर शरीर छोड़नेपर उतारू हो।' इसके उत्तरमें दिलीप कहते हैं—

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं
यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां
पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥
(रघुवंश २ । ५७)

'यदि किसी कारणवश तुम मुझपर कुछ दया ही करना चाहते हो तो मेरे यशःशरीरकी रक्षा करो; क्योंकि मुझ-जैसे लोग नश्वर शरीरसे आस्था नहीं रखते।' यही भारतका चिरन्तन आदर्श रहा है। जो अस्थायी है; उससे

मोह क्या ? यशःकायसे तो मनुष्य शताब्दियोतक जीवित रहता है—

उपेयुपामपि दिवं सन्निबन्धविधायिनाम्।
आस्त एव निरातङ्कं कान्तं काव्यमयं वपुः॥
(ध्वन्यालोकलोचन पृ० ४१)

यौवन, रूप और ऐश्वर्य—तीनोमेंसे एक भी मनुष्यको मतवाला बना देता है, किंतु अतिथिके पास तीनों वस्तुएँ थीं तो भी उन्हे लेशमात्र गर्व न था।

वयोरूपविभूतीनामेकैकं मदकारणम्।
तानि तस्मिन् समस्तानि न तस्योत्सिषिचे मनः॥
(रघुवंश १७।४३)

सत्ताधारियोंके प्रति यह प्रच्छन्न चुनौती है। अतिथिने यह सोचकर कि बाहरी शत्रु तो सदा रहते नहीं और रहते भी हैं तो दूर रहते हैं, अपने भीतर रहनेवाले काम-क्रोधादिको पहले जीत लिया। इन्होंने अर्थ तथा कामके लिये धर्मको कभी नहीं छोड़ा और धर्मसे बँधकर अर्थ एवं कामको भी नहीं छोड़ा और न अर्थके कारण कामको या कामके कारण अर्थको ही छोड़ा, प्रत्युत धर्म, अर्थ एवं काम तीनोंमें समरसताका बन्धन बनाये रखा—

अनित्याः शत्रवो बाह्या विप्रकृष्टाश्च ते यतः।
यतः सोऽभ्यन्तरान्नित्याञ्षट्पूर्वमजयद् रिपून्॥
(रघुवंश १७।४५)

(क्रमशः)

प्राचीन भारतीय कलाका चारित्रिक दर्शन

(लेखक—प्रो० श्रीकृष्णदत्तजी वाजपेयी)

धर्म, दर्शन, साहित्य तथा संगीतकी अनेक विधाओंकी तरह वास्तु, चित्रकला और मूर्तिकलाका भी इस देशमें बड़े रूपमें विकास हुआ। इन सबका उद्देश्य सौन्दर्य तथा आनन्दकी अभिवृद्धिके साथ चरित्र-निर्माण भी था। इसका पालन दीर्घकालतक होता रहा। ललित कलाओंके—सत्यं, शिवं, सुंदरम् रूपमें जीवन-आदर्शकी वही भावना निहित थी, जिसे हम अपने दार्शनिक साहित्यमे पाते हैं। भारतमें भोगप्रधान कृतिको वास्तविक कला नहीं माना गया। सच्ची कलाकी संज्ञा उसे दी गयी, जो परमानन्दकी प्राप्ति करानेमें सफल हो। कहा भी गया है—

विश्रान्तिर्या तु सम्भोगे सा कला न कला मता।
लीयते परमानन्दे य आत्मा सा परा कला॥

भारतीय कलाका इतिहास प्रागैतिहासिकयुगसे ही आरम्भ होता है। विशुद्ध लौकिक कलाके साथ-साथ धर्मसे सम्बन्धित कलाओंका निर्माण भी विभिन्न युगोंमें देशके प्रायः सभी भागोंमें होता आया है। विविध कलाओंके शास्त्रीय ग्रन्थोंका प्रणयन होनेपर वास्तुकला, चित्रकला, प्रतिमाकला एवं संगीत और नृत्यको उसी प्रकार नियमबद्ध किया गया, जिस प्रकार व्याकरणका नियमन पाणिनि आदि आचार्योंद्वारा किया गया। यद्यपि भारतमें बहुतेरे प्रतिमा-मन्दिर नये बने, तथापि कलाओंके चारित्रिक उन्नयनवाले पक्षने न केवल इस देशमे, अपितु बाहरके अनेक देशोमे सम्मान प्राप्त किया। इसका प्रमाण वे बहुसंख्यक कलाकृतियाँ हैं, जो आज भी मध्य एशिया, अफगानिस्तान, तिब्बत, चीन, सिंहलद्वीप, हिंद-चीन और हिंदेशियाके विभिन्न भागोंमें सुरक्षित हैं। भारतकी सांस्कृतिक विजयमें यहाँके आचार-विचारका तथा उनसे प्रादुर्भूत विविध मूर्त रूपोंका योगदान रहा है। ऐतिहासिक युगोंमें अनेक मंदिरो, स्तूपो, मठों, प्रतिमाओं आदिके निर्माणकी कथा बड़ी ही रोचक है। कलाकारोंने जहाँ एक ओर इसपर ध्यान दिया कि उनकी कृतियाँ लोक-जीवनके विभिन्न पक्षोंको उद्घाटितकर लोगोंमें सौन्दर्य और आनन्दकी वृद्धि करें, वहीं उन्होंने इस बातपर

बराबर बल दिया कि कलाकृतियाँ चरित्र-निर्माणमें सहायक बनें।

गुप्तकाल भारतीय इतिहासमें 'स्वर्णयुग'के नामसे प्रसिद्ध है। ईसवी सन् चौथी शतीके आरम्भसे छठी शतीके अन्ततकके लगभग तीन सौ वर्षोंके इस लंबे समयमें भारतने मूर्तिकला, चित्रकला, साहित्य और संगीतके क्षेत्रमें अभूतपूर्व उन्नति की। यह धार्मिक सहिष्णुताका युग था। यद्यपि अधिकांश गुप्तवंशी राजा वैष्णव थे, फिर भी वे अन्य धर्मोंके प्रति सम्मानका भाव रखते थे। उनके शासनमें कितने अन्य मतावलम्बी भी ऊँचे पदोंपर आसीन थे। इस कालमें वैष्णव, शैव, शाक्त आदि मतोंके साथ बौद्ध एवं जैन-धर्म एवं कलाएँ भी बराबर विकसित होती रहीं। इन विविध धर्मोंसे सम्बद्ध देवालयो, स्तूपों, विहारो आदिके जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, उनको देखनेसे पता चलता है कि शासक-वर्ग एव जनता—दोनोंमें धार्मिक उदार भावना विद्यमान थी। कुमारगुप्तने नालन्दामें एक बौद्ध विहारकी स्थापना करायी। वहाँ एक बड़े विश्वविद्यालयका निर्माण पहलेसे ही हुआ था। परवर्ती गुप्त शासकोंने इस विश्वविद्यालयकी अभिवृद्धि में पूरा योग दिया। इस कालमें जैनधर्म-सम्बन्धी स्थापत्य एवं मूर्तिकलाकी कृतियोका भी निर्माण बड़ी संख्यामें हुआ। मथुरा-जैसे नगर बौद्ध तथा जैन-धर्मके बडे केन्द्रोंके रूपमें प्रसिद्ध हुए। महाकवि कालिदासने उस भारतीय पारम्परिक विचारधाराका अनुमोदन किया है, जिसके अनुसार रूप या कला पाप-वृत्तियोको उकसानेका साधन नहीं है, बल्कि उनका उद्देश्य ऊँचा है। वे पार्वतीके शीलको शिवद्वारा तपस्वियोंके लिये भी अनुकरणीय कहलाते हैं—

> यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये
> 　न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।
> तथा हि ते शीलमुदारलोचने
> 　तपस्विनामप्युपदेशतां गतम्॥
> 　　　　(कुमारसम्भव ५। ३६)

गुप्तकालीन मूर्तिकारोंने भी कालिदासद्वारा निर्दिष्ट कलाके इस दिव्य आदर्शसे प्रेरणा प्राप्तकर अपनी कलाको सजाया। गुप्तकालकी जो कृतियाँ उपलब्ध हैं, उनमें मानव-हृदयके उल्लास, प्रेम और आनन्दका संचार करनेके साथ-साथ चित्तवृत्तियोंको ऊँचा उठानेमें सहायक भाव दीखते हैं। सौकुमार्य और रमणीयताके साथ यथार्थता-का आदर्श भी इस स्वर्णयुगीन कलामें मिलता है। गुप्त-कालीन मूर्तियोंमें चार प्रकारके उपकरण हैं—पाषाण, मिट्टी, कांसकी बनी तथा सिक्कोंपर किये हुए रेखाचित्र। पत्थर-की मूर्तियाँ गढ़नेके प्रधान केन्द्र देवगढ़, सारनाथ, मथुरा, तक्षशिला, नचना, भुमरा, मन्दसौर आदि थे। देवगढ़के दशावतार-मन्दिरमें लगे हुए कई शिलापट्ट गुप्तकलाके उत्कृष्ट नमूने हैं। इनमें तपस्यामें संलग्न नर-नारायण, गजेन्द्र-मोक्ष, अहल्या-उद्धार तथा शेषशायी विष्णुके दृश्य अत्यन्त प्रभावोत्पादक हैं। कुछ फलकोंपर कृष्ण-लीला-सम्बन्धी दृश्य भी हैं। सारनाथसे प्राप्त धर्मचक्र-प्रवर्तन-मुद्रामें बैठी हुई बुद्धमूर्ति सर्वोत्तम बुद्ध-प्रतिमाओंमेंसे एक है। इसमें बुद्धका शान्त, निःस्पृह भाव कलाकार-के द्वारा बड़ी सफलताके साथ व्यक्त किया गया है। सारनाथसे लोकेश्वर शिवका एक सुन्दर मस्तक मिला है, जिसका कलात्मक जटाजूट दर्शनीय है। भारतकला-भवन, काशीकी कार्तिकेयमूर्ति भी अपने ढंगकी अनूठी है। इसमें वीररस मूर्त-सा हो गया है और अङ्ग-अङ्गसे तेज तथा उत्साह छलकता है। मुखपर निर्भीकताका भाव है।

गुप्तकालमें मथुरा-कलाने भी बड़ी उन्नति की। बुद्धकी जो मूर्तियाँ इस कालमें गढी गयीं, उनमें शान्ति और गम्भीरताके साथ अङ्गोकी कोमलता तथा चेहरेपर मन्दस्मितताका भाव बड़े कलात्मक ढंगसे व्यक्त किया गया है। जैन-तीर्थंकरो तथा विष्णुकी कई उत्कृष्ट प्रतिमाएँ मथुरासे प्राप्त हुई हैं। इनके अतिरिक्त जनसाधारणके जीवनपर प्रकाश डालनेवाली कृतियाँ भी मिली हैं,

चारित्र्यके आदिदेव महादेव

'वरद परमं मङ्गलमसि'

जिनसे तत्कालीन वेश-भूषा, आमोद-प्रमोद आदिकी जानकारी प्राप्त होती है ।

उत्तर-पश्चिममें गुप्तकालीन मूर्तिकलाका एक बडा क्षेत्र गान्धार प्रदेश था । वहाँ सिलेटी (नीले) पत्थरमे उत्कीर्ण बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी सैकडो कृतियाँ मिली हैं, जो लाहौर, तक्षशिला तथा पेशावरके सम्ग्रहालयोंमें सुरक्षित हैं । इनकी कला यूनानी और वर्ण्य-विषय भारतीय हैं । चूने-मसालेकी गचकारीके बने हुए गान्धारकलाके कुछ मस्तक बडे सुन्दर हैं ।

मध्यभारतके उदयगिरि नामक स्थानमें उत्कीर्ण वराहकी विशालकाय प्रतिमा इस कालकी एक विशिष्ट कृति है । वराह भगवान् पृथ्वीको अनायास अपनी दाढ़ोंपर उठाये हुए दिखाये गये हैं । उनका शौर्य और साहस मूर्तिमें बडे स्वाभाविक ढंगसे व्यक्त किया गया है । मध्यभारतमें पवाया आदि कई स्थानोसे भी इस कालकी सुन्दर मूर्तियाँ मिली हैं । इनमेसे अधिकांश ग्वालियरके संग्रहालयमें सुरक्षित हैं । कई प्रतिमाएँ कलाकी दृष्टिसे उच्चकोटिकी हैं । विन्ध्यप्रदेशके खोह नामक स्थानसे प्राप्त एकमुख शिवलिङ्गवाली मूर्ति, जो पाँचवीं शती ईसवीकी है, गुप्तकालीन कलाके उत्कृष्ट उदाहरणोंमेंसे एक है । अन्य सुन्दर शिवलिङ्ग भुमरा, नचना आदि स्थानोंसे मिले हैं ।

दक्षिण भारतके अजन्ता, एलोरा, कन्हेरी, बादामी, ऐहोल आदि कई स्थानोंसे प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं । अजन्ताकी गुफाओमें पाषाणपर प्रतिमाएँ अङ्कित हैं । इसकी १९वीं गुफामें बुद्धकी अनेक सुन्दर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, जो उत्तर-गुप्तकालकी हैं । इनमें सपत्नीक नागराजकी प्रतिमा सर्वश्रेष्ठ है । एलोरामें छठी शतीकी कुछ दर्शनीय मूर्तियाँ हैं । कन्हेरीकी ६६वीं गुफामें अवलोकितेश्वरकी एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति उत्कीर्ण है । वे दो तारा-मूर्तियोंके बीच खडे हुए दिखाये गये हैं । ईलोरामें भी उत्तरगुप्तकालकी कई उल्लेखनीय मूर्तियाँ हैं, जिनमेंसे अधिकांश वैष्णव-धर्मसे सम्बद्ध हैं ।

प्राचीन इमारतें अब अधिक संख्यामें उपलब्ध नहीं रहीं; जो बची हैं उन्हे देखनेसे ज्ञात होता है कि उनमें मूर्तियोका चित्रण सुचारु ढंगसे किया जाता था तथा देव, गन्धर्व, यक्ष, किन्नर, पत्रावली, स्वस्तिक, कीर्तिमुख आदि यथास्थान उत्कीर्ण किये जाते थे । कानपुर जिलेमें भीतरगाँव तथा मध्यप्रदेशके रायपुर जिलेमे सिरपुर नामक स्थानपर ईंटोके मन्दिर मिले हैं । ईंटोंपर स्त्री-पुरुष, उत्फुल्ल कमल, बेलबूटे तथा जालीदार नक्काशी बडे प्रभावपूर्ण ढंगसे उकेरी हुई मिलती हैं ।

मिट्टीकी मूर्तियाँ भी बड़ी संख्यामें मिली हैं । पहाड़पुर, तमलुक, राजघाट, भीटा, कौशाम्बी, श्रावस्ती, पवाया, अहिच्छत्र और मथुरासे जो मृण्मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें तत्कालीन लोक-जीवनकी सुन्दर झाँकी मिलती है । पहाड़पुरके उत्खननसे कृष्ण-लीला-सम्बन्धी तथा अन्य कितने ही मनोरञ्जक अवशेष मिले है । राजघाटसे प्राप्त मिट्टीके खिलौने, गुप्तकालीन स्त्रीपुरुषोके अनेक प्रकारके केश-विन्यासों तथा अलंकरणोंको व्यक्त करते हैं । अहिच्छत्र (रामनगर)की खुदाईमें गुप्तकालकी अनेक छोटी-बड़ी मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं । इनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय पार्वतीका मनोहर मस्तक है, जिसका पुष्प-ग्रथित केशपाश तथा घुँघराली अलकोका भव्य प्रदर्शन देखकर कलाकारकी कलाके सामने नतमस्तक हो जाना पड़ता है । अहिच्छत्रासे प्राप्त अलंकृत जटाजूटसहित शिवका सिर भी दर्शनीय है । श्रावस्तीसे मिली हुई मूर्तियोंमें एक बहुत बड़ी मृण्मूर्ति है । इतनी बड़ी मिट्टीकी प्राचीन मूर्ति अन्यत्र नहीं मिली । इसमें एक स्त्री दो बच्चोके साथ बैठी हुई दिखायी गयी है । पासमें मोदकोकी डलिया रखी है । सम्भवतः यह दृश्य यशोदासहित कृष्ण-बलरामका है ।

गुप्तकालकी धातुकी मूर्तियाँ भी मिली हैं । सर्वोत्कृष्ट ताँबेकी वह बुद्धमूर्ति है, जो सुल्तानगंज (जिला

भागलपुर)से मिली है। यह साढ़े सात फुट ऊँची है और पाँचवीं शती ईसवीकी है। बुद्धका दायाँ हाथ अभयमुद्रामें है और बायेंसे वे वस्त्र सँभाले हुए हैं। वस्त्रोंको बड़ी बारीकीसे दिखाया गया है। मुखकी मुद्रा शान्त है। यह मूर्ति अब इंग्लैंडके बर्किंघम म्यूजियममें है। पूर्वी पंजाबके कांगड़ा जिलेसे बुद्धकी पीतलकी एक सुन्दर प्रतिमा मिली है। उसमें उन्हें धर्मचक्र-परिवर्तन-मुद्रामें दिखाया गया है। मीरपुर खास (सिन्ध प्रान्त)-से मिली ब्रह्माकी खड़ी हुई चतुर्मुखी मूर्ति भी कांस्य-प्रतिमाओंके अच्छे उदाहरणोंमें एक है। इस भावके सोने-चाँदीके सिक्के भी बड़ी संख्यामें मिले हैं। मूर्तिकलाकी दृष्टिसे स्वर्ण-सिक्के विशेष महत्त्वके हैं। उनके अग्रभागपर राजाकी मूर्ति मिलती है और पीछे लक्ष्मी या किसी अन्य देवताकी। इन मूर्तियोंसे तत्कालीन वेश-भूषाका अच्छा परिचय प्राप्त होता है। चन्द्रगुप्त प्रथम और कुमारगुप्त प्रथमके वे सिक्के जिनमें राजा-रानी साथ-साथ दिखाये गये हैं एवं समुद्रगुप्त तथा कुमारगुप्तके सिंहवधाङ्कित सिक्के विशेषरूपसे उल्लेखनीय हैं।

भारतीय संस्कृतिके मूलभूत तत्त्व, जिनमें ऐहिक एवं पारमार्थिक श्रेयका बीज निहित था, देश-कालकी सीमासे आबद्ध नहीं हुए। इतिहाससे ज्ञात होता है कि दीर्घकाल-तक संसारके अन्य देशवासियोंने भी इससे लाभ उठाया। प्राचीन समयमें भारतने मिस्र, असीरिया और बेबीलोनसे व्यापारिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किये। मौर्यसम्राट् अशोकने असीरिया, मिश्र, मेसीडोनिया, एपीरस, ताम्रपर्णी, सुवर्णभूमि आदि अनेक देशोंको अपनी धर्म-विजयका संदेश भेजा। ई० पूर्व द्वितीय शताब्दीके अन्तमें मध्य-एशियामें भारतीय बस्तियोंकी स्थापनाका आरम्भ हुआ। धीरे-धीरे वहाँके कोक्कुद, खोतन, कलमद, भरुक, कूची, अग्निदेश आदि राज्योंमें भी भारतीय धर्म, कला, भाषा और साहित्यका विकास हुआ। इनमेंसे कूची और खोतन (कुस्तन) भारतीय संस्कृतिके प्रधान केन्द्र हुए। खोतनके राजाओंके नाम विजयसम्भव, विजयवीर्य, विजय-धर्म आदि मिलते हैं। वहाँ गोमतीविहार बौद्धशिक्षाका बहुत बड़ा केन्द्र था। चौथी शताब्दीके अन्तमें जब चीनी यात्री फाह्यान वहाँ गया, तब महायान-मतावलम्बी ३,००० बौद्ध-भिक्षु उस विहारमें निवास करते थे तथा वहाँ धर्मयात्राएँ बड़े समारोहके साथ चलती थीं। छठी शतीके अन्ततक दक्षिण-पूर्वी एशियामें अनेक भारतीय उपनिवेशोंकी स्थापना हो गयी। हिन्दचीनके एक बडे भागका नाम 'सुवर्णभूमि' तथा हिन्देशियाके द्वीपोंकी संज्ञा 'सुवर्णद्वीप' प्रसिद्ध हुई। वहाँ जिन भारतीय राज्योंकी स्थापना हुई, उनके नाम कम्बुज, चम्पा, कोठार, पांडुरंग, श्रीविजय, मालव, दशार्ण, गंधार आदि मिलते हैं। इसी प्रकार वहाँ नगरोंके नाम भी अयोध्या, वैशाली, मथुरा, श्रीक्षेत्र, तक्षशिला, हंसावती, कुसुमनगर, रामावती, धान्यवती, द्वारवती, विक्रमपुर आदि मिलते हैं। सुवर्णद्वीप-सुमात्रा एवं आस्ट्रेलियामें भी भारतीय रहन-सहन, रीति-रिवाज, लिपि, भाषा और कलाका प्रसार हुआ। वहाँके आदिम निवासियोंके साथ भारतीयोंने जिस प्रेम एवं सहिष्णुताका व्यवहार किया, उसके कारण वे लोग बहुत प्रभावित हुए। फलस्वरूप ये प्रदेश भारतीय संस्कृतिके रंगमें पूर्णतया रँग गये और उनकी गणना 'बृहत्तर भारत'के अन्तर्गत की जाने लगी। ये उपनिवेश भारतीय संस्कृतिके तो केन्द्र बने ही, साथ ही उनके माध्यमसे भारतको कोचीन, जापान, कोरिया आदि देशोंके साथ भी अपने सांस्कृतिक सम्बन्धोंको दृढ़ बनानेमें सहायता मिली।

भारतीय संस्कृतिका इन दूरस्थ देशोंमें प्रचार करनेका श्रेय हमारे पूर्वज धर्म-प्रचारकोंको है। वैरोचन, काश्यप, मातङ्ग, कुमारजीव, गुणवर्मा, बोधिधर्म, गुणभद्र, शान्तिरक्षित, पद्मसम्भव, जिनमित्र, दीपंकर, श्रीज्ञान आदि कितने ही

विद्वानोंने यात्राजनित कष्टोंकी परवाह न कर संसारके अनेक भागोंमें भारतीय संस्कृतिका संदेश फैलाया। विभिन्न देशोंके साथ हमारे पूर्वजोंने सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं आर्थिक सम्बन्ध स्थापित कर उन्हें दृढ़ता प्रदान की। इस उद्देश्यकी पूर्तिके लिये उन्होंने जिस चरित्र-बल तथा उदारताका परिचय दिया, वह मानव-इतिहासकी एक गौरवपूर्ण गाथा है। वास्तुकला तथा मूर्तिकलाके बहुसंख्यक अवशेष विदेशोंमें विद्यमान हैं। वे चरित्र-प्रधान भारतीय संस्कृतिका जयघोष आज भी कर रहे हैं। वस्तुतः भारतीय कलामें आदर्श चारित्रिक दर्शन है।

आंग्ल-साहित्यमें चरित्रका महत्त्व

(लेखक—साहित्य-वारिधि डॉ० श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव, एम्० ए०, एल्० टी०, एल्-एल्-बी०)

अंग्रेजीमें एक सूक्ति प्रचलित है—

'यदि धन खो गया तो कुछ नहीं खोया (फिर कमा लेंगे), स्वास्थ्य खोया तो कुछ खो गया (संयम और ओषधिसे फिर भी मिल सकेगा), पर चरित्र खो दिया तो सब कुछ चला गया।'

व्यक्तिकी साख उसका बाह्यरूप है, परंतु 'चरित्र' तो उसका गुप्त धन है, जिसे उसके सिवा कोई नहीं जानता। इसीलिये कैनिंगकी बात सार्थक है कि 'व्यक्तिगत चरित्र ही समाजकी महान् आशा है।' प्लूटार्कने बहुत पहले कहा था—'चरित्र बहुत समयतक जारी रहनेवाली एक आदत है। उसीको आधुनिक मनोविज्ञानने 'आदतोंकी ढेरी' (Bundle of Behaviours) के रूपमें परिभाषित किया है। चरित्र यदि आदतोंका पुलिन्दा है तो मै कहूँगा कि जीवन भूलोंकी पिटारी है। लॉंगफेलो चाहते हैं कि मनुष्य इस संसारमें निहाई बने या हथौड़ा। वे कहते है—सृजन विचारोंकी रचना है। मिलरका कथन है—'जीवनका महान् ध्येय चरित्र-निर्माण है।' उनके अनुसार—'हम प्रतिदिन अपने दैनिक जीवनकी दिशामें बढ़ते जाते हैं। यह हमारे ऊपर निर्भर है कि हम सत्य, प्रेम, धैर्य-जैसे सद्गुणोंकी ओर बढ़ें या झूठ, लोभ, स्वार्थ-जैसे दुर्गुणोंके बीच जियें। एक यूनानी कहावतके अनुसार 'चरित्र भाग्य है। यदि हम तनिक भी विवेक रखते हैं तो हम अच्छे भाग्यके लिये अच्छे गुणोंकी ओर बढ़ना चाहेंगे, परंतु मानवदेहधारी होनेके नाते जो षड्रिपु—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर जन्मसे हमें घेरे हुए हैं, वे हमें बार-बार भूलोंकी ओर ले जाते हैं। उनका काम हमें ठगना है। पर हमें चाहिये कि हम दृढ़तासे उनका प्रतिरोध करें और ठोकरें भी खाँय तो प्रत्येक बार सँभल कर चलें।

विल्बरफोर्स तो कहते हैं—'छोटी बातोंकी बहुधा पुनरावृत्तिके चुनावमें ही चरित्रकी दृढ़ता है।' एमर्सनकी रायमें 'चरित्रकी पूर्णताका तो कहीं अन्त नहीं—वह कथित सफलताके बिना भी प्रतीक्षा कर सकता है।' भाव यह है कि पूर्णतः चरित्रवान् होना तो कठिन है, पर छोटी-छोटी बातोंको सही ढंगसे करनेकी आदत डालते चलो। चरित्रका निर्माण होता चलेगा, भले ही दुनियाकी दृष्टिमें तुम्हारा जीवन असफल हो। हर्बर्टके दृष्टिकोणसे 'चरित्र दो वस्तुओंका परिणाम है—मानसिक झुकाव और समय बितानेका हमारा ढंग।' नौवालिसके अनुसार 'चरित्र पूर्णतः शिक्षित इच्छा-शक्ति है।' फ्रायडके मतसे—'चरित्रकी उदात्तता कुछ नहीं है, सिवाय अच्छाईके प्रति स्थिर प्रेम और बुराईके प्रति स्थिर घृणाके।' अरस्तू कहते हैं—'हमारे चरित्र हमारे व्यवहारके परिणाम हैं।'

इस प्रकार 'चरित्र'की अनेक परिभाषाओंद्वारा विद्वानोने उसके स्वरूपको समझनेका प्रयास किया है। एमर्सन उसकी शोधमें आगे बढ़े हैं—वे चरित्रका कार्य भी बताते हैं। उन्होंने कहा है—'चरित्र युवावस्थाको शान

प्रदान करता है तथा झुर्रियोंवाली खाल और श्वेत बालोंको श्रद्धामिश्रित भय।' भाव यह है कि चरित्रसे यौवनको गरिमा प्राप्त होती है और वृद्धावस्थाको आदर मिलता है। चरित्रवान् युवक-युवती हमारी सराहनाके योग्य हैं और वृद्ध-वृद्धा आदरके पात्र। दूसरे शब्दोंमें उन्नत चरित्रकी शोभा प्रत्येक वयमें है। कहना न होगा कि बाल्यकालसे ही अच्छी आदतोंका अभ्यास हमें युवावस्था और वृद्धावस्थामें भी चरित्रवान् बनाता है। जीवनमें सब समय उत्तम चरित्रकी आवश्यकता है—उसकी अपनी उपयोगिता है। चरित्रके पालनेमें परिस्थितियोंका बहाना नहीं चलनेका है। एमर्सन कहते हैं—'परिस्थितियोंके किसी भी परिवर्तनसे चरित्रकी कमी सुधारी नहीं जा सकती।'

बीचरका कथन है—'आनन्द नहीं, जीवनका लक्ष्य चरित्र ही है।' लावेलकी उक्ति है—'सबसे अधिक बुद्धिमान् व्यक्ति भाग्यसे सरल, विनम्र, पुरुषार्थी और सत्यवादी होनेके अतिरिक्त माँग भी क्या सकता है। वह चाहेगा कि वह बहुतोंकी दृष्टिसे सुरक्षित रहे, बहुत थोड़े लोगोंद्वारा सम्मानित हो तथा संसारमें तुच्छ समझा जाये; परंतु अपने अन्तरमें गोपनीय ढंगसे महान् हो।' चरित्रवान् होनेका ढोंग तो बहुत-से रच लेते हैं, पर जब अन्तरात्मा निजी जीवनमें विशुद्ध होनेकी साक्षी भरे, तभी समझो कि तुमने संसारी वैभवको तुच्छ मानकर चारित्रिक उत्कर्षको अपनाया है। शेली (Sheelly) नामक विख्यात कविकी दृष्टिमें—'चरित्रवान् व्यक्ति आनन्दमय आत्माओंमेंसे है, जो पृथ्वीका नमक (लवण) है (अर्थात् उसके स्वाद या सौन्दर्यको बढ़ानेवाला है) और जिसके बिना संसारमें मकबरे-जैसी गन्ध होगी अर्थात् यह जगत् श्मशान-जैसी दुर्गन्धसे युक्त होगा।'

हम पूर्णतः चरित्रवान् भले न हों, पर अपने ही अन्तःकरणके द्वारा गिरे हुए न ठहराये जायँ। कारण चार्ल्स चर्चिलके मतसे—'पूर्ण चरित्र तो एक हजार सालमें एक बार प्रकट होता है। अवश्य ही उनका तात्पर्य राम, कृष्ण, बुद्ध, ईसा-जैसी विभूतियोंसे है।

कोई 'चरित्र'को देखना चाहे कि वह कहाँ छिपा हुआ है तो गेटे महाशयके सस्ते नुस्खोंको देखे। वे कहते हैं—'मनुष्य और किसी वस्तुसे अपना चरित्र इतना नहीं दिखाते, जितना वे अपने हँसनेकी वस्तुसे प्रकट करते हैं।' अभिप्राय यह है कि दूसरोंपर हँसकर, उन्हें तुच्छ समझकर और इससे भी आगे उनके कष्टोंसे उल्लसित होनेवाले अपने चरित्रकी नीचता ही प्रकट करते हैं। गेटेके समयमें भी धूर्तोंकी कमी न थी और हमारे समयमें तो घोर कलियुगमें अनाचारका, अशुभका प्रसार हो रहा है; क्योंकि संसार चारित्र्यसे पराङ्मुख होकर दुखियोंका दुःख दूर करना भूलकर बस, उनपर हँसना जानता है।

आंगल-साहित्यमें चरित्रके महत्त्वका सक्षेपमें दिग्दर्शन कराते हुए हम कहेंगे कि अच्छे-बुरे सब कहीं हैं, परंतु अंग्रेज (व्यापकरूपमें सभी पाश्चात्त्य) राष्ट्रिय चरित्रमें ठीक हैं। हमारा रोना तो यही है कि उत्तमोत्तम विरासत पाकर भी हम भारतीय आज उनकी नकलसे राष्ट्रिय चरित्रमें पीछे हो रहे हैं। टेलर कहते हैं—'प्रसिद्धि वह है, जो तुमने ली है और चरित्र वह है, जो तुम देते हो।' प्रत्येकको सोचना चाहिये कि मानव-देह पाकर तुमने समाज, राष्ट्र और संसारको क्या दिया है। ध्यान रहे, तुम्हारा यह योगदान तुम्हारे चरित्रके रूपमें अलक्ष्य है। गेटेके शब्दोंमें—'चरित्र चरित्रको प्रेरणा देता है।' वैट्रोलने उसे हीरा बताया है, जो अन्य सभी पत्थरोंपर खरोच बना देता है और अन्तमें रिचर्ड लिन्वकी बात याद रखें—'चरित्रकी अन्तिम उपलब्धि पूर्ण आन्तरिक शान्ति है।' भौतिक सुखोंसे ऊँचा उठकर कोई आत्मिक अनुरूपता चाहे तो चरित्रका ध्यान रखे, जिसपर मात्र उसका ही नियन्त्रण है।

पाश्चात्य मनीषियोंकी दृष्टिमें चरित्र

(लेखक—डॉ० श्रीभुवनेश्वरप्रसादजी वर्मा 'कमल', एम्० ए०, डी० लिट्०)

जैसे जलका अपना कोई आकार-प्रकार और रूप-रंग नहीं होता, जिस आकार और जिस रंगके बर्तनमें उसे रख दीजिये, जल वैसा ही रूप-रंग धारण कर लेता है, उसी प्रकार 'चरित्र' शब्द तबतक मनुष्यकी अच्छाइयो और बुराइयोका बोध नहीं कराता, जबतक उसमें 'सत्' या 'दुः' पदका संयोग नहीं होता, जब हम कहते हैं कि 'वह चरित्रवान् व्यक्ति है' या 'ही इज ए मैन आफ कैरेक्टर' तो इसका अर्थ होता है कि वह सद्गुण-सम्पन्न और सदाचारसे युक्त व्यक्ति है। उसी प्रकार जब हम यह कहते हैं कि 'वह चरित्रहीन व्यक्ति है' तो इसका अर्थ होता है कि वह दुराचारी व्यक्ति है।

चरित्रकी परिभाषा—पाश्चात्य मनीषियोने चरित्र-की विशेषताओं और विलक्षणताओपर बड़ा ही गम्भीर विवेचन किया है। चरित्रकी परिभाषा करते हुए प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक अरस्तूने कहा है—'चरित्र हमारे आचरणसे उद्भूत जीवनकी एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है[1]।' सुप्रसिद्ध अंग्रेजी निबन्धकार इमर्सनने 'सैल्फ रिलायन्स' शीर्षक अपने एक निबन्धमें लिखा है—'चरित्रवान्‌की एक ऐसी वर्ग-पहेली है, जिसे बाँयेंसे दाँयें, दाँयेंसे बाँयें और ऊपर-नीचे या तिरछे जैसे पढ़ा जाय, एक ही वर्णविन्यासको सूचित करता है[2]।' उसके कहनेका तात्पर्य यह है कि चरित्रवान् व्यक्ति प्रत्येक परिस्थितिमें सम-रस रहता है, कभी विचलित नहीं होता। इसका बड़ा ही सुन्दर उदाहरण गोस्वामी तुलसीदासने 'रामचरितमानस' के अयोध्याकाण्डमें भगवान् श्रीरामका शील निरूपण करते हुए दिया है—

> प्रसन्नतां या न गताभिषेकत-
> स्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
> मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे
> सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥

'भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके मुख-कमलकी वह कान्ति सदा मेरा कल्याण करे, जो न तो राज्याभिषेकका समाचार सुनकर विकसित हुई और न तो वनवासका समाचार पाकर मलिन हुई।' मानव-जीवनकी इस अलौकिक विशेषताकी ओर संकेत करते हुए 'इमर्सन' आगे कहते हैं कि 'चरित्रकी केन्द्रीय विशेषता यही है कि चरित्रवान् व्यक्ति विपरीत परिस्थितिमे भी विचलित और अस्थिर नहीं होता[3]। एक अन्य निबन्धमे 'इमर्सन'ने लिखा है—'चरित्र वह वस्तु है, जो असफलताके बावजूद भी ज्यो-का-त्यो बना रहता है[4]।'

'एडवार्ड एवरेस्ट'ने चरित्रसम्बन्धी अपने एक भाषणमें कहा था—'महान् चरित्र एक दैवी विभूति है। उसका निर्माण सिर्फ अपने ही युगके लिये नहीं, वरन् चिरन्तनकालके लिये एक प्रगतिशील एवं अनन्त तत्त्वके रूपमें होता है, जो उस मनुष्यके जीवनके पश्चात्, उसके युगके उपरान्त, उसके देशके बाद और उसकी भाषाके पश्चात् भी जीवित रहता है[5]।'

चरित्र और प्रतिभा—सुप्रसिद्ध जर्मन नाटककार 'गैटे' ने चरित्र और प्रतिभाका पारस्परिक सम्बन्ध निरूपित करते हुए लिखा है—'प्रतिभाका विकास एकान्तमें होता है, पर चरित्रका विकास संसारके बवण्डरोंके बीच होता है[6]।'

इसी विचारका पोषण करते हुए एक दूसरे जर्मन विद्वान् 'हेनरिच हेन'ने लिखा है—'प्रतिभा और

१–निकोनैशियन एथिक्स। भाग ३, अध्याय ५, २–इमर्सन—'एसेज फर्स्ट सीरीज' ३–वही, ४–इमर्सन—'अनकालेक्टेड लेक्चर्स' ५–'एडवार्ड एवरेस्टस् स्पीच। ४-७-१८३५ ई०, ६–गेटे 'टौरक्वॉटो टास्सो' अङ्क १, दृश्य २।

चरित्र दो वस्तुएँ हैं। प्रतिभारहित व्यक्ति भी चरित्रवान् होते हैं[7]।' 'फेड्रिक सैण्डर्स'ने चरित्र और प्रतिभाके सम्बन्धमें उपर्युक्त विचारकोंके विचारोंसे ही मिलते-जुलते विचार प्रस्तुत किये हैं। वे कहते हैं—'चरित मानव-जीवनका नियामक तत्त्व है और प्रतिभासे उसका स्थान कहीं ऊँचा है[8]।'

चरित्र और यश—चरित्र और यशका पारस्परिक सम्बन्ध निरूपित करते हुए अब्राहम लिंकनने लिखा था—'चरित्र एक वृक्षके समान है और ख्याति उसकी छायाके समान। वृक्ष ही मूलतत्त्व है, छाया तो छाया ही है[9]।' इसी संदर्भमें बेयार्ड टेलरकी उक्ति भी ध्येय है। वे कहते हैं—'प्रसिद्धि वह वस्तु है, जिसे आप प्राप्त करते हैं, पर 'चरित्र' वह वस्तु है, जिसे आप दूसरोंको देते हैं। जब आप इस सत्त्वके प्रति जाग्रत् होते हैं, तभी आपके वास्तविक जीवनका प्रारम्भ होता है।[10]' इन पङ्क्तियोंमें टेलर साहबके कहनेका मन्तव्य है कि 'चरित्र' ही वह वस्तु है, जिससे मनुष्य दूसरोंको प्रभावित कर सकता है, प्रसिद्धि, ख्याति या यशके द्वारा नहीं।

चरित्र और प्रसन्नता—चरित्र और प्रसन्नताके अन्तरको स्पष्ट करते हुए प्रसिद्ध पाश्चात्य चिन्तक हेनरी वार्ड बीचरने कहा है—'प्रसन्नता जीवनका लक्ष्य नहीं, चरित्र जीवनका लक्ष्य है[11]।' कहनेका तात्पर्य यह हुआ कि चरित्र ही मानव-जीवनकी वास्तविक निधि है, अर्थ-धर्म-काम-मोक्षादिसम्भूत प्रसन्नता जीवनकी वास्तविक निधि नहीं। प्रसन्नता फल है, कर्तव्य या कमाई नहीं। पर चरित्र कर्तव्य है, जो परिपक्वावस्थामें प्रसिद्ध होता है।

चरित्रकी दुर्लभता—चार्ल्स चर्चिल चारित्र्यको मानव-जीवनकी दुर्लभ उपलब्धि मानते थे। उन्होंने लिखा है—'हजार वर्षोंमें एक बार कभी पूर्ण सच्चरित्र व्यक्ति अवतरित होते हैं[12]।' महात्मा कबीरने भी ठीक इसी प्रकारकी बात कही है—

> सिंहन के लहँडे नहीं, हंसन की नहिं पाँत।
> लालन की नहिं बोरियाँ, साधु न चलें जमात॥

इस कथनसे वही ध्वनि निकलती है कि चरित्रवान् व्यक्ति सदैव दुर्लभ होते हैं। चरित्र तपस्या-साध्य सिद्धि है।

सुप्रसिद्ध यूनानी लेखक 'जोवर्ट'ने चरित्रकी दुर्लभताकी ओर संकेत करते हुए लिखा है कि 'आदरका भाजन बनना उतना ही दुर्लभ है, जितना उसके लिये योग्य बनना।[13]' आदरकी योग्यता चरित्रसे आती है। श्रीराम मर्यादापुरुषोत्तम थे, तभी वे **'चारित्र्येण युक्तः'** कहलाये और रावण चरित्र-हीन था तो **'लोकरावणो रावणः'** कहा गया।

चरित्रकी परख—चरित्रकी परखपर प्रकाश डालते हुए 'इमर्सन'ने कहा है—'आप जिस भाषाका प्रयोग करना चाहें करें, परंतु आपकी वाणीसे वही बात प्रकट होगी, जो आप स्वयं हैं।[14]' कहनेका तात्पर्य यह कि वक्ता अपनी वाणियोंमें सदा आत्माभिव्यक्ति ही करता है, और कुछ नहीं। गोस्वामी तुलसीदासने रामकथाके बीच लाख अपनेको तटस्थ रखना चाहा, पर 'रामचरितमानस'में सर्वत्र उनकी तस्वीर दिखलायी ही पड़ती है। रामचरितमानस महात्मा तुलसीका 'मानस' है।

७–हेनरिच हेन–अट्टा ट्रोल–अध्याय २४ ८–फ्रेड्रिक सौण्डर्स स्ट्रे लीव्ज–लाइफ्स लिट्ल डे ९–अब्राहम लिंकन (ग्रौस–लिंकन्स ओन स्टोरीज, पृ० १०९), १०–बेयार्ड टेलर : इम्प्रोमीजेगम्स, सेक्शन ११, ११–हेनरी वार्ड बीचर : लाइफ थॉट्स, १२–चार्ल्स चर्चिलः दि घोष्ट, भाग ३। १३–जौवर्ट : पेन्सीज : स० २४७। १४–इमर्सन : कण्डक्ट आफ लाइफ : 'वरशिप'।

चरित्रवान् व्यक्तिका स्वरूप-निर्धारण करते हुए 'टाम्स आ केम्पिस'ने कहा है—'आप वही हैं, जो आप हैं, उससे भिन्न कुछ भी नहीं[१५]।' कहनेका तात्पर्य यह कि चरित्रवान् व्यक्ति चरित्रवान् है और दुश्चरित्र व्यक्ति दुश्चरित्र ही रहेगा। 'पब्लीलियस सांडरस'का कहना है कि 'आप इस बातकी चिन्ता न करें कि लोग आपको किस रूपमें जानते हैं। आवश्यक यह है कि आप जो हैं, अन्तरसे वही बने रहें।'[१६]

चरित्र और सम्पत्ति—ग्रीक दार्शनिक 'प्लुटस'ने चरित्रकी सम्पत्तिके साथ तुलना करते हुए लिखा है कि 'मैं चाहूँगा कि जवाहरातोंकी अपेक्षा सच्चरित्रतासे मेरा शृङ्गार किया जाय; क्योंकि जवाहरात तो सौभाग्यकी देन हैं, जब कि सच्चरित्रता अन्तःकरणकी निधि है।'[१७]

सद्विचार चरित्रकी उपज—'एच्० डी० थौरियन' सद्विचारोंको चरित्रकी उपज मानते हैं। उनका कहना है कि 'हम सद्विचारकी फसलको तबतक कैसे काट सकते हैं, जबतक हमने अपने जीवनकालमें सच्चरित्रताके बीजका वपन नहीं किया ?[१८]'

चरित्र और सौभाग्य—यूनानी चिंतक 'पब्लीलियस साइरस'ने चरित्र और सौभाग्यका सम्बन्ध-निरूपण करते हुए कहा है—'मनुष्यका चरित्र ही उसके भाग्यका नियामक है'।[१९] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सच्चरित्र व्यक्ति सौभाग्यवान् होगा ही और ठीक इसके विपरीत दुश्चरित्र व्यक्ति दुर्भाग्यवान्। एक दूसरे यूनानी दार्शनिक 'हिरैक्लिटस' ने चरित्र और सौभाग्यपर विमर्श करते हुए लिखा है कि 'सच्चरित्रता ही सौभाग्य और दुश्चरित्रता ही दुर्भाग्य है।'[२०] 'जौसेफ फेन्स'ने अपने एक भाषणमें चरित्र और सौभाग्यके सम्बन्धमें ठीक इसी प्रकारकी बात कही थी—'आदतोंसे चरित्रका निर्माण होता है और चरित्र ही भाग्य है।[२१]'

चरित्र और आदत—ठीकरोंसे जूआ खेल रहे एक बालकको सुप्रसिद्ध दार्शनिक 'प्लेटो'ने एक बार डाँटा था। इसपर उस बालकने प्लेटोसे निवेदन किया—'मैं तो पैसोंसे जूआ नहीं खेलता, सड़कपर बिखरे मूल्यहीन ठीकरोंसे जूआ खेल रहा हूँ। आप इस 'मामूली बात' (ट्राइफल) पर व्यर्थ ही मुझे डाँट रहे हैं।' इसपर प्लेटोने जो उत्तर दिया, वह अत्यन्त मार्मिक और ध्यातव्य है। उन्होंने गम्भीर होते हुए कहा—'बुरी वस्तुओंकी 'आदत' डालना 'मामूली बात' (ट्राइफल) नहीं है।'[२२]

श्री डी० एन्० घोष साहबने 'कालेज एसेज' नामक अपनी पुस्तकमें किसी अंग्रेज चिन्तकके विचारोंको उद्धृत करते हुए लिखा है—'तुम्हारे कर्मोंके बीजसे ही तुम्हारी आदतोंका प्रादुर्भाव होता है, तुम्हारी आदतोंके बीज ही चरित्ररूपी वृक्षके रूपमें पल्लवित होते हैं और तुम अपने चरित्रके बीजके अनुरूप ही सौभाग्य या दुर्भाग्यका फल चखते हो।'[२३]

सुप्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान् 'उडरो विल्सन'ने एक बार अपने भाषणके क्रममें कहा था—'चरित्र एक उपज है, जिसका निर्माण दैनिक कर्त्तव्यके कारखानेमें होता है।[२४]' 'इमर्सन' ने इस संदर्भमें लिखा है कि 'चरित्र प्रकृति (आदत-)का सर्वोच्च प्रतिरूप है।'[२५]

१५–टाम्स आ केम्पिस: डी इमिटेशन कुष्टी: भाग २, अध्याय ६। १६–पब्लीसियस साइरस: सेन्सीटिम: सं० ७८५, १७–प्लुटस पोयनुलस अंक १, दृश्य २, १८–डी० एच्० थौरियन जौर्नल (इमर्सन 'थौरियन), १९–पब्लीलियस साइरस सेन्सीटिभ स० १४१, २०–हिरैक्लिटस (मुल्लाक फ्रेग्मेण्ट्स आफ ग्रीक फिलासफी), २१–जौसेफ फेन्स एड्रेसस 'आवर डेली फौल्टस ऐण्ड फेलिंग्स'। २२–डी० एन० घोष 'कालेज एसेज'। २३–वही, २४–'वुडरो विल्सनः ऐड्रेस, आर्लिंगटनः ३१–५–१५१५ ई, २५–'द सेलेक्टेड राइटिंग्स आफ आर० डब्लू इमर्सनः द माडर्न लाइब्रेरीः पृ० ३६५।

सुप्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तूने कहा है कि 'जिस कामको करनेकी आदत वन जाती है, वह प्रकृतिका अंग वन जाती है। वस्तुतः आदत और प्रकृतिमें कोई विशेष अन्तर नहीं रह जाता; क्योंकि 'प्रायः' और 'सदैव'में वहुत वड़ा अन्तर नहीं है, आदत 'प्रायः'की कोटिमें आती है तो प्रकृति सदैव की कोटिमें।'[२६]

इन कथनोंसे यह स्पष्ट है कि चरित्र-निर्माणमें व्यक्तिकी आदतोंका वहुत वड़ा हाथ है। जीवनके प्रारम्भमें यदि हम अच्छी आदतोंका अभ्यास करते हैं तो निश्चित है कि वादमें हमारा आचरण और चरित्र उच्चकोटिका वन जायगा। जिस किसी व्यक्तिने भी ऐसा कहा है कि 'मनुष्य अपने भाग्यका नियन्ता स्वयं है; शत-प्रतिशत ठीक कहा है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी 'रामचरितमानस'में कर्म (आदत)को भाग्य-निर्माणका नियामक तत्त्व मानते हुए कहा है—

कर्म प्रधान विस्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा॥

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सच्चरित्र व्यक्तिका भाग्यवान् होना ध्रुव सत्य है। वह किसी भी परिस्थितिका सामना अपने चरित्रवल और मनोवलसे करेगा और हार-जीतमें सदा एकरस रहेगा। (क्रमशः)

चरित्रनिर्माणके तत्त्व

(लेखक—डॉ० श्रीरञ्जनजी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

ईश्वरमें विश्वास—चरित्र-निर्माणका प्रथम एवं अन्तिम सोपान

प्रेमके विषयमें कवीरने कहा है—

प्रेम न वाड़ी ऊपजे, प्रेम न हाट विकाय।
राजा प्रजा जेहि रुचे, शीश देइ ले जाय॥

प्रेम ऐकान्तिक है। यह किसीके प्रति किसी भी कारणसे उत्पन्न हो सकता है। पर आज इसका रूप वड़ा घृणित हो गया है। इसके विपरीत श्रद्धाका व्यापार-स्थल विस्तृत है। हाँ, श्रद्धा और प्रेमका जहाँ संगम होता है, वहींसे भक्तिकी धारा प्रवाहित होती है। 'भज्-सेवायाम्'से निष्पन्न शब्द 'भक्ति' सेवाका पर्याय है। पर जवतक विश्वास नहीं होता, सेवा अर्पित नहीं की जा सकती। फलस्वरूप सांसारिक प्रेम शरीरका विषय है और श्रद्धा आत्माका। जव प्रेम शरीरके ऊपर होकर आत्मामें प्रवेश करता है तो उसे श्रद्धा कहते हैं। श्रद्धाका भाव जहाँ पूर्ण विश्वास होता है, वहीं वह समर्पित होता है। श्रद्धालु अपने जीवनक्रमको ज्यों-का-त्यों छोड़ देता है। वह अपने तर्क और वुद्धिसे ईश्वरकी असीम सत्ताकी थाह नहीं पाता है तो ज्यों-का-त्यों अपनेको समुद्रमें फेंक देता है—

किश्ती खुदापर छोड़ दी लंगड़को तोड़ दी।
अहसान ना खुदाका उठाये मेरी वला॥

किसीके प्रति श्रद्धा तभी उत्पन्न होती है, जव उसमें विश्वास हो जाय। प्रायः यह गुण शील या चरित्रके कारण उत्पन्न होता है। जो श्रद्धामय जीवन व्यतीत करना चाहता है, वह तर्कपर विश्वास नहीं करता। जहाँ तर्क है, वहाँ विश्वास नहीं। अतः तर्कके चक्षुओंपर विश्वास करना एक भ्रान्त धारणा है। हाँ, जिस नावकी पतवार स्वयं भगवान्के हाथ है, उसे किसका भय। भय तो उसे हो जो अपने-आपको किसी दूसरेके यहाँ गिरवी रखता है या अपने कमजोर हाथोंको अपनी नावकी पतवार दे देता है। पर जव ईश्वर स्वयं उस पतवारको पकड़े हो तो भय किसका? लेकिन हाँ, उस सर्वशक्तिमान्में भरोसा होना चाहिये। फिर तो सर्वशक्तिमान्का

२६—'एरिस्टोटल' 'रेटोरिक'

आँचल पकड़ते ही आप निर्भय हो जायेंगे; सबल हो जायँगे। कहा है—'निर्बलके बल राम।' उसके स्पर्शमात्रसे आप अजेय हो जायँगे। आपमें ईश्वरका प्रकाश भर जायेगा। उसका सारा दिव्यालोक आपमें समाहित हो जायेगा, तब कहीं आप **'अहं ब्रह्मास्मि'**का उद्घोष कर सकेंगे। फिर दुनियाकी सारी ताकत एक तरफ और आप एक तरफ। फिर तो आप अपना सहायक आप होंगे। प्रभु तभी सहायक होंगे, जब झंडा लेकर आप विश्वविजयको निकल पड़ेंगे। लेकिन किसके बलपर, उस परम पिताकी असीम कृपापर। अटल विश्वासका नाम ही श्रद्धा है।

इस संदर्भमें एक बात याद आती है। महाभारत-युद्धकी तैयारी चल रही थी। एक दिन दुर्योधन-अर्जुन दोनों राजनीति-विशारद भगवान् कृष्णके पास एक साथ ही पहुँचे। भगवान् भी व्यावहारिक कम नहीं थे। उन्होने दोनोंके सामने एक शर्त रख दी। चुनाव आप दोनोंको करना है। एक तरफ हमारी शस्त्रसज्जित सेना होगी, दूसरी तरफ निरस्त्र मै स्वयं रहूँगा। दुर्योधन बहुत ही लोभी था। उसकी राजलिप्साने झट भगवान् कृष्णकी सज्जित सेनाको लेना पंसद किया। पाण्डवोंके पक्षमें अकेले भगवान् कृष्ण पडे। पाठकोको मालूम है कि महाभारतमे इसके बाद क्या हुआ। परिणाम आज हमारे सामने है। लेकिन प्रायः सभी लोग कहते हैं—दुर्योधनने भूल की थी। उसकी भूलका परिणाम सबके सामने स्पष्ट है।

भगवान् कृष्णने अकेले ही अर्जुनके सारथि बन सारा श्रेय पाण्डवोंको दे दिया। इससे स्पष्ट होता है कि संसारकी सारी शक्तियाँ हम इकट्ठी कर विजयश्री प्राप्त करना चाहते है और जहाँ सारी शक्तियॉ समाहित है उसकी उपेक्षा करते है। लेकिन बात बड़ी स्पष्ट है, विजयश्री उन्हींको मिलती है, जो भगवान्‌को अपने जीवनरथका सारथि बना लेते हैं। गीतामें कहा है—**'मामेकं शरणं व्रज।'**

हमारे अङ्गुष्ठमात्र हृदयमें भगवान् डेरा डाले बैठे हैं। वे अपनी इच्छासे हमारी आत्मामें शक्तिरूप होकर प्रविष्ट हुए हैं। यथा **'आत्मनात्मानं स्वयमकुरुत,' 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्रविशत्।'** वही हमारे अंधकारमय हृदयकी ज्योति है। इसके बावजूद भी हम अपनी शक्ति और सामर्थ्य तथा संसारी उपकरणोपर विश्वास करते हैं और यही विश्वास हमें पराजयकी ओर ढकेल देता है। हम कदम-कदमपर ठोकरें खाते हैं और कहते है—'सुर्खरू होता है इंसाँ ठोकरें खानेके बाद'। एक छोटी-सी सफलता मिल जाती है। हम खुश हो जाते हैं। ख्याली पोलाव बनाते हैं, नाना प्रकारके सपने बुनते हैं। रात-दिन कल्पनाके पंखोंपर बैठकर आकाशमें विचरण करते हैं। पर यह सारा वैभव हवाके एक झोंकेसे ही छिन्न-भिन्न हो जाता है। हम असहाय इधर-उधर देखने लगते हैं। जब कुछ भी नहीं दीखता तो भाग्यको दोष देते हैं, कोसते हैं। पर मुड़कर यह नहीं देखते कि आखिर कारण क्या है? ऐसा क्यों हुआ? यह हवाका झोंका क्यों और कहाँसे आया और फिर हमारा ही वैभव क्यों मिटा दिया। हम कभी नहीं सोचते कि हम इन स्वप्नोंके मालिकका आशीर्वाद लिये उसकी चरण-धूलि माथेपर कैसे लगायें? चरणधूलि छूना पड़ेगा, उठाना पडेगा। आपको आशीर्वाद देनेवाला तो आपके साथ है। आप उससे कहते क्यों नहीं? बात क्यों नहीं करते? जरा बुलाकर तो देखें—'क्या कहता है? असहाय अर्जुनको उसने बुलाया, आदेश दिया, **'मामनुस्मर युध्य च'**—मेरा नाम लेकर युद्ध कर। सचमुच संघर्षसे व्यक्तित्व निखरता है—जहाँ चाह-वाला राहपर उसको ले ले। फिर तो सफलता आपके पीछे दौड़ेगी। ईश्वरका नाम लेकर जीवन-संघर्षमें जुटनेवालेको कभी निराशा नहीं होती। हार नहीं होती।

हाँ,' हार हमारी विजय है'—कहकर आगे बढ़ो। यहाँ अनाथ कोई नहीं, सबके दाता राम हैं। अतः उसकी जैसी इच्छा। जीवन-नौकाको उसीपर छोड़ दो, बहावके साथ बहने दो। वह पार लगायेगी ही।

संस्कृतके विद्वान् कहते हैं—'बलीयसी केवलमीश्वरेच्छा' अर्थात् केवल ईश्वर-इच्छा ही बलवान है। आपके प्रयत्नसे कुछ नहीं होता।

अजगर करे न चाकरी, पक्षी करे न काम।
दास मलूका कह गये सबको दाता राम॥

यही बात उर्दूके एक शायरने कहा है—'काम करो तदबीर तो क्या होता है? होता है, वही जो मंजूरे खुदा होता है।' अब यहाँ एक बात दीखनी है कि भाग्यको कुछ हदतक सराहा गया है। पर ऐसा ही कि काम करो ही नहीं, क्योंकि पहलेके कर्म ही भाग्य बनते हैं।

अतः बिना किये कुछ नहीं होता। करना जरूरी है। नर करनी करे तो नारायण होय। उलझनकी प्रक्रिया विशेष महत्त्वाकांक्षी व्यक्तिको कभी स्थितिप्रज्ञ नहीं होने देती। दोनों क्रियाओंमें हमें माध्यमकी आवश्यकता है। ईश्वरकी इच्छा पूरी होती है, चाहे सफलतामें हो या असफलतामें। दोनों सगे भाई साथ-साथ जन्मे, साथ-साथ रहते हैं। आप कहते हैं कि भाग्य और कर्म दोनोंमें यह बड़ा है, वह छोटा; यह तो हमारा बुद्धिव्यायाम है। कोई कर्मकी दुहाई देता है, कोई भाग्यकी। सूतपुत्र कर्णकी बात प्रायः सभी कर्मयोगी बड़े गर्वसे कहते हैं—'मैं सूत होऊँ, सूत-पुत्र होऊँ अथवा कुछ भी होऊँ, कुलके जन्म तो भाग्याधीन हैं, पुरुषार्थ सम्पादन करना मेरा काम है। यहाँ भी मेरा-तेराका संघर्ष है। पर यह तो कहता है, कहाँ मेरा-तेरा सब कुछ तो मेरा है। मेरी इच्छाके विरुद्ध सृष्टिका एक पत्ता भी नहीं हिलता। अतः उसकी इच्छा सर्वोपरि है।

हम और आप परमात्मामें समाहित होते हैं। सबका वास-स्थान वे ही हैं। सबको वे ही पालते हैं और सबको शरण देते हैं। योगिराज कृष्ण गीतामें अर्जुनको समझाते हुए यही तो कहते हैं—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्॥
(९।१८)

यह अकाट्य सत्य है कि मृत्युके समय हम रामकी शरणमें जाते हैं। विश्राम वहीं मिलना है, पर यह क्रिया अन्तमें होती है—जब हम चारों तरफसे थक जाते हैं तब। जबतक हमारी भुजाओंमें बल रहता है, तबतक हम अपनेको ही सब कुछ मानते हैं। यदि यही बात हम पहले करें, अर्थात् जीवनमें पहले ही अपने-आपको भगवान्के हाथमें सौंप दें तो जीवनधारा ही मुड़ जाय, जीवनको एक गति मिल जाय—ऐसी गति जिसका हमें भान न हो। भगवान् स्वयं कहते हैं 'मुझे ही भज। अपना कर्म-अकर्म सब मुझे अर्पित कर दे।' गीताके शब्दोंमें वे कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(१८।६५)

वे आगे कहते हैं—'तू कहाँ भटकता है। सब धर्म-अधर्मको छोड़ मेरी शरण आजा। मैं तेरा भार उठा लूँगा।'

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८।६६)

पर प्रमादी पुरुष अहंकारवश सारा बोझ अपने सिरपर तो उठाता ही है, वह दूसरेका भी उठानेका दम भरता है। यह अजीब बात है; अपना तो उठता नहीं, दूसरोंका कहाँ उठा पायेंगे; पर ढोंगीको कौन कहे। बार-बार चेतावनी दी जाती है, लेकिन सब कुछ व्यर्थ, मूर्ख जो है। महाअमृत-पुत्रकी संतान होगा स्वयं अमृत ढूँढ़ते फिरता है। हमें चाहिये उसे अपना मार्गदर्शक बनायें।

हम उसके वरद पुत्र हैं। वह चाहे जहाँ ले जाय। उसका जैसा चरित्र होगा, हमारा होगा। यदि गिरेंगे तो दोष उसका, बढ़ेंगे तो श्रेय उसका। अर्जुनने उन्हे सारथि बनाया। सफलता प्राप्त की। हम भी बना लें, निश्चित ही सफलता मिलेगी। हम तो मानो हाथमें मशाल ले अंधकारमें भटक रहे हैं।

पिता-पुत्रका सम्बन्ध शाश्वत एवं अक्षुण्ण है। पिता सदा चाहता है कि हमारी संतान आगे बढ़े। अतः वह स्वयं हमारा चरित्र-निर्माण करता है। कहा जाता है **'जीवो ब्रह्मैव नापरः'** अर्थात् स्वयं हमारा आत्मा बनकर हमारे हृदयमें वास करता है। तब फिर हमें चिन्ता किस बातकी। वह अपने हाथोंमें मशाल लेकर हमारा पथ-प्रदर्शन करता है। अतः उसमें विश्वास ही हमारा सम्बल है। वह भूत, भविष्य, वर्तमान—सबका मालिक है। उसमे विश्वास ही हमारी सफलता है। जब इस प्रकार सफलता हमारी देहरीपर बैठी है तो हम दुश्चरित्र क्यो बनते हैं? उत्तर स्पष्ट है। हमारा विश्वास अस्थायी है। यदि स्थायी विश्वास बना रहे तो निश्चित ही आजका डूबा सूर्य कल निकलेगा, अन्यथा नहीं। चारों ओर प्रकाशके अगणित दीप जल रहे हैं। व्यथा यह है कि हमें विश्वास नहीं। यही कारण है कि भोगवाद हमारे भीतर भभक रहा है।

ईश्वरमें विश्वास क्यों करें? यह प्रश्न है। उत्तर है, वह सत्य है और ईश्वर ही सत्य है तथा जो उसमें विश्वास करता है, वह सत्यनिष्ठ होता है। मनुष्य परिस्थितिवश काम-क्रोध, लोभ आदि सांसारिक माया-जालमें फँसकर दुश्चरित्र हो जाता है। ये प्रवृत्तियाँ उसे नरककी ओर ले जाती हैं। पर ज्यों ही उसकी श्रद्धा ईश्वरमें जागृत होती है, वह इनपर विजय प्राप्त कर लेता है। उसके मन, वचन, कर्म निर्मल हो जाते हैं। यह निर्मलता **क्या है? ईश्वरकी सत्यता ही तो है।** फिर भय कैसा? निर्भय व्यक्तिको पापसे डरनेकी आवश्यकता नहीं। उसके मनके मानसरोवरमें ईश्वरकी छाया जो बसी है। गीता ९। १७का एक श्लोक है—

पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोंकार ऋक्सामयजुरेव च॥

'मै ही इस सम्पूर्ण जगत्‌का धाता अर्थात् धारण करनेवाला, सब कर्मोके फलको देनेवाला तथा पिता, माता और पितामह हूँ और जानने योग्य पवित्र ओंकार तथा ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद भी मै ही हूँ।' तात्पर्य कि वही सब कुछ है। आप कुछ नहीं हैं। जब आप कुछ नहीं हैं तो इतनी दौड़-धूप क्यों? मन तो नदीके वेगके समान भागता है। वह भागकर जाता कहाँ है? समुद्रमें। फिर जब आप फलाफलकी चिन्तासे मुक्त हो गये तो आपकी अशान्ति भी समाप्त हो जाती है। आप स्वयं संयत और जीवात्मा बन जाते हैं और कर्मको अकर्ममें और अकर्मको कर्ममें देखने लगते हैं। आप स्वयं कुछ नहीं करते—***'कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।'*** भगवान् सब कर्म कराता है, वही सबका जिम्मेदार है। चाहे पाप हो या पुण्य, कर्म हो या अकर्म।

एक भ्रान्त धारणा है कि लोग अपनेको निष्कर्म कहते हैं? जबकि पुरुष निष्कर्म होता ही नहीं। वह सुषुप्तावस्थामें भी कुछ-न-कुछ करता ही रहता है। नाडी एक सेकेण्डको भी बंद नहीं होती। अतः ईश्वरमें विश्वास करनेवालेका हर कार्य हृदय-स्पन्दनकी भाँति होता रहता है। ईश्वरकी प्रेरणासे उसकी नाड़ी एक क्षणको भी आराम नहीं करती, पर वहीं जो अहंवादी होता है, जो अहंकारसे ग्रस्त हुआ फिरा करता है, कर्म-अकर्म दोनों उसकी अशान्तिके सूचक हैं। वह टिट्टिभ पक्षीकी भाँति आसमानको अपने पैरोंपर रखकर सोता है, **यह उसका भ्रम है। वहीं ईश्वरप्रेमी कर्म-अकर्म दोनोंमें**

एक-सा रहता है। फिर उसकी गम्भीरता, स्थिरता और उसकी आत्मामें अविचल शान्ति आ जाती है। पलकें प्रभुप्रेमसे भारी हो जाती हैं। प्रभु उसके तन, मनमें व्याप्त हो जाते हैं। सफलता उसके चरणतले बैठ जाती है। बस और क्या चाहिये आपको? यही तो जीवनका चरमलक्ष्य है।

चरित्र-निर्माणके मूल तत्त्व

(लेखक—पाण्डेय श्रीशम्भूजी शर्मा, 'किरण')

चरित्रकी परिभाषाके सम्बन्धमें विद्वानोंके अलग-अलग मत हैं। कुछ विद्वानोंका कहना है 'धर्मपूर्वक नियमित आचरणका निर्वाह करनेवाला चरित्रवान् है।' फ्रेडरिक सान्डर्सने कहा है—'Character is the governing element of life, and is above genius' अर्थात् चरित्र जीवनमें शासन करनेवाला तत्त्व है और वह प्रतिभासे ऊपर है। एक अन्य विद्वान्के अनुसार—चरित्र एक वृक्षके समान है और ख्याति उसकी छाया है। छाया वही है, जो हम उसके बारेमें सोचते हैं, परंतु वृक्ष वास्तविक है।

चरित्रका निर्माण करना सहज नहीं है। उसके लिये कठिन-से-कठिन परिश्रम करना पड़ता है। चरित्रसे विपथ करनेके लिये अनेक विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। परंतु किसी वस्तुका निर्माण वही व्यक्ति करता है, जो इन विघ्न-बाधाओंको झेलते हुए अपने लक्ष्यको नहीं भूल पाता है। वही व्यक्ति चरित्रवान् बनता है। उसीकी सारी दुनिया पूजा करती है। चरित्र-निर्माणमें वर्षों तपस्या करनी पड़ती है। पर उसे विनष्ट करनेके लिये क्षणमात्रका समय ही पर्याप्त है। सच्चरित्रता मानवका वास्तविक शृङ्गार है। आभूषण मानवको सजाता है। सजावटके कारण मानवका रूप निखर जाता है, इसीलिये मानव-मन शृङ्गारके साधनोंको चाहता है। आभूषणोंका सौन्दर्य क्षणिक है, परंतु सदाचारका सौन्दर्य शाश्वत है। सच्चरित्रता—सज्जनोंका आचरण है। यह सज्जनोंके द्वारा सम्मानित और प्रमाणित है। जो मानव सज्जनोंद्वारा प्रमाणित और सम्मानित तथ्यका स्वागत करता है तथा उसके अनुरूप आचरण करता है, वह समाजमें स्वयं ही सम्मानपात्र बन जाता है।

चरित्रके कुछ मूल तत्त्व हैं, जिनके बिना सच्चरित्रताकी कल्पना नहीं की जा सकती। वे हैं—१—अनुशासन, २—विनम्रता, ३—ईमानदारी और ४—परोपकार। चरित्रके मूल तत्त्वोंमें अनुशासनका स्थान सर्वोच्च है। जिस मनुष्यमें अनुशासनका सम्पुट नहीं हो वह चरित्रवान् नहीं कहला सकता है। नियमकी शृङ्खला-में बँधे जीवनको अनुशासनबद्ध जीवनकी संज्ञा दी जाती है। विश्वमें सर्वत्र हम पाते हैं कि प्रकृतिका रोम-रोम अनुशासित है। बिना अनुशासित हुए मनुष्य सच्चरित्र नहीं बन सकता। अनुशासन सद्भावोंका प्रेरक, विनय और शीलका स्रष्टा, साधनाका सखा और निरङ्कुश स्वेच्छाचारका शत्रु होता है। अनुशासनके महत्त्वसे शक्तिका संयम होता है, उसका दुरुपयोग नहीं होता। जो जीवन जितना ही अधिक अनुशासन-बद्ध होगा, वह उतना ही अधिक सफल होगा।

चरित्रनिर्माणमें अनुशासनसे अत्यधिक सहायता मिलती है। अगर हम यह कहें कि अनुशासन चरित्र-मन्दिरकी नींवकी ईंट है तो कोई अनुचित न होगा। सच्चरित्रताका दूसरा मूल तत्त्व 'विनम्रता' है। विनम्रता चरित्रकी एक ऐसी निधि है, जिसके आधारपर सफलताके शुभ्र मोती खरीदे जा सकते हैं, जिसके सहारे व्यवहारके कठोर पत्थरोंको मोम बनाया जा सकता है,

राहकी अगणित बाधाओंको झेला जा सकता है । यह स्वर्गकी एक ऐसी पवित्र विभूति है एवं जीवनका एक ऐसा आस्तिक बोध है, जिसके सहारे विरोधके नाले पार किये जा सकते हैं । नम्रता चरित्रका भूषण है, मानवके शीलकी पहचान है एवं उसकी संस्कृति और सभ्यताकी सबसे कोमल अभिव्यक्ति है । मानव-चरित्र इसके अभावमें रूक्ष और नीरस बन जाता है । व्यक्तित्वमें एक कठोरता व्याप्त हो जाती है और तनावकी बुरी स्थितिमें आकर मनुष्य टूट जाता है । विनम्रतासे मानव-चरित्रमें एक ऐसी चमक आती है, जिसे देखते ही मानव-जीवनमे आनेवाली बाधाओंकी आँखे चौंधिया जाती हैं । विनम्रताका पुतला संस्कृतिका उन्नायक बन जाता है । श्रीराम, श्रीकृष्ण एवं भगवान् बुद्ध इसी प्रकारके पुरुष थे । श्रीरामने भारतीय संस्कृतिकी पताका अन्य देशमे भी फहरायी । श्रीकृष्णने अनीतिके राक्षसोंको ध्वस्त किया । भगवान् बुद्धकी पवित्र वाणीके नीचे डाकू अंगुलीमालकी रक्त-रञ्जित तलवार और राजनर्तकी अम्बपालीकी वासनाके पायल—दोनो पराजित हुईं । विनम्रता मनुष्यके धूल-धूसरित चरित्रको स्वर्णिम चमक प्रदान करती है ।

सच्चरित्रताका तीसरा मूल तत्त्व है—ईमानदारी । यह चरित्रकी दीप्तिकी पहचान है, शुभ संस्कारोंकी वसीयत है, आत्मशक्तिके जगनेकी सूचना है । सच्चरित्रताके मूल तत्त्वोमे ईमानदारीका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है । इसमे सद्गुणोंकी सुरभि रहती है, चरित्रके विकासकी सहज प्रेरणा रहती है और रहती है मनुष्यको ऊपर उठानेवाली एवं आगे बढ़ानेवाली क्षमता । संयुक्त राज्य अमेरिकाके प्रथम राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटनने कहा था—'मै आशा करता हूँ कि एक ईमानदार पुरुषके चारित्र्यको (जो सभी सद्गुणोसे बढकर है) अपनानेके लिये मै दृढता और शुद्धता सदैव धारण करता रहूँगा ।' ईमानदार व्यक्तिमे छलकी रेखाएँ नहीं होतीं, खण्डित व्यक्तित्वका अभिशाप नहीं रहता । वह मनसा, वाचा और कर्मणा अपने चरित्रके विश्वासमे साधन-दीप जलाता है । उसका पथ सीधा रहता है—भले ही वह कण्टकाकीर्ण और दुरूह हो । उसकी उक्ति सुस्पष्ट होती है—भले ही कुछ व्यक्ति उससे सहमत न हों । उसके विचारोंमे भूल-भुलैयाकी टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ नहीं रहतीं—भले ही एक विशेष दृष्टिवालो-द्वारा वह असामयिक घोषित कर दिया जाय । पोपने ईमानदार पुरुषकी मुक्तकण्ठसे सराहना करते हुए उसे 'परमात्माकी उदात्त सृष्टि'की संज्ञा दी है—'An honest man is the noblest creation of God.' अंग्रेजीके प्रख्यात नाटककार शेक्सपियरका कथन है—'ईमानदारीके सदृश कुछ भी बहुमूल्य नहीं है'—'No legacy is so rich, as honesty.' किसी मनुष्यमें ईमानदारीके बिना सच्चरित्रताका आविर्भाव नहीं हो सकता ।

सच्चरित्रताका चौथा मूल तत्त्व है—परोपकार । बिना परोपकारिताका गुण सँजोये मानवका चरित्र संकुचित रह जाता है । दीपकके जलनेका उद्देश्य प्रकाश फैलाना है । फूल खिलता है; क्योंकि खिलनेका उद्देश्य सुगन्ध-वितरण है । सूर्य उगता है; क्योंकि सूर्योदयका उद्देश्य अन्धकार-निवारण है । मानवका संसारमें अवतरण परोपकार-सम्पादनके लिये है । मानव-चरित्रका महालय (महल) परोपकारके दीपकसे ही आलोकित होता है । उपकार-सुमन ही मानव-चरित्रको सुगन्धमय बनाता है । विक्टर ह्यूगोकी पंक्तियोंमें हमे परोपकारके इन्द्रधनुषी रूपका दर्शन होता है—'ज्यों-ज्यों परोपकार-के लिये रुपयेकी थैली खाली होती है, त्यों-त्यों हमारा हृदय भरता जाता है ।' गोस्वामी तुलसीदासजीने भी रामचरितमानसमें परोपकारको चरित्रका आभूषण माना है—

परहित सरिस धर्म नहिं भाई।
(मानस, उत्तरकाण्ड)

गोस्वामीजीने यह भी कहा है कि परोपकारसे युक्त मानव-चरित्रके आगे संसारकी सभी विघ्न-बाधाएँ नत-मस्तक हो जाती हैं—

परहित बस जिन्ह के मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
(मानस, अरण्यकाण्ड)

हिंदूसमाजकी रक्षाके लिये गुरु गोविन्दसिंहका अन्तिम पुत्र भी युद्धमें वीर-गतिको प्राप्त हुआ। संवेदना प्रकट करनेके लिये एक शोक-सभा हुई। गुरु गोविन्दसिंहजीने हाथ उठाकर बैठे हुए जनसमूहकी ओर संकेत करते हुए कहा—

इन पुत्तन के कारणे वार दिये सुत चार।
चार मरे तो क्या हुआ जीवत कोटि हजार॥

जिगरका टुकड़ा अलग हो गया पर आँखें न डबडबा सकीं, सहारा उड़ गया पर मन न कराह सका, आँखोंका तारा लुट गया, फिर भी चेहरेपर उदासीनता नहीं, यह परोपकारकी महिमा है!

इस तरह हम देखते हैं कि चरित्रके मुख्यतः चार मूल तत्त्व हैं। भारत सदासे धर्मप्रधान देश रहा है। यहाँके मनुष्य बहुत ही धार्मिक होते हैं। धर्म हमें कहता है कि जीवनको सुव्यवस्थित ढंगसे कैसे बितायें। धर्म हमें सिखाता है कि किस तरह मनुष्य चरित्रवान् बन सकता है। संसारमें जितनी अच्छी बातें हो सकती हैं, वे सभी धर्म-ग्रन्थोंके अन्तर्गत आती हैं। धर्म चरित्रवान् मनुष्यके लिये एक आवश्यक अंग है। संसारके जितने सद्विचार हैं, वे सभी धर्मग्रन्थोंमें प्रस्तुत हैं। इन्हीं धर्मसूत्रोंके आधारपर चरित्रवान् व्यक्ति अपनी इमारत खड़ी करते हैं। जिस तरह मानव बिना वायुके जी नहीं सकते, उसी तरह चरित्रवान् धर्मके बिना एक क्षण भी अपनी राहपर कदम नहीं रख सकते।

बुद्धने कहा था—'संसारमें कोई महापुरुष आकाशसे उतरकर नहीं आता और छोटा मानव पातालसे नहीं आता; अपितु मानव आचरणके कारण ही छोटे और बड़े बन जाते हैं' (मज्झिमनिकाय ३। ४३। ३)।

वस्तुतः सच्चरित्रतामें ही जीवनका गौरव है।

चरित्रके मूल आधार

(लेखक—श्रीश्यामलालजी हकीम)

चरित्र-निर्माणका अभिप्राय है—जीवनको सत्-चरित्रमे ढालना; सर्वथा ऐसा आहार-विहार और व्यवहार-व्यापार करना, जिससे अपना और दूसरोंका सब प्रकार हित साधित हो। सामान्यतः सत्य भाषण, अहिंसा, चोरी न करना, काम-क्रोध-लोभ-रहित होना, समस्त प्राणियोंका हित-चिन्तन करना, कपटरहित होना तथा परोपकार आदि ऐसे सदाचरण हैं, जो सभी वर्गके लोगोंके लिये आचरणीय हैं और उन्हे मानवमात्रका परम कर्तव्य माना गया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयमकामक्रोधलोभता।
भूतप्रियहितेहा च धर्मोऽयं सार्ववर्णिकः॥
(श्रीमद्भा० ११। १७। २१)

*

भविष्यपुराणमे भगवान् श्रीकृष्ण राजा युधिष्ठिरसे कहते हैं—

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा
यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः।
छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥

कपालस्थं यथा तोयं श्वदृतौ वा यथा पयः।
दुष्टं स्यात् स्थानदोषेण वृत्तिहीने तथा शुभम्।
आचाररहितो राजन्नेह नामुत्र नन्दति॥

'षडङ्गोंसहित वेदोंका अध्ययनकर्ता यदि आचारहीन है तो वेद उसे पवित्र नहीं करते। पंख उग जानेपर

जैसे पक्षी घोंसला त्यागकर उड़ जाते हैं, उसी प्रकार वेद अन्त समयमे आचारहीन व्यक्तिको त्याग देते हैं। जैसे मनुष्यके कपालमे अथवा कुत्तेकी खालमें जल या दूध दूषित हो जाता है, उसी प्रकार सदाचारहीन व्यक्तिके तीर्थ-भ्रमण आदि समस्त शुभ कर्म दूषित हो जाते हैं। आचारहीन व्यक्ति इस लोकमे और परलोकमे—कहीं भी सुख नहीं प्राप्त करता।' इसी प्रकार सच्चरित्रताके विषयमे विश्वभरके सब धर्म, सब शास्त्र-ग्रन्थ, आचार्य-गुरु-पीर और सब सम्प्रदाय एक स्वरमे उद्घोष करते है कि प्रत्येक मनुष्यको सदाचरण करना चाहिये। इस बातको सब लोग जानते हैं, फिर भी आजका मानव प्रायः दुश्चरित्रताकी ओर भागा जा रहा है। चोरी, हिंसा, व्यभिचार, घूसखोरी आदि आचरणोंको धर्म तथा कानून-विरुद्ध जानकर भी मनुष्य इनसे बचनेका यत्न नहीं कर रहा है, बचना भी नहीं चाहता।

ऐसा क्यो?—सच्चरित्रताके कुछ ऐसे मौलिक आधार है, जो उसकी रक्षा करते हैं, उसको पकडे रहनेकी प्रेरणा देते है। जब उन मौलिक आधारोका अभाव हो जाता है, अथवा उनकी उपेक्षा होने लगती है, तब मानव असदाचारकी ओर जाने लगता है। अतः चरित्र-निर्माणके लिये उन मौलिक आधारोकी रक्षा तथा उपलब्धिकी ओर ध्यान देना अनिवार्य है। सामान्यतः इसके निम्नलिखित मौलिक आधार हो सकते है—

१–जाति-कुल-परम्परा—सच्चरित्रता बहुत कुछ सद्जाति-कुल-परम्परापर आधृत है। सद्जाति-कुलमे उत्पन्न व्यक्तिमे दुश्चारित्र्यकी सम्भावना कम रहती है; क्योकि उसके संस्कार प्रायः अपने पूर्वजोके अनुरूप रहते है। सच्चरित्र माता-पिताके तत्त्वावधानमे संतानकी सच्चरित्रता सुरक्षित रहती है। अतः चरित्र-निर्माणके लिये जाति-कुलकी परम्पराओंके पालन तथा उनकी रक्षाकी आवश्यकता है।

२–वर्णाश्रम-धर्म—भारतीय मनीषियोने चरित्रकी सम्यक् व्यवस्थाके लिये ही ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य एवं शूद्र—चार वर्णो तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—इन चार आश्रमोंमें मानव-सृष्टिको विभक्त किया है। श्रीभगवान्ने चारो वर्णो एवं आश्रमोंके कर्तव्योंका श्रीगीतामें अर्जुनको उपलक्ष्य कर सबको उपदेश किया है। अपने-अपने वर्णाश्रमके कर्तव्योका पालन करना ही सदाचार है। उनका पालन न करना असदाचारकी ओर जाना है। वर्णाश्रम-धर्मके पालनसे सर्वप्राणियोकी संतुष्टिकी तो क्या बात, श्रीभगवान् भी संतुष्ट होते है—

वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्।
हरिराराध्यते पन्था नान्यत्तत्तोषकारणम्॥
(श्रीविष्णुपु० ३।८।९)

३–आहार—आहारका सदाचार-पालनमे बहुत बड़ा हाथ है। '**जैसा अन्न वैसा मन**'—यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है। तामसी और राजसी आहारोसे मनकी वृत्ति तामसी और राजसी हो जाती है। उन मनोवृत्तियोसे काम, क्रोध, लोभ, कपट, हिंसादि आसुरी आचरणोंमे प्रवृत्ति होती है और सात्त्विक आहार करनेवाले मनुष्यकी मनोवृत्ति सात्त्विक होती है और वह सत्य, अहिंसा, सुख, शान्ति आदि गुणोंसे सम्पन्न होकर सबका हित-चिन्तन करनेवाला होता है। अतः काम, क्रोध, हिंसा, व्यभिचार, शत्रुता, स्वार्थपरायणता आदि पाशविक आचरणोंसे बचनेके लिये आहारकी शुद्धिका होना आवश्यक है। श्रुतिका कथन है—

'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः।'
(छान्दो० ७।२६।२)

'आहारशुद्धिसे सत्त्वशुद्धि होती है और सत्त्वशुद्धिसे परमात्माकी ध्रुवानुस्मृति होती है।' सत्त्व-शुद्धिसे

दैवीगुणोंका उद्भव अभिप्रेत है। ध्यानपूर्वक देखा जाय तो दैवीगुणोंसे रहित होना और परमात्माकी विस्मृति सब दोषोंकी जड है। यदि मृत्यु और परमात्माकी याद रहे तो फिर क्यों कोई दूसरेकी हिंसा करे, व्यभिचार, घूसखोरी और असत्यादि दुष्कर्मोंमें प्रवृत्त हो? यहाँ आहारशुद्धिसे केवल भोजन-शुद्धि ही अभिप्रेत नहीं है, समस्त इन्द्रियोंको शुद्ध आहारकी आवश्यकता है। आँखोंको शुभ दृश्यदर्शन एवं सद्ग्रन्थोंका अवलोकन चाहिये। कानोंको सच्चरित्र-श्रवण और वाणीको सद्गानके आहारकी आवश्यकता है। इस प्रकार सत्त्व-शुद्धिके लिये सात्त्विक आहार अनिवार्य है।

४–सङ्ग एवं शिक्षा—चरित्रके निर्माण तथा भ्रष्ट करनेमें उपर्युक्त तीनों बातोंसे भी अधिक प्रभावशाली है—सङ्ग और शिक्षा। शिक्षा भी सङ्गकी अनुवर्तिनी है। जैसा सङ्ग होगा, उसी प्रकारकी शिक्षा और फिर उसी प्रकारका आचरण होगा। सत्कुल-जातिमें तथा उच्च वर्णोंमें भी नीचाचरण करनेवाले मनुष्य देखे गये हैं—प्राक्तन संस्कार अथवा सङ्गदोष उनके सदाचरणको भ्रष्ट कर देता है; यथा—'बिधि बस सुजन कुसंगति परहीं।' और 'सठ सुधरहिं सत्संगति पाई।' (मानस १।२।५) अतः चरित्र-निर्माणमें अथवा सच्चारित्र्यकी रक्षामें सङ्गका सबसे बड़ा हाथ है। विष्णुपुराणका कथन है—

साधवः क्षीणदोषास्तु सच्छब्दः साधुवाचकः।
तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते॥

'सदाचारी व्यक्ति सत्पुरुष या साधु है। सत् शब्द साधुवाचक है और सत्पुरुषका आचरण ही सदाचार है।' अतः सच्चरित्र बननेके लिये सत्पुरुषोंका सङ्ग और सद्ग्रन्थोंका अध्ययन-मनन-चिन्तन अपेक्षाकृत आवश्यक है।

५–अनुशासन—अनुशासनसे राज-अनुशासन तथा धर्म-अनुशासन दोनों अभिप्रेत हैं। राजा यदि स्वयं सदाचारी हो तो उसकी प्रजा सच्चरित्र हुआ करती है। माता-पिता या अभिभावक यदि सच्चरित्र हों तो सन्तान भी सच्चरित्र होती है। इसी प्रकार शिक्षक, गुरु यदि सदाचारी हों तो छात्र और शिष्यगण सदाचारी हुआ करते हैं। किंतु यह सब तभी सम्भव होता है, जब राजा, पिता-माता एवं गुरु-शिक्षकके मन, शरीर, वाणीपर धर्मका शासन हो और सदाचार-सच्चरित्रताका उल्लङ्घन करनेवाले दण्डित होते हों।

अनादिकालसे भारतकी सच्चरित्रता और संस्कृति की स्वस्थताका एकमात्र प्राण रहा है—धर्म-शासन और पापभय। राजा पृथु, राजा श्रीराम आदिके धर्मशासन मानवकी सच्चरित्रताके ज्वलन्त उदाहरण हैं। जब राज-अनुशासनमें धर्मकी उपेक्षा हो जाती है और राजा-प्रजाके मनसे धर्म और पापका भय निकल जाता है, तब सच्चरित्रताकी रक्षा और उसकी उपलब्धि होना कठिन हुआ करती है। अतः चरित्रके आधारोंका भी मूल स्तम्भ है—धर्म।

अन्तमें हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि सच्चरित्रके मौलिक तत्त्व हैं—जाति-कुल-धर्म, वर्णाश्रम-धर्म, आहारादि शुद्धिपूर्वक आध्यात्मिक धर्म तथा सत्सङ्गादि पारमार्थिक धर्म। सबके मूलमें धर्म अर्थात् मानव-कर्तव्य निहित है। चरित्र-निर्माणके लिये अथवा सच्चरित्रताके लिये मानव-धर्मोंका शासन और पापोंका भय होना आवश्यक है। अतः चरित्रका मूल आधार है—मानव-धर्म, जिसपर सच्चारित्र्य प्रतिष्ठित है और युगोंतक प्रतिष्ठित रह सकता है।

चरित्र-निर्माणमें धर्मकी भूमिका

(लेखक—डॉ० श्री ला० च० अहीरवाल, एम्०ए०, पी-एच्०डी०, साहित्यरत्न)

चरित्र-निर्माणमें धर्मकी भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है। आज भी राष्ट्र एवं व्यक्तिके चरित्र-निर्माणमे इसकी नितान्त आवश्यकता है। ब्रह्मसृष्टिके उपरान्त ऋषियोंने समाज तथा राष्ट्रके चारुसंचालन-हेतु अनेक विधि-निषेधोंकी रचना की। उन्होंने व्यक्ति और समाजके कर्तव्य तथा अधिकारोंकी एक आचार-संहिताका निर्माण किया, जो मानव-धर्मसंहिता कहलायी। युगोतक व्यक्ति तथा समाजके कार्योंपर इन धर्मोंका पूर्ण प्रभाव रहा। धर्म-विरुद्ध आचरण करनेका साहस न मनुष्यमें था और न समाजमे। धर्म-विरुद्ध आचरण करनेवालेको जाति तथा समाजसे च्युत कर दिया जाता था और उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा भी भङ्ग कर दी जाती थी।

व्यक्तिके दैनिक क्रिया-कलापपर धर्मकी सदा छाप रही। मानव निश्चित रूपरेखा एवं कार्यक्रमके अनुसार प्रारम्भसे ही आचरण करता आया है। उसके जीवनका न तो कोई विचार ऐसा होता था और न ही कोई ऐसा कार्य, जिसका समाधान धर्मद्वारा न होता हो। आजके युगमे भी इसकी आवश्यकता है। व्यक्तिका चरित्र-विकास धार्मिक विधि-निषेधोंके आधारपर होना चाहिये। विज्ञानने धर्मको निर्बल कर दिया है। आज धर्मका प्रभाव बहुत कम हो गया है। व्यक्ति समाजकी महत्त्वपूर्ण ईकाई है। वह समाजकी गतिशीलतामे योगदान देनेवाला घटक है। अतः विधि-निषेध कार्य भी युग-सापेक्ष होनेसे अनिवार्य हैं। आचारसंहिता व्यक्ति और समाज दोनोपर अङ्कुश लगाती है। व्यक्तिका चरित्र-निर्माण विकसित सामाजिक परिस्थितियोंके संदर्भमे होना चाहिये।

चरित्र-निर्माण क्या है?—मनोविज्ञानवेत्ता चरित्रके दो घटक स्वीकार करते हैं—पहला स्थूल घटक और दूसरा सूक्ष्म घटक। स्थूल घटकके अन्तर्गत व्यक्तिके शरीरावयवोंकी रचना—मुखाकृति, वेशभूषा, चाल-ढाल तथा संघटना आती है और सूक्ष्म घटकके अन्तर्गत व्यक्तिका विवेक, संकल्प, चिन्तन, नैतिक मान्यता, आत्मगौरवकी भावना, कार्यारम्भकी क्षमता, दृढ़ता, भावुकता, कठोरता, धार्मिक-विश्वास, कर्तव्य-परायणता, सदाचार, स्वावलम्बन, परोपकार और मानसिक विचारादिकी गणना की जाती है।

चरित्रकी परिभाषा—चरित्र व्यक्तिकी वह महान् शक्ति है, जिससे उसके आन्तरिक सद्गुणोंका प्रकाश दूसरोंको अपनी ओर आकृष्ट करता है। व्यक्तिके आन्तरिक गुण, उसका सत्य, परोपकार, प्रेम, करुणा, अहिंसा, शुचिता, दया, क्षमा, सहानुभूति, सद्भावना और प्राणिमात्रके प्रति सच्चा प्रेम ही तो हैं। ये गुण व्यक्तिकी आत्माको महान् बनाते है तथा उसके चरित्र-निर्माणमे महान् योग देते हैं। चरित्रवान् व्यक्तिकी ओर दूसरे स्वतः आकृष्ट होते है। व्यक्तिकी सच्ची पहचान उसकी सच्चरित्रता एव हार्दिक विनयशीलतासे होती है। निःसदेह व्यक्तिका चरित्र ही उसकी अमूल्य निधि है, जिसकी उसे रक्षा करनी चाहिये तथा चरित्रको उत्तम-से-उत्तम बनानेकी कोशिश करनी चाहिये।

चरित्र-निर्माणमें धर्मका योग—आदियुगसे मानवके चरित्र-निर्माणमे धर्मका सतत महत्त्वपूर्ण योग रहा है। धर्मकी सर्वमान्य परिभाषा है **'यः प्रजाः धारयते स धर्मः।'** तात्पर्य यह कि जिस आचरणमें समाजके धारण करनेकी शक्ति है, वही धर्म है। इस प्रकार धर्मका अर्थ हुआ—समाजकी रक्षा या कर्तव्यपालन करानेवाला। यहाँ रक्षाका सम्बन्ध व्यक्ति तथा समाज दोनोके साथ है और कर्तव्य-पालनका केवल

व्यक्तिके साथ। तात्पर्य यह है कि धर्म व्यक्ति और समाज दोनोंकी रक्षा करता है। वह व्यक्तिको पतित होनेसे बचाता है, कुमार्गी होनेसे रोकता है और असामाजिक कार्योंका शिकार नहीं होने देता। इस प्रकार धर्म व्यक्तिकी रक्षा करता है। धर्म समाजके सुचारु-संचालन तथा व्यवस्थापनमें भी योग देता है। इस प्रकार वह समाजकी रक्षा करता है। कर्तव्यपालन व्यक्तिका पावन अनुष्ठान है। वही (व्यक्ति ही) उसका निर्माता है, वही रक्षक तथा संहारक है। अतः समाजके निर्माण तथा रक्षणकी दिशामें व्यक्तिके अनेक कर्तव्य हैं। धर्म ही व्यक्तिको उसके कर्तव्योंका ज्ञान कराता है। धर्म ही व्यक्तिके चरित्र-निर्माणमें महत्त्वपूर्ण योग देता है। मनुस्मृतिमें धर्मके दस लक्षण बताये गये हैं—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

'धैर्य, क्षमा, दम, चोरी न करना, पावनता, इन्द्रियोपर विजय, शुद्ध बुद्धि, विद्या, सत्यभाषिता और अक्रोध— ये धर्मके दस लक्षण हैं।

चरित्र-निर्माणकी शर्तें—चरित्र-निर्माणकी पहली शर्त है—धैर्यपूर्वक कार्य करना। धार्मिक ग्रन्थ और धार्मिक व्यक्ति कहा करते हैं कि किसी भी कार्यमें जल्दी करना शैतानका काम है। जल्दीमें या उतावलेमें किया गया काम बिगड़ जाता है या गलत हो जाता है। अतः हमें जल्दीमें, उतावलीमें कोई कार्य नहीं करना चाहिये। हमें हर काम सोच-समझकर स्वविवेकसे उसके अच्छे-बुरे परिणामको देखकर करना चाहिये। धैर्यपूर्वक आचरण करनेवाला व्यक्ति चरित्रवान् माना जाता है। तुलसीदासकी—
धीरज धरम मित्र अरु नारी। आपत काल परिखिअहिं चारी॥
यह पङ्क्ति व्यक्तिको धैर्यका उपदेश देती है। 'Slow and steady wins the race' में भी यही भाव है। सहिष्णुता, सहनशीलता और क्षमा धर्मके प्रमुख अङ्ग हैं। क्षमा ज्ञानका अलंकार है—

नरस्याभरणं रूपं रूपस्याभरणं गुणः।
गुणस्याभरणं ज्ञानं ज्ञानस्याभरणं क्षमा॥

'दैवो दुर्बलघातकः' देवता (भी) निर्बलके शत्रु होते हैं—आदि उक्तियाँ व्यक्तिको शक्तिके उपार्जनका संदेश देती हैं। धार्मिक पुस्तकें भी मनुष्यको यही बताती हैं—

उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः।
षडेते यत्र विद्यन्ते तत्र देवः सहायकृत्॥

'उद्यम, साहस, धैर्य, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम— ये छः गुण जहाँ होते हैं, वहाँ देवता सहायक होते हैं।' धर्मकी यह उक्ति व्यक्तिको पराक्रमी और उद्यमी होनेकी प्रेरणा देती है। अधोलिखित उक्ति व्यक्तिको विद्वान्, तपस्वी, दानप्रिय, ज्ञानवान्, शीलसम्पन्न, गुणज्ञ तथा धर्मरत बनाती हैं—

येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मर्त्यलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

'**को धर्मो भूतदया**'—धर्म क्या है? प्राणियोंपर दया। '**किं सौख्यं नित्यमरोगिता जगति**'—सुख क्या है? संसारमें सदैव स्वस्थ रहना। '**कः स्नेहः सद्भावः**'—प्रेम क्या है? सद्भाव (अच्छे विचार) रखना। और—'**किं पाण्डित्यं परिच्छेदः**'—विद्वत्ता क्या है? विवेक (सत् और असत्का निर्णय करना)। धर्मकी दृष्टि व्यक्तिको विद्वान्, सत्यभाषी, त्यागी और अनासक्त बनानेकी ओर रहती है। व्यक्तिके चरित्र-निर्माणका सही उत्कर्ष इन्हीं गुणोंसे होता है। महाभारतमें कहा गया है—

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम्॥

'विद्याके समान चक्षु, सत्यके बराबर तप, आसक्तिके समान दुःख और त्यागके समान सुख

नहीं होता।' चरित्रवान् व्यक्ति विद्यासे सम्पन्न होता है। विद्यासे ज्ञान प्राप्त होता है। ज्ञानसे संसारके सत् और असत्का भेद मालूम होता है। विद्यासे नम्रता प्राप्त होती है। हितोपदेशमें भी कहा गया है—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद् धर्मस्ततः सुखम्॥

'विद्या नम्रता देती है। नम्रतासे पात्रता (योग्यता) आती है। योग्यतासे धन प्राप्त होता है और धनसे धर्म (होता है), उसके बाद सुख (होता) है।' धर्म मनुष्यको श्रमके महत्त्वका ज्ञान, स्वावलम्बनकी महत्ताका ज्ञापन, ब्रह्मचर्यकी शक्तिका परिचय और चरित्रकी विशिष्टताका अङ्कन करना सिखलाता है। ऋग्वेदका कथन है—**'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः'** 'जो श्रम नहीं करते, उसके साथ देवता मित्रता नहीं करते।' ऋग्वेदसंहिताका कथन है—**'न मृषा श्रान्तं यदवन्ति देवाः'**—'यह ठीक है कि देवता उसकी सहायता करते हैं जो श्रम करता है।' इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मणमे प्रार्थना की गयी है—**'कृधी न ऊर्ध्वा चरथाय जीवसे'**—'अग्निदेव! हमें उद्योगशील जीवनके लिये समुन्नत कीजिये।' सारांश यह है कि उद्योगशीलता तथा परिश्रमप्रियता व्यक्तिके उत्कर्षके मूलाधार है और धर्म इन दोनो गुणोंके विकासपर बल देता है। इस तरह धर्म व्यक्तित्वके निर्माणमें योग देता है। भारतीय धर्म-साधनामें इन्द्रिय-निग्रह और ब्रह्मचर्यका बहुत महत्त्व है। अथर्ववेदका कथन है—

'ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति
तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः।'

'ब्रह्मचर्यको धारण करनेवाला समस्त दैवी शक्तियोसे प्रकाश और प्रेरणाको प्राप्त करता है।' धर्म जीवनको एक यज्ञ मानता है और उसकी सफलताके लिये जीवनके प्रारम्भमे ही ब्रह्मचर्य-व्रतके पालनपर बल देता है। इस तरह धर्मकी दृष्टि सदैव व्यक्तिके चरित्र-निर्माणके उन्मेषपर रहती है।

'किं सम्पाद्यं मनुजैः विद्या वित्तं यशः पुण्यम्।'

अर्थात्—व्यक्तिको क्या (सम्पादन) करना चाहिये? विद्यारूपी धन तथा यश-(कीर्ति-) रूपी पुण्य। जीवनकी सफलता तथा व्यक्तिके चरित्र-निर्माणके लिये भारतीय धर्म-साधनामें उत्तम चरित्रका महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय ऋषि प्रार्थना करता आया है—**'परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्वा मा सुचरिते भज'**—'प्रकाशस्वरूप अग्निदेव! मुझे दुश्चरितसे बचाकर सुचरितमे दृढतया स्थापित कीजिये।' यही नहीं, धर्म मानवको मनमे शुभ तथा कल्याणमय संकल्प धारण करनेकी प्रेरणा देता है—**'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु।'**

कौन उन्नति करता है?' विनम्र पुरुष। किसे छोड़ देना चाहिये? जो घमण्डी है। कौन विश्वास योग्य नहीं है? जो निरन्तर असत्य बोलता है—

को वर्धते विनीतः को वा हीयेत यो दृप्तः।
को न प्रत्येतव्यः ब्रूते यश्चानृतं शश्वत्॥

वेदारम्भके अवसरपर आचार्य ब्रह्मचारीको जो उपदेश देता है, उसमे उसके व्यक्तित्व-निर्माणकी समस्त दिशाएँ संनिहित हैं। वह कहता है—**'दिवा मा स्वाप्सीः। आचार्याधीनो भव। धर्माचरणात् मा प्रमदः। नित्यं युक्ताहारविहारवान् विद्योपार्जनेन यत्नवांश्च भव।'** अर्थात् दिनमे न सोओ। अधर्माचरणको त्यागकर आचार्यके अधीन रहो। आहार-विहारमें यथोचित नियमोंका पालन करते हुए सदा विद्योपार्जनमे प्रयत्नशील रहो।' इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्म उन सभी गुणोके विकासपर बल देता है, जिनकी अच्छे व्यक्तिके चरित्र-निर्माणहेतु आवश्यकता है।

व्यक्तिके चिन्तन और कर्ममें धर्मका योग सोनेमें सुगंधके सदृश है। धर्मकी भावनाके विरुद्ध आचरण करना चरित्रशील व्यक्तिके लिये मृत्युके समान है। धर्म व्यक्तिको चरित्र-विकासकी दिशा प्रदान करता है।

वह व्यक्तिको उद्योगी, संयमी, स्वावलम्बी, धैर्यवान्, सहिष्णु, पावन और इन्द्रियजयी बनाता है। वह पापसे घृणा, चोरीके कार्यसे विमुख और असत्य-भाषणसे बचाता है। इतिहास इस बातका साक्षी है कि वही व्यक्ति महान् चरित्रशाली बन सकता है, जिसने धर्मके मूल तथा सत्य सिद्धान्तोंका पालन किया है। धर्मके नामपर आडम्बर तथा अन्धविश्वासोंका अन्धानुकरण चरित्र-निर्माणके विकासकी दिशामें कोई योग नहीं देता। धर्मके मूल दस सिद्धान्त—धैर्य, क्षमा, शक्ति, चोरी न करना, पावनता, इन्द्रियोंपर विजय, विद्या, सत्यभाषिता और क्रोधहीनता आदि गुण व्यक्तिके चरित्र-निर्माणमें महत्त्वपूर्ण योग देते हैं तथा व्यक्तिके चरित्रको महान् बनाते हैं। चरित्रवान् व्यक्ति ही किसी समाज और राष्ट्रके निर्माणकी महत्त्वपूर्ण धुरी होते हैं। उत्तम चरित्र ही व्यक्तिके जीवनकी सफलताकी कुञ्जी है।

धर्म व्यक्तित्वके बाह्य घटकके निर्माणमें भी योग देता है। धर्मकी दृष्टि श्रम, संयम, कसरत और शरीरावयवके मांसल निर्माणपर भी रहती है। यह सज्जनोचित वेशभूषाको भी निर्धारण करता है। निष्कर्ष यह कि धर्म मानवके चरित्र-निर्माणके बहुमुखी विकास तथा उसे महान् व्यक्तित्व या उत्तम चरित्रवान् बनानेपर भी दृष्टि रखता है।

भारतीय धर्म-साधनमें उत्तम चरित्रवान् महापुरुषके रूपमें श्रीरामका सर्वोच्च स्थान है। उनके महान् आदर्शोंसे संसार युग-युगोंसे प्रेरणा लेता आया है। वे सभीके प्रेरणाके स्रोत भी रहे हैं। भरत भी अपने महान् आदर्शके लिये विख्यात हैं। अर्वाचीन एवं नवीन महापुरुष भी चरित्रके धनी रहे। वस्तुतः महापुरुष तो भगवद्विभूति ही होते हैं। उन सभीके चरित्र-निर्माणमें धर्मकी भावना निहित रही है तथा उनके चिन्तन तथा कर्ममें धर्मका महान् योग रहा है। अतः चरित्रशीलको धर्मपथपर चलना चाहिये। आचार ही परम धर्म कहा गया है—

'आचारः परमो धर्मः'।

चरित्र-निर्माणका मौलिक तत्त्व-चिन्तन

(लेखक—श्रीशि० ना० गौड़)

चरित्रका रूढ़ार्थ कुछ भी रहा हो आज व्यवहारमें इसका वही अर्थ है, जो अंग्रेजीमें मारेलिटी, हिन्दीमे सदाचार और संस्कृतमें चारित्र्यका होता है। संयोगसे लेटिन 'मोटास' और ग्रीक 'एथास'का सम्बन्ध भी रूढ़ि और रूढ़ आचार या सदाचारसे ही है और अन्ततः हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि चरित्र और आचार समानार्थी हैं और इस सामान्य व्यवहारसे आदर्शको भिन्न बतानेके लिये उसे चारित्र्य या सदाचारके विशिष्ट नामसे पुकारा जाता है।

वैसे चरित्र सभीका होता है, पशु-पक्षियोंका भी चरित्र या व्यक्तित्व होता है; पर उसे सदाचार या उन व्यक्तियोंको सदाचारी तभी कहा जा सकता है जब हम उन्हें किसी आदर्शसे जोडते हैं। सभी पक्षी उड़ते हैं पर जो हंस नलके पास दमयन्तीका संदेश ले गया था वही परोपकारी हो गया। सभी बन्दर फल-फूल खाते या पेड़ तोड़ते हैं, पर कोई हनुमान्की तरह आततायी रावणकी वाटिकाको उजाड़कर सती सीताकी रक्षा करता है तो वह उपकारी बन जाता है। यों करनेको तो प्रत्येक मनुष्य जीवन भर कुछ-न-कुछ करता रहता ही है, पर उसके सभी काम आचारकी श्रेणीमे नहीं आते। साँस लेना, सोना या खाना-पीना मानवकी सहज क्रियाएँ हैं, पर इनमेंसे जो भी सोद्देश्य बन जाती हैं, वे

आचारका अङ्ग बन जाती हैं। साँस लेना एक सहज या अनिवार्य क्रिया है, पर उसे हल्का या गहरा बनाना या समाधिकी स्थितिमें पहुँचा देना आचार बन जाता है। खाना हम सहजरूपसे खाते हैं पर खानेके पदार्थ, समय और क्रियाका नियमन करना आचार बन जाता है।

प्रत्येक आचार, चरित्र, धार्मिक क्रिया उसी प्रकारकी क्रिया है जिस प्रकार क्रोध, तोड-फोड, आलस्य या संहार क्रियाएँ हैं। दोनोंमें भेद इसी बातका है कि प्रथमका उद्देश्य एवं फल दूसरीसे भिन्न है। अतः क्रियाके रूपमें समानता रहते हुए भी उद्देश्य या फलकी भिन्नतासे एक ही क्रिया सत्-असत्, भली-बुरी, सदाचार या दुराचार बन जाती है।

किसीको थप्पड मार देना बुरी बात है, पर किसी उत्तेजित दुष्टको थप्पड मार देना बुरा नहीं माना जाता और साँप काटेका संदेश लानेवालेको थप्पड मारना उसका इलाज हो जाता है। किसीके शरीरको चीरना-फाडना अपराध है, पर डाक्टर कहीं भी चीरा लगा सकता या किसी भी अङ्गको काटकर फेंक सकता है और वह पुण्यका कार्य बन जाता है। यों किसीकी नकल उतारना बुरा लगता है, पर बहुरूपिया बनकर या नाटकमें अभिनय करके जो कुछ किया जाता है, वह मनोरञ्जक और कलात्मक बन जाता है। जान-बूझकर किसीका बुरा सोचना भी अनुचित है पर अनजानमें कोई दवाके भरोसे जहर दे दे तब भी क्षम्य माना जा सकता है। अकेलेमें किसी शत्रुको भी मारना पाप है पर युद्धमें मित्र, रिश्तेदार कोई भी सामने आ जाये तो मारे जाने योग्य बन जाता है।

इस प्रकार परिस्थिति, भावना और फलके आधारपर ही भले-बुरे, सापराध-निरपराध, पाप या पुण्यका विचार होता है। अतः प्रश्न सहज ही उठता है कि वे आधार क्या हैं, जो किसी कामको भला या बुरा बनाते हैं? भला-बुराका व्यवहार किस मापदण्डसे होता है?

इसके उत्तरमें शास्त्र, महापुरुषोंके आचरण या आत्माकी आवाजको ही भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रस्तुत किया जाता है। उदाहरणके लिये कहा गया है कि **'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'** दूसरे स्थानपर आते हैं। **'स्मृतिशीले च तद्विदाम्'** अथवा **'महाजनो येन गतः स पन्थाः'** इनके अनुसार किसी महापुरुषका चरित्र या सामाजिक रूढ़ियाँ इस श्रेणीमें आती हैं।

अन्तिम आधार है—विवेक अथवा अन्तरात्मा, जो प्रत्येकको किसी भी विषम परिस्थितिमें उचित-अनुचितका निर्णय करनेमें सहायक होती है। सामान्य क्षणोंमें तो वह शास्त्रोंसे सहायता ले सकता है, रूढ़ियोंको ध्यानमें रखकर या किसी भले आदमीकी राय लेकर काम चला सकता है, पर उस स्थितिमें जब यकायक कोई घटना घट जाये, वह अकेला हो या अजनबियोंके बीच या किसी नयी उलझनमें फँस जाये तो वह किससे पूछे, कैसे निर्णय करे? ऐसी स्थितिमें एक ही उपाय बचता है कि वह यह स्व-विवेकसे काम ले, स्वयं निर्णय करे। इस आत्मनिर्णयके लिये ही कहा गया है—**'स्वस्य च प्रियमात्मनः'** अर्थात्—जो बात अपने आत्माको प्रिय लगे, यानी जो अपनेको सबसे अधिक उपयुक्त लगे, वही वरणीय और करणीय है।

सच पूछा जाय तो परिस्थिति कैसी ही हो, शास्त्र या समाज उपदेशक या महापुरुष कुछ भी कहे या करे, अन्तिम निर्णय तो व्यक्तिको स्वयं ही करना पड़ता है कि वह क्या करे? उसे बार-बार अनुभव होता है कि—**'तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य मतं न भिन्नम्।'**

किसी रूढ विचारकी रूढ़ प्रणालियोंको छोड़ दें तो मनुष्यको प्रत्येक काममें प्रत्येक बार अपनी ओरसे निर्णय

करना पड़ता है। चाहे मैंने राम-भरोसेपर विश्वास किया हो, पर उससे धोखा खाकर अब मैं विश्वास नहीं कर सकता, किंतु अगली बार यदि पश्चात्तापसे उसका हृदय शुद्ध हो जाये तो वह फिरसे विश्वसनीय बन जाता है। यही दशा दान, उदारता, करुणा, अक्रोध या सहयोग—इन सभीकी हैं। कोई भी बात या काम कहीं अन्तिम नहीं माना जा सकता। डाक्टर रोगीके साथ उदारता नहीं बरत सकता, योद्धा शत्रुपर दया नहीं दिखा सकता, दानी किसी बनावटी गरीबको दान नहीं दे सकता, किसी आततायीके आगे निश्छल सत्य नहीं बोला जा सकता।

अतः इसी निष्कर्षपर पहुँचना पड़ता है कि भलाई या बुराई किसी क्रियामें नहीं होती; क्योंकि वही क्रिया परिस्थिति-भेदसे भली या बुरी कुछ भी हो सकती है। वही क्रिया बनावटी, दिखावटी, नाटकीय या हास्य-व्यङ्ग-भरी बनकर अपना रूप ही बदल सकती है। परिणामको सोचकर कभी अच्छे काम भी अकरणीय बन जाते और बुरे काम भी ग्राह्य हो जाते हैं। इसलिये निर्णय क्रियाकी दृष्टिसे नहीं किया जा सकता।

अब बचते हैं—कर्ता या फल। जहाँतक फलका प्रश्न है, किसी बुरे कामका भी अच्छा परिणाम निकल सकता है। कोई चोरी करके भी उस पैसेसे किसी रोगीका उपचार करवा सकते, दान दे सकते, मन्दिर बनवा सकते है। अंधविश्वासके सहारे भी लोगोंसे अच्छे काम करवा सकते है। अपने-आपको सिद्ध पुरुष सिद्ध करके उनकी भावनाओंको भली या धार्मिक बना सकते है। पर इन सबके मूलमें तत्त्वतः गड़बड़ियाँ हैं, अतः केवल परिणामकी अच्छाईसे ही इन्हें भला नहीं माना जा सकता; अन्यथा हरेक मुफ्तखोर, भ्रष्टाचारी, कालाबाजारी, चोर-डाकू-लुटेरा, ढोंगी या धोखेबाज अपने कामोंके सुन्दर फल बताकर इन दुर्गुणोंको भी सद्गुण सिद्ध करनेका प्रयास करेगा और परिणामोंकी अच्छाईके आधारपर हमें उसे वैसा मानना पड़ सकता है।

इसीलिये तो महात्मा गांधीने साध्य ही नहीं, साधनोंकी भी पवित्रतापर जोर दिया था। भारतीय मूल प्रवृत्ति साध्यकी अच्छाईके साथ साधनकी पवित्रताको भी आवश्यक मानती है। यदि उद्देश्यकी पूर्ति या फल-प्राप्ति ही सब कुछ हो तो वह तो भले-बुरे किसी भी साधनसे की जा सकती है। किसी आदमीको भला बनाना या उससे भला काम करवाना हो तो यह उसकी स्वेच्छासे करवा सकते हैं और अनिच्छासे भी करवा सकते हैं; जबरदस्ती करवा सकते हैं, प्रलोभनसे करवा सकते हैं, धोखेसे भी करवा सकते है। पर इस प्रकार जबरदस्तीसे अज्ञानपूर्वक या धोखेसे किये गये अच्छे काम भी क्या अच्छे माने जा सकते हैं? मान लीजिये कोई शर्त जीतनेके लिये आप मन्दिरमें तन्मयतासे पूजा करते हैं तो वह क्या भक्तिके अन्तर्गत आती है? धनके लिये पूजा करनेवाला पुजारी क्या वैसा ही भक्त है जैसे तुकाराम थे?

निदान, हम इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि किसी कार्यकी अच्छाई-बुराई न क्रियामें है, न उसके फलमें। जो कुछ निर्णायक है, वह है—वह व्यक्ति, जो किसी क्रियाको करके उसे किसी परिणामतक पहुँचाता है। कर्तासे कर्मतक जो प्रवाह चलता है वह कर्त्ताद्वारा ही निर्णीत होता है। यदि वहाँसे 'धन' बिजली निकलती है तो कर्मतक वैसा ही प्रवाह चलता है और 'ऋण'से सारा प्रवाह 'ऋण' हो जाता है।

पाणिनिने इनकी भाषागत ही नहीं, भावगत परिभाषा भी बड़े सूक्ष्मरूपसे की है। कर्म वही है जो कर्ताका अभीप्सिततम है। जो काम वह करना ही नहीं चाहता, वह आनुषङ्गिक, अप्रासङ्गिक या सांयोगिक हो, तब भी उसे कर्ताद्वारा कृत नहीं माना जा सकता। कर्ता उठा, इससे चोर भाग गया, फिर भगानेका काम उस उठनेवालेका नहीं था। कर्ताने किसीके चाँटा मार दिया और वह सुनने लग गया, इसीसे कोई डाक्टर नहीं बन जाता।

जबतक कोई काम जान-बूझकर, इच्छापूर्वक नहीं किया जाता तबतक वह किसीका कर्म नहीं कहा जा सकता। पर एक बार किसीने कोई काम विचारपूर्वक ही (जरूरी नहीं कि वह विवेकपूर्वक ही हुआ हो) किया कि वह उससे बँध जाता हैं और फिर वह अपनेको या दूसरोंको धोखा दिये बिना यह नहीं कह सकता कि यह मैंने नहीं किया या इसके लिये अमुक व्यक्ति उत्तरदायी है। यदि सचमुचमे कोई व्यक्ति कोई काम अनजानमे करता है, धोखेमे कर डालता या जोर-जबरदस्तीसे करनेको विवश कर दिया जाता है तो उसे कर्त्ता नहीं माना जा सकता। यहाँ भी पाणिनिने कर्त्ता उसीको माना है जो स्वतन्त्र हो (**स्वतन्त्रः कर्ता**); स्वयं अपने कार्यका निर्णायक हो, जिसके काममें न दबाव हो न गलतफहमी।

वैसी दशामे निर्णायक न क्रिया होती है न कर्म; अन्तिम निर्णायक है उसकी स्वतन्त्रता, जिसे अंग्रेजीमें या आचारशास्त्रमे 'फ्रीडम आफ विल' कहा गया है। हरेक मनुष्यको कुछ भी करनेकी स्वतन्त्रता है; यहाँतक कि ईश्वर भी इस क्षेत्रमे कोई हस्तक्षेप नहीं करता; क्योंकि उसे जो करना था वह तो निर्माणके समय कर चुका, उसके बाद तो उसका खिलौना स्वयं चालित होकर स्वयंकी इच्छासे कुछ भी करनेको स्वतन्त्र है। वह कोरा यन्त्र नहीं कि यन्त्र-मानवकी तरह वही करनेको बाध्य हो, जैसा करनेका आदेश मनुष्यद्वारा उसमें भर दिया जाता है। मनुष्यका खिलौना यदि अपने निर्माताके आदेश या निर्देश माननेको स्वतन्त्र है तो वह दैवी यन्त्र तो उससे भी अधिक स्वतन्त्र है और उसे किसीका आदेश मानना ही है तो वह है उसकी आत्मा या अन्तरात्मा। जो कोई कर्ताके रूपमे काम करता है तो उसमें इच्छाके रूपमें परिस्थिति उसकी आवश्यकताके अनुसार उसका मार्गदर्शन भी करती रहती है।

यही आत्माकी आत्मासे भिन्नता या शत्रुता है। बाहर न कोई शत्रु है न मित्र, जो भी है वह भीतर बैठा है, वह हम खुद है जो अपने भले कर्मोंसे अपने मित्र बनते और अपने बुरे कर्मोंसे अपने ही शत्रु बन जाते हैं। हमारे अपने ही कर्म यदि भले हैं तो हमारी भलाई करते हैं और बुरे हैं तो बुराई करते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि आत्मा, हम या हमारा मन कुछ भी करनेको स्वतन्त्र है तो वह वस्तु या गुण क्या है, जो किसी कामको भला या बुरा बनाकर हमे भी भला या बुरा अथवा सदाचारी या दुराचारी बना देता है?

यहाँ हमें फिर उसी कर्मकी ओर मुड़ना पड़ता है, जिसे इस क्षेत्रमे अविचारणीय मानकर हमने छोड़ दिया था। कर्त्ताको यदि विचार ही करना होता तो वह सद्भाव, सद्विचार या सत्कल्पनासे ही अपना काम चला लेता और बुराईका विचार करनेकी आवश्यकता ही नहीं रह जाती। पर मनुष्यका काम केवल विचारसे नहीं चल सकता। उसे पल-पलपर कर्म करने पड़ते हैं और उनके परिणामोसे हम उन्हे अच्छा या बुरा मानते या उसके कर्त्ताको भला या बुरा कहते हैं।

जहाँतक सहज क्रियाओ या जीवनकी अनिवार्य आवश्यकताओका प्रश्न है उन्हे न हम भला कह सकते है न बुरा। हम श्वास लेते, आँखे झपकाते या आगसे हाथ हटा लेते हैं, ये सब सहज क्रियाएँ हैं। पर जब हम इन या ऐसी ही अन्य क्रियाओंको किसी उद्देश्यसे जोड देते है तब उस उद्देश्यके विचारसे वह भली या बुरी हो जाती है। जो बात किसी भले उद्देश्यकी पूर्ति करती है, वह भली है और जो उसे पूरा नहीं करती, उसमें बाधा डालती या उसके विपरीत काम करती है, वह बुरी है।

फिर उद्देश्य क्या है? जीवनका सबसे पहला उद्देश्य है—जीना। अतः जो भी कार्य जीवनोपयोगी हैं, वे भले हैं। इसीलिये भर्तृहरिने जो आहार-निद्रा-भय-मैथुन आदि सामान्य गुण बताये वे हर प्राणीपर

लागू होते हैं; किंतु इनपर भले-बुरेका विचार लागू नहीं होता तथा होना भी है तो इस रूपमे कि ये ही क्रियाएँ जीवनके लिये कहीं हानिकर तो नहीं बन गयी है। भोजन आवश्यक है, अतः भोजन करना कोई न अच्छा काम है न बुरा, पर कोई इतना भोजन करने लगे कि जीना ही दूभर हो जाय तो वह बुरा हो जाता है। इस प्रकार जिजीविषाकी सहज क्रिया सामान्यतः आचारके क्षेत्रमे नहीं आती, पर वह अपने उद्देश्यके विपरीत चले या उसका हितवर्धन करे तो उसे भी बुराई-भलाईके क्षेत्रमें सम्मिलित किया जा सकता है।

जिजीविषा अच्छी बात है; क्योंकि यह संसारका मूलाधार है, पर संसारमे हम अकेले ही तो हैं नहीं। जो बात हमारे लिये सत्य है, वह सभीपर लागू होती है। हमे अपनी ही नहीं, अन्योंकी जिजीविषाका भी ध्यान रखना चाहिये। हम खुद नहीं जिएँ, औरोंको भी जीवित रहने दे। सामान्यतया प्राणिजगत्में जिजीविषा किसी भी मूल्यपर बनाये रखनेका प्रयास किया जाता है, फिर वह औरोको समाप्त करके ही क्यों न हो। वैसे नियम तो वहाँ भी सहयोग और सहअस्तित्वका है, पर वहाँ सब कुछ सहजवृत्तिसे होता है। मनुष्य सज्ञान है, स्वतन्त्र है, सचेत है। इसीलिये वह जीवनको अपनेतक ही सीमित नहीं रखता, विश्वव्यापी बना देता है। इसीलिये वह कामना करता है कि **'सर्वे भवन्तु सुखिनः'** और **'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं शुभं भूयात् सर्वजगताम्'**। वह अकेला ही जीना नहीं चाहता 'जीओ और जीने दो' में विश्वास करता है। इसीको अहिंसा कहा गया है और उसके व्यावहारिक रूपको गाँधीजीने साध्य और साधनकी पवित्रताके रूपमें प्रस्तुत किया है।

सच पूछा जाय तो इस 'स्व-पर'की जिजीविषामें भलाई, सदाचार, चरित्र, मरेलिटी, एथास—सभीका सार आ जाता है। पर इन्हे सदाचारका आधार बना पाना इतना सरल नहीं है। किस सीमातक मनुष्य परायी जिजीविषाके लिये अपनी जिजीविषाको संयत या सीमित करे, यहींसे सारा झगड़ा प्रारम्भ होता है।

उसे कहा तो गया है कि **'केवलाघो भवति केवलादी'**—अकेला खानेवाला केवल पापी होता है, अतः वह अकेला नहीं खायेगा, बाल-बच्चोंको खिलाकर खायेगा, पर इसके आगे वह क्या करे? क्या वह दुनियाभरको खिला सकता है? दूसरोको खिलाकर स्वयं कितने दिन भूखा रह सकता? और, खिलानेमें खाना ही नहीं आता, कपड़े आते है, मकान आता है, जीवनकी सारी सुविधाएँ आती हैं। इनका उपार्जन तथा वितरण वह किस प्रकार करे? यह जटिल समस्या है जहाँ सिद्धान्तको संकुचित होना पड़ता है।

यदि संसारमे साधन-विपुलता हो तो कोई समस्या ही उत्पन्न नहीं हो सकती, जिसको जितनी आवश्यकता हो उतना ले लेता और बाकी दूसरोके लिये छोड़ देता। पर संसारमे चीजे कम हैं और हमारी माँग अधिक है। फिर हमारी आवश्यकताएँ भी यथार्थपर कहाँ टिकती हैं! हमें इतनेसे ही सन्तोष कहाँ होता है कि हमारा पेट आज भर जावे या कलतक भरनेकी गारंटी (निश्चिति) हो। हम तो जीवन भरकी गारंटी चाहते हैं, अपनोंकी गारंटी चाहते और न जाने कितनी पीढ़ियोकी गारंटीके बाद भी सन्तुष्ट नहीं होते।

यह घातक आक्रामक जिजीविषा ही हमारी सारी बुराइयोंकी जड़ है। हमारी आवश्यकताओंकी पूर्तिका सही रास्ता है—श्रम। हमारा कर्त्तव्य है कि हम जो भी पावे अपने श्रमसे प्राप्त करे। पर हम या तो थोड़े श्रमके बहुत चाहते हैं या बिना श्रमके ही मनमाना प्राप्त करनेका प्रयास करते जाते हैं। इतना ही नहीं, हम दूसरोंके श्रमपर जीते या औरोंके श्रमसे अपने पास अधिकाधिक जमा करते जाते हैं। अन्तमें स्थिति यह हो जाती है कि कुछ लोग अधिक खाते, अधिक कमाते

और उससे भी अधिक जमा करते जाते हैं। इससे हमारी जिजीविषा औरोंके लिये घातक बनती जाती है और संसारका सन्तुलन बिगड़ता जाता है।

यदि भलाई और बुराई, कर्तव्य-अकर्तव्य अथवा सदाचार-अनाचारके रूपमें देखना हो तो इनका एक ही आधार है कि हमारे काम इस प्रकारके हों कि हम खुद ही नहीं जियें, दूसरोंको भी इसी प्रकार जीवित रहनेकी सुविधा प्रदान करें। इसीलिये कहा है—**'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'।** जो काम इस उद्देश्यकी पूर्तिमें जितने सफल होते हैं, वे उतने भी भले या आदर्श हैं और जो इसमें जितने विघातक होते हैं वे उतने ही बुरे हैं।

इस समस्याको हल करनेके लिये धर्मने भी त्याग, अपरिग्रह, यथालाभ-संतोषके रूपमें रहनेका उपदेश देकर एक आधार प्रस्तुत किया था। मार्क्सने भी 'हरेक शक्तिभर काम करे और आवश्यकताभर ले' के रूपमें एक दूसरा रास्ता दिखाया। पर यह मार्ग अच्छे उद्देश्यके लिये गलत साधनोंकी भी हिमायत करता है, इसीलिये भले आदमियोंके गले नहीं उतरता। उसमें साध्य पवित्र और साधन चाहे जैसा हो का विधान है।

महात्मा गाँधीने मार्क्सके रास्तेको प्राचीन भारतीय धार्मिक आधार देकर साध्यके साथ साधनकी शुचिताका भी विचार करते हुए दूसरोंके लिये अपना स्वार्थ त्यागनेकी शिक्षा दी जो **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**का ही व्यावहारिक रूप है।

विस्तारमें चरित्र, सदाचार या नैतिकतामें किन्हीं गुणोंका समावेश या बहिष्कार किया जावे उसका मूलाधार एक ही हो सकता है—जीओ और जीने दो। बाकी सब बातें इसके भाष्यमात्र हैं।

फिर भी एक समस्या रह ही जाती है कि मनुष्य इन दोनोंमें सन्तुलन किस प्रकार करे? ज्ञानके लिये कहा तो गया है कि वह मनुष्यकी विशेषता है, वह मनुष्यकी शक्ति है, पर कोरा ज्ञान मनुष्यको स्वार्थी भी बना सकता है। इसीलिये इस खतरेसे सावधान रहते हुए इस बातका प्रयास करना चाहिये कि इसका उपयोग भावनाओंके पीछे दौड़नेके लिये न होकर उनपर सवारी करनेके लिये होना चाहिये। तभी उस मनरूपी सारथिपर विश्वास किया जा सकता है कि वह हमारा मित्र बनेगा और उसीके भरोसे हम **'मनःपूतं समाचरेत्'**—मनके छननेसे छानकर या विवेकके तराजूपर तौलकर सदाचारी बन सकेंगे।

धर्मराजका चरित्र-सम्बन्धी उपदेश

(लेखक—डॉ० श्रीहरिनारायणजी तिवारी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्याचार्य)

धर्मराजके उपदेश कृष्णयजुर्वेदके कठशाखासे सम्बन्धित कठोपनिषद्में उपलब्ध होते हैं। नचिकेता आदर्श गुरुभक्त आरुणिके पुत्र थे। आरुणि आयोद धौम्यके तीन प्रधान शिष्योंमेंसे एक थे। एक बार खेतकी मेंड़ बाँधनेमें असमर्थ आरुणिने स्वयं बाँधका स्वरूप धारण किया एवं कुछ देर बाद गुरुके पुकारनेपर मेड़को विदीर्णकर बाहर निकले। इस कारण गुरुजीने उनका नाम 'उद्दालक' रख दिया एवं समग्र विद्या-प्राप्तिका आशीर्वाद दे दिया। यही उद्दालक अपने ऋत्विक्कालमें विश्वजित् यज्ञ कर अपनी समग्र सम्पत्ति दान कर रहे थे। सम्पत्तिके नामपर वाजश्रवा (उद्दालक)—**'वाजमन्नं तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यशो यस्य, स वाजश्रवा रूढितो वा'** (शाङ्करभाष्य)के पास **'पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः'** अर्थात् समग्र क्रियाओंसे रहित मरणासन्न गायें मात्र थीं। आदर्श पितृभक्त नचिकेताने उन गायोंको दान देनेके परिणाम-स्वरूप मिलनेवाले सुखरहित लोकोंको जाननेके कारण, स्वयंको अपने पिताकी एक उत्तम सम्पत्ति मानकर, बाल-स्वभाववश तीन बार अपने पितासे कहा है—**'तत कस्मै मां दास्यसीति।'** बालककी जिदपर क्रुद्ध

होकर महर्षि उद्दालक कहते है—'मृत्यवे त्वा ददामीति।' पिताके इस आदेशपर उत्तम-मध्यमाधम शिष्य-परम्परामे अपनेको मध्यम श्रेणीका मानते हुए अपने पिताको सान्त्वना देनेके लिये एक पूर्ण आध्यात्मिक वचन कहता है—

'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥'
(कठो० १।१।६)

फिर पितृआज्ञाको शिरोधार्य करके यम-सदन पहुँचकर, नचिकेता यमराजके प्रवासके कारण तीन रात्रियोंतक उपवास करता है। यमराजके आगमनपर वैदिक परम्परासे अनुप्राणित यमपत्नी ब्राह्मण अतिथिके महत्त्वको प्रतिपादित करते हुए तत्काल सूर्य-पुत्र यमराजसे कहती है—'सूर्यपुत्र! स्वयं अग्निदेवता ही ब्राह्मण अतिथिके रूपमे घरपर प्रवेश करते हैं। अतः सज्जन मनुष्य अर्घ्य-पाद्यादिके द्वारा उसकी शान्ति करते हैं। अतः आप भी जल ले जाइये; क्योंकि जिसके घरपर ब्राह्मण अतिथि बिना भोजन किये रहता हैं, उस मन्दबुद्धि पुरुषकी ज्ञात और अज्ञात वस्तुओंकी प्राप्तिकी इच्छाओं, उनके संयोगसे प्राप्त होनेवाले यागादि इष्ट एवं उद्यानादि पूर्त कर्मोके फल तथा समस्त पुत्र और पशु आदिको वह नष्ट कर देता है—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताꣳ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥
आशाप्रतीक्षे संगतꣳ सूनृतां च
इष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो
यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥
(कठो० १।१।७-८)

अतिथिके उपवास शान्त्यर्थ आचार्य यमराज जब तीन वरदान माँगनेका आदेश देते हैं तो पितृपरितोषके रूपमे प्रथम वरके लिये नचिकेता कहता है—'यमराज! जिससे मेरे पिता वाजश्रवस् मेरे प्रति शान्तसंकल्प, प्रसन्नचित्त और क्रोधरहित हो जायँ तथा आपके भेजनेपर मुझे पहचानकर बातचीत करें—यह मैं आपके दिये हुए तीन वरोंमेसे पहला वर माँगता हूँ—

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्या-
द्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत
एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥
(कठो० १।१।१०)

द्वितीय वरके रूपमे नचिकेता स्वर्गके साधनभूत अग्नि-विद्याको माँगता है, जिसे जानकर देवतालोग अमरत्व प्राप्त कर लेते हैं। अग्नि, विद्याके रहस्यको उपदेशित कर पुनः उसके अनुरूप श्रवणसे संतुष्ट हो आचार्य यमराज अतिरिक्त वर प्रदान करते हुए उस अग्निको नाचिकेत अग्निके नामसे प्रथित होनेका आशीर्वाद देकर एक विचित्र रत्नोंकी माला प्रदान करते हैं।

तृतीय वरके रूपमे आत्म-विद्याके रहस्यकी याचना करते हुए नचिकेता कहता है—'आचार्य! मरे हुए मनुष्यके विषयमे जो यह संशय है कि आत्मा है या नहीं—कुछ लोग कहते हैं कि यह आत्मा रहता है तथा दूसरे कहते है कि यह नहीं रहता है तो आपके द्वारा उपदेशित मै इस रहस्यमयी विद्याको भली-भाँति समझ लूँ'—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये-
ऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥
(कठो० १।१।२०)

इस तृतीय वरकी गम्भीरता एवं सूक्ष्मताको प्रतिपादित कर तथा इसके अतिरिक्त प्रेयके सम्पूर्ण साधनोके जैसे—मनुष्यलोकके दुर्लभ भोगकी सामग्रियाँ रथ, घोडे इत्यादि—प्रलोभनोंके देनेके बाद भी अध्यात्म-भाव सम्पन्न नचिकेता अन्ततः यह कह देता है—'**तवैव वाहास्तव नृत्यगीते**।' और अध्यात्म-विद्याके रहस्यको तृतीय वरके रूपमे जाननेका आग्रह करता है।

इस प्रकार नचिकेताके वैराग्य-भाव, अनासक्ति एवं निष्काम भावनाको देखकर संसारमे प्रचलित श्रेय और प्रेय किं वा विद्या और अविद्या अपरनामधेय ज्ञान और

अज्ञानका प्रतिपादन कर यमराज नचिकेताके विशुद्ध मति एवं धैर्यकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

नैषा तर्केण मतिरापनेया
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि
त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥
(कठो० १।२।९)

नचिकेताकी आध्यात्मिक बुद्धिकी प्रशंसाको उपस्थित कर आत्मतत्त्वके महत्त्वको प्रतिपादित कर उसे ओंकार पदसे अभिहित करते हुए पुनः यमराज कहते हैं—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति,
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
(कठो० १।२।१५)

इस प्रकार प्रस्तुत प्रसङ्गमें हम देखते हैं कि पितृ-भक्तिके बीजसे अङ्कुरित नचिकेताका जीवन-वृक्ष पितृ-परितोषसे सिंचित हो अग्नि-विद्याके रहस्यसे पल्लवित होता हुआ आकर्षक भोगोंके झंझावातको प्रभावहीन कर आत्म-तत्त्व या परमात्म-तत्त्वके फलसे परिपूर्ण हो इस लोकमें एक साङ्गोपाङ्ग पूर्ण आदर्श-चरित्रको उपस्थित करता है।

नीति-ग्रन्थोंका चरित्र-निर्माणकारी उद्बोधन

[पञ्चतन्त्रमें चरित्र-निर्माणके प्रेरक तत्त्व]

(लेखक—डॉ० श्रीसूर्यमणिजी त्रिपाठी, एम्० ए०, साहित्याचार्य, पी-एच्० डी०)

शास्त्रोंकी परम्परामें ही लोकसंग्रहिणी भावनासे प्रेरित होकर नीतिकारोंने अनेक नीति-ग्रन्थोंकी रचना की है। इनमें आचार्य विष्णुशर्माद्वारा रचित 'पञ्चतन्त्र' विशेष सरल होनेपर भी बड़े महत्त्वका है। यह नीतिग्रन्थ भारतीय जनताके लिये ही प्रेरक नहीं रहा, बल्कि इसकी लोकप्रियता विश्वव्यापिनी हुई। यह बात इसके सैकड़ों विदेशी भाषाओंके अनुवादों तथा दो सौसे अधिक संस्करणोंसे प्रमाणित होती है।* विभिन्न निष्कर्षोंके आधारपर इतिहासकारोंने इसकी रचनाका समय ई० ३०० पूर्वके लगभग स्वीकार किया है। कथामुख-खण्डके प्रस्तावनाके रूपमें ग्राह्य होनेके कारण शेष पाँच तन्त्रोंमें निबद्ध होकर यह 'पञ्चतन्त्र' नामको सफल करता है। कथामुख-भागमें भारतीय परम्परानुसार देवस्मरण इस प्रकार किया गया है—

ब्रह्मा रुद्रः कुमारो हरि-
वरुणयमा वह्निरिन्द्रः कुबेर-
श्चन्द्रादित्यौ सरस्वत्यु-
दधियुगनगा वायुरुर्वीभुजङ्गाः।
सिद्धा नद्योऽश्विनौ श्रीर्दिति-
रदितिसुता मातरश्चण्डिकाद्याः।
वेदास्तीर्थानि यज्ञा गणवसु-
मुनयः पान्तु नित्यं ग्रहाश्च॥
(श्लोक १२)

इन सबका स्मरण निर्विघ्न ग्रन्थकी समाप्तिके साथ लोककल्याणकी भावनाको लेकर प्रकट किया गया है। व्यक्तिगत भावनाओंसे उठकर लेखकने लोकमङ्गलकी भावना प्रकट की है। आचार्यने नीतिशास्त्रकी परम्पराका स्मरण ग्रन्थके दूसरे श्लोकमें कर दिया है—

मनवे वाचस्पतये शुक्राय पराशराय ससुताय।
चाणक्याय च विदुषे नमोऽस्तु नयशास्त्रकर्तृभ्यः॥
सकलार्थशास्त्रसारं जगति समालोक्य विष्णुशर्मेदम्।
तन्त्रैः पञ्चभिरेतच्चकार सुमनोहरं शास्त्रम्॥
(२-३)

कथामुखमें ही आचार्य विष्णुशर्माने मनु, बृहस्पति, शुक्र, व्यास, पराशर एवं चाणक्यादि नीतिशास्त्रज्ञोंको स्मरण किया है। कथाकारके इस कथनसे स्पष्ट हो

* इसका विश्वमें प्रचार-क्रम देखनेके लिये H[illegible] निर्मित सूची देखनी चाहिये।

जाता है कि कथाकार धर्मशास्त्रका पूर्ण पण्डित था। सारी कथाएँ पाँच तन्त्रोंमें विभक्त हैं। कहते हैं, दक्षिणमें महिलारोप्य नामक नगरमें अमरशक्ति नामक एक राजा था। उसके बहुशक्ति, उग्रशक्ति और अनन्तशक्ति नामके तीन पुत्र थे। ये तीनों ही महामूर्ख थे। उसने इन बालकोंको सुबुद्ध बनानेके लिये विष्णुशर्मा नामक विद्वान्‌को इन्हें सौंप दिया था। वे कथा सुनकर सुबुद्ध बने। नीतिकारने अपने ग्रन्थकी उपयोगितापर बल देते हुए लिखा है—

अधीते य इदं नित्यं नीतिशास्त्रं शृणोति च।
न पराभवमाप्नोति शक्रादपि कदाचन ॥ १७ ॥

इस फलश्रुतिके साथ कथामुखभाग समाप्त हो जाता है। शेष ग्रन्थ मित्रभेद, मित्रसम्प्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश एवं अपरीक्षितकारक नामक पाँच तन्त्रोंमें विभक्त है। पाँचों तन्त्रोंको मिलाकर ७१ कथाएँ हैं। इन कथाओंमेंसे २२ मित्रभेद, ८ मित्रसम्प्राप्ति, १६ काकोलूकीय, १२ लब्धप्रणाश एवं १३ कथाएँ अपरीक्षितकारक तन्त्रमें आयी हैं। इनमेंसे ४५ कथाओंमें पशुओं एवं पक्षियोंको पात्र बनाया गया है। शेष २६ कथाओंमें मनुष्योंको पात्र बनाया गया है।* स्मृतियोंके अध्ययनसे नीरसतापूर्वक राजकुमारों-को सुशिक्षित किया जा सकता था, किंतु इस विशाल साहित्यसे लोकव्यवहारज्ञके रूपमें प्रस्तुत करना साधारण कार्य न था। इसी भावनासे प्रेरित होकर कथाकारने साहित्यमें लालित्यका समावेश किया। कथाओंके बीच-बीच नीतिकारोंका भी अनेक स्थलोंमें ग्रन्थकारने स्मरण किया है। अस्तु! यहाँ हमें कथाके मात्र उन्हीं अंशोंपर विचार करना है, जो आचरणप्रेरक हों। इसमें नीतिकारके लिये पिशुनकर्म महान् दोषके रूपमें स्वीकार हुआ है। इसका मित्रभेद नामके प्रथम तन्त्रके प्रारम्भमें ही—'पिशुनेनातिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः' कहकर पिशुन-कर्मको अति गर्हित कहा गया है।

इसके बाद बिना कामके काम करनेवाले व्यक्तिको अपने आप ही नष्ट हो जाना निर्दिष्ट है। जुआ, मदिरापान और कामवासनाको निन्दनीय तथा हितसाधनमें बाधक कहा गया है। धनोपार्जनके लिये कभी भी मनुष्यको अनीतिका सहारा नहीं लेना चाहिये; क्योंकि अन्यायसे अर्जित किया हुआ धन नष्ट तो हो ही जाता है, अर्जनकर्ता स्वयं भी नष्ट हो जाता है। इस कारण कथाकारने धनार्जनके लिये—'भिक्षया, नृपसेवया, कृषिकर्मणा, विद्योपार्जनेन, व्यवहारेण, वणिक्कर्मणा वा' कहकर नीतिपूर्वक धन अर्जन करनेके लिये कहा है। नीतिके अनुसार कभी भी किसी व्यक्तिपर पूर्ण विश्वास कर अपनी गुप्त जानकारी नहीं देनी चाहिये। वहींपर असत्य-भाषणपर भी रोक लगायी गयी है। प्रत्येक स्थानपर एक-जैसी ही नीतिका पालन नहीं करना चाहिये। देवताओं और राजाके समक्ष थोड़ा भी झूठ नहीं बोलना चाहिये। अतिथि-सत्कारपर बल देते हुए कहा गया है कि अतिथिका स्वागत करनेसे अग्नि, आसन-दान करनेसे इन्द्र, चरण धोनेसे पितर और अर्घ्य देनेसे शिवजी प्रसन्न हो जाते हैं। कामुक नारियोंकी भर्त्सना करते हुए कथाकारने लिखा है—

अन्तर्विषमया ह्येता बहिश्चैव मनोरमाः।
गुञ्जाफलसमाकारा योषितः केन निर्मिताः ॥२०१॥

स्त्रियोंके अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग भावोंको स्पष्ट करनेके लिये मापनेकी सबसे छोटी इकाई गुञ्जाको ग्रहण कर कथाकारने कामिनीसे सदा सचेत रहनेके लिये कहा है। इतना कहनेपर भी स्त्रीकी रक्षाके लिये सदा तत्पर रहनेके लिये भी कहा गया है। गौ, ब्राह्मण, स्वामी, स्त्री और स्थानके निमित्त जो लोग प्राणत्याग करते हैं, उन्हें सनातनलोक प्राप्त होता है। किसीको भूमि, मित्र और सुवर्णके लिये ही युद्धाभिमुख होना चाहिये। उदरपोषण-की प्रमुखतापर बल देते हुए कथाकारने कहा है कि 'उदरपोषणके लिये मनुष्य असत्य बोलता है, असेव्यकी

* इसके अनेक संस्करणोंमें कथासंख्याओंमें कुछ भिन्नता है। सबोंमें निर्णयसागरप्रेसका संस्करण विशेष प्रामाणिक है।

सेवा करता है, विदेश जाता है। किसीका जो स्वभाव बन गया है, वह अपरिवर्तनीय है। पानीको चाहे जितना गर्म कर दिया जाय, पर कुछ देर बाद वह अपने स्वाभाविक गुण ठण्डेपनमे बदल जायगा।' सेवक और पतिकी तुलना करते हुए कहा गया है—

सेवकस्य पतेर्यद्वद्विषयः पापधर्मजः॥

सेवक सब कुछ पापके निमित्त करता है और स्वामी धर्मके लिये, यही दोनोंमे अन्तर है। इसमें जहाँ मित्रद्रोहको जघन्य अपराध कहा गया है, वहीं शत्रुताको प्रेम या उपेक्षादिसे जैसे-तैसे दूर करनेकी बात भी कही गयी है। अपनी जातिका कभी अनिष्ट नहीं करना चाहिये। इसमें धर्मबुद्धिकी परिभाषा करते हुए कहा गया है—

मातृवत् परदाराणि परद्रव्याणि लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतानि वीक्षन्ते धर्मबुद्धयः॥*
(१। ४३५)

धर्मबुद्धियोंके लिये परस्त्री माता, परधन मिट्टी और सभी प्राणी आत्मवत् ही दिखायी पड़ते हैं। मित्र-सम्प्राप्तिमे प्रीतिके छः लक्षण बताये गये हैं—

ददाति प्रतिगृह्णाति गुह्यमाख्याति पृच्छति।
भुङ्क्ते भोजयते चैव षड्विधं प्रीतिलक्षणम्॥
(पञ्च० २। ५१, स्कन्दपु० ६। २४१। १४६, शुकसप्तति ६। ६० आदि)

देना-लेना, गुह्य बात कहना और पूछना, खाना-खिलाना प्रीतिके छः लक्षण कहे गये हैं। मनुष्यके लिये तीन कार्य वर्ज्य है—

अयशः प्राप्यते येन येन चोपगतिर्भवेत्।
स्वर्गाच्च भ्रंश्यते येन तत्कर्म न समाचरेत्॥
(२। ११५)

अपयश, दुर्गति और स्वर्गभ्रंशका कार्य मनुष्यको नहीं करना चाहिये। शत्रु और रोगको कभी भी नहीं बढाना चाहिये। इनपर ध्यान न देनेसे ये विनाशके कारण बनते हैं। कथाकारने कहा है—

य उपेक्षेत शत्रुं स्वं प्रसरन्तं यदृच्छया।
रोगं चालस्यसंयुक्तः स शनैस्तेन हन्यते॥
(३। २)

शत्रु और रोगकी यदि उपेक्षा की जाती है तो ये धीरे-धीरे इतना प्रभावपूर्ण हो जाते हैं कि मृत्युका कारण बनते हैं। इसी प्रकार स्त्री, शत्रु, कुमित्र और वेश्याओंको भी कथाकारने मृत्युकारक कहा है—

स्त्रीणां शत्रोः कुमित्रस्य पण्यस्त्रीणां विशेषतः।
यो भवेदेकभावेन न स जीवति मानवः॥
(३। ६२)

इन चारोंसे मित्रता करनेवाला कभी भी जीवित नहीं बच सकता। प्राण और धनकी रक्षा प्रत्येक स्थितिमें मनुष्यको करनी चाहिये—

सर्वनाशे च संजाते प्राणानामपि संशये।
अपि शत्रुं प्रणम्यापि रक्षेत् प्राणान् धनानि च॥
(४। २२)

'प्राणनाशकी स्थितिमें शत्रुको भी प्रणाम कर प्राण और धनकी रक्षा करनी चाहिये।' इस प्रकार 'पञ्चतन्त्र'में राजनीति आदिके साथ लोकनीतिका निर्धारण है। कहानियो-के अधिक पात्र पशु-पक्षी हैं। मार्कण्डेयपुराणके अधिकांश भागके वक्ता पक्षी ही है। इससे यह प्रमाणित होता है कि मनुष्य तो विशेष बोधयुक्त प्राणी है, अतः वह नीतिगत विषयोंमें पशु-पक्षियोंकी अपेक्षा विज्ञ हो, यही इष्ट है।

यद्यपि ग्रन्थके कथामुख-भागमे अमरशक्ति नामके राजाके पुत्रोंको ज्ञानवान् बनानेके लिये इसके आचार्य विष्णुशर्माद्वारा रचनाकी बात है, किंतु रचनाके उद्देश्यके प्रतिपादनमें कथाकार यह प्रतिज्ञावाक्य भी दुहराता है कि संसारमे अल्प ज्ञान रखनेवालोंके श्रेयके लिये यह ग्रन्थ भूतलमे प्रवृत्त रहेगा। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि ग्रन्थकी रचना सर्वसामान्य जनोंके कल्याणकी भावनासे अनुप्राणित होकर ही की गयी है।
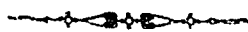
* यह श्लोक गरुडपुराण १। १११। १२, स्कन्दपुराण, ब्रह्मखण्ड, धर्मारण्य० २। ११। ९, हितोपदेश १। १४ तथा चाणक्य-नीति १२। १४ आदिमे भी प्राप्त होता है।

चरित्र-निर्माणकी महत्ता

(लेखक—डॉ० श्रीविद्याधरजी धस्माना, एम्० ए०, एम्० ओ० एल्, पी-एच्० डी०, शास्त्री, साहित्याचार्य)

चरित्रवान् मनुष्य आत्मज्ञानका अधिकारी होता है। जो दुराचारी है, जिसकी इन्द्रियाँ और चित्त शान्त नहीं हैं, वह ज्ञानी होकर भी आत्माका साक्षात्कार नहीं कर सकता।[1] गोस्वामी तुलसीदासजीने चरित्रवान् व्यक्तिको भगवान् रामके समान देखा है। इसी दृष्टिसे उन्होंने कहा—'जिस मनुष्यके हृदयपर परकीय नारीके नयन-बाण नहीं लगते, जो क्रोधरूपी अन्धकारसे भरी रात्रिमें जागता रहता है और जिसके गलेमें लोभकी रस्सी नहीं बँधी है, प्रभो! वह तो आपके समान ही है'—

नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा॥
लोभ पाँस जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया॥
(मानस ४। २०। २-३)

अतः चरित्रनिर्माणकी मानवमात्रको बड़ी आवश्यकता है।

चरित्र क्या है? 'चर्' धातुसे 'इत्र' प्रत्ययद्वारा 'चरित्र' और आङ् उपसर्गपूर्वक चर धातुसे ल्युट् प्रत्ययसे आचरण पद बनता है। किसीकी भी आचरणों और वृत्तियोंकी चरित्र संज्ञा है। मनुष्यके बुरे कामों तथा निकृष्ट वृत्तियोंको दुश्चरित्र कहा जाता है। बादरि नामके आचार्यने चरित्र शब्दसे सुकृत और दुष्कृत दोनोंका ही ग्रहण किया है—**'सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः'** (ब्रह्मसूत्र ३। १। ११)। आचार्य शंकरने भी चरण, अनुष्ठान और कर्मको पर्यायवाचक माना है—**'चरणमनुष्ठानं कर्मेत्यनर्थान्तरम्'** (ब्र० सू० ३। १। ११ शां० भा०)। अतः चरित्रके अन्तर्गत शुभ और अशुभ दोनो प्रकारके कर्मोंके और उत्कृष्ट तथा निकृष्ट दोनों वृत्तियोंके होते हुए भी चरित्र शब्द शुभ कर्मों और उत्कृष्ट वृत्तियोंपर ही रूढ़ है। इसीलिये किसी शुभ कर्म करनेवाले उदात्त वृत्तिके मानवको ही चरित्रवान् कहा जाता है। जब सगरने ऋषिसे गृहस्थ मनुष्योंके लिये सदाचार जाननेकी कामना की—**'गृहस्थस्य सदाचारं श्रोतुमिच्छाम्यहं मुने।'** (विष्णुपुराण ३। ११। १) तो मुनिने सत्य भाषण, मधुर भाषण, दुष्टकी संगति न करना, उदय और अस्तके समय सूर्यको न देखना, किसीके धनका अपहरण न करना, नग्न होकर स्नान न करना इत्यादि कर्त्तव्य कर्मोंको ही सदाचार कहा।

वस्तुतः चरित्रका ताना-बाना शीलपर आधारित है। हारीतने तेरह प्रकारके शील माने हैं—'आस्तिकता, देव-पितृ-भक्ति, सज्जनता, किसीको कष्ट न देना, ईर्ष्या न करना, कोमल स्वभावका होना, किसीके प्रति भी क्रूर न होना, मधुर बोलना, सबको मित्रकी दृष्टिसे देखना, कृतज्ञ होना, शरण देना, पराये दुःखमें करुणार्द्र होना तथा शान्त-चित्त रहना'। धर्मशास्त्रोंने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, दान, दया, दम और क्षान्ति नामकी वृत्तियोंको धर्मका साधन स्वीकार किया है—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दया दमः क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति १। १२२)

ये ही वृत्तियाँ सच्चारित्र्यके भी साधन हैं। वस्तुतः धर्म और सच्चरित्र अन्योऽन्याश्रयी हैं। चरित्रनिर्माणके लिये सात्त्विक भोजन, सत्सङ्ग तथा सद्ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना चाहिये; इससे बुद्धि सात्त्विक होती है। सात्त्विक बुद्धिके विवर्तमें वह सद् और असद्, प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय तथा बन्ध और मोक्ष—सब कुछ स्वयं ही जाना जा सकता है—

१—कठोपनिषद् १। २। २४ २—द्रष्टव्य मनुस्मृति २। ६ की मन्वर्थमुक्तावलिव्याख्या।

*

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥
(गीता १८। ३०)

जिन पदार्थोंके भक्षणसे बुद्धिमें राजसिक और तामसिक विवर्त प्रस्तुत होता है, उनसे सर्वथा दूर रहना चाहिये। कुत्सित भोजन करनेसे तथा नीचोंके सहवाससे बुद्धि भी तामसी हो जाती है। इससे मनुष्य हिंसक, लुण्ठक, आततायी, दुराचारी, व्यभिचारी, मिथ्याभाषी, पिशुन और परनिन्दक बन जाता है। अतः बुराईसे बचनेके लिये मनुष्यको बुराईके मार्गसे बचना चाहिये। जो अपने चरित्रका निर्माण चाहते है, वे सर्वप्रथम अपने भोजनपर नियन्त्रण रखते है, सज्जन पुरुषोंके साथ बैठते हैं और अश्लील साहित्य कभी भी नहीं पढते। यह बात बहुत प्रसिद्ध है—'जैसा अन्न वैसा मन।'

इस सम्बन्धमे एक कथा इस प्रकार है—एक राजाका एक बड़ा विश्वासपात्र सेवक था। जब कभी राजा शयन करता तो वह सेवक तलवार लेकर पहरा देता। एक दिन जब राजा सो रहा था तो सेवकके मनमें बुरे विचार आने लगे और उन्हीं नीच विचारोंके कारण उसने प्रसुप्त राजाके शरीरपर प्रहार करने और उसके गलेमे पड़े रत्नजटित सुवर्णके कण्ठेको लेनेका निश्चय किया। उसने नंगी तलवार उठायी। पर ज्यो-ही उसने प्रसुप्त राजाके शरीरपर प्रहार करना चाहा, तबतक पीछेसे किसी अन्य सेवकने उसे पकड़ लिया। उस सेवकने राजाको जगाकर उस दुष्ट सेवकके दुष्कर्मकी सूचना दी और राजासे प्रार्थना की कि उस दुष्ट सेवकको प्राणदण्ड दिया जाय। किंतु राजा बड़ा चरित्रवान् और विचारशील व्यक्ति था। उसे लेशमात्र भी क्रोध न आया। उसने सोचा कि यह सेवक समस्त जीवन मेरी निष्कपट सेवा करता रहा, अतः आज अवश्य इसने कुछ निन्दित भोजन किया होगा, जिसने इसके विचारोंमें इतना परिवर्तन किया। राजाने उसके भोजनके विषयमे पूछा तो उसने कहा कि उसने एक पेड़के नीचे बैठकर वह जली हुई बासी खिचड़ी खायी, जिसे ऊपरसे उस पेड़पर बैठा राक्षस देख रहा था। राजा तत्क्षण ही समझ गया कि यह दोष उस निकृष्ट भोजनका ही है, इसीलिये राजाने उसे तीन दिनतक उपवास रहनेका दण्ड दिया। तीन दिनके उपवाससे उस सेवकके मस्तिष्कमे बुरे भोजनसे उत्पन्न विचार मिट गये और वह पहलेकी ही भाँति फिरसे राजाकी निष्कपट सेवामे तल्लीन हो गया। अतः चरित्रके निर्माणमे भोजनका सविशेष महत्त्व है।

इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि शील, सदाचार, धर्म और सच्चरित्र परस्पर एक दूसरेपर निर्भर हैं। चरित्रवान् व्यक्ति ही सुशील-सदाचारी और धार्मिक बन सकता है, जब कि एक सुशील, सदाचारी और धार्मिक व्यक्ति ही चरित्रवान् माना जा सकता है। मानवीय जीवनके लिये जो धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप उद्देश्य निश्चित है, उनकी प्राप्ति मनुष्यको सच्चारित्र्यसे ही हो सकती है।

पवित्र चरित्रकी अभिव्यक्ति

(रचयिता—श्रीअयोध्याप्रसादजी पाण्डेय; 'निर्मल')

सोधिये! ज्योति जीवन! रुचिर वृत्तसे!
शुभ्र सत्कार्य! यशमें बदल जायगा।
भावकी व्यञ्जनामें सरसता रहे,
वाग्मधुरता न उससे पृथक हो कहीं॥

प्रेम-पथपर सु-निर्मल! परमशिष्ट यों,
पाँव रक्खें! उमचकर बढ़ायें नहीं।
मार्ग स्निग्ध है, खूब सँभल कर चलें,
पूर्ण संतोषसे द्वेष जल जायगा॥

सती मदालसा

आदर्श विदुषी, सती एवं आदर्श माता मदालसा गन्धर्वराज विश्वावसुकी पुत्री थीं। उसका विवाह राजा शत्रुजित्के पुत्र ऋतध्वजके साथ हुआ था। दोनोका दाम्पत्य-जीवन बड़ा सुखमय था। सती मदालसा अपनी सेवासे सास-ससुर तथा पतिको सदा संतुष्ट रखती थी। राजकुमार ऋतध्वजको भगवान् सूर्यका दिया हुआ एक दिव्य अश्व 'कुवलय' प्राप्त हुआ था। उसकी आकाश-पाताल सर्वत्र अबाध गति थी। उसका आरोही अजेय एवं दुर्धर्ष होता था। पिताकी आज्ञासे राजकुमार ऋतध्वज, जिसका दूसरा नाम उस अश्वकी सवारीसे कुवलयाश्व भी था, उस घोड़ेपर सवार होकर विप्रोंके रक्षाहेतु पृथ्वीपर विचरण करता था। एक दिन वह एक आश्रमपर पहुँचा, जहाँ इसके पूर्व वैरी दैत्य पातालकेतुका भाई तालकेतु आश्रम बनाकर मुनिवेषमें रहता था। राजकुमारने उसे मुनि जानकर प्रणाम किया। उस कपटतापसने कहा—राजकुमार! मै धर्मके लिये यज्ञ करना चाहता हूँ। पर दक्षिणाके लिये मेरे पास धन नहीं है। तुम अपने गलेकी रत्नमाला मुझे दे दो और यहीं मेरे आश्रमकी रक्षा करो। मैं जलमें वरुणदेवकी स्तुति कर शीघ्र वापस आऊँगा। यह कहकर वह माला-सहित जलमें घुसा और अदृश्य होकर राजा शत्रुजित्के पास प्रकट हुआ। वहाँ राजासे वह बोला—'महाराज! आपका पुत्र दैत्योंके साथ युद्ध करते हुए मारा गया है। यह उसकी रत्नमाला है।' यह कहकर वह लौट गया।

अब राजमहलमे कुहराम मच गया। मदालसाने पतिमरण सुनकर प्राण-त्याग कर दिया। उधर तालकेतु यमुनाजलसे प्रकट होकर राजकुमारसे बोला—'मै कृतज्ञ हुआ। अब आप नगरको प्रस्थान करे।' राजकुमारने घर आकर जब सारा समाचार सुना तो शोकाकुल हो मदालसाके लिये तिलाञ्जलि दी और प्रतिज्ञा की कि मैं मदालसाके अतिरिक्त किसी अन्य स्त्रीसे विवाह या सुखोपभोग नहीं करूँगा। वे स्त्री-सुखसे विमुख हो अपने मित्रोंके साथ मन बहलाने लगे। उनके दो मित्र नागराज अश्वतरके पुत्र थे, जो मनुष्यरूपमे पृथ्वीपर नित्य विचरण करने आते थे और राजकुमार ऋतध्वजके साथ क्रीड़ा-मनोरंजन करते थे। उन्होंने अपने पिता अश्वतरसे राजकुमारकी स्थिति बतलायी। नागराजने भगवान् शंकरकी आराधना कर मदालसाको पुत्रीके रूपमे प्राप्त कर लिया। उसने अपने पुत्रोंके द्वारा ऋतध्वजको बुलाकर मदालसाकी पुनः उत्पत्तिकी कथा कह सुनायी और मदालसाको उसे सौंप दिया। उसी समय उसका अश्व भी वहाँ प्रकट हो गया। अश्वारूढ हो राजकुमार पत्नीसहित अपने नगर लौट आया और नगरमे बड़ा आनन्दोत्सव मनाया गया।

कालान्तरमें पिताके स्वर्ग सिधारनेपर ऋतध्वज राजा हुए। रानी मदालसाके प्रथम पुत्रका नाम राजाने 'विक्रान्त' रखा। नाम सुनकर मदालसा हँसने लगी। कालक्रमसे दो पुत्र और उत्पन्न हुए, जिनका नाम राजाने सुबाहु और शत्रुमर्दन रखा। इन दोनोके नामपर भी मदालसाको हँसी आयी। वह इन तीनो पुत्रोंको लोरियाँ गानेके व्याजसे विशुद्ध आत्मज्ञानका उपदेश देती थी—

शुद्धोऽसि न बुद्धोऽसि नाम निरञ्जनोऽसि
संसारमायापरिवर्जितोऽसि।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां
मदालसा वाक्यमुवाच पुत्रम्॥

लोरी गाती हुई मदालसा पुत्रसे कहती है—'अरे! तू नित्य शुद्ध है, ज्ञानस्वरूप है, निर्विकार है, संसारकी मायासे निर्लिप्त है। अतः संसारमें जन्म-मरणके चक्रमें डालनेवाली इस मोहनिद्राका त्याग कर जाग्रत् हो।'

शुद्धोऽसि रे तात न तेऽस्ति नाम
कृतं हि ते कल्पनयाधुनैव।
पञ्चात्मकं देहमिदं न तेऽस्ति
नैवास्य त्वं रोदिषि कस्य हेतोः॥
(गार्ग० २६। ११)

'तात! तू शुद्ध आत्मा है, तेरा कोई नाम नहीं है। यह कल्पित नाम तो तुझे अभी मिला है। यह शरीर भी पञ्चभूतोंका बना हुआ है। न यह तेरा है, न तू इसका है। तो फिर किसलिये रो रहा है?'

इस प्रकारके आत्मतत्त्वके ज्ञानोपदेशसे रानी मदालसा अपने बढ़ते हुए पुत्रोंको ममताशून्य करने लगी। कुछ दिनोंके बाद चौथा पुत्र हुआ। जब राजा उसका नामकरण करने चले तो देखा कि मदालसा पूर्ववत् मुस्करा रही है। राजाने कहा—'मेरे नाम रखनेपर तुम हँसती हो तो लो अब इस पुत्रका नाम तुम्हीं रखो।' रानीने कहा—'आज्ञा स्वीकार है। इसका नाम अलर्क रखती हूँ।' राजा हँस पड़े—'अलर्कका क्या अर्थ है?' मदालसा बोली—'नामसे आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। संसार-का व्यवहार चलानेके लिये कोई नाम कल्पना करके रख लिया जाता है। वह संज्ञामात्र है, संकेतात्मक शब्द है। उसका कोई अर्थ नहीं। जैसे आपने तीन नाम रखे, उनका आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही इस अलर्कका इसकी आत्मासे कोई सम्बन्ध नहीं है।

राजा निरुत्तर हो गये। जब मदालसा उसे भी पालने-में सुलाकर झुलाते समय लोरी-गानद्वारा आत्मतत्त्वका उपदेश करने लगी, तब राजाने आपत्ति करते हुए कहा—'देवि! इसे भी ज्ञानोपदेश कर क्यों मेरी वंशपरम्पराका उन्मूलन करनेपर तुली हो? इसे प्रवृत्तिमार्गमें लगाओ और उसके अनुकूल उपदेश दो।' मदालसाने पतिकी आज्ञा शिरोधार्य कर ली और उसने अलर्कको बचपनमें ही व्यवहारशास्त्र, चारित्र्य और राजनीतिका पूर्ण पण्डित बना दिया। उसके उपदेश ये थे—

धन्योऽसि रे यो वसुधामशत्रु-
रेकश्चिरं पालयितासि पुत्र।
तत्पालनादस्तु सुखोपभोगो
धर्मात् फलं प्राप्स्यसि चामरत्वम्॥
(मा० पु० २६। ३५)

'बेटा! तू धन्य है, जो शत्रुरहित होकर एकच्छत्र चिरकालतक इस वसुन्धराका पालन करता रहेगा। पृथिवीके पालनसे तुझे सुखोपभोगकी प्राप्ति होगी और उस धर्मके फलस्वरूप तुझे अमरता मिलेगी।' तुम अपने चरित्रको इस प्रकार बनाना—

धरामरान् पर्वसु तर्पयेथाः
समीहितं बन्धुषु पूरयेथाः।
हितं परस्मै हृदि चिन्तयेथा
मनः परस्त्रीषु निवर्तयेथाः॥
(वही, श्लोक ३६)

'पर्वों, उत्सवोंपर ब्राह्मणोंको भोजनसे तृप्त करना, बन्धु-बान्धवोंकी इच्छापूर्ति करना, अपने हृदयमें परोपकारका ध्यान रखना और मनको परायी स्त्रियोंसे विमुख रखना।' चारित्र्यके इन गुणोंको अपनाकर ही तुम श्रेष्ठ राजा हो सकते हो।

सदा मुरारिं हृदि चिन्तयेथा-
स्तद्ध्यानतोऽन्तःषडरीञ् जयेथाः।
मायां प्रबोधेन निवारयेथा
ह्यनित्यतामेव विचिन्तयेथाः॥
(मार्कण्डेयपुराण २६। ३७)

'अपने हृदयमें सदा हरिका चिन्तन करना, उनके ध्यानसे अन्तःकरणके काम-क्रोधादि छः शत्रुओंको जीतना, ज्ञानके द्वारा मायाका निवारण करना, संसार असार-अनित्य है—यह पूरा ध्यान रखना।'

अर्थागमाय क्षितिपाञ्जयेथा
यशोऽर्जनायार्थमपि व्ययेथाः।
परापवादश्रवणाद्बिभीथा
विपत्समुद्राज्जनमुद्धरेथाः॥
(वही, श्लोक ३९)

'धन-प्राप्तिके लिये राजाओंको जीतना, यश प्राप्त करनेके लिये धन भी व्यय कर देना। परायी निन्दा सुननेमें डरते रहना तथा विपत्तिके समुद्रसे लोगोंका उद्धार करना।' सदा असहायोंकी सहायता करना। ये चरित्रके उत्तम गुण हैं।

राज्यं कुर्वन् सुहृदो नन्दयेथाः
साधून् रक्षंस्तात यज्ञैर्यजेथाः।
दुष्टान् निघ्नन् वैरिणश्चाजिमध्ये
गोविप्रार्थे वत्स मृत्युं व्रजेथाः॥
(वही ४१)

'तात! राज्य करते हुए मित्रोंको प्रसन्न करना, साधुओंकी रक्षा करते हुए यज्ञोंसे हरि यजन-पूजन करना, और पुत्र! रणक्षेत्रमे दुष्ट वैरियोंका विनाश करते हुए गौ और ब्राह्मणोंके लिये प्राणोंकी बाजी लगा देना (मृत्युको स्वीकार कर भी गो-ब्राह्मणकी रक्षा अवश्य करना)।'

मदालसासे पूर्ण राजनीति-ज्ञान प्राप्तकर अलर्क धर्म, अर्थ, काममें प्रवीण हो गया। राजा-रानी दोनोंने अलर्कको राजगद्दी देकर वानप्रस्थ ग्रहण किया और भगवान्‌की तपश्चर्यामें लीन हो गये। अलर्कने गङ्गा-यमुनाके संगमपर अलर्कपुरीको—'जिसे आज अरैल कहते हैं— अपनी राजधानी बनाया।

इस प्रकार महासती मदालसाने अपने विशुद्ध चरित्रबलसे पालनेमें ही अपने बच्चोंको तत्त्वज्ञान, ब्रह्मज्ञान और राजनीतिके व्यावहारिक ज्ञानकी चारित्रिक शिक्षा देकर उनका जीवन उज्ज्वलतर बनाया और स्वयं भी पतिके साथ परमात्म-चिन्तनमें मन लगाकर अल्पकालमें ही मोक्षस्वरूप परमपदको प्राप्त कर लिया। आज चरित्रबलके लिये ऐसे ही मातृ-उपदेशकी आवश्यकता है।
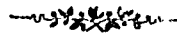
सती सावित्री

मद्रदेशके राजा अश्वपति धर्मात्मा एवं प्रजापालक थे; पर वे निःसंतान थे। संतानप्राप्तिकी इच्छासे उन्होंने सावित्री (गायत्री) देवीकी आराधना की। उनकी कृपासे राजाको कन्या-रत्नकी प्राप्ति हुई। चूँकि सावित्रीकी कृपासे वह पुत्री प्राप्त हुई थी, अतः उन्होंने उस पुत्रीका नाम सावित्री रखा।

सावित्री जब सयानी—विवाह-योग्य हो गयी, तब राजाने उससे कहा—'पुत्रि! तू अपने योग्य वर स्वयं ढूँढ ले। तेरी सहायताके लिये मेरे वृद्ध मन्त्री साथ जायँगे।' सावित्रीने संकोचके साथ पिताकी आज्ञा स्वीकार कर ली। वह संयमी, चरित्रशील एवं धर्मात्मा पति चाहती थी, अतः राजर्षियोंके आश्रमों एवं तपोवनको देखने लगी।

जब सावित्री यात्रासे लौटी तब राजाके पास देवर्षि नारद विराजमान थे। कन्याने देवर्षि-सहित राजाको प्रणाम किया। देवर्षिने राजासे पूछा—आपकी यह पुत्री कहाँ गयी थी? यह विवाहके योग्य हो गयी है। इसका विवाह क्यों नहीं कर देते?

राजाने बताया कि मैंने इसी कामके लिये इसे भेजा था। आप स्वयं पूछ लें कि यह किसे वर चुनकर लौटी है?

नारदजीके पूछनेपर सावित्रीने बताया कि शाल्वदेशके राजा द्युमत्सेन बड़े धर्मात्मा थे। पर बादमें अन्धे हो गये। शत्रुओंने देखा कि राजा अन्धे है और उनका पुत्र अभी बालक है तो उन्होंने उनका राज्य हड़प लिया। अब राजा पुत्र एवं पत्नीके साथ वनमें आकर तप कर रहे हैं। उनका पुत्र सत्यवान् बड़ा हो गया है। वह पिताके साथ वनमें ही रहता है; वह मेरे अनुरूप है। मैंने उसे ही पति-रूपमें वरण किया है। देवर्षि नारदने कहा—'कुमार सत्यवान् सर्वगुणसम्पन्न है, पर उसमें एक दोष ऐसा है, जो सब गुणोंको दबा देता है। वह दोष यह है कि आजसे ठीक एक वर्ष बाद सत्यवान्‌की मृत्यु हो जायगी।'

सुनते ही राजाने कहा'—'पुत्री सावित्रि ! नारदजी सत्यवान्‌को अल्पायु बताते हैं। अतः तुम फिर जाओ और अन्य किसी उपयुक्त वरको ढूँढो।'

सावित्रीने कहा—'कन्यादान एक ही बार किया जाता है।* कोई विचार पहले मनमें आता है, फिर उसे वचनसे कहा जाता है और अन्तमें उसे किया जाता है। इसमें मेरा मन ही प्रमाण है। सत्यवान् दीर्घायु हो या अल्पायु, मैंने उसे मनसे पति मान लिया है। अब किसी अन्य पुरुषका वरण मैं नहीं कर सकती। सचमुच ऐसा करना आर्य-शीलके विरुद्ध है।'

देवर्षि और राजाने कन्याकी चारित्रिक दृढ़ता देखकर अपनी-अपनी स्वीकृति दे दी। राजा अश्वपतिने बड़े धूमधामसे तपोवनमें कन्याका विवाह सत्यवान्‌के साथ कर दिया। विवाहके बाद सावित्रीने पतिके अनुरूप तपस्विनीका वेश धारण कर लिया। वह पति तथा सास-ससुरकी सेवामें संलग्न हो गयी। इस प्रकार जब एक वर्ष बीतनेको हुआ तो तीन दिन पूर्व सावित्रीने व्रत धारण कर लिया। वह रात-दिन एकाग्र ध्यानस्थ बैठी रही। चौथे दिन (जिस दिन सत्यवान्‌की मृत्यु निश्चित थी) प्रातःकाल स्नानादिसे पुनीत हो, उसने विप्रों-गुरुजनोंको प्रणाम किया। उसी समय सत्यवान् समिधाके लिये आश्रमसे निकले। सावित्री भी उनके साथ चल पड़ी। यद्यपि सत्यवान् उसकी निर्बलताके कारण उसे नहीं ले जाना चाहते थे, पर माता-पिताके कहने एवं सावित्रीकी प्रार्थनापर उसे साथ लेते गये।

वनमें सत्यवान् लकड़ियाँ काट रहे थे कि उनके मस्तकमें पीड़ा होने लगी। वे वृक्षके नीचे सावित्रीकी गोदमें सिर रखकर लेट गये। इतनेमें सूर्यके समान तेजस्वी एक भयंकर पुरुष वहाँ उपस्थित हुआ। उसे देख सावित्री खड़ी हो गयी और हाथ जोड़कर कातर स्वरमें पूछा—'आप कौन हैं ? यहाँ कैसे आये हैं ?' उस पुरुषने कहा—'मैं यम हूँ। तुम्हारे पतिकी आयु समाप्त हो चुकी है। अतः मैं स्वयं इसे लेने आया हूँ। चूँकि यह धर्मात्मा तथा गुणी है, अतएव मेरे दूत इसे नहीं ले जा सकते थे।'

यमने सत्यवान्‌के शरीरसे अँगूठेके बराबर जीवको पाशमें बाँधकर निकाला और उसे लेकर दक्षिणकी ओर चल पड़े। दुखिया सावित्रीने भी उनका अनुगमन किया। यमने कहा—'अब तू लौट जा और अपने पतिका अन्तिम संस्कार कर। अब तुम्हें आगे नहीं जाना चाहिये।'

सावित्री बोली—'जहाँ मेरे पति जायँगे, वहीं मुझे भी जाना चाहिये। तपस्या, पतिभक्ति और आपकी कृपाके प्रभावसे मेरी गति कहीं रुक नहीं सकती।'

यमने कहा—'तुम्हारी पतिभक्ति एवं सत्यनिष्ठासे मैं संतुष्ट हूँ। तुम सत्यवान्‌के जीवनको छोड़कर कोई एक वरदान माँग लो।'

सावित्रीने वरदान माँगा—'मेरे अंधे श्वसुरको नेत्र प्राप्त हो जायँ और वे बलिष्ठ एवं तेजस्वी हो जायँ।' यमने कहा—'एवमस्तु' और उसे लौट जानेको कहा। सावित्रीने कहा—'जहाँ मेरे पतिदेव रहें वहीं मुझे रहना चाहिये। सत्पुरुषोंका एक बारका भी सङ्ग कभी निष्फल नहीं होता।' तब यमने प्रसन्न होकर सत्यवान्‌के जीवनको छोड़कर कोई एक और वरदान देनेको कहा। सावित्रीने कहा—'मेरे श्वसुरका छिना राज्य उन्हें प्राप्त हो जाय।' यमराजने कहा—'एवमस्तु' और उसे फिर लौटनेको कहा। सावित्री बोली—'सभी जीवोंपर दया

* सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते। सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सकृत् सकृत्।

करना, दान देना सत्पुरुषोंका धर्म है। सभी यथाशक्ति कोमलताका बर्ताव करते हैं, पर सत्पुरुष तो शरणागत शत्रुपर भी दया करते हैं। कृपया मुझे पतिदेवके साथ चलने दे।'

यमराजने सावित्रीकी प्रशंसा की और सत्यवान्के जीवनको छोडकर कोई एक और वरदान माँगनेको कहा। सावित्रीने कहा—'मेरे पिताके कोई पुत्र नहीं है। उन्हें वंशवृद्धि करनेवाले सौ पुत्र प्राप्त हों।' यमराजने 'एवमस्तु' कहकर सावित्रीको पुनः लौट जानेको कहा। सावित्री बोली—'आप धर्मराज हैं, सत्पुरुष हैं, न्यायी है। क्या यही आपका धर्म और न्याय है कि पतिव्रता नारीको उसके पतिसे पृथक् कर दें।' यमराजने सत्यवान्के जीवनको छोड़कर उससे एक वरदान और माँगनेको कहा। सावित्रीने कहा—'सत्यवान्के द्वारा मेरे सौ बलिष्ठ एवं पराक्रमी पुत्र हों।' यमराजने कहा—'एवमस्तु' और फिर उसे लौट जानेको कहा।' सावित्रीने कहा—'आपने सत्यवान्से मुझे पुत्र होनेका वरदान दिया है, फिर पतिके बिना मैं कैसे लौट सकती हूँ। उनके बिना कैसे आपका वचन (वरदान) सत्य होगा। क्या आप धर्मराज होकर अधर्म करना चाहते हैं या मुझ पतिव्रतासे अधर्म कराना चाहते हैं?' धर्मराज बोले—'देवि! तुम्हारी विजय हुई, मैं हार गया!' यह कहकर उन्होंने सत्यवान्के बन्धन खोल दिये और स्वयं अन्तर्धान हो गये। सावित्री वृक्षके नीचे पतिके शरीरके पास लौट आयी। पतिके सिरको गोदमे लेकर बैठी ही थी कि सत्यवान् अँगड़ाई लेकर उठ बैठा और बाते करने लगा। सूर्यास्त हो चुका था। वनमे अन्धकार फैल रहा था। दोनो शीघ्रतासे आश्रमको चल पड़े। चरित्रके चमत्कारकी यह घटना सदा स्मरणीय रहेगी।

इधर आश्रममें द्युमत्सेनको दृष्टि प्राप्त हो गयी थी। उन्हें नेत्र-लाभकी तो प्रसन्नता थी, पर पुत्र अभीतक नहीं लौटा, अतः दुःखी भी थे। इतनेमें सावित्री-सत्यवान् आश्रममें पहुँच गये। इन्हें देख सभी प्रसन्न हो उठे। विलम्बका कारण पूछनेपर सावित्रीने सारी घटना, जो वनमें हुई थी, बता दी। सब उसके पातिव्रत-धर्मकी प्रशंसा करने लगे। पतिव्रता नारी-चरित्रका यह आदर्श आचन्द्रदिवाकर स्तुत्य रहेगा।

दूसरे दिन शाल्वदेशके राजकर्मचारी आश्रममें पहुँचे। उन्होंने द्युमत्सेनसे कहा—'महाराज! आपके शत्रु राजाको उसीके मन्त्रीने मार डाला है। उसकी सेना भाग गयी है। प्रजाने आपको ही राजा बनानेका निश्चय किया है और इसीलिये हमें आपके पास भेजा है। आप राजधानी पधारें और हम सबका पालन करें। सवारियाँ तथा सेना भी साथ आयी हैं।' राजाने सहर्ष मङ्गलघोषके साथ राजधानीको प्रस्थान किया। उनका राजतिलक हुआ। यथासमय सावित्रीके पिता अश्वपतिको सौ पुत्र प्राप्त हुए तथा कालान्तरमें सावित्री-सत्यवान्के भी सौ पराक्रमी पुत्र हुए। सावित्री-सत्यवान्की कथा अमर हो गयी।

यह था सावित्रीका चरित्रबल, जिसने न केवल अपने मृत पतिको जीवित कर दिया, अपितु अपने माता-पिता, सास-ससुरको भी सर्वथा सुखी बनाया। यमको भी उससे पराजय स्वीकार करनी पडी।

(महाभारत, वनपर्व २९३—९९ अध्यायोंके आधारपर)

चरित्र-निर्माणमें ब्रह्मचर्यकी उपयोगिता

(लेखक—श्रीशिवनाथजी दुबे, एम्०काम०, एम्०ए०, साहित्यरत्न)

जीवनका आधार ब्रह्मचर्य है। इसीलिये जीवनका अधिकांश भाग ब्रह्मचर्यके नियमोंके लिये नियत है। ब्रह्मचर्य-आश्रम पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष)को प्राप्त करा सकता है, यदि हृदयसे उसे व्रतकी संज्ञा दी जाय। उसका परिपालक इससे अपनी अभीप्सित वस्तुओंको करतल कर सकता है। यदि उसे[1] यम-नियमोंमें संमिलितकर योगका पालन किया जाय तो साधक शक्ति-सम्पन्न बन सकता है। चरित्र-निर्माणकी आधार-शिला ब्रह्मचर्य है। इसलिये भारतीय मनीषियोंने ब्रह्मचर्यके पालनपर बल देते हुए उसकी मुक्त-कण्ठसे सराहना की और उसे धारण करनेका संदेश विश्वके कोने-कोनेतक पहुँचाया। ब्रह्मचर्यका सामान्य अर्थ 'काम-संयम' है। पर इसके मूलमें वासनाओं या विकारोंका निरोध भी समाहित समझना चाहिये। जबतक सभी इन्द्रियोका संतुलित एवं संतोषजनक संयम न हो, तबतक काम-संयम नहीं रखा जा सकता; क्योंकि सभी इन्द्रियाँ अन्योन्याश्रित हैं।

मन ग्यारहवाँ करण (इन्द्रिय) है। मनसे विकृत मनुष्य ब्रह्मचर्यका पालन नहीं कर सकता; क्योंकि वासनाओ एवं विकारोंका मनमें उदय होनेपर काम-संयम अत्यन्त कठिन हो जाता है।

ब्रह्मचर्यका शाब्दिक अर्थ है—'ब्रह्मकी खोज' जो अन्तर्ज्ञानके माध्यमसे ही सम्भव है। अतः मनसा, वाचा तथा कर्मणा समस्त इन्द्रियोंका सभी विषयोमें संयम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म या सत्यके शोधमें प्रवृत्त होना अथवा तद्विषयक आचार ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म या सत्यके शोधके लिये विकाररहित होना नितान्त अपेक्षित है। इन्द्रियोके निग्रह बिना अर्थात् ब्रह्मचर्यके अभावमें मन विकाररहित नहीं हो सकता। चरित्र-निर्माणके लिये ब्रह्मचर्यका पालन अनिवार्य है।

ब्रह्मचर्यका पालक—ब्रह्मचारी स्वभावतः साधक होता है। ब्रह्मचर्यके अभावमें आसुरी प्रवृत्तियोंको प्रोत्साहन मिलता है और दैवी प्रवृत्तियोंका विनाश होता है, जब कि चरित्र-निर्माणके लिये दैवी प्रवृत्तियोंसे सुसम्पन्न होना अत्यावश्यक होता है। जीवविज्ञानके विशेषज्ञोंके मतानुसार पशु जिस सीमातक ब्रह्मचर्यका पालन करता है, मानव उस सीमातक नहीं; क्योंकि पशु जीवित रहनेके लिये खाता है और मानव खानेके लिये जीवित रहता है। साधकको अपने आहार-विहारपर सदैव पूर्ण संयम रखना वाञ्छनीय है। ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाले ब्रह्मचारी निर्विकारी होते हैं। वे लोग एक प्रकारसे ईश्वरके ही समान होते हैं। गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

> **विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।**
> **रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते॥**
>
> (गीता २। ५९)

चरित्र-निर्माणके लिये अल्पाहार, उत्तम साहित्य, आदर्श शिक्षा, उपयुक्त मनोरञ्जन, कार्यका निश्चित समय, साधारण पहनावा, रात्रिके प्रथम प्रहरके अन्ततक सोना और ब्राह्ममुहूर्तमें जगना, शुद्ध वातावरण, तन-मन दोनोंका स्वच्छ होना, रहन-सहन इत्यादि सब संतुलित होना चाहिये। सर्वोपरि तथ्य

---

[1] अहिंसासत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः। (पातञ्जलयोग, साधनपाद ३१)
शौचेज्या च तपो दानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहम्। व्रतोपवासमौनानि स्नानं च नियमा दश॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति)

यह है कि संयमित जीवन व्यतीत करने एवं भगवान्‌को प्राप्त करने हेतु, उनसे सायुज्य लाभकी उत्कट अभिलाषाका होना ब्रह्मचारीका प्रमुख कार्य है।

यहाँ चरित्र-निर्माणहेतु ब्रह्मचारीके लिये कुछ आदर्श नियमोंपर विचार किया जा रहा है। जो ब्रह्मचारी अपने आचार्यकी कृपाका पात्र बननेमें सक्षम होता है एवं उनके चरणोंकी छायामें रहकर उनके महान् चरित्रसे तथा पुनीत जीवनसे अनुप्राणित होनेका सुअवसर प्राप्त करनेकी क्षमता रखता है, वही वेदारम्भ-संस्कारसे संस्कृत होकर कम-से-कम पचीस वर्षतक ब्रह्मचर्यके कठिन तपस्याका अनुष्ठान कर पुरुषार्थचतुष्टयकी प्राप्तिहेतु—**'आयुरस्मासु धेहि, अमृतत्वमाचार्याय'** इस श्रुति-वाक्यको अङ्गीकार करनेका पात्र बन जाता है।

आचार्यके पुनीत आश्रममें वन, पर्वत एवं सरिताके सांनिध्यमें—गुल्मलता, वनस्पति, ओषधि, विहङ्ग, गवादि पशुओंके मध्य सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र, जल, अग्नि, वायु तथा आकाशके प्रभावसे प्रभावित होकर कह सकता है—**'माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः'**—मैं पृथ्वीका पुत्र हूँ और भूमि मेरी माता है। इन्हीं पुनीत आश्रमोंमें जिज्ञासु ब्रह्मचारी पुनीत ऋचाओंको आत्मसात् करनेका सक्रिय प्रयास करता है और ऐसे साधकके लिये **'तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम्'**—सरस्वती कामधेनु बनकर पुरुषार्थ-चतुष्टयको स्वयं प्रस्तुत करती है। शिक्षाके समाप्त होनेपर आचार्यका अपने विद्यार्थी ब्रह्मचारीके लिये आदेश, निर्देश एवं उपदेश होता है—

धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।' (तैत्तिरीय शिक्षावल्ली)

जब यह आदर्श शिक्षा ब्रह्मचारीद्वारा अनुष्ठित होती है, तब आदर्श चरित्रका निर्माण होता है। कामपर विजय पाना बड़ा कठिन है, पर जो कामपर विजय पा लेता है, वह विश्व-विजयी हो जाता है एवं भवसागरको पारकर आवागमनके बन्धनसे मुक्त हो जाता है। ऐसी वस्तुके प्राप्तिहेतु महान् धैर्यकी आवश्यकता होती है। अल्पाहार अथवा निराहार मनोविजयका श्रेष्ठ साधन है। यदि अग्निपर पकायी गयीं वस्तुएँ कम खायी जायँ तो अति उत्तम है। कामोत्तेजक पदार्थोंका सेवन न किया जाय। यद्यपि मात्र आहार-त्यागसे, कामसे मुक्ति सम्भव नहीं, फिर भी विकारोत्तेजक पदार्थोंका सेवन करनेवालोंसे ब्रह्मचर्यके निर्वाहकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। चरित्र-निर्माण एवं ब्रह्मचर्यके पालनमें जिन तत्त्वोंके दर्शन, श्रवणादिसे विकारोंकी उत्पत्ति हो, वे ग्राह्य नहीं हैं। आवास-कक्षमें ऐसे चित्र लगे होने चाहिये, जिन चित्रोंके पीछे कोई महान् चरित्र छिपा हो। आदर्श चरित्र-निर्माणके लिये अश्लील चित्र एवं अश्लील साहित्यका अवलोकन सर्वथा वर्जित है। अश्लीलताका बीजारोपण तो चलचित्र-जगत्‌द्वारा किया जाता है, जो ब्रह्मचर्यव्रतके पालन एवं चरित्र-निर्माणमें बाधक होता है।

ब्रह्मचर्यका व्यावहारिक रूप यह होना चाहिये कि इस व्रतको जिससे जितना बन सके, उतना अवश्य पालन करे, उसमें कोई बनावटीपन न होने पाये। अपनी शक्तिके अनुसार जिससे जितना हो सके, उस आदर्शतक पहुँचनेका सक्रिय प्रयास करे, इसमें कोई लज्जा या दुःखकी बात नहीं है। साथ ही काम-वासनाका दमन एवं इन्द्रिय-निग्रह तथा आध्यात्मिक वातावरण आदर्श चरित्रके लिये अपरिहार्य हैं। आध्यात्मिक विचार, समाज-सेवा, देश-सेवा इत्यादि चरित्र-निर्माणके लिये उपयोगी हैं। इसी प्रकार सत्यका पालन, असत्यका त्याग, कर्मनिष्ठा, मधुर एवं अल्प भाषण, सदैव कार्यरत रहना, सदाचार, अतिथिसेवा, सत्सङ्ग, भगवन्नाम-जप, श्रवण, मनन, कीर्तन, इत्यादि आदर्श चरित्र-निर्माणके लिये नितान्त उपयोगी हैं। चरित्र-निर्माणके लिये अपने धर्म-ग्रन्थोंका अवलोकन

एवं धार्मिक निर्देशोंका अनुपालन तथा शास्त्रवाणीमें विश्वास और उसका अनुसरण करना भी उपयोगी होता है।

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥
(मनुस्मृति ६।९२)

इसके अनुसार धृति, क्षमा, दम, शौच, अस्तेय, धी, इन्द्रिय-निग्रह, विद्या, सत्य एवं अक्रोध—ये धर्मके दस लक्षण हैं। इन सद्गुण-समूहोंका आचरण करनेवाला व्यक्ति चरित्रवान् होता है।

यहाँपर चरित्र-निर्माणमें उपयोगी ब्रह्मचर्यविषयक कतिपय नियमोंको अङ्कित किया जाता है—(१) मन, शरीर एवं वाणीसे वीर्यकी रक्षा करना, (२) विलासिताका शिकार न बनना, (३) सदैव लँगोट बाँधना, (४) प्रतिदिन एक बार नियमितरूपसे व्यायाम करना, (५) एकाकी शयन करना, (६) छः घंटेसे अधिक न सोना और दिनमें न सोना, (७) अनावश्यक बातें न करना तथा कम बोलना, (८) किसीके द्वारा प्रयोगमे लाये हुए कपडोंको न पहनना तथा किसीका जूठन न खाना, (९) अनावश्यक किसीको स्पर्श न करना, (१०) हल्का तथा सात्त्विक एवं सुपाच्य भोजन करना और मिताहारी बनना, (११) पूर्णिमा, एकादशी तथा अन्य व्रत करना, (१२) सदैव कार्यरत रहना, (१३) मनको सदैव उत्तम बातोंको सोचनेमे, सुन्दर भावनाओंके धारण करनेमें, अच्छे ग्रन्थोंके पठन-पाठनमें, भगवान्‌के नाम लेने, भगवान्‌के रूपका ध्यान करने और स्तुति-पाठ करनेमें लगाना, (१४) यदि मनमें कोई असत् भावना जाग्रत् हो जाय तो अपने इष्टदेवके नामका जप करना तथा उसका प्रायश्चित्त करना और भगवान्‌से तदर्थ क्षमा-याचना करना, (१५) प्रतिदिन नियमितरूपसे सोते समय सभी चिन्ताओंको त्यागकर भगवान्‌के नामका जप और ध्यान करना, (१६) प्रतिदिन अपने सद्विचारों, आदर्श चरित्र और नियमोंका परीक्षण करना तथा दैनंदिनी लिखना, (१७) नित्य श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानसका पाठ करना एवं उसे कण्ठाग्र करना और (१८) नित्य न्यूनतम दो घंटे भगवान्‌के नामका जप, ध्यान एवं आराधना करना सबके लिये लाभकर है।

आत्म-संयमसे मनुष्य मेधावी एवं चरित्रसम्पन्न हो सकता है। वासनाओंकी समाप्तिसे आत्मसुखद्वारा मनुष्यको वास्तविक सुखकी प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि इन्द्रियोंको विषयोंसे पृथक् रहनेसे विषय तो विनष्ट हो ही जाते हैं, साथ-साथ आदर्श चरित्रका निर्माण भी होता है। इससे बुद्धि शीघ्र ही स्थिर हो जाती है। इन सभीका मूल है ब्रह्मचर्य, जो आदर्श चरित्र-निर्माणके लिये परम उपयोगी है।
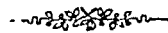
शुभ चरित्रका शुभ और अशुभका अशुभ फल मिलता है

यत् करोति यदश्नाति शुभं वा यदि वाशुभम्। नाकृतं भुज्यते कर्म न कृतं नश्यते फलम्॥
शुभकर्मसमाचारः शुभमेवाप्नुते फलम्। तथाऽशुभसमाचारो ह्यशुभं समवाप्नुते॥
(महाभारत अनुशासनपर्व)

'मनुष्य जो शुभ या अशुभ आचरण करता है, उसका वैसा ही फल भोगता है। बिना किये हुए कर्मका फल किसीको नहीं भोगना पड़ता तथा किये हुए कर्मका फल भोगके बिना नष्ट नहीं होता है। जो शुभ कर्मका आचरण करता है, उसे शुभ फलकी प्राप्ति होती है और जो अशुभ कर्म करता है, वह अशुभ फलका ही भागी होता है।'
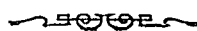
मानवका सच्चरित्र ही उसकी सर्वोपरि मानवता है

(लेखक—पं० श्रीगोविन्ददासजी 'संत', धर्मशास्त्री, पुराणतीर्थ)

इस स्थावर-जङ्गमात्मक संसारमें प्रत्येक पदार्थका जोड़ा है। जैसे—सुख-दुःख, दिन-रात, लाभ-हानि, सच-झूठ, सदाचार-दुराचार, सच्चरित्र और दुश्चरित्र इत्यादि। बिना असत्के सत्का भी महत्त्व प्रतीत नहीं होता। सदाचार एवं सद्विचार मानवके चरित्र-निर्माणमें परम सहायक हैं। सद्विचारवान् मानव ही चरित्रवान् बन सकता है। यदि मानवमें चरित्रबल है तो उसकी मानवता सार्थक है, अन्यथा चरित्रहीन व्यक्तिका जीवन ही व्यर्थ है; अर्थात् चरित्र है तो सब कुछ है और चरित्र गया तो सब कुछ गया। शास्त्रोंमें बताया है—'**आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः**', सदाचारहीन व्यक्तिको वेद भी पवित्र नहीं कर सकते, चरित्रहीन व्यक्तिका इतना पतन हो जाता है। चरित्र-हीनता मानवको दानव बना देती है। गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके शब्दोंमें—

मानहिं मातु पिता नहिं देवा। साधुन्ह सन करवावहिं सेवा॥
जिन्ह के यह आचरन भवानी। ते जानेहु निसिचर सब प्रानी॥
(मानस १। १८४। १-२)

भगवान् शंकर कहते हैं—'पार्वति! जो अपने माता-पिताको नहीं मानते अर्थात् सेवा नहीं करते और देवी-देवताओंको नहीं मानते तथा श्रेष्ठ (पूज्य) जनोंसे उलटी अपनी सेवा करवाते हैं, जिनके ऐसे आचरण हैं, वे प्राणी निशिचर-(राक्षसों-) के समान ही हैं।'

राक्षसराज रावण ब्रह्माजीका ही प्रपौत्र था। ब्रह्माजीके पुत्र 'पुलस्त्य', पुलस्त्यके 'विश्रवा' और विश्रवाके रावण। उत्तम कुलमें उत्पत्ति* और वेद-शास्त्रोंका ज्ञाता, महान् बलशाली यह सब कुछ होनेपर भी चरित्रहीन होनेके कारण उसकी क्या दुर्दशा हुई; इस बातसे तो रामायण पढ़नेवाले सभी महानुभाव सुपरिचित हैं। प्रतिवर्ष विजयादशमीको उसका पुतला बनाकर जलाया जाता है। हम पहले ही कह आये हैं कि शास्त्रोंमें अच्छे या बुरे अर्थात् सच्चरित्र और दुश्चरित्र इन दोनोंके उदाहरण मिलते हैं। जहाँ मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका चरित्र है, वहीं उसके विपरीत दुश्चरित्रवान् रावणका है। एक ओर लीलाविहारी भगवान् श्रीकृष्णका चरित्र है तो दूसरी ओर कंसका। महाभारतमें धर्मराज युधिष्ठिरके साथ ही अन्यायी पापात्मा दुर्योधनका चरित्र है। पापकी भयंकरताको दिखाये बिना धर्मका महत्त्व प्रकट नहीं हो सकता। इन्हें पढ़नेका अर्थ है—

'**रामादिवद् वर्तितव्यं न क्वचिद् रावणादिवत्।**'

'भगवान् श्रीरामका-सा आचरण हो, रावण-सा नहीं।' देखिये, भगवान् श्रीरामके चरित्र-सम्बन्धमें महर्षि श्रीवाल्मीकि देवर्षि श्रीनारदजीसे पूछते हैं—मुने! इस समय इस संसारमें गुणवान्, वीर्यवान्, धर्मज्ञ और किये हुए उपकारको माननेवाला, सत्यवक्ता तथा दृढप्रतिज्ञ कौन है? सदाचार (सच्चरित्र) से युक्त, समस्त प्राणियोंका हितैषी, विद्वान्, सर्वसमर्थ और एकमात्र जिसका दर्शन प्रिय लगे—ऐसा सुन्दर पुरुष कौन है? मनपर अधिकार रखनेवाला, क्रोधको जीतनेवाला, कान्तिमान् और किसीकी निन्दा न करनेवाला कौन है? तथा संग्राममें कुपित होनेपर देवता भी जिससे भय खाते हों ऐसा पुरुष कौन है? महर्षे! यह सब मैं

* मातृकुलके कारण वैश्रवण कुबेरको क्षत्रिय कहा गया है। वाल्मीकीयरामायणमें रावणको भी—'गतिः क्षत्रियसम्मिता। क्षत्रियो निहतः संख्ये न शोच्य इति निश्चयः॥ (६। १०९। १८) आदि अनेक स्थलोंपर क्षत्रिय कहा गया है। लोकप्रसिद्धि उसके ब्राह्मण होनेकी भी है। शास्त्रोंमें राक्षसोंकी जाति भी क्षत्रिय ही मानी गयी है। त्र्यम्बक, मरिच आदि वा० रा० व्याख्याता अनेक प्रमाणोंसे उसे क्षत्रिय ही सिद्ध करते हैं।

सुनना चाहता हूँ, मुझे बड़ी उत्कण्ठा है और आप ऐसे पुरुषको जाननेमे समर्थ भी है।'

कोन्वस्मिन् साम्प्रतं लोके गुणवान् कश्च वीर्यवान्।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च सत्यवाक्यो दृढव्रतः॥
चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान् कः कः समर्थश्च कश्चैकप्रियदर्शनः॥
(वा० रा० १।१।२-३)

देवर्षि श्रीनारदने उत्तर देते हुए कहा—

इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी॥
(वा० रा० १।१।८)

'इक्ष्वाकु' के वशमें उत्पन्न हुए एक ऐसे पुरुष हैं, जो लोगोंमें 'राम' के नामसे विख्यात हैं। वे ही मनको वशमें रखनेवाले, महाबलवान्, कान्तिमान्, धैर्यवान् और जितेन्द्रिय हैं।' इसके आगे वाल्मीकीय रामायण बालकाण्ड सर्ग १ के उपर्युक्त ८ वें श्लोकसे १९ वें श्लोकपर्यन्त १२ श्लोकोमे श्रीनारदजीद्वारा भगवान् श्रीरामके उत्तमोत्तम उन सद्गुणोंका वर्णन किया गया है, जो चरित्र-निर्माणमे परम सहायक हैं, पढने और मनन करने योग्य हैं।

वास्तवमे मर्यादा-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामका परम पावन दिव्य चरित्र पढने, सुनने तथा स्वरूपका चिन्तन करनेपर साधकोंका मन सच्चरित्रताकी ओर प्रवृत्त होने लगता है। उनके स्वरूपका ध्यान करते ही मनमे उनके-से भाव ही झलकने लगते हैं।

जब राम और रावणका युद्ध चल रहा था, तब युद्ध-हेतु रावणने अपने भाई कुम्भकर्णको जगाया। कुम्भकर्ण जगा और उसने अपने बडे भाई रावणको उदास देखा और उससे पूछा। सभी बात सुनकर उसने रावणसे कहा कि तुम रामका रूप धारणकर सीताको वशमें क्यो नहीं कर लेते? तो वह बोला—

रामको रूप धर्यो जब मैं
तब मातु-समान लगी पर नारी।

यह है चरित्रका प्रभाव। चरित्रशील श्रीरामका स्वरूप धारण करते ही राक्षसके भी हृदयके कुत्सित भाव बदल जाते हैं। एक बार वनवासमे रहते हुए भगवान् श्रीरामने लोक-शिक्षा-हेतु लक्ष्मणजीसे इसी चरित्रबलके सम्बन्धमे प्रश्न किया—

पुष्पं दृष्ट्वा फलं दृष्ट्वा दृष्ट्वा योषिद्यौवनम्।
त्रीणि एतानि दृष्ट्वैव कस्य नोच्चलते मनः॥

'लक्ष्मण! खिला हुआ पुष्प, पका हुआ फल तथा युवावस्थावाली सुन्दर स्त्री—इन तीनोंको देखकर किसका मन चलायमान नहीं होता?'

इसपर लक्ष्मणजीने कहा—

पिता यस्य शुचिर्भूतो माता यस्य पतिव्रता।
ताभ्यां यः सू नुरुत्पन्नो तस्य नोच्चलते मनः॥

'प्रभो! जिसका पिता सदाचार-परायण तथा माता पतिव्रता धर्मपरायणा हो, उन दोनोंसे जो सन्तान उत्पन्न हो, उसका मन चलायमान नहीं होता।' इसी प्रकार आगे चलकर सीता-हरण होनेके पश्चात् जब सुग्रीवजीसे मिलना हुआ तो उन्होने रावणद्वारा अपहरणके समय जानकीजीद्वारा गिराये गये आभूषणोको दिखाया। भगवान् रामने लक्ष्मणजीसे कहा—'इनको पहचानो।' इसपर लक्ष्मणजीने कहा—

कङ्कणे नैव जानामि नैव जानामि कुण्डले।
नूपुरावेव जानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्॥

'मै कङ्कण और कुण्डलोंको नहीं पहचानता। हाँ, नूपुर मै पहचानता हूँ; कारण, नित्य उनके चरणोमें अभिवादन करते समय इनके दर्शन हो जाते थे।'

इस चरित्रसे हमे शिक्षा मिलती है कि ज्येष्ठ भ्राताकी पत्नी माताके समान और छोटे भाईकी पत्नीको पुत्रीके समान मानते हुए कर्तव्य-पालन करे। यह लक्ष्मणके चरित्रबलका उदाहरण है। भगवान् श्रीरामने भी कहा है—

अनुज वधू भगिनी सुत नारी । सुनु सठ कन्या सम ए चारी ॥
इन्हहि कुदृष्टि बिलोकइ जोई । ताहि बधें कछु पाप न होई ॥
(मानस ४ । ९ । ४)

एक समयकी बात है, उद्दालक आदि मुनिवृन्द राजा अश्वपतिके यहाँ पहुँचे । राजाने उठकर अभिवादन करते हुए अर्घ्य, पाद्यादिपूर्वक चरण-पूजन किया और कुछ समयतक अपने यहाँ निवास करनेके लिये प्रार्थना की; किंतु मुनिगणोंको आवश्यक कार्य हेतु शीघ्र ही आगे जाना था, अतः ठहरनेसे इन्कार कर दिया । इधर राजाने देखा, मुनिगण निषेध क्यों कर रहे हैं । कोई और तो कारण नहीं समझ रहे हैं। अपने यहाँके शुद्ध वातावरणका परिचय देते हुए अश्वपति राजाने निवेदन किया—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥

'भगवन् ! मेरे राज्यमे न कोई चोर है और न कृपण ही है तथा न कोई ऐसा ही है, जो मद्यपान करता हो । कोई ऐसा भी नहीं है, जो अग्निहोत्र न करता हो । कोई मूर्ख भी नहीं है, कोई स्वैरी कामी स्त्री-पुरुष भी नहीं हैं, स्वैरिणीकी तो बात ही क्या है । फिर आपको यहाँ निवास करनेमे क्या शङ्का है ?'

इस प्रकार राजाके चरित्रपूर्ण शुद्ध भाव देख ऋषियोंने शीघ्रतासे आगे जानेका कारण बताते हुए उनको आशीर्वाद देकर प्रस्थान किया । यह है चरित्रबलका सच्चा उदाहरण । आज अश्वपतिका अनुसरण करनेवाले विश्वमे कितने शासक हैं ?

एक प्रसङ्ग उस समयका है जिस समय पाण्डव वनमें निवास कर रहे थे । महर्षि वेदव्यासके आदेशानुसार अर्जुन इन्द्रके यहाँ शस्त्र विद्या सीखने गये थे । एक दिन इन्द्रने रातमे उर्वशी नामकी अप्सराको अर्जुनकी चरित्रसम्बन्धी परीक्षा लेनेहेतु भेजा । उसने आधी रातमें जाकर अर्जुनका दरवाजा खटखटाया । अर्जुन उठे और सामने देखा—उर्वशी सश्रृङ्गार खड़ी है ।

अर्जुनने कहा—साध्वि ! तुम कौन हो ? कहाँसे आयी हो ? और मुझसे क्या कार्य है । उत्तर देनेसे पहले यह सोच लेना कि हम भारतीय हैं, कुरुकुलकी सन्तान कभी अधर्मकी ओर प्रवृत्त नहीं होगी ।

ज्यों ही उर्वशीने अपने भाव प्रकट किये, जिस निमित्तको लेकर वह आयी थी, त्यों ही अर्जुनने दोनों हाथ जोड़ चरण-वन्दना करते हुए कहा—'हाय-हाय तुम ऐसा क्यों कह रही हो, तुम तो मेरे वंशकी जननी साक्षात् माताके समान हो—

यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममानघे ।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी ॥
गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि ।
त्वं हि मे मातृवत् पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत् त्वया ॥
(म० भा० वनपर्व ४६ । ४६-४७)

'अनघे ! मेरी दृष्टिमे कुन्ती, माद्री और शची (इन्द्राणी-) का जो स्थान है, वही तुम्हारा भी है । तुम पुरु-वंशकी जननी होनेके कारण मेरे लिये सदा परम गुरुस्वरूप हो । वरवर्णिनि ! मै तुम्हारे चरणोमें मस्तक रखकर तुम्हारी शरण हूँ, तुम लौट जाओ । मेरी दृष्टिमें तुम माताके समान परम पूजनीया हो, अतः तुम्हे पुत्रके समान मानकर मेरी रक्षा करनी चाहिये ।'

जब अर्जुन अपने वास्तविक लक्ष्यसे न डिगे तो उर्वशीने अन्तमें उन्हें क्रोधमे आकर शाप दे दिया—'जाओ तुम नपुंसक बन जाओगे' । यह कहकर वह चली गयी । इन्द्र अर्जुनकी इस विजयपर परम प्रसन्न हुए और वरदान देते हुए उन्होने कहा—'जाओ बेटा यह शाप भी तुम्हारे अज्ञातवासमे तुम्हारे लिये हितकर होगा । राजा विराट्के यहाँ एक वर्ष अज्ञातवास करते हुए 'बृहन्नला' के नामसे राजकुमारी उत्तराको नाच-गान-विद्यामें निपुण करके अपना एक वर्ष सुविधापूर्वक काट सकोगे । पश्चात् इस शापसे मुक्त भी हो जाओगे ।' धन्य है ! ऐसे-ऐसे महापुरुषोंको, जो घोर कठिन

परिस्थितियोंके आनेपर भी चरित्रबलद्वारा विचलित न हो सके।

एक दूसरी घटना है। राजा दुष्यन्त शिकार-हेतु वनमे गये हुए थे। महर्षि कण्वके आश्रममें बैठी हुई एक परमसुन्दरी कन्याको देखा और पूछा—

का त्वं कमलपत्राक्षि कस्यासि हृदयंगमे।
किं वा चिकीर्षितं त्वत्र भवत्या निर्जने वने॥
व्यक्तं राजन्यतनयां वेद्म्यहं त्वां सुमध्यमे।
न हि चेतः पौरवाणामधर्मे रमते क्वचित्॥

(श्रीमद्भा० ९। २०। ११-१२)

'कमलदललोचने! तुम कौन हो और किसकी पुत्री हो? मेरे हृदयको अपनी ओर आकर्षित करनेवाली सुन्दरि! तुम इस निर्जन वनमे निवास कर क्या करना चाहती हो? सुन्दरि! मै स्पष्ट जान रहा हूँ कि तुम किसी क्षत्रियकी कन्या हो; क्योंकि पुरुवंशियोका चित्त कभी अधर्मकी ओर नहीं झुकता।' यह है चरित्रबलकी विशेषता।

नीतिशास्त्रमे भी बताया है—

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः॥*

'जो परस्त्री माताके समान, परधन मिट्टीके ढेलेके समान तथा सब प्राणियोका सुख-दुःख अपनी आत्माके समान देखता है, वही संसारमे पण्डित (ज्ञानीजन) है।' यदि मानव जीवनपर्यन्त उपर्युक्त इन तीनों बातोको विधिवत् पालन कर ले तो ये तीनो भी चरित्र-बलमे परम सहायक है। दूसरोकी बहन-बेटियोपर कुदृटि डालना अर्थात् उनका अपहरण करना दूसरेके धनको हड़प लेना तथा दूसरोके साथ हिंसावृत्तिका व्यवहार करना, इन सब बातोंकी रोकथामके लिये ही तो सरकारका आरक्षी विभाग है। यदि **'मातृवत् परदारेषु'** इस शास्त्रीय वाक्यके आदेशानुसार मानव चलने लगे तो बतलाइये, हमारी सरकारके आरक्षी विभागको कितनी सुविधा मिल जाय। कानूनकी अपेक्षा धर्मसे संसारकी अधिक भलाई होती है।

वास्तवमें चरित्रबल ही महान् है। झूठ, कपट, छल-छिद्र, राग-द्वेष, हिंसा-वृत्ति, शोक, मोह, काम, क्रोध, मद, लोभ, ससारासक्ति, मात्सर्य, निन्दा-स्तुति आदि कुत्सित वृत्तियोंका परित्याग ही चरित्रबल है। चरित्रबलसे मानवका जीवन उज्ज्वल बनकर उच्चस्तरका हो जाता है अर्थात् मानव मानव ही नहीं,वह देवकोटिमे पहुँच सकता है।

पाश्चात्य मनीषियोंका चरित्र-चिन्तन

(लेखक—श्रीचंदुलालजी डकराल, एम्० ए० (संस्कृत-अंग्रेजी), काव्यतीर्थ)

वर्तमान् युगको कई चिन्तक—'Crisis of Character' का युग कहते है। यह बात बताती है कि समाजके बुद्धिनिष्ठवर्गको वर्तमान चारित्रिक परिस्थितिसे सर्वथा संतोष नहीं है। महामनीषी सोलनकी दृष्टिमें विचार-क्रान्ति ही व्यापक चरित्र-निर्माणका उपाय है; क्योंकि मनुष्य जैसे विचारोका चिन्तन करता है, वह वैसा ही बन जाता है—'As a man thinketh in his heart, so is he.'

विचारोमे बड़ी शक्ति है, इस बातको ध्यानमे रखकर आर्नोल्ड ग्लासोने कहा है—

'All your thinkings work either for good or for bad. Positive thinking can make you stronger. Negative thinking is exhausting.'

विचार विधेयात्मक एवं विनाशात्मक दोनो प्रकारके होते है। यही कारण है कि ब्रह्मर्षियोंने समाजको अच्छे विचारोको प्रदान किया। हमारे युगके एक महामनीषी बर्नार्ड शाने कहा है—'Men are, what they were.' 'मनुष्य जो अपने भूतकालमे था, वैसा-ही वर्तमानमें भी है।' 'जैसा हमारा वर्तमान होगा, वैसा ही हमारा भविष्य

* इसका आकर निर्देश (संदर्भ) पृ० २८९ पर देखें।

भी होगा' यह उसी महासिद्धान्तका एक उपसिद्धान्त है। चरित्रके लिये उसके प्रत्येक घटक तथा प्रत्येक सद्गुणको अर्जित करना पड़ता है। वह कभी विरासतके रूपमें या भेंटके रूपमे प्राप्त नहीं होता—'Character is a victory, not a gift.' विजय आन्तरिक होती है, बाह्य नहीं। भारतीय मनीषियोंने दैवी सम्पद्के गुणोंको अर्जित करनेका आदेश दिया है। यह तीव्र प्रयास स्वयं ही करना पड़ता है। एक विद्वान्का यह कथन साक्षी है कि—'What a man has, may depend upon others, but what he is, depends upon him alone'—केवल अपने आपके बलपर ही आन्तरिक समृद्धिको अर्जित किया जा सकता है। और एक बार जब इस प्रकारकी आन्तरिक सज्जता हासिल हो जाती है, तब हम किसी अन्यके लिये उदाहरण बन सकते हैं।

चरित्र इहलोक और परलोकके बीच एक सेतुका निर्माण करता है। इसी विशेषताकी ओर निर्देश करते हुए किसी विचारकने कहा है—'चरित्र यहाँ अर्जित किया जाता है और यही एक ऐसी वस्तु है, जिसे हम परलोकतक ले जा सकते हैं। अन्य चीजोंके बारेमें तो हमारा पुराना अनुभव है कि उनको तनिक भी ले जाना कभी सम्भव नहीं है। किसी भारतीय विद्वान्ने इस बातका प्रतिपादन बड़ी अच्छी तरहसे किया है—

धनानि भूमौ पशवश्च गोष्ठे
भार्या गृहद्वारि जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे
धर्मानुगो गच्छति जीव एकः॥

यदि धनको गाड़ दिया जाय तो वह जमीनमें ही रह जाता है। पशु अपनी पशुशालामें ही बँधे हुए रह जाते हैं। पत्नी भी घरके द्वारसे आगे जाकर विदा नहीं देती। मित्र-वर्ग एवं स्वजन भी श्मशानतक आकर ही—विदा हो जाते हैं। देह भी चितासे बढ़कर आगे नहीं जा सकती। जब जीव परलोककी दिशामें प्रस्थान करता है, तब उसके साथ अपने कर्म—चारित्रिक पाथेय ही जाते हैं। चारित्रिक इमारतकी नींवकी ईंटोंका या आधारशिलाओंका निर्देश करते हुए एक महामनीषी कैप्टन एडवर्ड रिकनबेकरने बताया है कि उनकी संख्या चार है और वे हैं—

(१) अपने-आप कुछ करनेकी वृत्ति पहलकदमी या उपक्रमक्षमता (Initiative), (२) कल्पनाशीलता, (३) वैयक्तिक प्रतिभा (Individualety), एवं (४) स्वातन्त्र्य। और जिन लोगोंके पास ये चार सद्गुण रहते हैं, वे ही चरित्र एवं संस्कृतिका निर्माण कर सकते हैं और उनकी यह विशेषता रहती है कि वे ही लोग अन्यमें रहे हुए उन गुणोंकी कद्र कर सकते हैं। जब प्रजामें इन गुणोंका ह्रास होता है तो राष्ट्रकी बड़ी हानि होती है।

वैयक्तिक चरित्र राष्ट्रकी अक्षय-निधि है। समाज वैयक्तिक चरित्रपर बड़ी आशा करता है; क्योंकि समाजका गठन व्यक्तियोसे बना है और समाजकी यह दृढ़ प्रतीति होनी चाहिये कि चरित्र ही नियति है। यह बात राष्ट्रिय और जागतिक स्तरपर तो और भी सत्य है।

इस बातको अधिक प्रभावपूर्ण ढंगसे चुनावकी परिभाषामे प्रकट करते हुए एक विद्वान्ने कहा है—सारा समय चुनाव चलता ही रहता है। ईश्वर आपके पक्षमें अपना मत देता है और शैतान आपके विरुद्ध मतदान करता है और इस गजग्राहमे निर्णायक मत तो आपका ही रहता है।' वैयक्तिक चरित्रके बारेमें इससे बढ़कर कौन-सा तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है! इस निर्णायक मतके विषयमें भी हम यह न भूलें कि हमारे चारित्रिक गठनमें भी बहुत-सी शक्तियोंका मिश्रण रहता है। जिसे हम आत्मनिर्मित मनुष्य कह सकें ऐसा कोई मनुष्य है ही नहीं। इस विषयमें 'ज्योर्ज मेथ्यू अडेम्स'का विधान चिन्तनीय है—

पूर्ण आत्मनिर्मित कोई मनुष्य नहीं हो सकता। हजारों अन्य लोगोंके द्वारा हमारा निर्माण हुआ है। जिन लोगोने करुणासे प्रेरित होकर हमारा कार्य कर दिया या जिन्होंने हमें उत्साहित किया उन लोगोंने हमारे निर्माणमे सहयोग किया है। हमारे विचारोंके निर्माण एवं हमारी सफलताओंमें उनका योगदान रहा है। जो बात दूसरोकी करुणासे किये हुए कार्योंके बारेमें बनती है, वही बात निष्करुण व्यवहारोंसे घटती भी है। केवल उनका प्रभाव विपरीत पडता है। यह विपरीत प्रभाव भी हमारे चारित्रिक गठनका एक अंश है।

किसी मनीषीने कहा है—'Reputation is no character,'—'मनुष्यकी प्रतिष्ठा कोई चरित्र नहीं है।' मनुष्यद्वारा जिस प्रकारके कार्य किये जाते हैं, उनके द्वारा ही उसका चारित्रिक निर्माण होता है। किसीके चारित्र्यका पता उसके छोटेसे कार्यसे भी चल जाता है—'Character is revealed by very triffil actions'—आल्फ्रेड बरेटे; बूँदसे गयी हुई प्रतिष्ठा हौजोंसे नहीं आती, यह बात तो सुविदित है ही। इस बातको ध्यानमे रखते हुए हम विख्यात मनीषी एपिक्टेटसके निम्नलिखित विधानको समझनेका प्रयत्न करें। वे कहते हैं—'जैसे छोटी-छोटी लकड़ीसे किये हुए प्रकाशपुञ्ज बंदरगाहपर रहकर समुद्रपर भटकती नौकाओंको सहायता पहुँचाते हैं, उसी तरह अशान्तिग्रस्त नगरोंमें अल्पसंतोषी मनुष्य अपने बान्धव नागरिकोंको अपने आशीर्वाद भेज सकता है। संतोषवाले मनुष्यका चारित्रिक गठन कितना प्रभावपूर्ण बन जाता है, यहाँ इस तथ्यका प्रतिपादन किया गया है। नगरोंमें लोगोंकी एक शिकायत रहती है; वह यह कि हम संयोगोंके शिकार बने हुए हैं। हम संयोगोंमें कुछ परिवर्तन कर नहीं सकते।' ऐसे लोगोंकी समस्याका हल सूचित करते हुए अंग्रेज चिन्तक कार्लाइलने बड़ा बोधप्रद वचन कहा है—'मनुष्य संयोगोंका सर्जन है। कहीं वह संयोगोंका निर्माता भी है, ऐसा मानना चाहिये। संयोगोंमें वह अपना अस्तित्व चारित्रिक गठनद्वारा बना लेता है। इमारतका निर्माण करनेकी सामग्री एक ही होती है—चूना-ईंट आदि। किंतु एक उससे महालयका निर्माण करता है और दूसरा गंदी बस्तीका; एक उसमेंसे संग्रहालयका निर्माण करता है तो दूसरा सुन्दर निवास-स्थानका। जो कच्ची सामग्री होती है, वह तो जो होती है वही होती है, उसमेंसे क्या बनाना है, यह बात निर्मातापर निर्भर करती है।'

हम इन तथ्योंका रहस्य समझ लें और उनको जीवनमें स्थान देकर उनसे लाभान्वित होनेका सन्निष्ठ प्रयास करते रहें। तो बहुत लाभ होगा।

संतकी आदर्श क्षमाशीलता

एक संत कहीं जा रहे थे। एक दुष्ट व्यक्ति भी उन्हें गालियाँ देता हुआ उनके पीछे-पीछे चलता जा रहा था। संतने उससे कुछ भी न कहा। वे बहुत देरतक चुपचाप ही चलते रहे। पर्याप्त आगे बढ़नेपर कुछ घर दिखायी पड़ने लगे। अब वे खड़े हो गये और उन्होंने उस व्यक्तिसे कहा—'भाई! देखो! तुम्हें जो कुछ कहना है, यहीं कह लो। मैं खड़ा हूँ। आगे उन घरोंमें मुझसे सहानुभूति रखनेवाले लोग रहते हैं। वे तुम्हारी बातें सुनेंगे तो तुम्हें तंग कर सकते हैं। इससे मुझे बड़ा क्लेश होगा।'

इसपर वह दुष्ट व्यक्ति संतके इस आशाके विपरीत व्यवहारको देखकर बड़ा लज्जित हुआ और पश्चात्तापपूर्वक क्षमा माँगने लगा।

सत्य ही चरित्र है

(लेखक—डॉ० श्रीसर्वानन्दजी पाठक, एम्० ए०, पी-एच्० डी० (द्वय), डी० लिट्०)

सत्याचरण और चरित्र दोनों अभिन्न तत्त्व हैं। जो व्यक्ति सत्याचारी नहीं, उसे चरित्रहीन कहना असंगत नहीं है। पाणिनिके भ्वादिगणीय 'चर्-गति-भक्षणयोः'के आगे 'इत्र' प्रत्ययके योगसे चरित्र शब्द बनता है। इसका व्युत्पन्नार्थ होता है—आचरण, व्यवहार, व्यापार, चाल-चलन, शील, सदाचार, दुराचार, स्वभाव, कर्मफल, गमन, भक्षण, संदेह आदि। अपने वचन या प्रतिज्ञापालन न करनेवाले असत्यभाषी व्यक्तिको भी 'चरित्रहीन' शब्दसे विशेषित किया जाता है; यथा—'अमुक व्यक्तिका कोई चरित्र नहीं, वह प्रायः असत्य बोलता रहता है, अपनी बातपर अटल नहीं रहता अतः वह चरित्रहीन है; वह व्यक्ति कथमपि विश्वसनीय नहीं हो सकता है।'

चरित्रके परिभाषण या अर्थ-विश्लेषणमें पातञ्जल-योग एक मान्यतम शास्त्र है। पतञ्जलि मुनिने अपने अष्टाङ्गयोगशास्त्रमें 'यम'को सर्वप्रथम स्थान दिया है। 'यम'के पाँच उपाङ्ग है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन पाँचोमें सभी एक दूसरेके पूरक है। यदि कोई व्यक्ति केवल एक अहिंसामें सम्यक् रूपसे प्रतिष्ठित हो जाता है तो उसके लिये शेष चार—सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका मार्ग अनायास खुल जाता है। इसी प्रकार सत्यमे पूर्ण प्रतिष्ठित होनेपर अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह सभी सुगम होने लगते हैं। तदुपरि अस्तेय (चोरी न करना) इस तृतीय उपाङ्ग-साधनमें प्रतिष्ठा पा लेनेपर अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका मार्ग सुगम हो जाता है। पुनः ब्रह्मचर्यकी रक्षामें पूर्ण सिद्ध हो जानेपर अहिंसा, सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह-रूप साधन-चतुष्टय सुगम हो जाता है। इसी तरह अन्तिम अपरिग्रह अर्थात् यथाप्राप्त वस्तुसे संतुष्टि—भविष्यके लिये चिन्ता न करना-रूप योगमें पूर्ण सफल हो जानेपर शेष अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्याचरणका पथ अत्यन्त सरल हो जाता है। अहिंसा आदि पाँचों उपाङ्गोंकी सिद्धि हो जानेपर अग्रिम शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानरूप पाँच नियम स्वयं सिद्ध होने लगते हैं। वस्तुतः यम और नियममें सिद्ध व्यक्ति ही चरित्रवान् है तथा इनमें असिद्ध व्यक्ति तो निश्चित ही चरित्रहीन है।

उपर्युक्त यम-नियम चरित्र-निर्माणके मुख्य सोपान हैं। इनमें सिद्धिप्राप्त व्यक्ति योगके अवशिष्ट अङ्ग—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यानमें प्रतिष्ठा होनेके पश्चात् ही समाधि अर्थात् सबीज और निर्बीज-रूप समाधि उपलब्ध कर सकता है।

उपर्युक्त यम और नियमोंमें वास्तविक रूपसे सत्यका आचरण ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सत्याचरण भी केवल मुखसे उच्चारणमात्र ही आदर्श सत्य नहीं है। मुखसे उच्चारण करनेके अतिरिक्त मनमें सत्यका ही चिन्तन और तदनुसार ही आचरण करना यथार्थ सत्य है—चाहे उसके लिये समाजसे च्युत होना पड़े, या आजीवन जेलमें रहना पड़े। एतदर्थ इसके लिये समस्त यातना सहनेके लिये तैयार रहना होगा। इतना होनेपर ही—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।

(पा० यो० २। ३६)

—क्रियाफलके आश्रयका भाव आ सकता है; अर्थात् जब व्यक्ति सत्यका पालन करनेमें पूर्णरूपसे परिपक्व हो जाता है, उसमें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं रहती तब उस व्यक्तिके उच्चारित अशेष वचन सच्चे हो जाने

*

है। वह स्थलको जलमें और जलको स्थलमें बदल सकता है। उसका कोई वचन निरर्थक न होगा। प्रतिज्ञाका उल्लङ्घन भी चरित्रहीनता ही है। सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्रको भी प्रतिज्ञाच्युत होनेपर वरुणदेवके शापसे जलोदर-जैसे असाध्य रोगसे पीड़ित होना पड़ा था। एक बार उन्हें स्वप्नमें प्रतिज्ञात राज्य विश्वामित्रको देनेमें शिथिलताके कारण घोर कष्ट उठाना पड़ा था। दाशरथि श्रीराम सत्यप्रतिज्ञ थे—वे अपनी बात नहीं बदलते थे—'रामो द्विर्नाभिभाषते।' (वा० रा० १) सत्यवादित्व आदि रामके सिद्धान्त तथा व्यवहार भी थे।

सत्यमहिमाके सम्बन्धमें भारतीय संस्कृतिका प्रतिपादन है कि 'सहस्रों अश्वमेध यज्ञ तराजूके एक पलड़ेपर रखा जाय और दूसरेपर केवल सत्यको, तो तौलनेपर सत्यका ही पलड़ा भारी उतरेगा।' इतनी बड़ी सत्यकी महिमा है। किंतु कैसा सत्य? इस समस्याके समाधानमें नीतिकारकी उक्ति ही आदर्श एवं ग्राह्य प्रतीत होती है; यथा—'यथार्थ वचन मुँहसे उच्चारण करना और तदनुसार ही व्यावहारिक आचरण करना वास्तविक सत्य है। ऐसे कर्मण्य व्यक्तिको महात्मा कहा गया है और तद्विपरीत सत्यपालनकी उपेक्षा करनेवालोंको दुरात्मा या चरित्रहीन कहना असंगत नहीं है'—

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥
(द्वितीय)

साराशतः आचरित सत्य तथा पालित प्रतिज्ञा चरित्र या सदाचार है और तद्विपरीत अनाचरित सत्य या उपेक्षित प्रतिज्ञा चरित्रहीनता अथवा दुराचार है। अतः चरित्रहीनतासे बचकर चरित्र-निर्माण करना चाहिये।

आन्तरिक शक्ति एवं चरित्र-निर्माण

(लेखक—डॉ० श्रीयागेन्द्रनारायणजी मिश्र, एम्० ए० (अंग्रेजी तथा समाजशास्त्र), पी-एच० डी०)

विश्वके जितने भी महान् व्यक्ति हुए हैं, उनकी महत्ता किसी शक्ति-बलके कारण नहीं, बल्कि उनके चरित्र-बलके कारण थी। आज राष्ट्रिय चरित्रके ह्रासकी बात तो सभी करते हैं, परंतु उसमें समाहित अपने दायित्वसे प्रायः हम सभी मुकर जाते है। यदि आजकी युवा-पीढी दिग्भ्रान्त है, उसमे राष्ट्रिय चरित्रकी कमी दिखलायी पड़ती है, तो उसके लिये वह कम तथा प्रबुद्ध एवं प्रौढ़वर्ग ही अधिक दोषी है। चारित्रिक कमजोरीके प्रमुख दो कारण है—प्रथम यह कि समाजका प्रबुद्ध एवं श्रेष्ठ वर्ग, जिसके हाथमें समाजका नेतृत्व है, वह अपना आदर्श चरित्र युवावर्गके समक्ष प्रस्तुत कर सकनेमें अक्षम और असफल रहा; दूसरे यह कि अधिकतर युवा-वर्ग अपनी स्वयंकी क्षमताको पहचानने तथा उसका समुचित उपयोग कर सकनेके योग्य नहीं बन पा रहा है। अतः उससे जो अपेक्षाएँ की जाती हैं, उनका उसे भान तक नहीं है। अत. आवश्यकता इस बातकी है कि हम अपने अन्दर सही नेतृत्व दे सकनेकी क्षमताका विकास करें तथा इस प्रकारके वातावरणके सृजनमें सहयोग करें जिसके अन्तर्गत युवावर्ग अपनी अन्तः-शक्तिको पहचान सके और उसका उपयोग कर अपना तथा राष्ट्रका विकास कर सके।

प्रारम्भसे ही हमारी शिक्षाके स्रोत अरण्य रहे हैं वे आज भी हो सकते हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हमें जंगलोंमें जानेकी आवश्यकता है। हम समाजमें रहकर भी पेड़-पौधोंसे शिक्षा तो ग्रहण कर ही सकते है। वृक्ष सूर्यकी किरणोसे, वायुसे, जलसे अपनी खुराक लेता है, जड़ोंको मजबूत बनाता है; इस जड़से ही जो शक्ति पौधेको मिलती है, उसीसे वह अपना समुचित विकास करता है। वृक्षके रूपमें विकसित होकर अपना लाभ औरोंको देता है; यही स्थिति हमारी अपनी भी होनी

चाहिये। शरीरके अन्दर आत्मा है। आत्मा परमात्माका अंश होनेके कारण पूर्णतः अत्यन्त शक्तिशाली है। उसका सीधा सम्बन्ध परमात्मासे है। यदि लोग अपनी इस शक्तिको पहचान लें और परमात्माको स्मरण कर अपने कर्तव्योंका निष्पादन करें तो कहीं भी जाति, धर्म, संस्कृति आदिकी विभिन्नताके कारण बिलगाव या विघटनकारी तत्त्वोंका अभ्युदय न हो। हम अपनी आत्मशक्तिको न पहचानने तथा उस आदि स्रोतके प्रति निष्ठाके अभावके कारण भ्रान्त हो जाते हैं, चक्कर लगाते रहते हैं। हमारा विकास उस सीमातक तथा उस दिशामें नहीं हो पाता, जिसके लिये हम पूर्णरूपसे क्षमता और योग्यता रखते हैं। लोगोंकी विशेषताएँ उनके अन्दर छिपी रहती हैं। वे न तो उसका लाभ स्वयं उठा पाते हैं और न समाजको ही दे पाते हैं। ऐसा माना गया है कि प्रत्येक व्यक्तिके पास कुछ-न-कुछ अद्भुत क्षमता होती है। इस क्षमताकी जानकारी जिसको जितनी जल्दी हो पाती है, वह उतनी ही जल्दी संसारका, उस क्षेत्रका सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति बन जाता है। किंतु अन्य जन ऐसे ही अपना पूर्ण जीवन व्यर्थमें व्यतीत कर देते हैं। अतः आवश्यकता इस बातकी है कि लोगोंका ध्यान उनकी विशिष्टताओंकी ओर ले जाया जाय। इससे जहाँ उनकी छिपी शक्ति उभर कर ऊपर आयेगी तथा उससे समाज लाभान्वित होगा, वहीं उसकी अनुपस्थितिके कारण पनपनेवाली चारित्रिक कमजोरियाँ भी घटेंगी। उन्नतिशील शक्तिका विकास और अवनतिशील शक्तिका ह्रास चरित्रनिर्माणके लिये आवश्यक वस्तुतत्त्व है।

व्यक्तिके व्यक्तित्वका विकास समाजमें होता है। विकासके लिये वातावरण प्रदान करना समाजकी जिम्मेदारी है तथा व्यक्तिको विकसित होकर अपने गुणोंका लाभ समाजको देना कर्तव्य है। उसका समाजसे अलग हटकर कोई महत्त्व नहीं होता। आज स्थिति बिल्कुल विपरीत है। सामाजिक दायित्वोंसे हटकर व्यक्ति अपने स्वपर आ गया है। वह समाजसे हट गया है, इससे न तो उसका विकास ही हो पा रहा है और न उसकी क्षमताओंका लाभ ही समाजको मिल पा रहा है। यह स्थिति अच्छी नहीं कही जा सकती। अतः हमें उन परिस्थितियोंका निर्माण करना होगा, जिनमें व्यक्तियोंका पूर्ण विकास हो। इससे समाजको उनका समुचित लाभ मिल सकेगा। यह तभी सम्भव है, जब हम अपनी आन्तरिक शक्तिको पहचानें तथा उसके बलपर अपने विकासका प्रयास करें। परिवार ही वह इकाई है जहाँसे इसका प्रारम्भ किया जा सकता है। प्रत्येक परिवारका मुखिया तथा अन्य बड़े लोग अपने आचरणको अनुकरणीय बनायें। ऐसा करनेमें कुछ लोगोंको कुछ समयतक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ सकता है। परंतु आगे चलकर उसके सुपरिणाम अवश्य निकलेंगे तथा भावी पीढ़ी भी दिग्भ्रान्त होनेसे बच सकेगी।

चरित्र-निर्माणकी चुनौती हमारे समक्ष है। इसके अभावमें व्यक्ति और समाज दोनों ही कष्टमें हैं। इसका समाधान हम करना नहीं चाहते। यदि चाहें तो कार्य कठिन नहीं है। जीवनका महत्त्व त्यागमें है। त्यागमय जीवनसे थोड़े समयके लिये कठिनाई अवश्य हो सकती है, परंतु आगे उससे लाभ ही मिलना है। इसके लिये हमें अपनी ही शक्तिको पहचानना है तथा उसीपर अपने तथा समाजके विकासके लिये निर्भय रहना है। अपनी आन्तरिक शक्तिको पहचान लेनेपर हमें किसी बाह्य शक्तिके सहारेकी आवश्यकता नहीं होगी। यह आत्मशक्ति ही सुदृढ़ चरित्र प्रदान करेगी जो व्यक्ति, समाज और राष्ट्रको आगे बढ़ानेमें सहायक होगी। अतः आत्मशक्तिको पहचानो; उठो, जागो, बड़ोंके पास जाकर समझो-बूझो—'उत्तिष्ठत जाग्रत, प्राप्य वरान्निबोधत।'

चरित्र-निर्माता आचार्यका दायित्व

(लेखक—श्रीनृसिंहजी तिवारी, एम्० ए० (अंग्रेजी, समाजशास्त्र), बी० एड्०)

वर्तमान समयमें चारित्रिक उन्नयनकी अत्यधिक आवश्यकता अनुभव की जा रही है। इसका शाश्वत कारण यह है कि चरित्र ही धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष-प्राप्तिकी आधारशिला है। तात्कालिक आवश्यकता है कि राष्ट्रमें व्यवस्था बनी रहे। आज जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें विकासकी गति निःसंदेह पूर्वापेक्षा तीव्रतर है; किंतु चारित्रिक दृष्टिसे हमारा समाज क्रमशः निर्बलतर होता जा रहा है। यह चिन्ताकी बात है। यही कारण है कि न केवल शिक्षा-शास्त्रियोंने चरित्र-निर्माणपर बल दिया है, वरन् युगपुरुष गाँधी एवं विनोबाने भी चरित्र-निर्माणकी आवश्यकताका अनुभव किया।

अब प्रश्न यह उठता है कि बालकके चरित्र-निर्माणका दायित्व समाजके किस वर्गपर अधिक है? यह निर्विवाद सत्य है कि समाज देशकी भावी पीढ़ीको शिक्षकके हाथोंमें इस विश्वासके साथ सौंपता है कि वह उसके सर्वांगीण विकासकी योजना बनाये और उसे क्रियान्वित करे। अतः इसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अध्यापक, शिक्षक या आचार्यवर्गपर हो जाता है। शिक्षासे यदि चरित्र न बना तो शिक्षाकी अनन्य साधारण उपयोगिता ही क्या रही? वास्तवमें शिक्षाका उद्देश्य भी पहले चरित्र-निर्माण ही रहा है। प्लेटो, अरस्तू तथा सुकरात आदिने शिक्षाका मुख्य उद्देश्य चरित्र-निर्माण ही बताया है। आज शिक्षाका उद्देश्य जीविकोपार्जन हो गया है। हम चरित्र-निर्माणके पावन उद्देश्यसे अपनेको विरत नहीं कर सकते। यही कारण है कि आधुनिक भारतीय शिक्षा-शास्त्रियोंमें आचार्य नरेन्द्रदेव एवं सर राधाकृष्णन्ने भी शिक्षाके पाठ्यक्रममें चरित्र-निर्माणसम्बन्धी नैतिक मूल्योंके समावेशपर पूर्ण बल दिया था। इसीका यह सुपरिणाम है कि स्वतन्त्रताके २५ वर्षोंके लम्बे अन्तरालके बाद ही सही, पर हमारी सरकारने माध्यमिक विद्यालयोंके पाठ्यक्रममें नैतिक शिक्षाका समावेश किया है। पर हमें पाठ्यक्रममें नैतिक शिक्षाके समावेशमात्रसे ही संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिये। चरित्र-निर्माणका सम्बन्ध उपदेशकी अपेक्षा आचरणसे अधिक है। उपदेश देना तो सरल है, किंतु उस उपदेशको व्यक्तिगत जीवनमें उतारना कठिन है। अतः जो अपने व्यक्तिगत जीवनमें आचरणकर शिक्षा देते थे, वे ही आचार्य कहलाते थे। उनका मान-सम्मान भी समाजमें अत्यन्त उत्कृष्ट कोटिका था।

शिक्षा हमें अंधकारसे प्रकाशकी ओर लाती है, अतः चरित्र-निर्माणमें आचार्य अथवा अध्यापक या शिक्षककी भूमिका निर्विवाद महत्त्वपूर्ण है। आचार्य अपने इस दायित्वसे उदासीन नहीं रह सकता। आचार्यका शाब्दिक अर्थ-स्वारस्य है कि जो स्वयं आचरण करता हुआ शिष्योंको सदाचरणकी शिक्षा दे, वह आचार्य है। बालक अपने शैशवकालसे ही आचार्यका सांनिध्य प्राप्त कर लेता है। प्राचीनकालमें शिक्षा देनेका कार्य आचार्य अपने आश्रमोंमें करते थे। आज वह व्यवस्था लुप्त हो चुकी है। आचार्य अपने आचरणसे बालकपर ऐसा प्रभाव डालते थे कि बालक उसी रंगमें रँग जाता था। उसमें धैर्य, क्षमा एवं अस्तेय आदि गुणोंका स्वतः समावेश होकर विकास हो जाता था।

आज परिवर्तित सामाजिक परिवेशमें भी युगपुरुष गाँधी एवं सन्त विनोबाने उपदेशपर कम, किंतु आचरणकी सभ्यतापर विशेष बल दिया है। यदि हम ऋषि-महर्षियोंकी वाणी नहीं समझ सकते अथवा समझकर भी नहीं मानते तो भी युग-पुरुषकी बात तो माननी ही चाहिये। गाँधीजीने तो राजनीतिके क्षेत्रमें भी नैतिकताका त्याग नहीं किया। उनकी नैतिकताने उन्हें 'महात्मा' बनाया।

आज समाज संक्रमणकी स्थितिसे गुजर रहा है। ऐसी दशामें आचार्यको स्वतः आगे आना होगा। उसे चरित्र-निर्माणके अपने गुरुतर दायित्वको स्वयं वहन करना होगा। बालकको अपने आचार्यका सांनिध्य प्राप्त है। उनसे गुण लेना चाहिये। आचार्यको चाहिये कि वह अपने छात्रोंमें ऐसे सद्गुणोंका समावेश करे, जिसकी संजीवनी शक्ति लेकर बालक समाजके विभिन्न क्षेत्रोंमें प्रवेश कर राष्ट्रका गौरववर्द्धन कर सके। चरित्रबल सबसे बड़ा बल होता है। जिस व्यक्ति अथवा राष्ट्रमें चरित्र-बल नहीं होता वह शीघ्र ही अपना अस्तित्व खो बैठता है। आज चारित्रिक गिरावट हमारे लिये सबसे बड़ी चुनौती है। इस चुनौतीका समर्थ रचनात्मक समाधान वास्तवमें शिक्षकके ही पास है। अतः आजके समाजको शिक्षकसे यह अपेक्षा है कि वह इस चुनौतीको अङ्गीकार कर अपने छात्रोंके चरित्र-निर्माणके कठिन कार्यमें अपनेको मनसा, वाचा एवं कर्मणा समर्पित कर दे। वह उनमें त्याग, दया, शील, सहानुभूति, स्वावलम्बन, सत्य, शौर्य एवं विश्वबन्धुत्वके पावन एवं शाश्वत गुणोंका समावेश करे। इससे बालक चरित्रवान् नागरिक होकर समाजके विभिन्न दायित्वोंका सफलतापूर्वक वहन कर सकेगा। आज राष्ट्रको आणविक शक्तिसे अधिक चारित्रिक शक्तिकी आवश्यकता है। इस आवश्यकताको समाजके स्रष्टा एवं वास्तविक द्रष्टा आचार्य ही पूर्ण कर सकते हैं। भारतका भविष्य आज शिक्षकोंके हाथोंमें सुरक्षित है। शिक्षकोंसे भी यही अपेक्षा है कि वे अपने छात्रोंमें रामका शौर्य, भरतका त्याग एवं लक्ष्मणका सेवाभाव भरें। भारतके ये भावी नागरिक तब भविष्यकी हर चुनौतीका सामना करनेमें समर्थ हो सकेंगे। इसमें रंचमात्र संदेह नहीं कि आजकी विषम एवं विपरीत परिस्थितियोंमें भी यदि आचार्य दृढ संकल्पके साथ तैयार हो जायँ तो वे देशकी भावी पीढ़ीको चरित्रवान् नागरिक बनाकर उसे अधःपतनके गर्तमें जानेसे बचा सकते हैं। महात्मा कबीरने ठीक कहा है—गुरु अथवा शिक्षक 'गोविन्द'का ज्ञान करानेमें सक्षम है। वह अपने राष्ट्रको चरित्रबलसे ही सुदृढ बना सकता है। आवश्यकता है कि आचार्य, प्राध्यापक, अध्यापक या शिक्षकके गौरवमण्डित पदपर प्रतिष्ठित व्यक्ति इस ओर अग्रसर हों। वे आत्म-कर्तव्य मानकर दायित्वपूर्ण कार्यक्रमोंसे इस अपेक्षाकी पूर्ति करें। यदि यह वर्ग ऐसा कर सका—जो आज भी इस स्थितिमें भी समर्थ है तो भारत पुनः विश्वका जगद्गुरुत्व या आचार्यत्व कर सकेगा।

छात्रोंमें चरित्र-निर्माणकी आवश्यकता

(लेखक—आचार्य श्रीरेवानन्दजी गौड़)

शिक्षा-जगत्का अधिष्ठाता आचार्य या गुरु है। एक समय था, जब गुरु गौरवशाली, ब्रह्मज्ञानी, त्यागी, तपस्वी और समाज-संचालक थे। उस समय वे सर्वाधिकारी होकर दिव्य गुणोंके आधारपर स्वतन्त्र विचरण करते थे। भारतीय संस्कृतिके पोषक गुरु अपने जीवनमें शिष्यसे—पुत्रसे पराजय चाहते हैं—'पुत्राच्छिष्यात् पराजयम्'। इसी गरिमाके कारण वे वन्दनीय, महनीय और गोविन्दसे भी उन्नत थे। उन्हें—'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः' कहकर सम्मानित किया जाता था। पर आज वरतन्तु, समर्थ गुरु रामदास, मुनि सांदीपनि, गर्गाचार्य आदिकी कल्पनामात्र शेष है। शिक्षाजगत्के प्रहरी मानो सुप्त हैं।

शिक्षाजगत्की आधारशिला है—विद्यार्थी। उसका मन, उसकी बुद्धि बड़ी कोमल और स्वच्छ होती है। माता-पिता पहले उसके चरित्र-निर्माणके लिये विज्ञ आचार्योंके पास भेजते थे। वहाँ उसके हृदयमें स्वर्णिम रश्मियाँ उदय होती थीं। वह 'आचार्यदेवो भव' का पालन कर सयम

समता, संतोष, स्वाध्यायको परमनिधि समझता था। वृद्धोंकी सेवा और गुरुजनोंकी प्रणतिसे आयु, विद्या, यश और ब्रह्मबलकी वृद्धिसे 'सादा जीवन उच्च विचार' उसके व्यक्तित्वमें साकार हो उठता था। उपनिषदें प्रमाण हैं— **'तद्विज्ञानार्थं सः गुरुमेवाभिसंगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।'** उसे वहाँ आत्मदर्शन भी होता था—**'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'**

गुरुके आश्रम अरण्यमे थे। राजा लोग तन-मन-धन-अन्नसे उनकी सेवा करते थे। विद्यार्थी समाजके अन्नसे पलता और राष्ट्रसे संरक्षण पाता था। वह समाज और राष्ट्रका ऋणी था। आजीवन समाज-सेवा, राष्ट्र-संरक्षण ही उसका चिन्तन था। वह अपने लिये नहीं, परार्थके लिये जीवित था। विद्यार्थीका एक सार्थक नाम छात्र है। छात्र शब्द छत्रसे बना है। छत्र (छाता) वर्षा-आतपसे रक्षा करता है। विद्यार्थी भी गुरुके दोषोको आच्छादित कर समाज और राष्ट्रकी छत्रवत् सेवा करता था। वह स्वयं आपत्तियोको झेलता, जलता और मरता, पर दूसरोंकी अहर्निश सेवा करता था। वह— **'जागृयाम वयं राष्ट्रे पुरोहिताः'** का प्रतीक था। अतः रामकृष्ण, एकलव्य, उपमन्यु, कौत्स, गाँधी-जैसे उच्चादर्श छात्र इतिहासके रत्न बन गये। पर आज शिक्षाका आधार पूर्णतः डॉवाडोल है। विद्या विवेककी जननी है। मनुष्यका सर्वोत्तम आभूषण विद्याका सौरभ है—विनय। विनयकी परिणति है—पात्रता, योग्यता। उससे धन, धनसे धर्म और धर्मसे प्राप्त होता है—आन्तरिक सुख। विद्याके विना मनुष्य पशु है। वह आत्मस्वरूपसे विमुख रहता है। मानव-जीवनमें विद्या सर्वोपरि है। ऋषियोंने पद-पदपर कहा है—**'सा विद्या या विमुक्तये, विद्ययामृतमश्नुते।'** विद्याका लौकिक क्रमिक फल था धर्म एवं सुख—

विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति धनाद्धर्मस्ततः सुखम्॥
(...)

विद्याका लक्ष्य केवल अर्थोपार्जन, उदरपूर्ति नहीं था। शिक्षा काञ्चन-कामिनी-कामनासे दूर—धर्म, मोक्ष-प्राप्तिका सोपान थी। वह अध्यात्म-विचारोंकी अधिष्ठात्री, मानवीय गुणोंकी उपदेशिका और अध्यात्मचरित्रकी उन्नायिका थी।

आज स्थिति भयावह है। इस जगत्के शिक्षक, शिक्षार्थी और शिक्षा ये तीनो अङ्ग आत्मस्वरूपसे विमुख हैं। इसका प्रमुख कारण है—धर्म-निरपेक्ष प्रशासनका अनर्थीकरण, धर्मनिरपेक्षताका वास्तविक अर्थ न जानकर धर्म, नीति, संस्कृतिपर कुठाराघात। लार्ड मेकालेकी दुरभिसंधि सफल हुई, जो शिक्षा अमृतलता थी, वह विषवल्लरी बन गयी। उसका विष राष्ट्रके हर क्षेत्रमें फैलता जा रहा है। इसका सबसे अधिक कुप्रभाव विद्यार्थि-वर्गपर पड़ा। इससे वह वेषभूषा, आचार-विचारसे कलका नास्तिक डॉक्टर, इंजीनियर और अध्यापक बनकर अपने वातावरणको दूषित करता रहेगा।

धर्मविहीन आधुनिक शिक्षाने युवापीढ़ीको ऐवरेस्टकी चोटीसे [illegible] एक ऐसी अंधेरी तलहटीमें औंधे मुँह पटक दिया है, जहाँ उसकी चेतना, मानवीय भावना, सामाजिक, राष्ट्रिय और धार्मिक साधना लुप्त हो गयी है। सद्भाव, सत्साहित्य और सत्सङ्गसे विमुख होकर हड़ताल, तोड़-फोड़, लूट-खसोट करनेमें गुरुजनोंकी अवहेलना, किशोरावस्थामें अनायास सुलभ दुर्व्यसनोंमें फँसना, अनुशासनहीनता, नेतागिरी, निन्दनीय कार्योंमें नेतृत्व करना उसकी शान है। वह ढोल बजाकर अपने साथियोंको बरगलाता हुआ कहता है—'गुरुमे श्रद्धा रखना दकियानूसी, सेवा करना चापलूसी, आज्ञा मानना भोन्दूपन और अनुशासनमें रहना पराधीनता है। अध्यापक पढाता है तो क्या एहसान करता है। वह तो वेतन पाता है।'

भारतमाताकी आशाके केन्द्र शिक्षा-मन्दिरके विद्यार्थियोंके लिये धर्म-निरपेक्ष शिक्षा अभिशाप बन गयी।

धर्मनिरपेक्षताकी आड़में शिक्षा धर्मविमुख, चरित्रहीन होती जा रही है। आज देशमें प्रत्येक स्तरपर हर दिशामें जन-जनके मानसमें त्रास, पतन, उथल-पुथल मच रही है; राजनीतिमें अनाचार, भ्रष्टाचार, समाजमें बलात्कार, चोरी, डकैती, अपहरण, हत्या बढ़ रही है। व्यक्तिमें सजावट, दिखावट, बनावट पनप रही है। भारतीयता ठुकरायी जा रही है। हिन्दुत्व मिटाया जा रहा है। संस्कृति-पर नया रंग पोता जा रहा है। शिक्षाके प्राण चरित्रका हनन हो रहा है। अत्यन्त विषम परिस्थिति तो यह है कि विद्यार्थीका जीवन जर्जर है। उसके कर्तव्य, आदर्श और धर्म लुप्त-से हैं। फलतः उसमें विनयके स्थानपर उद्दण्डता, स्वतन्त्रताके नामपर स्वच्छन्दता और अनुशासनमें बन्धनकी गन्ध आने लगी है। फलतः ऋषिभूमि और ज्ञानभूमिका विद्यार्थी बीहड़ और ऊसर भूमि बनकर रह गया। एक समय था, जब आचार्य द्रोणके संकेतपर एकलव्यने अँगूठा काटकर उन्हें गुरु-दक्षिणा दी थी। पर आजका विद्यार्थी गुरुदक्षिणामें गुरुको अँगूठा दिखा देता है। माँ सरस्वतीके पावन मन्दिरका पुजारी जुआरी, विद्यालय भ्रष्ट राजनीतिके अखाड़े, छात्रावास असामाजिक तत्त्वोंके अड्डे बने हैं। वरं... उसमें न संयत आचरण है और न विद्याकी कोई बात ही।

ऐसी विषम परिस्थितिमें समाज और प्रशासनका चिन्तित होना स्वाभाविक है। उसके आदर्शों और चरित्रकी रक्षाके लिये अनेक समितियाँ बनीं, आयोग गठित हुए। राष्ट्रपति तथा प्रधान मन्त्रीतकने शिक्षामें आमूलचूल परिवर्तनकी बात कही। सभीने एकमतसे शिक्षामें धर्म-शिक्षा-नैतिकताके समावेशकी महत्ता स्वीकार की। पर विचार-विचार ही रह गये। फूल है, पर महक नहीं। इन्सान है, इन्सानियत नहीं। शिक्षा है, पर सदाचार नहीं। संख्यात्मक दृष्टिसे शिक्षा, शिक्षालय, शिक्षार्थी, शिक्षकोंकी भरमार है। पर गुणात्मक दृष्टिसे कुछ नहीं।

विद्यार्थी सृष्टिका शृङ्गार है। उसमें चरित्रनिर्माण हो, ऐसी नैतिक शिक्षा नितान्त आवश्यक है। धर्म नैतिकताका जनक है, अतः धर्मसमन्वित शिक्षा ही नैतिक शिक्षा है। सत्-असत्सूचक शिक्षा विद्यार्थी-जीवनमें राडारयंत्र है। धार्मिक शिक्षा समाजको स्वस्थ, सतुलित रख धर्म-अर्थके लिये प्रेरित करती है तथा वैयक्तिक-सामाजिक विकास, देश, काल, पात्रकी सूक्ष्म विवेचनाको जन्म देती है। यह केवल धर्मतक ही सीमित नहीं, अपितु जीवनको सदैव संस्कृत-परिष्कृत करती है। सत्-शिक्षा वह दिव्यौषधि है जिसके सेवनसे विद्यार्थिवर्ग सन्मार्गपर चलेगा। धार्मिक शिक्षातंत्र ही विद्यार्थीको प्रगतिशील और उदीयमान प्रकाशकी भाँति चमकायेगा।

विद्यार्थी समाजका श्रेष्ठ अङ्ग है। उसका अन्तःकरण स्वच्छ दर्पण है। उसपर समाजके दुश्चरित्रोंका, विधान-सभा-लोकसभाके अभद्र क्रियाकलापोंका, अश्लील चलचित्रों-का, चमकीली चुस्त वेशभूषाका, 'सेक्स' पुस्तकोंका और छात्रावासकी कुसङ्गव्याधिका प्रभाव स्वतः हो जाता है। निन्दनीय नेता, व्यसनी आचार्य, अन्धा, गूंगा, बहरा प्रशासन भी उसके अधःपतनके कारण हैं। अतः विद्यार्थियोंके चरित्रनिर्माणके लिये इन बाधक तत्त्वोंको मिटाना आवश्यक है, अन्यथा इस अवसरकी जरा भी भूल जीवनभरके लिये अभिशाप बन सकती है। उसके सुधारके लिये माता-पिता, गुरु, परिवार, मित्र-मण्डल और प्रशासनतंत्रकी स्वच्छता अत्यावश्यक है। एक विद्यार्थीका सुधार केवल एक इकाईका सुधार नहीं, वह सैकड़ों व्यक्तियोंका सुधार है।

विद्यार्थीके चरित्र-निर्माणके लिये ये दस बातें नितान्त अपेक्षित हैं—१—सुसंस्कृत बालक ही जीवनमें प्रकाश और शक्ति दोनों प्राप्त करते हैं, २—उनकी प्रारम्भिक शिक्षा योग्य सदाचारी आचार्यद्वारा सम्पन्न हो, ३—विद्यालयोंमें दार्शनिक महात्माओंको आमंत्रित कर प्रवचनकी व्यवस्था हो, ४—अश्लील साहित्य, चलचित्र, रोमांटिक जासूसी

पुस्तकोंपर प्रतिबन्ध लगे, ५—पूर्ण मनोयोगके साथ अध्ययन, ६—गुरुजनोंका अभिवादन, ७—नित्यका काम नित्य करना, ८—सादा जीवन, ९—ब्रह्मचर्यव्रत-पालन तथा १०—मादक पदार्थोंका त्याग भी आवश्यक है।

आज विद्यार्थीके चरित्र-निर्माणकी व्यापक आवश्यकता है। इस विषम परिस्थितिमें इन सिद्धान्तोंको नकारा नहीं जा सकता। अतः समाज और प्रशासनका सब ओरसे ध्यान केन्द्रित कर एक इसका सुधार अवश्य करना चाहिये।

राष्ट्रिय चरित्र-निर्माण—आजका जाग्रत् प्रश्न

(लेखक—श्रीविन्ध्येश्वरीप्रसादजी मिश्र,'विनय' एम्० ए०)

भारतवर्ष अपनी सभ्यता और संस्कृतिके उषःकालसे ही लोकोत्तर चारित्र्य-सम्पदासे समन्वित एक दिव्य देश रहा है। यहाँ माताकी गोदसे ही चरित्र-निर्माणकी शिक्षा आरम्भ हो जाती थी। वही परिणितवयमें दिगन्त-धवल, अनुकरणीय विभूति बनकर समग्र राष्ट्र किंवा विश्व-ब्रह्माण्डको विद्योतित करती थी। ऋग्वेद ५।५१। १५ की मन्त्रशृङ्खलामें अनुग्रथित है—

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।

'हम कल्याणमार्गके उपदेष्टा—जाग्रत् प्रहरी सूर्य और चन्द्रका अनुसरण करते हुए अपना चरित्र-निर्माण करें'—यह इस राष्ट्रकी सामान्य जनभावना थी। इसने इसको 'विश्वगुरु'की महनीय पदवीमें प्रतिष्ठित कर दिया था। इसीलिये भारत 'भा-रत' (सारस्वत-शेमुषी-संलग्न) था; क्योंकि यह मूलतः आर्योंकी मातृभूमि, तपःस्थली-'आर्यावर्त' था। आर्यशीलता यहाँ नागरिकताका अनिवार्य शर्त रही।

'आर्य' किसी ऐतिहासिक जातिका अभिधान नहीं है, प्रत्युत प्रधानतः जीवनकी प्राञ्जल अर्थवत्ताका बोधक चारित्र्य-संकेत है। आर्य वह है, जो कर्तव्यका आचरण और अकर्तव्यका परित्याग करे। प्रकृतिके नियमोंका अतिवर्तन न करते हुए जो देश-काल, परिस्थितिके अनुसार अपने शास्त्रोचित समुदाचारका पालन करे*।' 'अपने सुखमें जो अधिक इतराता नहीं और दूसरेको कष्टमें देखकर प्रसन्न नहीं होता। जो विहित दान आदि धर्म्याचरणोंमे धनका व्यय करके फिर लोभवश पश्चात्ताप नहीं करता†।' प्राचीन भारतमें आर्यशील सत्पुरुषका यह वृत्तविशेष ही समष्टिका चारित्रिक-मानदण्ड माना जाता था। यहाँका प्रत्येक व्यक्ति इसी आदर्शके अनुसार अपनेको ढालनेकी चेष्टा करता था। दूसरे शब्दोंमें आर्यशीलताकी यह साधना ही चरित्र-निर्माणकी पद्धति थी। इसके द्वारा व्यक्ति, परिवार, जाति और समाजके क्रमसे सम्पूर्ण राष्ट्र उपकृत होता था।

इस देशके मन्त्रद्रष्टा मनीषियोंने मानव-मनोविज्ञानका निःशेषतया अध्ययन किया था। उन्होंने यह जान लिया था कि उन्मुक्त स्वेच्छाचार उसके हितमें नहीं है। मनुष्यके लिये देवत्व और अमृतत्वकी ओर पदन्यास करनेमें निरर्गल-आचरण सर्वदा बाधक रहा है। मानव-व्यक्तित्वका संघटन उसके आचार-व्यवहारसे ही निश्चित होता है। श्रुतिका निर्णय है—

*—'कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्राकृताचारे यः स आर्य इति स्मृतः॥
यथाचारं यथाशास्त्रं यथोचित यथास्थितिम्। व्यवहारमुपादत्ते यः स आर्य इति स्मृतः॥
(योगवासिष्ठ ६। २। १२६। ५४ ५५)

†—न स्वे सुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दुःखे भवति प्रहृष्टः। दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशीलः॥
(महाभारत, विदुरप्रजागर० २। ३१)

स यथाकारी यथाचारी तथा भवति ।

(बृह० उप० ४ । ४ । ५)

'जो जैसा कर्म तथा आचरण करता है, वह क्रमशः वैसा ही होता जाता है।' साधु कर्मोंका अनुष्ठाता सच्चरित्र तथा दुष्कर्मोंका आचरण करनेवाला दुश्चरित्र हुए विना नहीं रह सकता। 'यथाकारी'—'यथाचारी'का तात्पर्य क्रमशः इस प्रकार है—

'करणं नाम नियता क्रिया, विधिप्रतिषेधादिगम्या। चरणं नामानियतमिति विशेषः।' (उक्त बृहदा० ४ । ४ । ५ पर शाङ्करभाष्य)

'यथाकारी'में करणका तात्पर्य 'यह करो—यह मत करो'—इस प्रकारकी विधि-निषेध-प्रणालीसे उपलक्षित शास्त्रीय धर्माचरणसे है। 'यथाचारी'में 'चरण' पद विधि-निषेध-निर्मुक्त अनियत स्वैराचारका बोधक है। नियम यह है कि जिन कार्योंका विवेकपूर्वक सावधानतासे अनवरत अनुष्ठान किया जाता है, वे ही आगे अत्यन्त सहज बनकर चरित्र, आचार, वृत्त [illegible]र शीलकी संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं—**चरणं चरि[illegible]: शीलमित्यनर्थान्तरम्** (ब्रह्मसूत्र ३ । १ । [illegible] पर [illegible])।

सद्वृत्तोंके बीज वंशपरम्परासे दायके [illegible] प्राप्त हो सकते हैं। पर उन्हें अङ्कुरित करके सार्वभौ[illegible] चारित्र्यवृत्त बनानेके लिये व्यक्तिको स्वयं अथक साधना और अध्यवसाय करनेकी आवश्यकता है। भारतमें सद्वृत्तसे हीन कोई व्यक्ति केवल अपने उज्ज्वल कुल या महनीय वंशपरम्पराके आधारपर ही महत्त्व नहीं प्राप्त कर सकता था—

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः।

(महा० उद्योगपर्व ३६ । ३०)

विदुरकी यह उक्ति इसका प्रमाण है। चरित्र-निर्माण निजके बल-बूतेका कार्य है। आनुवंशिक परम्परा, पर्यावरण और परिस्थिति केवल उसकी प्रेरणा ही दे सकते हैं, उसका स्थान नहीं ले सकते। निष्कर्ष यह कि चारित्र्य अर्जित किया जाता है, उत्तराधिकारमें प्राप्त नहीं हो जाता।

यह अर्जित सच्चारित्र्य भी सर्वथा निर्विघ्न नहीं। न जाने कौन-सी ऐसी परिस्थिति आ जाय, जिससे प्रभावित होकर हम अपने आदर्शभूत 'शील'का परित्याग कर बैठें। इस बातको लक्षित करके ही भारतीय महापुरुषोंने इसे कुल, धन, किंबहुना जीवनसे भी अधिक महत्त्वशाली चित्रित किया है*। यों तो सद्वृत्तका विघात करनेमें अनेक स्थितियाँ कारण हो सकती हैं, किंतु कामोपभोगार्थ, अधिक धनसंग्रह करनेकी मानसिक स्थिति अर्थात् लोभकी वृत्ति इसमें प्रमुखरूपसे कार्य करती है। कहा जाता है—**'लोभः पापस्य कारणम्।'**

जब व्यक्ति समाज या राष्ट्रमें 'धर्मार्थकाममोक्ष'के पुरुषार्थचतुष्टयमें केवल 'काम' और उसके प्रमुख साधन 'अर्थ' को ही अपना या अपने युगका परम पुरुषार्थ मानने लगता है, तब सारे उदात्त आदर्शोंकी आन्तर-भित्ति शनैः-शनैः धराशायी होने लग जाती है। फलतः व्यष्टि या समष्टिका चरित्र-निर्माण संकटमें पड़ जाता है। कालके प्रभावसे आज हमारे भारतवर्षकी यही चिन्त्य दुःस्थिति हो रही है। पाश्चात्त्य भौतिकवादी विचारधाराने क्रमशः कुछ ही शताब्दियोंमें सहस्राब्दियोंसे चली आ रही सांस्कृतिक-शेवधि एवं आध्यात्मिक चिन्तन-धाराको अस्त-व्यस्त और छिन्न-भिन्न कर दिया है। विश्वकी अंधाधुन्ध प्रागतिक दौड़में अब किसीको कुछ क्षण रुक कर सोचने-विचारनेका भी अवकाश नहीं रह गया है। आजका सम्पूर्ण प्राप्तव्य 'भोग' है, जिसके लिये सर्वात्मना अर्थोपार्जन ही अनिवार्य आवश्यकता

* 'शीलं प्रधानं पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति। न तस्य जीवितेनार्थो न कुलेन धनेन च ॥'

(महा० शा० ५ । ३५)

बन गया है। विज्ञानके अत्यधिक यान्त्रिक विनियोगसे उत्पन्न जडताने भारतकी आर्यचरित्र-मर्यादाको भी अक्षुण्ण नहीं रखा; परिणामतः सर्वत्र अशान्ति और उद्भ्रान्तिके बादल मँडराते दीखते हैं।

हमारी प्राचीन राष्ट्रिय मान्यता सर्वथा निवृत्तिपरक रही हो, ऐसी बात नहीं है। यहाँ धन-सम्पत्तिका अर्जन, संरक्षण और उपभोग—तीनों विहित आवश्यक कार्य माने जाते थे; किंतु तब इन सबके मूलमें शुद्ध-सात्त्विकताकी प्रेरणा अनिवार्य वस्तु थी। वैदिक ऋषि व्यक्ति और राष्ट्रकी सुख-समृद्धिके लिये शुद्ध उपार्जनका ही आश्रय लेते थे। पुण्य-शालिनी लक्ष्मी ही उनकी उपास्या थी। पतनकारिणी पापमयी वैभव-विभूति उन्हें आकाङ्क्षित न थी। अथर्ववेद-(७ । ११५ । ४) के मन्त्र-द्रष्टा ऋषिका कथन है—'पुण्यसे अर्जित की गयी सम्पत्ति ही मुझे प्राप्त हो, पापसे धन कमानेकी वृत्तिको मैंने नष्ट कर डाला है'—

रमन्तां पुण्या लक्ष्मी याः पापास्ता अनीनशम्।

पर आज स्थिति सर्वथा विपरीत है। पाप-पुण्यका विचार अन्धविश्वास बन गया है! शास्त्रों और स्मृतियोंमे प्रतिपादित अनुशासनो और चारित्र्य-विधायक सूक्तियोंका मात्र साहित्यिक या ऐतिहासिक दृष्टिकोणसे उपयोग किया जा रहा है अथवा अपनी दैनिकचर्यामें इन आदर्शोंका उसी सीमातक पालन किया जा रहा है, जहाँतक वे प्रभूत द्रव्यसंग्रहमें बाधा न डालते हो। उदारता भी प्रचारकता की साधिका हो रही है! सारांशतः व्यक्तिके क्रमसे सम्पूर्ण राष्ट्र आज अर्थको उद्देश्य बनाकर चल रहा है। परिसर्जना या राजनीति, शासकीय-सेवा हो या साहित्यिक गतिविधि अथवा समाजके उत्थानकी कोई योजना हो, सर्वत्र सबके मूलमें अन्धी अर्थनीति ही अनुस्यूत दीखती है। इसके लिये हमें अपने सुन्दर सांस्कृतिक चरित्रकी ही बलि देनेको विवश नहीं तो साहसिक होना पड़ता है। हमारे राष्ट्रिय ग्रन्थ महाभारतमें अनेक 'वित्त-संरक्षण'-की अपेक्षा वृत्त-संरक्षण अर्थात् चरित्र-रक्षाका ही माहात्म्य अधिक वर्णित है। वित्त अर्थात् धन-सम्पत्ति तो आने-जानेवाली है, अतएव उसके लिये अपने व्यक्तित्वके स्थैर्य-भूत चारित्र्यकी उपेक्षा करनी उचित नहीं है। धन-सम्पत्ति वस्तुतः व्यक्तित्वका अङ्ग नहीं है, अतएव उसके क्षीण हो जानेपर भी व्यक्तित्वकी कोई क्षति नहीं होती; किंतु चरित्र तो व्यक्तित्वका साधारण अङ्ग ही नहीं, अपितु उसका प्राण है; अतः उसके नष्ट हो जानेपर तो व्यक्तिका सामाजिक-सांस्कृतिक स्वरूप ही नष्ट हो जाता है—

वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च।
अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः॥

(महाभारत ५ । ३५)

स्मृतिकार महाराज मनु भी अर्थोपार्जनकी शुद्धिको ही मनुष्यकी स[illegible] शुद्धि (और अलंकृति) मानते हैं। इसके लि[illegible] (साबुन) और जल आदिसे केवल श[illegible] वस्त्रोंकी शुद्धि कर लेना वास्तविक शुद्धि नहीं है—

सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्।
योऽर्थे शुचिः स हि शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः॥

(मनुस्मृति ५ । १०६)

अर्थकी शुचिताका यह शास्त्रीय सिद्धान्त पूर्णतया वैज्ञानिक भूमिपर स्थित है। अन्याय और असदाचारसे उपार्जित धन प्रारम्भसे ही दुर्भावना-दूषित होता है, फिर इसके उपभोगसे और भी अधिक दुर्भावनाएँ जागती हैं; परिणामत. अनय और दुराचारका यह चक्र एक व्यापक वृत्त-सा बनकर सार्वजनीन 'चरित्र' का हनन करने लग जाता है। आज यह व्यापक—बल्कि विराट् रूप धारण कर चुका है। यद्यपि मानवके चरित्रनिर्माणमें अर्थशुचिताके अतिरिक्त और भी अनेक

तत्त्व हैं, (जिनकी चर्चा कारणवश यहाँ नहीं की जा सकी है) तथापि उन सबके मूलमें प्रथमतया इसीका उल्लेख शास्त्रकारोंने किया है। अतएव यहाँ हमने कुछ विस्तारसे इसपर विचार किया है।

अब यह देखना है कि व्यक्तिकी अर्थ-लोलुपतासे समाज और राष्ट्रके चरित्रपर क्या प्रभाव पड़ता है! व्यक्तिविशेषके शिथिलचरित्र होनेसे पूरे राष्ट्रपर चरित्र-संकट कैसे उपस्थित हो जाता है। वस्तुतः व्यक्ति पूरे राष्ट्रका एक घटक है। अनेक व्यक्तियोंसे मिलकर एक परिवार, अनेक परिवारोंसे एक कुल, अनेक कुलोंसे एक जाति या समाज तथा अनेकानेक जातियों और समाज-समुदायोंसे मिलकर ही एक राष्ट्र बनता है। आज लोग जब राष्ट्रिय चरित्र-निर्माणकी बात करते हैं, तब वे स्वयं उस राष्ट्रके एक आचरक घटक हैं—इस बातको प्रायः विस्मृत कर जाते हैं। हम अनियन्त्रित व्यवहारद्वारा भोगसंचय करके औरोंको सच्चरित्रताका उपदेश देते हैं; वाणीसे, लेखनीसे और कभी-कभी ऊपरी आचार-व्यवहारसे इसके [illegible] सचिन्त प्रदर्शित करते हैं। पर जब जीवनमें [illegible]की बात आती है, तब सभ्यता और संस्कृतिके बदलते मानदण्डोंका हवाला एवं समय और परिस्थितिको उपालम्भ देकर मुक्त हो जाते हैं! हमारा यह नैतिक छद्माचरण समूचे राष्ट्रमें संक्रामक-विभीषिका बनकर प्रसृत हो गया है और हमारे न चाहते हुए भी प्रतिध्वनिकी भाँति और भी सशक्त होकर स्वयं हमारे ही पास लौट आता जा रहा है। क्या हम इस विभीषिकासे भयाक्रान्त एवं संत्रस्त नहीं हैं?

अर्थोपार्जनका कौशल और क्षमता अपने-आपमें बहुत ही श्लाघ्य वस्तु है। इसके द्वारा सुख-समृद्धिके साथ-साथ पौरुष, श्रमशीलता और आत्मनिर्भरता-जैसे सद्गुणोंका प्रचार-प्रसार भी होता है; किंतु इस कौशल या क्षमताका विनियोग संकीर्ण स्वार्थमें नहीं होना चाहिये; तभी ये चरित्र-निर्माणके सहयोगी बन सकते हैं। अथर्ववेद (३ । २४ । ५) कहता है—

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।

'सौ हाथोंसे उपार्जन करो और हजार हाथोंसे उसका वितरण करो।' वेद भगवान्‌का यह आदेश जबतक हमारा आदर्श नहीं बनेगा, तबतक उपार्जित द्रव्यको हम समाज या राष्ट्रके हितमें प्रयुक्त नहीं कर सकेंगे और तबतक हम मानवजीवनके उच्चस्तर नहीं पा सकेंगे। मनुष्यकी कामनाएँ अनन्त हैं। 'पृथ्वीमें प्राप्य सभी व्रीहि-यवादि अन्न, सुवर्णादि धन, पशु तथा स्त्रियाँ कामनासे पीड़ित किसी एक मनुष्यको भी तृप्त नहीं कर सकते।' अतः अर्जनमें जबतक वितरणकी भावनाका संनिवेश न होगा, वह आर्यशीलताको अक्षुण्ण रखनेमें अक्षम ही रहेगा। पर क्या हमारी अर्थ-लोलुपता इस दिशामें हमें बढ़ने देगी?

अर्थकी इसी विषमताके कारण अन्य देशोंकी भाँति भारतमें भी वर्गसंघर्ष और सामाजिक-क्रान्तिकी सवेगात्मक धाराएँ फूट पड़ी हैं। इससे आये दिन केवल खण्ड-प्रलयके दृश्य उपस्थित हो जाते हैं। समाजमें सामूहिक रूपसे चरित्र-हननकी भावना भी दृढ़ होती जा रही है। उदात्त चारित्र्यके अभावमें यह स्वाभाविक-सा हो जाता है, जो अत्यन्त चिन्त्य है।

एक वर्ग, जिसने येन केन प्रकारेण आवश्यकतासे अधिक धन संचय कर लिया है, विलासके चित्र-विचित्र उपादानों और अन्याय-अनाचारके साधनोंसे राष्ट्रको जर्जर कर रहा है तो दूसरा वर्ग जो श्रमिक और शोषित

यत् पृथिव्यां व्रीहि यवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥

(श्रीमद्भा० ९ । १९ । १३)

कहा जाता है, विलास-सामग्रियोंकी चकाचौंधसे उन्मत्त होकर उन्हें प्राप्त करनेके लिये हिंसा और विध्वंसके कगारपर आ खड़ा हो जाता है। विभिन्न औद्योगिक संस्थानोंमें आये दिन होनेवाली हड़तालें और तालाबन्दी, मारपीट और धर-पकड़ इसके प्रत्यक्ष परिणामी उदाहरण हैं।

देशकी अन्तरराष्ट्रिय राजनीतिसे लेकर सामान्य प्रशासन व्यवस्थातक सर्वत्र संकीर्ण स्वार्थ, छल-कपट, दम्भ, जाति, प्रान्त और भाषावादका प्रभाव, राष्ट्रकी चारित्रिक दीप्तिको धूमिल बना रहे हैं। आध्यात्मिक भावनाके अभाव तथा नैतिकताकी दोलायमान परिस्थितिमें आज केवल क्षुद्रस्वार्थकी पूर्तिके लिये व्यक्ति व्यक्तिसे पृथक् हो रहा है, परिवार खण्डित हो रहे हैं, सम्बन्ध बिखर रहे हैं और अब तो राष्ट्रके भी खण्ड-खण्ड होनेकी स्थिति पहुँचायी जा रही है! पर इसके लिये किसे चिन्ता है? नेता हो, प्रशासक हो, समाजसुधारक हो या साहित्य-प्रणेता—सभी इस सर्वग्रासी अन्धकारमें निश्चेष्ट हो रहे हैं। आज तो देवदुर्लभ भारतवर्षके विषयमें भी यह कहनेको विवश होना पड़ता है कि **पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्।**

आज वैदिक ऋषिको राष्ट्रके सभी संदर्भोंमें जागरूक रखनेवाला—**'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः'** (यजुर्वेद ९। २३)

(हम राष्ट्रको आगे ले चलनेवाले (पुरोधा—मनीषिगण) सदैव जाग्रत् रहे) यह मन्त्र आज हमारे लिये प्रेरणाशून्य बन गया है; इसे अपने दुर्भाग्यके अतिरिक्त और क्या कहा जाय?

राष्ट्रिय चरित्र-निर्माण कैसे हो? यह आजका समसामयिक अथच जाग्रत् प्रश्न है, किंतु ऐसी स्थितिमें भी यह सर्वथा अनुत्तरित नहीं है। हम आज भी गम्भीरतासे विचार करके इस समस्याका समाधान निकाल सकते हैं। प्राचीनकालमें भी ऐसी स्थिति रही है—ऐसा प्रतीत होता है। भारतवर्षमें अनेक बार इसी प्रकारके राष्ट्रिय प्रश्न उठे होंगे, ऐसे ही चारित्रिक संकट भी आये होंगे, तभी तो उस समय हमारे युगद्रष्टा महर्षियोंने राष्ट्रके कल्याण-हेतु अपने वैयक्तिक सुखोंका बलिदान करके त्याग, तपश्चर्या और सर्वभूतोंके हितकारी यज्ञ, दानादिकी दीक्षाके द्वारा समाजका—मोहाच्छन्न मानवताका—उद्बोधन किया और तब यह राष्ट्र पुनः बल और ओजसे भास्वर हो उठा था—

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपोदीक्षामुपनिषेदुरग्रे। ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातम्॥
(अथर्ववेद १९। ४१। १)

भारतवर्ष जीवनकी प्रत्येक दिशाकी भाँति चारित्रिक दिशामें भी जगद्गुरु रहा है। यह वही देश है, जहाँका (अश्वपति-जैसा) प्रशासक मुक्तकण्ठसे कहता था—'मेरे देशमें कहीं कोई चोर, कृपण, मद्यपायी, दैनिक अग्निहोत्र न करनेवाला, मूर्ख और स्वैराचारी व्यक्ति निवास नहीं करता; फिर स्वैराचरण करनेवाली स्त्री तो [illegible] हो ही कैसे सकती है?'

न मे स्तेनो [illegible] न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहि[illegible]ाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥
(छान्दोग्य-उप० ५। ११। ५)

इसकी चरित्र-सम्पत्ति इतनी विराट् और सार्वभौम थी कि 'सारे विश्वके मानव इससे अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा ले सकते थे, यहाँका अग्रजन्मा ही विश्वका अग्रचेता महापुरुष था*।' ऐसे अप्रतिम देशके लिये राष्ट्रिय चरित्र-निर्माण कोई असम्भावित बात नहीं है। आवश्यकता बस उसी स्वर्णिम अतीतपथपर दृष्टिपात करके चल देनेकी है; सत्य और ऋतका पथ सुगम है। सत्य और ऋतका मार्ग कभी विषम और कण्टकाकीर्ण नहीं होता—**'सुगा ऋतस्य पन्थाः'** (ऋग्वेद ८। ३१। १३)।

* एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनुस्मृति २। २०)

'हरषित महतारी''' 'अद्भुत रूप बिचारी ।' इसीसे यहाँ केवल 'कौसल्या-हितकारी' पद आया है । जब भगवान्‌ने पूर्व वरदानकी कथाको श्रीकौसल्याजीसे कहकर उनको संतुष्ट कर दिया—

कहि कथा सुहाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत प्रेम लहै।

—तब उन्होने प्रार्थना की कि 'प्रभो ! अब आप शिशुलीला करें ।'—

कीजै सिसुलीला अति प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा ।

उसके पश्चात् भगवान् जब नर-बालक बनकर रुदन करने लगे—

सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा ॥

—तब दूसरोंको ज्ञात हुआ । श्रीदशरथादिजीको भी नर-बालकरूपका ही दर्शन मिल सका । पर वह गौ, ब्राह्मण, देवता और संत आदि सबका हितकारी हुआ—

बिप्र धेनु सुर संत हित लीन्ह मनुज अवतार ।

तथापि भगवान्‌के बाल-चरित्रके मूलमें दशरथ और कौसल्याका तप ही विशेष हेतु था, पर विवेकादिकी लीलाएँ अकेले कौसल्याजीके ही सामने रहीं—

एक बार जननीं अन्हवाए । करि सिंगार पलनाँ पौढ़ाए ॥
निज कुल इष्टदेव भगवाना । पूजा हेतु कीन्ह असनाना ॥
करि पूजा नैबेद्य चढ़ावा । आपु गई जहँ पाक बनावा ॥
बहुरि मातु तहवाँ चलि आई । भोजन करत देखि सुत जाई ॥
गै जननी सिसु पहिं भयभीता । देखा बाल तहाँ पुनि सूता ॥
बहुरि आइ देखा सुत सोई । हृदयँ कंप मन धीर न होई ॥
इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा । मतिभ्रम मोर कि आन बिसेषा ॥
देखि राम जननी अकुलानी । प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ॥

देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड ।
अब जनि कबहूँ ब्यापै प्रभु मोहि माया तोरि ॥

(राम० च० १ । २००-२०१)

सूर्यवंशी कुलके इष्टदेव भगवान् श्रीरङ्गनाथजीकी पूजाके समय जब नैवेद्यका भोग लगाया गया तो श्रीरामजी स्वय भोजन करते पाये गये और इधर पालनेपर भी सोते हुए दिखायी पडे । अत' दोनों जगह एक ही समान दो बालकोंको देखकर माता श्रीकौसल्याजी आकुल हो उठीं । तब श्रीभगवान्‌ने मुसकराकर अपने उस अद्भुत रूपको, जिसके रोम-रोममें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड थे, दिखाया । परंतु इस रूपका दर्शन कौसल्याजीको ही हुआ, श्रीदशरथजीको नहीं । बल्कि श्रीमुखसे इस रहस्यको दूसरोंसे बतलाना भी रोक दिया गया—

हरि जननी बहुबिधि समुझाई । यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई ॥

अतएव भगवान्‌के माधुर्यचरित्र—जैसे बाललीला, कर्णवेध, उपवीत, विवाहादिका सुख दम्पतिको मिला तथा ऐश्वर्यलीला अर्थात् चतुर्भुजरूप और विश्वरूपके दर्शनादिका आनन्द केवल कौसल्याजीको प्राप्त हुआ । जब वनगमनकी लीलाका अवसर आया और श्रीरघुनाथजी माता कौसल्यासे विदा लेने लगे, तब श्रीअम्बाजीने विवेकसूचक वचनोंसे उन्हें रीति-नीतिकी कैसी शिक्षा दी, उसे देखिये—

राखि न सकइ न [illegible] क जाहू । दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू ॥
धरम सनेह उ[illegible] घेरी । भइ गति साँप छुछुंदरि केरी ॥
राखउँ [illegible] करउँ [illegible]ुरोधू । धरमु जाइ अरु बंधु बिरोधू ॥
कहउँ [illegible] तौ बड़ि हानी । संकट सोच बिबस भइ रानी ॥
[illegible]हुरि समुझि तिय धर्म सयानी । रामु भरतु दोउ सुत सम जानी ॥
[illegible]ल सुभाउ राम महतारी । बोली बचन धीर धरि भारी ॥
तात जाउँ बलि कीन्हेहु नीका । पितु आयसु सब धरमक टीका ॥

राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुख लेसु ।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु ॥

जौं केवल पितु आयसु ताता । तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता ॥
जौं पितु मातु कहेउ बन जाना । तौ कानन सत अवध समाना ॥

यह बिचारि नहिं करउँ हठ झूठ सनेहु बढ़ाइ ।
मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ ॥

कौसल्यामाताने जब धर्मका विचार किया तो 'नारि धर्म पतिदेव न दूजा' ही समुचित जान पड़ा । पर हृदयमें पुत्रस्नेहकी भी पराकाष्ठा थी । अतएव धर्म और स्नेह दोनोंने उनकी बुद्धिको घेर लिया । न

रोकते बनता था और न जानेकी आज्ञा देनेका ही साहस होता था। सोचने लगीं—'यदि पुत्रको रोकती हूँ तो अपना पातिव्रत-धर्म जाता है। आपसमें बन्धु-विरोध भी होता है। यदि जानेके लिये कह देती हूँ तो बड़ी हानि है।' ऐसे धर्म-संकट और वियोग-दुःखकी चिन्तामें पड़कर रानी विवश हो गयीं। उनकी दशा साँप और छछूँदरकी-सी हो गयी।* पर सोचकर उन्होंने पातिव्रतधर्मको प्रधानता दी और अपने सगे पुत्र राम तथा सौतेले पुत्र भरतको एक समान मानकर सरल स्वभावसे बोलीं—'तात! तुमने बहुत उत्तम निश्चय किया है। पिताकी आज्ञाका पालन करना ही सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है। तुमको पिताने राज्य देनेका वचन दिया था, परंतु वन दे दिया—इसका मुझको लेशमात्र भी दुःख नहीं है। चिन्ता इस बातकी है कि तुम्हारे बिना भरत, स्वय श्रीराजाजी और समस्त प्रजा आदि सबको बड़ा भारी कष्ट होगा। अतएव यदि केवल पिताकी आज्ञा है तो माता[illegible]आज्ञा न होनेके कारण तुम अपने इस धर्मका वि[illegible]चूके रुक सकते हो कि 'पुत्रको पिता-माता दोनों[illegible]आज्ञा[illegible]माताकी आज्ञाको सहस्रगुना अधिक गौरव देना चाहिये[illegible]

सहस्रं तु पितॄन माता गौरवेणातिरिच्यते।
(मनुस्मृति २। १४५)

पर यदि दोनोंकी आज्ञा है, तो तुमको वनको ही सौ अयोध्याके समान मानना उचित है। यदि मैं तुम्हारे साथ चलनेके लिये कहती हूँ तो तुम्हारे मनमें संदेह पैदा हो जायगा। (जैसे—माताजी मुझको तो ऐसी धर्म-शिक्षा दे रही हैं और स्वयं पातिव्रत-धर्मसे हट रही हैं। ऐसी धर्मज्ञा माताके इस कथनमे अवश्य कोई संदेहकी बात है अथवा पिताकी आज्ञा उदासीन होकर रहनेकी है और एक माता साथमें चलनेके लिये कहती है तो मैं किसकी आज्ञाका पालन करूँ?) अतएव मैं साथ चलनेके लिये नहीं कहती हूँ।' पुत्र! तुम सबको परम प्यारे हो—सबके आत्मा हो। सबके प्राणोंके प्राण हो और सब जीवोंके जीवन अर्थात् साक्षात् परमात्मा हो। फिर भी तुम हमको अपनी माता बनाकर—स्वयं पुत्र बनकर मुझसे कह रहे हो—'मैं वनको जा रहा हूँ।' और ऐसे हृदय-वेधक वचनको सुनकर भी मैं जीवित हूँ—बैठी-बैठी पछता रही हूँ (अर्थात् ऐसी अवस्थामें मुझको मर जाना उचित था)। अतः मैं अपने स्नेहको झूठा मानती हूँ और ऐसे झूठे स्नेहको बढ़ाकर हठ करना अनुचित समझती हूँ। तुमको पुत्र माननेका मेरा नाता तो झूठा हो गया, परंतु तुम जो मुझको अपनी माता मान चुके हो उस नाते मेरी स्मृति न भुला देना।'

श्रीकौसल्या माताके चरित्रमें प्रबल पातिव्रत-धर्मकी शिक्षाके साथ दो बातें विशेष ध्येय हैं। पहली बात यह कि स्त्रियोंको अपनी छोटी-बड़ी सभी सौतों—जेठानी-देवरानियोंके साथ कैसा व्यवहार रखना चाहिये—इसकी शिक्षा इनके चरित्रसे ही मिलती है। यद्यपि कैकेयीजी-की घोर अनीति उनके सामने थी, वे बिना अपराधके ही प्यारे पुत्र रामजीको वनमें भेजवाकर कोई भी हक न रखनेवाले अपने बेटे भरतको राजगद्दी दिलवा रही थीं, तथापि श्रीकौसल्या माताके हृदयमें तनिक भी द्वेषका संचार नहीं हुआ। बल्कि वे अपने प्राणप्रिय पुत्रको ही शिक्षा देने लगीं—

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

दूसरी बात यह कि सारे जगत्की माताओंको अपने सगे-सौतेले आदि लड़कोंके साथ कैसा प्रेम

* यदि साँप छछूँदरको पकड़कर निगल जाता है तो उसके कुष्ठरोगसे पीड़ित होकर मर जानेका भय रहता है और यदि छोड़ देता है तो उसकी हवासे अन्धा हो जानेकी आशङ्का रहती है। अतएव दोनोंमेसे उसे कोई भी करते नहीं बनता।

रखना उचित है——इसकी भी शिक्षा श्रीकौसल्यामातासे ही मिलती है। उन्होंने वैसी द्वेषजनक परिस्थितिमें पड़कर भी——'राम भरत दोउ सुत सम जानी' के निश्चयको दृढ़ रखा। इतना ही नहीं, दोनो पुत्रोंको समानरूपसे जाननेका प्रमाण भी दे दिया। जिस समय श्रीभरतजी अपने ननिहालसे लौटकर आये और विकल होकर श्रीकौसल्यामातासे मिलने गये, उस समयकी अवस्था देखिये——

भरतहि देखि मातु उठि धाई। मुरुछित अवनि परी झइँ आई॥
सरल सुभाय माँ हियँ लाए। अति हित मनहु राम फिरि आए॥

× × ×

मत तुम्हार यह जो जग कहहीं। सो सपनेहुँ सुख सुगति न लहहीं॥
अस कहि मातु भरतु हियँ लाए। थन पय स्रवहिं नयन जल छाए॥

श्रीभरतजीको देखते ही वे आतुर होकर दौड़ीं, परंतु निर्बलताके कारण मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं। जब भरतजी जल्दीसे उनके समीप पहुँचे, तब उनको हृदयसे लगाकर इस तरह सुखी हुईं, मानो श्रीरामजी ही वनसे लौटकर आ गये। श्रीभरतजी नाना प्रकारसे शपथ खा-खाकर अपनेको निर्दोष साबित करने लगे। इसपर श्रीकौसल्यामाताजीने यह कहा कि 'इस कार्यमें जो कोई तुम्हारी सम्मति बतलायेगा, वह स्वप्नमें भी सुख और सुयशका भागी न होगा' और फिर श्रीभरतजीको हृदयसे लगा लिया। उस समय उनके दोनो स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगी और नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर गये। भला 'राम भरत दोउ सुत सम जानी' का इससे अधिक प्रबल प्रमाण और क्या होगा? क्योंकि माताके स्तनोंसे अपने ही बच्चेके लिये दूध टपकता है, दूसरेके बच्चेके लिये नहीं। इसके अतिरिक्त जब चित्रकूटमें जनकजीकी धर्मपत्नी सुनयनासे भेंट हुई, उस समयके 'मोरे सोच भरत कर भारी' तथा——

गूढ़ सनेह भरत मन माहीं। रहें नीक मोहि लागत नाहीं॥

——आदि वचन इस कथनकी और भी पुष्टि कर रहे हैं।

श्रीकौसल्याजीके चरित्रमें पातिव्रतधर्मकी शिक्षा कूट-कूटकर भरी पड़ी है। उनके सम्पूर्ण आदर्श चरित्र एकमात्र पतिदेवताकी अनुकूलताके लिये ही थे। मानसमें प्रमाण देखिये——

कौसल्यादि नारि प्रिय सब आचरन पुनीत।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़ हरि पद कमल बिनीत॥

परंतु उनके चरित्रसे एक और भी शिक्षा मिलती है; वह यह कि लोकहितके लिये पतिका अनुगमन छोड़कर दूसरी राह पकड़नेकी धृष्टताको कौन कहे, परलोक-हितके लिये भी यदि कोई स्त्री अपने पतिके अनुगमनको छोड़कर आगे बढ़ती है तो उसके परिणाममें उसको पश्चात्ताप करना पड़ेगा। उदाहरणमें पूर्वोक्त रूपमें श्रीकौसल्यामाताको ही लीजिये। वे जब श्रीशतरूपाजीके रूपमें थीं, तब उन्होंने श्रीमनु महाराजसे आगे बढ़कर विवेकादिका वरदान [illegible] था। अतः उसके फलस्वरूप श्रीकौसल्यारूपमें [illegible] पश्चात्ताप करना पड़ा, अपने ही मुँहसे [illegible] स्नेहको झूठा बतलाना पड़ा और प्राण न दे सकनेके कारण——

अस बिचारि नहिं करउँ हठ झूठ सनेहु बढ़ाइ।

——तक कहना पड़ा। साथ ही अपने पतिदेव श्रीदशरथजीके उसी 'सुत बिषइक तव पद रति' को जो उनको मनुरूपमें वरदानके नाते——'फनि बिनु मनि जिमि जल बिनु मीना' की तरह प्राप्त हुआ था और 'तनु परिहरेउ राम बिरह' जेहि राम पद' के रूपमें पर्यवसित हुआ, उन्हें खुले मुँह सराहना करनी पड़ी——

जिएँ मरें भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना॥

इसलिये धर्मज्ञ और पतिव्रता स्त्रियोंको श्रीकौसल्याके चरित्रसे शिक्षा लेकर लोक-परलोक दोनो अर्थोंमें पतिकी अनुगामिनी बनना चाहिये। इसीमें कल्याण है।

सत्यवादी युधिष्ठिर

महाराज पाण्डुकी दो रानियाँ थीं—कुन्ती और माद्री। कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्र युधिष्ठिर थे। ये धर्मके अंशावतार थे, अतः धर्मराज भी कहलाते थे।

युधिष्ठिर स्वभावसे ही वैर-क्रोध एवं अभिमानशून्य थे। ये क्षमाशील, धैर्यवान्, सत्यनिष्ठ, विद्वान्, शान्त, मृदु, पवित्रात्मा, उदार, त्यागी तथा समदर्शी थे। इसीलिये ये अजातशत्रु भी कहलाते थे। उदात्त चरित्रके सभी गुण इनमें विद्यमान थे। ये चरित्रके आदर्श प्रयोक्ता थे।

युधिष्ठिरका आरम्भिक जीवन बड़े कष्ट एवं अपमानमें व्यतीत हुआ। पिता पाण्डु असमय मृत्युको प्राप्त हुए। अन्धे धृतराष्ट्र लोक-लाजवश पाण्डवोंका कुछ ध्यान रखते थे, पर अपने उद्दण्ड पुत्र दुर्योधनके आगे उनकी एक न चलती थी। अतः ये दुर्योधनके [illegible]विध षड्यन्त्रोंके शिकार हुए। इन्हें राजसी सु[illegible] प्राप्त नहीं हुई। दुर्योधनने लाक्षागृहमें सभी पा[illegible]जला दिया था। इनके भाई भीमको वि[illegible] दिया [illegible]या। [illegible]से इन्हें हराया गया। सारी राज्य-सम्पत्ति छीन ली [illegible]यी। स्त्री द्रौपदीको भी नंगी करनेका, उसे अमर्यादित कर[illegible]का प्रयास किया गया। उसके 'पत'की रक्षाके लिये भगवान् श्रीकृष्णको दौड़ना पड़ा।

भीष्मपितामहने अपने सत्प्रयाससे कौरवों-पाण्डवों दोनोंकी शिक्षाके लिये द्रोणाचार्यजीको हस्तिनापुर बुला लिया था। वे सभी राजकुमारोंको शास्त्र-ज्ञानके साथ-साथ अस्त्र-शस्त्रकी भी शिक्षा देते थे। पाण्डवोंपर उनका विशेष प्रेम था। गुरु द्रोणाचार्य अपने शिष्योंसे पिछला पाठ भी पूछते रहते थे। एक दिन जब सब कुमारोंने कई पृष्ठ पाठ याद कर सुनाया तब युधिष्ठिरने अपनी बारीपर बताया कि उन्हें केवल दो वाक्य याद हैं, वे भी अभी अपूर्ण हैं। गुरुको क्रोध आ गया। उन्होंने युधिष्ठिरको दो-तीन छड़ी जड़ दी। पर युधिष्ठिर शान्त रहे। इनके मुखपर कोई भाव-परिवर्तन न देखकर द्रोणको आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा—'तुम्हें कौनसे दो वाक्य याद हैं?' युधिष्ठिरने कहा—'सत्य बोलना और क्रोध न करना'; जब आप मुझे छड़ीसे मार रहे थे, तब मै अपने मनको समझा रहा था कि क्रोध नहीं करना चाहिये।' यह सुनकर आचार्य पानी-पानी हो गये। उन्होंने युधिष्ठिरको गले लगाते हुए कहा—'यथार्थ पाठ तो तुम्हींने पढ़ा है।' क्रोध न करना चरित्रका मूल गुण है।

तत्कालीन परिपाटीके अनुसार क्षत्रियोंके लिये युद्ध और जुआ दोनों धर्मसंगत थे। दोनोंमेंसे किसी एकका भी निमन्त्रण अस्वीकार करना क्षत्रियके लिये कलङ्क माना जाता था। इसी धर्मसंकटमें पड़कर युधिष्ठिरने दुर्योधनका द्यूतनिमन्त्रण स्वीकार कर लिया। उसमें शकुनिके छलसे वे हार गये। स्त्री भी दावपर लग गयी। राज्य चला गया। वे सर्वस्व हार गये। मिला उन्हें वनवास—जो १२ वर्षका सामान्य तथा एक वर्षका अज्ञातवास था। युधिष्ठिरने सब सहन किया। समर्थ होते हुए भी वे भाइयोंके साथ वन चले गये।

युधिष्ठिर दस हजार श्रोत्रिय ब्राह्मणोंको भोजन कराकर ही यज्ञका शेषान्न भोजन करते थे। वे ब्राह्मण भी उनके साथ वन चल पड़े। युधिष्ठिर बड़े धर्म-संकटमें पड़े। स्वयंके भोजनका ठिकाना नहीं था, इन्हें कैसे खिलाते। अन्तमें उन्होंने भगवान् सूर्यकी स्तुति की। सूर्यने उन्हें एक बटलोई (अन्नपात्र) दी। उसकी यह विशेषता थी कि जबतक द्रौपदी भोजन नहीं कर लेती, तबतक उसमें पका रखा अन्न समाप्त नहीं होता था; चाहे जितने व्यक्ति उससे भोजन कर सकते थे। पर द्रौपदीके भोजन कर

*

लेनेपर भोजन समाप्त हो जाता था। इस पात्रके प्रभावसे वनवासमे भी धर्मराज युधिष्ठिरने अपना अन्नसत्र—ब्राह्मण-भोजन निरन्तर चालू रखा।

वनमे दुर्योधन पाण्डवोंकी हत्याके लिये गया था, पर अर्जुनके मित्र गन्धर्व चित्रसेनने कौरवों तथा उनकी स्त्रियोको पकड़कर बन्दी बना लिया। उनकी चीख-पुकार सुनकर जहाँ भीम प्रसन्न हुए, वहाँ युधिष्ठिर को अपमान प्रतीत हुआ। उन्होने कहा—

ते शतं हि वयं पञ्च परस्परविवादने।
परैस्तु विग्रहे प्राप्ते वयं पञ्चाधिकं शतम्॥[१]

'पुरुषसिंहो! दौड़ो और कुरुकुलकी लाज बचाओ।' फिर क्या था? गाण्डीवी अर्जुनने धनुषकी टंकार करते हुए गन्धर्वोंको ललकारा तथा उनसे कौरवों तथा उनकी स्त्रियोंकी रक्षा की। वनवासकी अवधिमें ही प्यासे पाण्डव पानीकी खोजमें एक-एक कर यक्ष-सरोवरके पास पहुँचे और यक्षके प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना प्यासकी बेचैनीमे जल पीते ही मरने लगे; तब सहदेव-नकुल-अर्जुन-भीमकी मृत्यु हो जानेके बाद धर्मराज युधिष्ठिर जलाशय पर पहुँचे। यक्षने उनसे भी वही प्रश्न किया। युधिष्ठिर ज्ञानीके साथ-साथ धर्मात्मा भी थे। उन्होने अपनी तृषाके बढ़ते वेगको रोककर यक्षके प्रश्नोंका यथोचित उत्तर दिया, जो यक्ष युधिष्ठिर-संवादके नामसे महाभारतमें प्रसिद्ध है; जैसे यक्षने पूछा—'किमाश्चर्यमतः परम्।'

युधिष्ठिरने उत्तर दिया—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यममन्दिरम्।
शेषाः स्थातुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम्॥

'नित्य (आये दिन) प्राणी यमपुरीकी यात्रा करते हैं, पर शेष यहीं स्थायी निवास करना चाहते हैं—इससे बढ़कर अन्य कोई आश्चर्य क्या हो सकता है?'

यक्ष युधिष्ठिरके वचनोंसे सन्तुष्ट होकर बोला—'तुम चारोमेंसे किसी एकको, जिसे कहो, मैं जीवित कर दूँ।' युधिष्ठिरने कहा—'नकुलको जीवित कर दीजिये।' यक्षने हँसते हुए कहा—'युधिष्ठिर! तुम बड़े भोले हो। क्या नकुलकी सहायतासे तुम महाभारत युद्ध लड़ोगे? उसके लिये तो भीम और अर्जुनकी अत्यन्त आवश्यकता है। तुमने नकुलको क्यों माँगा?'

युधिष्ठिरने कहा—'यक्षराज! मेरी दो माताएँ हैं, कुन्ती और माद्री। कुन्तीका एक पुत्र मै जीवित हूँ। माद्रीका भी एक पुत्र जीवित रहना चाहिये। मुझे राज्यकी चिन्ता नहीं है।' यह था युधिष्ठिरका न्याय, उनका धर्म, उनका आदर्श चरित्र। यक्षने प्रसन्न होकर सबको जीवित कर दिया।

वनमे द्रौपदी और भीमने युधिष्ठिरको बहुत उकसाया कि समर्थ क्षत्रिय होकर आपका वनमें तापस-जीवन बिताना शोभा नहीं देता। आपको छलसे जुएमें हराकर राज्य छीनकर [illegible] दिया गया है। आप इस शर्तको न मानें [illegible] करें। पर युधिष्ठिरने स्पष्ट मना कर दिया—

मम प्रतिज्ञां च निबोध सत्यां
वृणे धर्मममृताज्जीविताच्च।
राज्यं च पुत्राश्च यशोधनं च
सर्वं न सत्यस्य कलामुपैति॥

'मेरी सत्य प्रतिज्ञा सुनो। मैं धर्मको अमरत्व एवं जीवनसे श्रेष्ठ समझता हूँ। सत्यके समक्ष राज्य, पुत्र, यश, धन आदिका कोई मूल्य नहीं है।' धर्मनिष्ठा ही चारित्र्यकी नींव है।

महाभारतके युद्धके पीछे कुछ दिन राज्य करनेके पश्चात् युधिष्ठिरको वैराग्य हो गया। वे पाँचों पाण्डव

१—'परस्परके झगड़ेमे तो कौरव सौ भाई हैं और हम पाँच भाई है, पर दूसरोंके साथ झगड़ा होनेपर हम दोनों मिलकर एक सौ पाँच भाई है।' यदि भारतवासियोंने युधिष्ठिरके इस चरित्रसे शिक्षा ली होती तो भारतके टुकड़े न हुए होते। अब भी यह आदर्श उपादेय है।

द्रौपदी-सहित हिमालयमें गलने चले गये । जब द्रौपदी-सहदेव-नकुल-अर्जुन-भीम सभी हिममें विलीन हो गये तो युधिष्ठिरने पीछे मुड़कर देखातक नहीं । कुत्ता इनके साथ अन्ततक रहा । देवराज इन्द्र रथ लेकर प्रस्तुत हुए । वे बोले—'धर्मराज ! आप इस रथपर सवार हो सदेह स्वर्ग चलें ।' युधिष्ठिरनेकहा—'मेरे साथ अन्ततक यह कुत्ता रहा है । इसे छोड़कर अकेला स्वर्ग जाना मुझे स्वीकार नहीं है । मै शरणागतको नहीं छोड़ सकता ।' इन्द्रने बहुत समझाया; पर युधिष्ठिर अपने निश्चयपर दृढ़ रहे । अन्तमें कुत्ता अदृश्य हो गया और वहाँ साक्षात् धर्म खड़े थे । वे बोले—'मैं आपकी परीक्षा ले रहा था । आप सफल निकले । अब आप स्वर्ग चलें ।' धर्मराज युधिष्ठिर अपने धर्माचरणके बलपर सदेह उस रथपर आरूढ़ हो इन्द्र और धर्मके साथ स्वर्गको प्रयाण कर गये ।

युधिष्ठिर सत्यधर्म और अपने वचनके पक्के राजर्षि थे । उनका अवदात चरित्र चरित्रगठन करनेवालोंके लिये सदा आदर्श बना रहेगा ।

चारित्रिक व्यवस्था

(लेखक—स्वामी श्रीशंकरानन्दजी सरस्वती)

आस्तिक-नास्तिक, वैदिक-अवैदिक, सभी राष्ट्रोंको उन्नति एवं सुख-शान्तिके लिये अपने देश-काल-परिस्थितिको ध्यानमे रखते हुए चरित्र-विधानकी सदा आवश्यकता रही है और रहेगी । 'यह करो, यह न करो'—इस प्रकार हितकारक [illegible]णका विधान ही चरित्रविधान शब्दसे निर्दे[illegible] विधि-निषेधात्मक चरित्र-विधान यदि न बनाये [illegible] तो नासमझ मनुष्य अपनी चरित्रहीनतासे राष्ट्रकी ही नहीं अपितु अपनी सुख-शान्तिका भी सत्यानाश कर डाले । इससे स्पष्ट हो जाता है कि चरित्रकी आवश्यकता सभी राष्ट्रोंको सदा रहनी चाहिये ।

'किसीके धनके प्रति लोभ न करो'—इस निषेधात्मक हितकारक राष्ट्रके चरित्रविधानका जो लोग प्रकटरूपमें अतिक्रमण करते हैं, सरकार उन्हे कारागार भेज देती है । किसीने एकान्तमें किसीको मारकर दस लाख रुपये लूट लिये । उस धनसे सारा जीवन आनन्दमय बिताकर वह मर गया । यहाँ यह प्रश्न होता है कि उसे चरित्रविधानके अतिक्रमणका कुछ दण्ड होगा या नहीं ?

जो राष्ट्र ऐसा मानेगा कि 'जब वह मर ही गया, तब उसे दण्ड कैसे मिलेगा ?' तो वह राष्ट्र शब्दान्तरमें यह स्पष्ट कह रहा है कि एकान्तमें चरित्रविधानका अतिक्रमण करनेसे कोई दण्ड नहीं होता । ऐसा कहनेवाला राष्ट्र कभी भी अपनी उन्नति तथा सुख-शान्तिकी स्थापना न कर सकेगा; क्योंकि लोग एकान्तमें चरित्रविधानका अतिक्रमण करनेमे न डरेंगे । अतः प्रकटरूपमें या एकान्तमें जब अपराध किया है तो उसका दण्ड प्राप्त होना ही चाहिये । इस न्याययुक्त दृष्टिसे तथा राष्ट्रकी उन्नति, सुख-शान्तिकी दृष्टिसे 'एकान्तके अपराधका भी दण्ड होता है, यह स्वीकार करना चाहिये । जो सरकार इसे स्वीकार करेगी, उसे जन्मान्तर भी स्वीकार करना पडेगा; क्योकि जब इस जीवनमे दण्ड नहीं मिला, तब जन्मान्तरमे दण्ड मिलेगा, इसे माने बिना समस्याकी संगति नहीं लग सकेगी।

जन्मान्तर मान लेनेपर ईश्वरको भी स्वीकार अवश्य करना पड़ेगा; क्योकि किस जीवने एकान्तमें कब, कहाँ और क्या अपराध किया है तथा उसे जन्मान्तरमें—कब, कहाँ और क्या दण्ड देना चाहिये, यह कार्य सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ ईश्वर ही जान एवं कर सकता है ।

यदि यह कहा जाय कि जिस राष्ट्रका चरित्र-विधान ईश्वरीय विधानके अनुरूप होगा, उसके अनुसार ईश्वर जन्मान्तरमें दण्ड-विधान करेगा तो यह प्रश्न होता है कि उस अनादि ईश्वरीय चरित्र-विधानका प्रतिपादन दो, चार, दस-बीस हजार वर्षवाले सादि पौरुषेय शास्त्रोंद्वारा नहीं हो सकता। ऐसी दशामें अनादि अपौरुषेय वेदोंको ही अनादि ईश्वरीय चरित्र-विधानका प्रतिपादक मानना होगा। तभी चरित्रविधानकी सम्यक् व्यवस्था हो सकेगी। इसके अनुसार जन्मान्तरमें ईश्वर दण्ड दे सकेगा। इसी प्रकार एकान्तमें किये गये 'परोपकार'-रूप विधेयात्मक चरित्रविधानका फल भी ईश्वर जन्मान्तरमें तभी देगा, जब वह विधान ईश्वरीय चरित्रविधानके अनुरूप होगा।

ऊपर किये गये विवेचनका मनोयोगपूर्वक मनन करनेवाले मानवोंको यह स्पष्ट ज्ञान हो जायेगा कि राष्ट्रकी उन्नति एवं सुखशान्तिके लिये चरित्रविधानकी आवश्यकता सभीको सदा रहती है और रहेगी। एकान्तमें किये गये चरित्रविधानके पालन-अपालनका फल पानेके लिये जन्मान्तर तथा सर्वज्ञ-सर्वसमर्थ ईश्वरका मानना अनिवार्य है। चरित्रविधानकी सम्यक् व्यवस्था अनादि ईश्वरीय चरित्रविधान-प्रतिपादक अनादि वेदोंसे ही हो सकती है, सादि शास्त्रोंसे नहीं हो सकती।

इस विवेचनसे यह भी सिद्ध हो जाता है कि जो राष्ट्र चरित्रविधानके पालन-अपालनका कर्ता शरीरको ही मानते हैं, उसीके लिये इसी जीवनमें तथा इसी लोकमें दण्डादिकी व्यवस्था करते हैं, उनकी व्यवस्था अधूरी है। शरीरसे पृथक् जीवात्मा मानकर जन्मान्तरमें तथा परलोकमें भी दण्डादिकी व्यवस्था करनेवाले वैदिकोंकी अनादि सनातन धर्मानुसार की गयी व्यवस्था ही पूर्ण है। अतः चरित्र-निर्माताको चाहिये कि वेद और वेदानुसारी ग्रन्थोंसे चरित्र-विधान जानकर तदनुसार आचरण करें।

सत्यकाम जाबाल

गौतम ऋषिके आश्रममें एक दिन एक छोटा-सा बालक आया। उसने बड़ी नम्रतासे ऋषिके चरणोंमें प्रणाम कर प्रार्थना की—'भगवन्! मैं ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए आपके चरणोंकी सेवा करना चाहता हूँ। आप मुझे स्वीकृति प्रदान करें।' महर्षिने स्नेहपूर्वक पूछा—'वत्स! तुम्हारा गोत्र क्या है?'

बालक बोला—'मैंने अपनी मातासे यह बात पूछी थी। उसने बताया कि जब वह तरुणी थी, तब मेरे पिताके घर बहुत-से अतिथि आया करते थे। मेरी माँ उनकी सेवामें बराबर लगी रहती थी। इसीसे वह पितासे गोत्र न पूछ सकी। मेरी शैशवावस्थामें ही पिता परलोक सिधार गये। इसलिये मुझे इतना ही ज्ञात है कि मैं अपनी माता जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।'

ऋषिने प्रसन्न होकर कहा—'सौम्य! ब्राह्मणको छोड़कर अन्य कोई भी इस प्रकार सरल भावसे सच्ची बात नहीं कह सकता। तुम निश्चय ही ब्राह्मण हो। मैं तुम्हारा उपनयन संस्कार कर देता हूँ।'

उपनयनके पश्चात् ऋषिने अपनी गोशालाकी चार सौ दुबली-पतली गाएँ चुनकर सत्यकामको दीं और कहा—'पुत्र! इन्हें चराने वनमें ले जाओ। जबतक इनकी संख्या एक सहस्र न हो जाय, तबतक लौटकर यहाँ मत आना।'

बालक सत्यकामने गुरुकी आज्ञा सहर्ष स्वीकार की। धैर्यके धनी ज्ञानपिपासु उस सच्चरित्र बालकने गायोंको चारे-पानीकी पर्याप्त सुविधावाले वनमें ले जाकर उनकी सेवा आरम्भ कर दी। उसकी सेवासे कुछ ही वर्षोंमें

गोवंशकी संख्या हजारपर पहुँच गयी। तब एक दिन वृषभने आकर मनुष्यकी वाणीमें उससे कहा—'सत्यकाम! अब हमारी संख्या एक सहस्र हो चुकी है। तुम हमें गुरुदेवके आश्रममें ले चलो। मैं तुम्हें ब्रह्मके एकपादका उपदेश करता हूँ। दूसरे पादका उपदेश अग्निदेव करेंगे।' सत्यकामने श्रद्धापूर्वक उनसे ब्रह्मके एकपाद प्रकाशवान्का उपदेश ग्रहण किया और वह गायोंसहित गुरुके आश्रमको चल पड़ा।

अगले दिन सायकाल उसका पड़ाव एक जलाशयके तटपर पड़ा। वहाँ अग्निदेवने प्रकट होकर 'अनन्तवान' नामक ब्रह्मके द्वितीय पादका उपदेश उसे दिया। तीसरे पड़ावपर हंसने 'ज्योतिष्मान' नामक ब्रह्मके तृतीय पादका उपदेश दिया। चौथे पड़ावपर जलमुर्गने 'आयतनवान' रूपसे ब्रह्मका उपदेश दिया।

इस प्रकार सत्यकामने गुरुसेवा तथा गोसेवाके प्रतापसे वृषभरूपमें वायुदेवता, अग्निरूपमें अग्निदेवता, हंस रूपमें सूर्यदेवता तथा जलमुर्गरूपमें प्राणदेवतासे ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया। एक सहस्र स्वस्थ गाएँ लेकर जब वह गुरुदेवके आश्रममें पहुँचा, उसका मुखमण्डल ब्रह्मतेजसे देदीप्यमान हो रहा था। उसे स्वस्थ एवं तेजोमय देखकर महर्षिने पूछा—'पुत्र तू ब्रह्मज्ञानीके समान दिखायी देता है। तुझे किसने ब्रह्मज्ञान दिया?'

विनीत होकर सत्यकामने कहा—'भगवन्! मुझे मनुष्येतरोंसे ब्रह्मज्ञानका उपदेश प्राप्त हुआ है। पर आप जैसे आचार्यद्वारा प्राप्त विद्या ही श्रेष्ठ होती है। अब आप मुझे उपदेश करें'—कहकर सत्यकामने विद्याप्राप्तिकी पूरी बात कह सुनायी।

अपने भक्त सेवक एवं विनम्र उस सच्चरित्र शिष्यको ऋषिने हृदयसे लगाकर आशीर्वाद दिया—'पुत्र! तूने जो कुछ जाना है, वही ब्रह्मतत्त्व है। अब तुम्हारे लिये कुछ भी जानना शेष नहीं है।'

[illegible]त्र और चरित्रवान्

(लेखक—आचार्य श्रीसीतारामजी चतुर्वेदी, एम० ए०)

संसारके सभी देशोंमें प्रत्येक नागरिकसे सदा यह आशा की जाती रही है कि वह समाजका उपयोगी अङ्ग बनकर समाजमें शाश्वत शान्ति, सद्भाव और सहयोगके साथ दूसरेका हित करनेकी भावनासे कार्य करता रहेगा। शिष्ट, सभ्य और सुशील नागरिक बननेके लिये वाणी और व्यवहारकी शुद्धि या भाव-शुचिता आवश्यक और अपरिहार्य है। प्रत्येक नागरिकको अपनी वाणी और व्यवहारसे अपने सम्पर्कमें आनेवाले प्रत्येक व्यक्तिको संतुष्ट करनेका यत्न करना चाहिये। यही शील है। यही चरित्रका आधार है। वाणी और व्यवहारकी इस शुचिताके लिये यह आवश्यक है कि प्रारम्भिक अवस्थामें ही माता-पिता, अभिभावक या गुरु उसे सामाजिक शिष्टाचारकी शिक्षा प्रदान करें। इससे वह अपने घरमें और समाजमें अपनेसे बड़ों, अपने बराबर-वालों और अपनेसे छोटोंके साथ आदर, सद्भाव और स्नेहका व्यवहार करेगा। इसीलिये प्राचीनकालमें गुरुकुलोंमें यह नियम था कि बालकको गुरु सर्वप्रथम शौच, शिष्टाचार आदि ही सिखाते थे—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च॥
(मनु० २। ६९)

शिष्टाचारके अन्तर्गत घरके वृद्धजन—पितामह-पितामही, माता, पिता, चाचा आदिके प्रति आदरपूर्ण, श्रद्धापूर्ण तथा सेवाभावित व्यवहार, अपने भाई-बहनोंमेंसे बड़ोंका आदर और सम्मान, छोटोंके प्रति स्नेह और सद्भाव, उनकी भावनाओंका आदर और तोषण, उन्हें

सुखी, प्रसन्न और संतुष्ट करनेका प्रयत्न, घरके सेवकोंके प्रति सदय व्यवहार, अपने पडोसियोंसे स्नेह और सहयोगके साथ निर्वाह, गुरुकुल या विद्यालयमें अपने गुरुओंके प्रति आदर और सेवाका भाव, अपनेसे बडे छात्रोंके प्रति आदर और अपने समवयस्क साथी सहपाठियोंके प्रति सहयोग, सत्यनिष्ठा, और सहायताका भाव तथा अपनेसे छोटी कक्षाके छात्रोंके प्रति उदारता, सहयोग, स्नेहका भाव आदि सब संनिहित हैं। समाजमें वृद्धजनोंका आदर और सम्मान करना, मन्दिर, सभा आदि सार्वजनिक स्थलोंमें शान्त और मौन होकर वहाँके क्रियाकलापमें मर्यादा और शान्तिपूर्वक आवश्यक सहयोग एवं परामर्श देना, अपने देशके प्रति पूर्ण भक्ति तथा निष्ठा रखते हुए (अपने देशके) पर्वत, नदी, नगर, ग्राम, पशु, पक्षी, वृक्ष, वनस्पति आदि सबके प्रति ममत्वपूर्ण स्नेह बनाये रखना और उनकी निरन्तर रक्षा करनेमें तत्पर रहना, कोई भी ऐसा काम न करना जिससे देशका असम्मान हो तथा अन्य धर्मों, धर्मस्थानों एवं धर्मावलम्बियोंके प्रति हार्दिक सद्भाव और सहनशीलता बनाये रखना—शिष्टाचार, शील या चरित्रका प्रथम सोपान है।

इन समस्त शिष्टाचारोंका बीज वाणीके संस्कारपर पूर्णतः निहित है। इसीलिये—'**वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते**'* कहा गया है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी कहा है—

> तुलसी मीठे बचन तें सुख उपजत चहुँ ओर।
> बसीकरन इक मंत्र है, परिहरु बचन कठोर॥

वाणी और व्यवहारका यह माधुर्य ही समष्टिरूपसे शील या चरित्र कहलाता है। अपने मनका सम्पूर्ण अहंकार निकालकर ऐसी स्निग्ध वाणीका प्रयोग करना चाहिये, जिसका प्रयोग स्वयंको भी अच्छा लगे और दूसरोंको भी सुख दे। शीलवान् पुरुषका मुख्य लक्षण भी यही है कि वह अपनी वाणीसे कभी किसीको किसी प्रकारका मानसिक कष्ट नहीं पहुँचाता। वह जिससे बात करता है, वह उसकी बातपर ही मुग्ध होता रहता है। इसीलिये कहा जाता है कि गुड़ न दे तो गुड़की-सी बात ही कहे। इस प्रकारकी वाणीका व्यवहार करनेवाले शीलवान् पुरुषका सर्वत्र समादर होता है। उसका लक्षण ही यह है कि वह न तो अपने मुँहसे अपनी बड़ाई करता है, न दूसरोंसे ही अपनी बड़ाई कराता है और यदि कोई उसकी प्रशंसा करने भी लगता है तो वह तत्काल उसे टाल जाता है। शीलवान् पुरुषका दूसरा लक्षण यह है कि वह '**त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः**'—सदा दूसरोंका उपकार करता रहता है, पर वह भूलकर भी कभी किसीसे उसकी चर्चा नहीं करता। फारसीमें कहावत है—'नेकी कुन् बदरियां अंदाज'—'दूसरेकी भलाई करो और उस भलाईकी [illegible]दीमें बहा दो।' भलाई करके उसका डंका [illegible] उस भलाईके महत्त्वको समाप्त कर दे[illegible]

शीलवान् पुरुषका तीसरा लक्षण यह है कि—यदि उसके प्रति किसीने छोटा-से-छोटा भी उपकार किया हो या उसकी सहायता की हो तो वह उसे सदा बहुत बड़ा बनाकर निरन्तर कृतज्ञतापूर्वक उसकी प्रशंसा करता रहता है। अपने प्रति किये हुए उपकारको जो नहीं मानता, वह कृतघ्न नराधम व्यक्ति समाजमें रहनेके योग्य ही नहीं है। भगवान् रामके शीलके सम्बन्धमें कहा जाता है—

> सुनि सीतापति सील-सुभाउ।
> मोद न मन, तनपुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ।

श्रीहनुमान्‌जीने उनके लिये सीताजीकी खोजका सेवा-कार्य किया था। उसके लिये वे हनुमान्‌जीके

* सुसंस्कृत वाणी ही मनुष्यका ऐसा सिद्ध अलंकार है, जिससे मनुष्य सदा सम्मानित और लोकप्रिय होता है।

और निरन्तर कर्णोंमें (क्रमश) बने रहे। शबरीने जो उन्हें बेर खिला दिये थे, उन बेरोंके स्वादको वे मिथिला और अयोध्याके राजसी भोगोंकी अपेक्षा कहीं अधिक स्वादिष्ट बताते रहे। इसके अतिरिक्त अपने पिता-माता—यहाँतकको वनवास दिलानेवाली विमाताके प्रति भी उन्होंने सदा शीलयुक्त व्यवहार किया। अपने भाइयों, अपने मित्र विभीषण और सुग्रीव तथा अपनी प्रजाके प्रति भी उनका प्रेम आदर्श रहा। महर्षि विश्वामित्र और गुरु वसिष्ठके प्रति उनका आदर-भाव संसारमें अद्वितीय रहा है। ऐसा शीलयुक्त व्यवहार मनुष्यताका प्रथम और नितान्त अभीष्ट अङ्ग है, जिसका आधार हृदयकी उदारता और वाणीका माधुर्य है।

शीलयुक्त वाणीके चार अङ्ग माने जाते हैं—वह शुद्ध हो, अर्थात् वाणीमें व्याकरण अथवा सामाजिक शीलकी कोई त्रुटि न हो; कलात्मक हो, अर्थात् उसे सुनकर श्रोता तत्काल उसकी ओर आकृष्ट होकर खिल उठे। वह वाणी इतनी मधुर हो कि [illegible] उसके बोलनेके ढंगपर ही मुग्ध हो उठे; साथ [illegible] वाणी प्रभावशाली भी हो; अर्थात् ऐसी मधुरताके साथ [illegible] हो कि श्रोतापर उसका समुचित प्रभाव पड़े और वह कहनेवालेके मनका समर्थन करने लगे। इसीलिये संसारके सभी देशोंके महापुरुषों, मनीषियों तथा महान् शिक्षा-शास्त्रियोंने शीलको ही सबसे अधिक महत्त्व दिया है और इसीलिये सभी देशोंमें समान रूपसे उन सब तत्त्वोंको आवश्यक शिक्षाके अन्तर्गत स्वीकृत कर लिया गया है, जिनसे मनुष्यमें मनुष्यता आती है। सार्वभौम, सर्वकालीन अर्थात् शाश्वत शिक्षाके सर्वमान्य सिद्धान्तोंके अनुसार प्रत्येक श्रेष्ठ नागरिकको अनुशिष्ट, सभ्य, स्वस्थ, पर-हितकारी तथा परार्थभावित नागरिक होना ही चाहिये। इन गुणोंकी पुष्टिके लिये उपर्युक्त वाणीका माधुर्य और व्यवहारकी शुद्धि अर्थात् सत्यनिष्ठा परम आवश्यक है। यही सच्चरित्रता है।

योगक्षेम—प्रत्येक व्यक्तिको अपना जीवन-निर्वाह तो करना ही पड़ता है। इसके लिये उसे अपनी योग्यता, परिस्थिति, वातावरण, साधन तथा परिवेशके अनुसार तत्तत्स्थानीय सुलभ पदार्थों और अवसरोंके आधारपर सत्यता और सद्‌वृत्ति-(ईमानदारी) के साथ अपना और अपने आश्रितोंका योगक्षेम वहन करनेके लिये अपने परिवारके बड़े-बूढ़ों अथवा गुणीजनोंसे अपने कुल व्यवसाय-(कुलीनिका-)का वह आवश्यक कौशल अवश्य प्राप्त कर लेना चाहिये, जिसके द्वारा वह सबको संतुष्ट करते हुए सद्‌वृत्तिके साथ अपने कर्तव्य और अधिकारका निर्वाह करते हुए अपने परिवारका पोषण कर सके। साथ ही जिन व्यक्तियोंके सम्पर्कमें वह आये, उन्हें अपनी मधुर वाणी, स्नेहपूर्ण व्यवहार, सत्यनिष्ठा, तत्परता और सद्भावसे तृप्त भी कर सके। केवल अर्थकरी विद्या प्राप्त करना ही अर्थ-सिद्धिके लिये आवश्यक नहीं है, उसके साथ व्यवहारशुद्धि (ईमानदारी), शील और वचनपालन भी नितान्त आवश्यक है—'**अर्थशौचं परं स्मृतम्**।' (मनुस्मृ० ५। १०६)

पारिवारिक चरित्र—प्रत्येक व्यक्ति अपने परिवारका स्वाभाविक अङ्ग होता है, चाहे वह परिवार माता-पिता, भाई-बहनका हो, चाहे किसी आश्रममें गुरु अथवा सहयोगी अन्तेवासियों या सहाध्यायियोंका हो, चाहे अन्य किसी समुदायका हो। पर आवश्यक यह है कि प्रत्येक व्यक्तिको अपने उस परिवारके लिये उपकारी अवश्य सिद्ध होना चाहिये। अर्थात् मनुष्य जिस प्रकारके परिवारमें भी रहे, वह शुद्धतम पारस्परिक सद्भाव, सहयोग, सहायता और सेवाकी भावनासे कार्य करे, दूसरोंपर आतङ्क जमाने, प्रभुत्व दिखाने और दूसरोंको वशमें करनेकी भावना उसमें न हो। उसका धर्म यह होना चाहिये कि वह स्वयं कष्ट और असुविधा सहकर भी अपने परिवारके अन्य सदस्योंके हित और कल्याणका उपाय सोचे और यथाशक्ति सबकी सहायता करता रहे।

सामाजिक शील—प्रत्येक व्यक्ति जहाँ एक ओर परिवारका आवश्यक और स्वाभाविक अङ्ग होता है, वहीं वह उस समाजका भी अङ्ग होता है, जिसमें वह जन्म लेता, जिसके बीच वह रहता, काम करता, अपनी जीविका चलाता तथा व्यवहार करता है। इस दृष्टिसे प्रत्येक व्यक्तिके कई प्रकारके समाज बन जाते हैं। परिवारका एक समाज, जातिका दूसरा समाज, पड़ोसका तीसरा समाज, धर्मका चौथा समाज, व्यवसायका पाँचवाँ समाज, खेलकूद या विनोद आदिका छठा समाज, विद्या और शिल्पका सातवाँ समाज, विचार या राजनीतिक वादका आठवाँ समाज आदि अनेक प्रकारके समाजोंमें प्रत्येक व्यक्ति एक होते हुए भी अलग-अलग ढंगसे अपने विभिन्न समाजोंकी नीतिके अनुसार व्यवहार करता है। इन सभी प्रकारके समाजोंमें उसे उपकारी, सहयोगी, सहनशील और सेवापरायण होनेके साथ-साथ सद्भाव-भावित होना ही चाहिये। तभी वह अपने इष्ट समाजकी समुचित सेवा भी कर सकता है, उस समाजमें आदर भी प्राप्त कर सकता है, उस समाजको समुन्नत भी कर सकता है और उसके द्वारा लोक-कल्याणके कार्य भी कर सकता है।

देशभक्ति और मानवता—जैसे प्रत्येक व्यक्ति एक परिवार या समाजमें रहता और व्यवहार करता है, उसी प्रकार वह एक देशमें भी रहता है। उस देशके जन-मानसकी भावनाओं, कामनाओं, आकाङ्क्षाओं, अभिलाषाओं आदि—सबमें उसका भी यथोचित भाव, अधिकार और कर्तव्य ग्रथित रहता है। देशके निवासीके रूपमें वह अपने देशके विभिन्न समुदायों, धार्मिक सम्प्रदायों, राजनीतिक दलों तथा सम्पूर्ण जन-समाजका अनिवार्य अङ्ग बन जाता है। ऐसी स्थितिमें उसका कर्तव्य हो जाता है कि न तो स्वयं वह कोई ऐसा काम करे न दूसरोंको करने दे, जिससे देशके सम्मान, सम्पत्ति और स्वाभिमानको ठेस लगे। उसे सबसे मिलकर इस प्रकार प्रयत्न करना चाहिये कि देश समृद्ध, शक्तिशाली और समुन्नत हो। उसपर किसी अन्य देश, जाति अथवा व्यक्तिका शासन न होने पाये। जो देशके विरोधी या शत्रु हों, उन्हें नष्ट करनेके लिये उसे अपना सर्वस्व त्याग करनेको भी सर्वदा उद्यत रहना चाहिये। जो व्यक्ति, जाति, राष्ट्र या समाज अपने देशको किसी प्रकारकी हानि पहुँचानेका प्रयत्न करें अथवा अपना या अपने परिवारका स्वार्थ सिद्ध करना चाहें, उनका निर्भय और निष्पक्ष होकर विरोध करना चाहिये। उस विरोधके लिये जो भी कष्ट सहना पड़े, उसके लिये भी सदा तत्पर रहना चाहिये।

देश-भक्तिकी भावनासे भी ऊँची मानववादी या विश्वहितकी भावना है, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्तिको प्रयत्नपूर्वक यह मनाते रहना चाहिये कि विश्वके सारे प्राणी सदा सुखी हों, और सुखी रहें। परस्पर बन्धुत्व-भावसे एक दूसरेकी सहायता करें। प्रेम और सद्भावके साथ रहें, सम्मिलित रूपसे लोक-कल्याणका उपाय करते रहें और कोई ऐसा कार्य न करें, जिससे मानवजाति, यहाँतक कि पशु-पक्षी या वृक्षादिका भी संहार और विनाश होनेकी किसी भी प्रकार सम्भावना न हो—

सर्वे च सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥

स्वस्थ शरीर और संतुलित मन—ऊपर प्रत्येक सच्चरित्र नागरिकके लिये जो अनेक प्रकारके व्यवहारों और कर्तव्योंका निर्देश दिया गया है, वह तबतक सम्भव नहीं है, जबतक मनुष्यका शरीर पूर्णतः स्वस्थ और सक्रिय न हो, उसका मन अडिग, निर्भय और संतुलित न हो और उसमें उदार शीलयुक्त व्यवहार-बुद्धि न हो। जबतक मनुष्यका शरीर सक्रिय नहीं होता, उसका मन व्यवस्थित, स्थिर और सन्तुलित नहीं होता तथा उसकी बुद्धि व्यवहारशील नहीं होती, तबतक वह परिवार, समाज या देशमें रहकर भी अपने कर्तव्यका पालन नहीं

कर सकता । इसलिये सर्वतोभावेन मनुष्यको नीरोग रहनेके लिये सरल, सात्त्विक भोजन, नियमित और संयत जीवन, निरालस कार्य-संलग्नता और तत्परता नितान्त आवश्यक है । जबतक यह सामर्थ्य नहीं होती, तबतक वह किसी प्रकारसे भी अपना या दूसरोंका कोई हित-साधन नहीं कर सकता । समाजका प्रत्येक व्यक्ति सब प्रकारके मादक पदार्थोंका त्याग करके यदि संन्तुलित, सात्त्विक आहारका आश्रय ले, ठीक समयपर रातको शीघ्र सोकर प्रातः शीघ्र उठकर समयसे व्यायाम, प्राणायाम, भोजन एवं भगवद्भजन करके अपना नित्य और नैमित्तिक कर्म करता रहे तथा गर्मी, सर्दी वर्षासे सुरक्षित रहकर ऋतु-परिवर्तनके दोषोंसे बचता हुआ जीवन-यापन करे, ईश्वरमें श्रद्धा रखकर और निर्वैर होकर कार्य करे तो वह चरित्रवान् पुरुष निश्चय ही दीर्घजीवी होकर आत्मकल्याण और लोक-कल्याण करता हुआ सबका श्रद्धा-भाजन बनकर यश और कीर्ति अर्जित कर सकता है—

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान् नरः ।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥ (मनु०)

धार्मिक सहिष्णुता—संसारमें बहुत-से देश हैं। उनमें अनेक प्रकारके सम्प्रदाय और धर्म प्रचलित हैं । उन सभीकी उपासना-पद्धति, कर्मकाण्ड और सिद्धान्त भिन्न-भिन्न हैं । प्रत्येक व्यवस्थित बुद्धि और संतुलित व्यक्तित्ववाले सदाचारी पुरुषका धर्म है कि वह अपने विश्वासके अनुसार अपनी उपासना-पद्धति और कर्मकाण्डका अनुगमन करे, पर यथासम्भव उसे दूसरोंकी उपासना-पद्धति, कर्मकाण्डका तथा उनके धार्मिक उत्सवों और पर्वोंका भी सम्मान करना चाहिये । देशमें, और विश्वमें शान्ति बनाये रखनेके लिये इस प्रकारकी धार्मिक सहनशीलता आवश्यक है । यह रुचि तभी आ सकती है, जब प्रत्येक व्यक्तिमें धर्मबुद्धि अर्थात् सदा दूसरेका हित सोचनेकी, किसीकी हिंसा न करनेकी और लोक-कल्याण करनेकी भावना विद्यमान हो । यह भावना तभी पुष्ट होती है, जब प्रत्येक देशका नागरिक अपने देशके सब निवासियोंकी भावनाओंका आदर करना सीख ले और अपने देशके महापुरुष, पर्वत, नदी, नद, तीर्थस्थान, नगर, पशु, पक्षी, बिल्व, तुलसी आदि वृक्ष-पौधे सबको अपना आदरणीय एवं आत्मीय समझकर सबके संरक्षण और समुद्धरणके लिये निरन्तर प्रयास करता रहे । जब हम इस प्रकारकी व्यापक उदार भावना अपने देशके नागरिकोंमें भर सकें, तब हमें समझना चाहिये कि हम उन्हें उच्च चरित्रकी ओर अग्रसर कर रहे हैं ।

आजकल प्रायः लोग यह कहते सुने जाते हैं कि हमारी शिक्षा-प्रणाली बड़ी दूषित है, किंतु इसी शिक्षा-प्रणालीमेंसे ही तो महामना मालवीयजी, महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा अन्य अनेक उदारचेता देशभक्त, यशस्वी, सदाचारवान् महापुरुष उत्पन्न हुए हैं । अतः शिक्षा-प्रणाली जो भी हो, हम निश्चितरूपसे इसी शिक्षा-प्रणालीके अन्तर्गत चरित्र-शिक्षाकी योजना भी सिद्ध कर सकते हैं । किंतु उसके लिये ऐसे नियोजित और सुव्यवस्थित व्यक्तित्ववाले अध्यापकों और धार्मिक नेताओंकी आवश्यकता है, जो चारित्रिक शिक्षामें निष्ठाके साथ विश्वास रखते हों और स्वयं आदर्शचरित्र हों । चारित्रिक-आदर्श पुस्तकों, व्याख्यानोंकी अपेक्षा आचरणसे अधिक प्रभावकारी होता है । अतः उसकी विशेष आवश्यकता है । सारे संसारको चरित्रकी शिक्षा देनेवाला भारत तब अपना आदर्श पुनः स्थापित कर सकता है ।

महान् चरित्र-निर्माता समर्थ गुरु रामदास

(लेखक—डॉ० श्रीकेशवविष्णुजी मुळे)

आज विश्वमें जो चरित्रहीनताका दर्शन होता है, प्रायः कुछ वैसी ही चरित्रहीनता समर्थ गुरु रामदासस्वामीजीके समय थी। यवनोंके बारंबार होनेवाले आक्रमणोंसे सर्वत्र अंधकार छा गया था। स्त्रियोंको भ्रष्ट किया जा रहा था। सर्वत्र धन, धान्य, संपत्ति और स्त्रियोका अपहरण होता था। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' कहावत चरितार्थ हो रही थी। इस अंधाधुंध बर्तावसे समाजमें अनीति, चरित्रहीनता, दुर्व्यसन तथा नैराश्य आदिकी वृद्धि हो रही थी। इन्हीं दिनों श्रीरामदासस्वामीजीने बारह सालतक भारतवर्षमें आसेतुहिमाचल तीर्थाटन किया। इस यात्रामें उन्होंने भारतीय जनतामें फैले चारित्र्यहीनताका सूक्ष्म दृष्टिसे अवलोकन किया और इस चारित्र्यहीनताको दूर करनेके लिये क्या किया जाय? यह विचार कर वे जनतामें सच्चरित्रताका प्रसार करनेके लिये कटिबद्ध हुए।

उन्होंने जनतामें फैली हुई निराशाको दूर करनेके लिये सर्वप्रथम युवकोंको शक्ति-बुद्धिके देवता श्रीहनुमान्-जीकी उपासनाकी ओर प्रेरित किया। फिर व्यायाम और तरुणोंके खेलोंद्वारा उनका विशेष संघटन किया। उन्होंने अपने उपदेशोंके माध्यमसे लोगोंको सच्चारित्र्यकी भी शिक्षा दी। श्रीरामदासस्वामीजीने इसके लिये प्रायः एक हजार प्रचार-संस्थान अर्थात् मठ, अखाडे भारतमें स्थापित किये और वहाँ अत्यन्त शीलसम्पन्न, अनुभवी, विचारशील प्रचारकोंको भेजकर, रखकर जनसामान्यको चारित्र्यवान् बनानेका प्रयास किया। उन्होने ग्राम-ग्राममें शक्ति-बल-बुद्धिदाता श्रीमहारुद्र हनुमान्जीकी मूर्तिकी स्थापना कर प्रत्येकके सामने हनुमान्जीका आदर्श रखनेका प्रयत्न किया। इनके परिणामस्वरूप उन्हींके सत्शिष्य छत्रपति श्रीशिवाजी महाराजद्वारा महाराष्ट्रदेश यवनोंकी दासतासे मुक्त होकर स्वतन्त्रता प्राप्त कर सका।

उन्होंने अपने 'दासबोध' तथा अन्य दूसरे काव्यों-द्वारा कलियुगी चारित्र्यहीनताका दर्शन करवाया है। साथ ही इस चारित्र्यहीनताको हटाकर चारित्र्यसम्पन्नता कैसे प्राप्त की जाय, इसका भी योग्य मार्गदर्शन अपने काव्योंमें तथा ग्रंथराज 'दासबोध'में कराया। वे कहते हैं—

रूप लावण्य अभ्यासता न ये। सहज गुणांसी न चले उपाये।
कां हीतरी धवावी सोये, आगंतुक गुणाची॥
(दासबोध)

मानव अपना नैसर्गिक रूप तो नहीं बदल सकता, किंतु अपनेमें जो दुर्गुण निवास कर रहे हैं, उन्हें प्रयत्न कर सद्गुणोंमें परिवर्तित कर सकता है। इसलिये उन्होंने अपने ग्रन्थ 'दासबोध'में 'उत्तम लक्षण' आदि प्रकरणोंद्वारा और ब[illegible]त-से काव्योंद्वारा सच्चारित्र्यवान् मानव बननेके लिये अने[illegible] प्रदर्शित किये हैं। बालक और विद्यार्थि[illegible] सद[illegible]ार सम्पन्नता हो—इसके लिये उन्होंने बहुत[illegible] काव्य रचे। एक काव्यमें वे कहते हैं—'ब[illegible]ो! सत्य बोलो। बुद्धिको विवेकयुक्त रखो और चित्तमें सदा सद्गुणोंको ही धारण करो। अपना शरीर और वस्त्र स्वच्छ रखो। गंदगीसे सदा दूर रहो; अपनेमें जो वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध हैं उनकी सेवा करो, उनका सम्मान करो और उनके उपदेश सदा हृदयमें धारण करो।'

श्रीरामदासस्वामीजीका 'मनोबोध' अर्थात मनको बोध नामक २०४ श्लोकोका काव्य है। इसे उपनिषद्-सार समझा जाता है। इसका महाराष्ट्रके घर-घरमे पठन किया जाता है। इस काव्यके आरम्भिक इक्कीस श्लोकतक स्वामीजीने सच्चरित्रताके लिये कैसा बर्ताव करना चाहिये, इसका अत्यन्त सुंदर मार्गदर्शन किया

हैं। वैसे कहें तो श्रीरामदासस्वामीजीने अपने सम्पूर्ण वाङ्मयद्वारा चारित्र्यहीन मानवको चारित्र्यसम्पन्न बनानेका महान् प्रयास किया है। उनके सम्पूर्ण वाङ्मयका यथार्थ दर्शन करनेका प्रयत्न इस लेखके द्वारा करना विस्तारभयके कारण असंभव है। ग्रंथराज 'दासबोध' और 'मनोबोध'—इन दोनों ग्रंथोंके हिंदी भाषान्तर प्रकाशित हो चुके हैं। वाचकवर्ग इन ग्रंथोंमें उप' निर्दिष्ट प्रकरणोंको देखकर लाभ उठा सकते हैं।

'जय जय श्रीरघुवीर समर्थ।'

प्राचीन भारतमें शिक्षासे चरित्र-निर्माण

(लेखिका—डॉ० (कु०) कृष्णा गुप्ता, एम्० ए०, पी-एच्० डी०)

भारतवर्ष प्राचीनकालसे ही ज्ञान एवं विज्ञानका प्रेमी रहा है। 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' के अनुसार इस देशमें प्रमुख ब्राह्मण अर्थात् दार्शनिक और वैज्ञानिक ही रहे हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों-के सम्बन्धमें भारतके विद्वानोंने इतनी गवेषणा की है और इतने श्रेष्ठ ग्रन्थोंकी रचना की है, जिससे सारा संसार उनके सामने नतमस्तक है। अतीत इस बातका साक्षी है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति अपने आध्यात्मिक स्वरूपको अचल रखते [illegible] देशको गौरवान्वित किया है। यहाँकी आदर्श [illegible]मयी संस्कृतिकी आत्माका दर्शन यहाँकी शिक्षामें हो[illegible] है। हमारे पूर्वजोंकी शिक्षा रही है—'ज्ञान जहाँसे मिले वहाँसे प्राप्त करो और युक्तियुक्त, न्याययुक्त और ज्ञानव[र्ध]क शिक्षाको ग्रहण करो।' वैदिक धारणाके अनुसार देवता लोग सर्वज्ञ होते हैं—'विद्वांसो हि देवाः' (शतपथ० ३। ७। ३। १)। मनुष्यमें भी विद्यासे दिव्यताका प्रवेश होता है। विद्याविदोंने विद्याको नेत्र, कल्पलता और कामधेनुतक माना है—

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते
कान्तेव चापि रमयत्यपनीय खेदम्।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिं
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या॥
(भोजप्रबन्ध)

अथर्ववेदके अनुसार शिक्षा एवं ज्ञानसे चक्षु, प्राण और प्रजा पानेकी विशेषता है—

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥
(अथर्व० १०। १। २९)

उपनिषदोंमें तो ब्रह्मज्ञानका सर्वाधिक महत्त्व रहा। ब्रह्मज्ञानके द्वारा स्वयं ब्रह्म बनना, अपने कुलकी, ब्रह्मज्ञाताकी प्रतिष्ठा करना, शोकको पार करना, पापरहित होना, अमरता तथा गुहा-ग्रन्थिसे मुक्ति पाना सम्भव माना गया है। (मुं० उ० ३। २। ९) अध्ययन और नैष्ठिक ब्रह्मचर्यको धर्मका प्रमुख अङ्ग माना गया है। (छा० १। २३। १) विद्यासे अमरता पानेकी भी सम्भावना बतायी गयी है (ई० ११, बृ० आ० १। ५। १६)। अर्थशास्त्र-(३। २०) में पूज्य लोगोंमें विद्या और बुद्धिसे सुशोभित लोगोंके लिये सर्वोच्च स्थान नियत किया गया है (अर्थशास्त्र ३। २०)। महाभारतके अनुसार भी ब्राह्मणोंमें पूज्यता विद्यासे उत्पन्न होती है—

यो विद्यया तपसा जन्मना वा
वृद्धः स पूज्यो भवति द्विजानाम्।
(महा० १। ८४। २)

मनुने ब्राह्मण-समाजकी प्रतिष्ठाका आधार ज्ञानको ही बतलाया है। उनके अनुसार वही ब्राह्मण ज्येष्ठ है, जो सबसे अधिक ज्ञानी है। अशिक्षित ब्राह्मण काठके हाथीके सदृश अपने नामको सार्थक नहीं करता (मनु० २। १३५-६)। मनुने विद्याकी प्रशंसा करते हुए विवेचन किया है कि ब्राह्मणके लिये तप और विद्या

दोनों निःश्रेयस्कर हैं। इनसे तपके द्वारा वह पापको नष्ट करता है और विद्याके द्वारा अमरपद पाता है। ज्ञानकी महिमाका निर्देश करते हुए मनुने कहा है—

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन्।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
(मनु० १२। १०२)

पुराणोंमें वेदोंका ज्ञान एवं अध्ययन महत्त्वपूर्ण माना गया। इनका अध्ययन उतना ही महत्त्वपूर्ण माना गया है, जितना वस्त्रोंको धारण करना। वेद मानवताके लिये परिधान-सदृश हैं—

ज्ञानमेव वरं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय चेष्यते।
ज्ञानात्मकमिदं विश्वं न ज्ञानाद्विद्यते परम्॥
(वि० पु० २। ६। ४९)

इस प्रकार विद्या और ज्ञानको मनुष्यका जीवन प्रदान करनेवाला माना गया है और इसीके द्वारा ब्रह्मत्व प्राप्त होता है। यह विद्या धन, बन्धु, कर्म, जाति, अवस्था सबसे प्रमुख है और ज्ञान इनसे भी श्रेष्ठ माना है—**'विद्या ददाति विनयम्'**—विद्यासे विनय प्राप्त होती है। **वित्तं बन्धुकर्मजातिविद्यावयांसि मान्यानि। पदं परं वलीयांसि। श्रुतं तु सर्वेभ्यो गरीयः।** (गौतमधर्मसूत्र ६। २०–२२)

उन दिनोंमें प्रायः प्रत्येक आचार्यकी यही कामना रहती थी कि उसका शिष्य विद्वान् बनकर सुयश प्राप्त करे और आचार्य बनकर शिष्योंको पढ़ाये। इससे शिष्यपरम्परासे ज्ञान अमर रहेगा। विद्यार्थीको अपनानेसे पूर्व आचार्य उसके शील और चरित्रकी परीक्षा लेते थे। पिप्पलादने कौसल्यको प्राण-विद्याकी शिक्षाके योग्य इसी कारण माना था कि वह ब्रह्मनिष्ठ था। कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्-(१। १) के अनुसार मान-(अभिमान-)का न होना विद्या प्राप्त करनेके लिये सर्वोच्च गुण था। प्राचीन भारतमें शिक्षाकी कल्पना विस्तृत एवं बहुमुखी थी। विद्या सभी प्रकारकी लौकिक सम्पदा एवं पारलौकिक आनन्दकी आधार थी। विद्याके द्वारा विद्यार्थी अपनी वैयक्तिक चेतनाओंको जागरित तथा अपने व्यक्तित्वका विकास करके आध्यात्मिक अभ्युदयके लिये प्रवृत्त होता था। ऐसे विद्यार्थीके लिये आधिभौतिक ऐश्वर्यकी मनोहारिता बहुत अधिक स्पृहणीय नहीं होती थी। दिग्विजयी राजा भी उसकी चरणरज पाकर अपनेको धन्य मानता था। ईशावास्योपनिषद्में उपासनाके दो भेद माने गये हैं—ज्ञान एवं कर्म—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥
(ईशोप० ११)

'विद्या या ज्ञानके द्वारा विद्यार्थी अमरत्वको प्राप्त करता है एवं कर्मके द्वारा भौतिक समृद्धिको। उपासकके द्वारा कामना की गयी है कि परमात्मा उसे असत्से सत्, तमसे ज्योति एवं मृत्युसे अमरत्वकी ओर ले चलें—

असतो मा सद्गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय। (बृहदा० उप०)।

प्राचीन भारतमें विद्यार्थीका जीवन ज्ञान एवं कर्तव्य-पालनमें व्यतीत होता था। उस समय बिना आचारपालनके शिक्षाके आदर्शोंकी प्राप्ति प्रायः असम्भव थी। शिक्षाका आदर्श मात्र बौद्धिक ज्ञान प्राप्त करना न था। उससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण उसका आचरण था। इसके द्वारा विद्यार्थीमें अनेक मानवीय गुणोंका विकास होता था। उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व विकसित होता था। विद्यार्थी जीवनके नैसर्गिक धरातलसे सांस्कृतिक धरातलको प्राप्त करता था, जिसके द्वारा शैक्षणिक संस्कारों—विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ आदिका जन्म हुआ। इन संस्कारोंके साथ उसको नियमित दिनचर्या व्यतीत करनी पड़ती थी, जिसके द्वारा उसका आचरण अनुशासन एवं शीलयुक्त होता था। इस प्रकार एक विशेष साँचेमें ढला हुआ विद्यार्थी बुद्धिसे प्रखर एवं मनसे महान् होता था—'अक्षण्वन्तः

कर्णवन्तः मनोजवेष्वसमा बभूवुः (ऋ० १०। ७१। ७)। विद्यार्थीमें एक विशेष प्रकारका तेज, परिज्ञान एवं नेतृत्व प्राप्त होता था। सुसंस्कृत व्यक्ति विद्यासे सुख, यश, कीर्ति, ज्ञान, स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त करता था—

विद्यया प्राप्यते सौख्यं यशः कीर्तिस्तथातुला।
ज्ञानं स्वर्गः सुमोक्षश्च तस्माद्विद्याप्रसाधनम्॥
(पद्मपुराण)

प्रचीनकालमें शिक्षाके आदर्श मूलरूपमें व्यावहारिक थे। इस समय विद्याध्ययन केवल गौणरूपसे ही धन कमानेके लिये है। उस समय सुसंस्कृत छात्र ही सच्चे अर्थोंमें विद्यार्थी बनते थे एवं समाजके लिये उपयोगी नागरिक होते थे। उनका जीवन विनय, शील एवं संयम आदि गुणोंसे परिपूर्ण होता था। उनका चित्त स्वाध्यायसे एकाग्र हो जाता था। इससे इन्द्रियोंपर संयम होता था। उनकी प्रज्ञा बढ़ जाती थी। उन्हें लौकिक यशकी प्राप्ति होती थी और वे लोकको अभ्युदयकी ओर लगा देते थे। वे अपने ज्ञानके द्वारा समाजके प्रति उत्तरदायित्वको पूर्ण करते थे। इसके बदले समाज अपनी आदर भावनासे, दानसे और सुरक्षासे उन्हें संतुष्ट करता था।

चरित्र-सम्बन्धी कुछ प्रेरक प्रसङ्ग

(लेखक—श्रीरामप्रतापजी व्यास, व्याख्याता, एम्० ए०, एम्० एड्०, साहित्यरत्न)

चारित्र्य सम्पूर्ण गुणोंका एक ऐसा जगमगाता पुञ्ज है, जो दानवको मानव एवं मानवको देवत्वकी श्रेणीमें ला खड़ा कर देता है। चरित्रवान् [illegible] समाजमें सदासे पूजनीय रहे हैं। उनके सद्गु[illegible] हजारो मनुष्योंको प्रेरणाएँ मिली हैं और अपने जीवनको सन्मार्गोंकी ओर मोड़नेमे लोगोंने सफलताएँ प्राप्त की हैं। यहाँ चरित्र-सम्बन्धी कतिपय महापुरुषोंके जीवनसे कुछ ऐसे ही प्रेरक प्रसङ्ग दिये जा रहे हैं—

१—'आप मेरी माता हैं'

छत्रसाल बड़े प्रजापालक थे। वे अपनी प्रजाकी पुत्रवत् देखभाल करते थे। वे राज्यका दौरा करते और जनतासे उसकी कठिनाइयाँ पूछते थे। एक बार एक युवती महाराजकी ओर आकर्षित हुई। वह उनके पास आकर बोली—'राजन्! आपके राज्यमें मैं दुःखी हूँ।' यह सुनकर छत्रसाल बड़े दुःखी हुए। वे बड़े सोचमें पड़ गये। मन-ही-मन कहने लगे—'मेरे लगातार प्रयत्नशील रहनेपर भी राज्यकी जनता दुःखी रहे, यह मेरे लिये असह्य है।'

उन्होंने महिलासे कहा—'देवि! बताइये आपको क्या कष्ट है। मैं उसे दूर करनेका यथाशक्ति प्रयत्न करूँगा।'

'ऐसा आश्वासनभरी बातें सभी करते हैं, पर उसे पूरी करनेवाले विरले ही होते हैं। पहले आप वचन दें तो मैं अपनी बात बता सकती हूँ'—युवतीका उत्तर था।

'हाँ! हाँ!! आप अपनी बात निःसंकोच कहिये'—सरल हृदयी महाराजका उत्तर था।

'मैं चाहती हूँ कि आप जैसी संतान मेरे भी हो'—रमणीका जवाब था।

महाराज यह सुनकर स्तब्ध रह गये। फिर विवेक व संयमसे काम लेते हुए उन्होंने उस नारीके चरणोंमें मस्तक झुकाकर निवेदन किया—'माँ! आप जिस पुत्रकी कल्पना कर रही हैं, सम्भव है, वह मेरी तरह न हो, इसलिये आजसे आप मुझे ही अपना पुत्र स्वीकार करें।'

नरेशका यह उत्तर सुनकर नारीकी मूर्च्छा जगी। उसे अपनी त्रुटिका बोध हो गया। राजा जीवनभर उसके प्रति राजमाताके समान सम्मान रखते रहे।

२—सभ्यताकी कसौटी

स्वामी विवेकानन्द जब अमेरिका गये थे तो एक दिन वे जब गेरुए वस्त्रमे एक सड़कसे गुजर रहे थे, तो कुछ लोगोंको उन्हे देखकर बड़ा आश्चर्य लगा। वे लोग उनके पीछे-पीछे चलने एवं हँसी-मजाक बनाने लगे। शायद उन लोगोने सोचा होगा कि यह कोई मूर्ख है।

जब काफी भीड़ इकट्ठी हो गयी, तो स्वामीजी पीछे मुड़कर भीड़की ओर देखकर बोले—'श्रीमानो! आपके यहाँ सभ्यताकी कसौटी पोशाक है, पर हमारे देशमे मनुष्यकी पहचान उसके कपड़ोसे नहीं; चरित्रसे होती है।'

स्वामीजीका इतना कहना था कि भीड़ धीरे-धीरे बिखर गयी।

३—सचाई हर जगह चलती है

देशबन्धु चित्तरञ्जनदास जब छोटे थे, तब उनके चाचाने उनसे पूछा—'तुम बड़े होकर क्या बनना पसन्द करोगे?'

'मै चाहे जो बनूँ, किंतु वकील न बनूँगा।' चित्त-रञ्जनदासने उत्तर दिया। चाचा फिर बोले—'ऐसा क्यो, भला!'

'वकालत करनेवालेको कदम-कदमपर झूठ बोलना पड़ता है। बेईमानी करनी पड़ती है'—दासने कहा।

परंतु भाग्यकी विडम्बना देखिये कि चित्तरंजनदास बड़े होकर वकील ही बने। किंतु उनकी वकालत दूसरोसे भिन्न थी। वे झूठे मुकदमे कभी न लेते। अपना पारिश्रमिक भी जितनी मेहनत करते उतना ही लेते। उनकी योग्यताका लाभ दीन-हीन, असहाय एवं देशभक्त ही उठाते। कभी-कभी गरीबोंकी पैरवी वे निःशुल्क ही करते। जो भी मुकदमा लेते, उसमें पूरी रुचि दिखाते तथा सम्बन्धित व्यक्तिको जीतानेका प्रयत्न करते। साथ-ही ऐसा प्रयत्न करते कि उसे कम-से-कम सजा मिले।

इस प्रकार चित्तरञ्जनदासने यह सिद्ध कर दिया कि वकालत-जैसा बदनाम व्यवसाय भी सत्य, न्याय तथा ईमानदारीके साथ सम्पन्न किया जा सकता है।

४—सर्वोत्तम शक्ति चरित्र

चन्द्रगुप्त इस बातसे घबराया-सा था कि मेरी इतनी कम सेना नन्दवंशका सामना किस प्रकार कर सकेगी? वह अपनी शंकाको दूर करने गुरुदेव कौटिल्यके पास गया तथा अपना मन्तव्य कह सुनाया। चाणक्य पहले मुस्कराये, फिर बोले—'**इन्द्रियवशवर्ती चतुरङ्गोऽपि विनश्यति**'—यदि किसीके पास विशाल चतुरङ्गिणी सेना हो, किंतु चरित्र न हो, तो वह अपनी इस दुर्बलताके कारण शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।'

चन्द्रगुप्तको गुरुकौटिल्यका आशय ज्ञात हो चुका था। उसने शीघ्र ही मगधपर आक्रमण कर दिया और विजय प्राप्त की।

चरित्र-बलके ऐसे सैकड़ों प्रसङ्ग गिनाये जा सकते हैं, जिनपर चलकर उन महापुरुषोने अपना जीवन तो सफल बनाया ही है, साथ-ही प्रकाशस्तम्भ बनकर औरोके जीवनको भी बदल दिया है। धन्य हैं, वे महापुरुष तथा धन्य हैं, वे अनुगामी जिन्होने उनसे प्रेरणा पाकर मानव-समाजको एक आदर्श पाठ पढ़ाया है।

इसी विचार-क्रान्तिकी अवधिमें गोपा (यशोधरा) को एक सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ । अब गौतमकी वैराग्य भावना और उत्कट हो उठी । एक रात्रि पुत्रको हृदयसे लगाकर सोती हुई यशोधराको छोड़कर उन्होंने वनकी राह ली ।

प्रातः उठनेपर यशोधराने देखा, उनके पतिदेवका कोई पता न था । उन्होने पता लगाया, पर कहीं उनका पता न चला । यह जानकर कि उनका प्रिय अश्व कन्थक तथा सारथि छन्दक भी नहीं हैं, गौतमके पलायन-का निश्चय हो गया । लौटकर छन्दकने जो वृत्तान्त सुनाया उससे तो उसे स्वप्नकी घटना प्रत्यक्ष सत्य होती हुई दिखायी पड़ी ।

पतिपरायणा गोपाको पति-वियोग असह्य हो गया । वह बहुत दुखी हुई । उसकी दासियाँ, सखियाँ उसे सान्त्वना देतीं, समझातीं । किसी तरह अपनेको आश्वस्त कर धैर्य धारण कर उसने भी संयम व्रतका जीवन आरम्भ कर दिया । पर उसे पतिके चुपकेसे पलायनकी टीस मारे डालती थी । वह सखियोंसे कहती—

सिद्धि हेतु स्वामी गये यह गौरवकी बात ।
पर चोरी चोरी गये, यही बड़ा व्याघात ॥

× × ×

सखि वे मुझसे कहकर जाते ।
कह तो क्या मुझको वे पथ-बाधा ही पाते ।

× × ×

स्वयं सुसज्जित करके क्षणमें, प्रियतमको प्राणोंके पणमें ।
हमी भेज देती हैं रण में, क्षात्र धर्मके नाते ।'
सखि वे मुझसे कहकर जाते ।

अर्थात्-हम क्षत्राणियाँ जब अपने पतिको, पुत्रको स्वयं सजाकर, आरती उतारकर, टीका कर रणके लिये भेज देती है तो क्या सिद्धिके लिये प्रस्थान करनेवाले स्वामीको न भेजती जो कि मेरे लिये गौरवकी बात होती । इसमे चोरी-चोरी जानेकी बात मुझे टीसती रहती है ।

पति वनमें तप कर रहा है, पत्नी गोपा राजमहलमें संन्यासिनीके समान सादा वेश बनाकर तप कर रही है; साथ ही पतिकी थाती पुत्र 'राहुल'का भी क्षत्रियोचित पालन करती है । जब वह मचलता है तब उसे सारी व्यथा कथा कहनी पड़ती है । इस विपत्तिमें राहुल ही उसका अवलम्बन है, सम्बल है । वह सखियोंसे कहती है कि आर्यपुत्र तो परीक्षा दे चुके, अब मेरी बारी है । मुझे वज्रसे कठोर और कुसुमसे भी कोमल बनना पड़ेगा । वह पतिकी सफलता-हेतु मङ्गल कामना करती है कि 'हे नाथ ! तुम्हे सिद्धि, मुक्ति प्राप्त हो, तुम्हारी तपश्चर्यामे अप्सराओंका विघ्न न आ सके; क्योंकि तुमने यशोधराका पाणिग्रहण किया है ।'

अन्तमें गौतमकी तपस्या फलीभूत हुई । बुद्धत्वकी प्राप्ति हुई । वे पदयात्रा करते हुए सारनाथ, काशी आदि सर्वत्र धर्मप्रचार-धर्मोपदेश देते कपिलवस्तु भी पधारे, पर राजकुमारके रूपमें नहीं, भिक्षुकके रूपमे—मुंडित शिर, नग्न पैर, गैरिक चीर धारण किये भिक्षापात्र हाथमें लिये ।

सारा कपिलवस्तु उनके स्वागतमें उमड़ पड़ा, सब बाहर आ गये—राजद्वारपर, राजपथपर महलोंकी छतपर । पर गोपा अपने कक्षमें शान्तभावसे बैठी रही । सखियोंके, सास-ससुरके बारम्बार समझानेपर भी वह बाहर न निकली । उसने नम्रतासे यही कहा, मैंने उन्हें नहीं छोड़ा है, अपितु वे ही मुझे छोड़कर गये हैं । अतः जहाँसे मुझे छोड़कर गये हैं, वहीं दर्शन देने आयेंगे ।

अन्तमे यशोधराकी विजय हुई । गौतम बुद्धको यशोधराके उस कक्षमे आना पड़ा, जहाँ उसे सोती हुई छोडकर वे रातमे चुपकेसे चले गये थे । यशोधराने भी उठकर द्वारपर आये सन्यासीका स्वागत किया—

पधारो भव भवके भगवान् ।

आज गोपाको गौतमकी महत्ताका वास्तविक पता चला । वह कृतार्थ हुई । किंतु इतने महान् भिखारीको

उसके और अपने अनुरूप भिक्षा देनी चाहिये, आखिर वह क्षत्राणी राजपुत्री जो ठहरी। अन्तमें उसने गौतमकी थाती, अपने लाल राहुलको भिक्षामें उन्हे समर्पित कर दिया—

तुम भिक्षुक बन कर आये थे, गोपा क्या देती स्वामी?
था अनुरूप एक राहुल ही, रहे सदा यह अनुगामी।

धन्य है गोपा, जिसने पतिके अपनाये मार्गपर मौन पर कठोर व्रतका आचरण कर अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया। गौतमकी सिद्धिमें गोपाका त्याग, उसकी तपश्चर्या अधिक सहायक हुई। गोपाके आदर्श त्याग, तप एवं चरित्र बलपर ही गौतम महात्मा गौतम बुद्ध हो सके।

चरित्रकी विशेषता

(लेखक—महाकवि श्रीवनमालीदासजी शास्त्री)

पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धाः
सम्पदो विपद एव विमृष्टाः।
पात्रपाणिकमलार्पणमासां
तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्टः॥
(नैषधीयचरित ५। १७)

स्वर्गमें अपने निकट आये हुए श्रीनारदजीसे इन्द्रने कहा था—'देवर्षे! पहले जन्मके किये हुए पुण्यके प्रतिफलमें ही सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं। पर विचार करनेपर वे बहुत पुण्य नष्ट करनेवाली एवं अन्तमें दुःखदायिनी दीखती है। अतः मुझे तो वे विपत्तियाँ ही प्रतीत होती है। पर इन्हे ही यदि किसी योग्य पात्रके करकमलोंमें अर्पण कर दें तो वे शान्तिकारक हैं। यही विधि शास्त्रोंमें देखी गयी है। किंवा ब्रह्माजीने ऐसा कहा है।' (नारायणी टीकाका सारांश)। आज यहाँ इस प्रसङ्गमें पात्रका ही विचार करना है। गीताके वक्ता श्रीकृष्ण एवं विदुर आदि भी कहते हैं—'**देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥**' (गीता १७। २०; विदुरनीति,) पवित्र देशमें, पुण्यप्रद कालमें एवं योग्य पात्रको दिया गया दान सात्त्विक कहा गया है। योग्य पात्रका लक्षण याज्ञवल्क्यने इस प्रकार बतलाया है—

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम्॥
(याज्ञवल्क्यस्मृति १। २००)

'केवल विद्या या तपके द्वारा पात्रता प्राप्त नहीं होती, जिस व्यक्तिमें चरित्र (सदाचरण) विद्या एवं तप—ये तीनो विद्यमान हों, वही योग्य पात्र है।' इसके विपरीत दुराचारी व्यक्तिको तो जैसे पंख निकलनेपर पक्षी घोसलेको छोडकर उड़ जाते है, उसी प्रकार वेद भी अन्तकालमें छोड़ देते है। शास्त्रोंमें कहा है—

छन्दांस्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः।

चरित्रहीन व्यक्तिके विषयमें 'मृच्छकटिक' नाटकके आठवें अङ्कमें कहा गया है—

शिरो मुण्डितं तुण्डं मुण्डितं
चित्तं न मुण्डितं तं किं मुण्डितम्।
यस्य पुनश्चित्तं मुण्डितं
साधु सुष्ठु शिरस्तस्य मुण्डितम्॥
('शिलमुण्डित' आदि प्राकृतकी छाया ८। ३)

'जिस व्यक्तिने सिरका मुण्डन करा लिया, मूँछ भी मुड़ा ली, परंतु अपने चित्तका मुण्डन न किया तो क्या मुण्डित किया? और जिसके चित्तका मुण्डन हो गया, उसीके सिरका मुण्डन भलीभाँतिसे हुआ है, ऐसा समझना चाहिये।' इस नाटकके उसी अङ्कमें कहा गया है—

संयच्छत निजोदरं नित्यं जागृत ध्यानपटहेन।
विषमा इन्द्रियचौरा हरन्ति चिरसंचितं धर्मम्॥
(प्राकृतकी छाया १-२)

'अपने उदरको वशमें रखो तथा ध्यानरूपी नगाड़े-की चोटसे नित्य ही जागते रहो। ये इन्द्रियरूपी

*

चोर बडे भयंकर है । ये चिरकालसंचित धर्मरूपी धनको शीघ्र ही लूट लेते हैं । जिस व्यक्तिने इन्द्रियरूपी पाँच दुष्टजनोंको मार दिया है, और मायारूपिणी कामिनीको मारकर शरीररूपी ग्रामको सुरक्षित कर लिया एवं निर्बल कामरूपी चाण्डालको मार दिया, वह मनुष्य अवश्य ही स्वर्गका अनुशीलन कर रहा है ।'

ऐलोपाख्यानमें भगवान्‌ने भी उद्धवसे कहा है—

किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा ।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम् ॥
(श्रीमद्भा० ११ । २६ । १२)

'जिसके मनको स्त्रियोंने अपहरण कर लिया, उसकी विद्या व्यर्थ है । उसे तपस्या, त्याग और शास्त्राभ्याससे भी कोई लाभ नहीं । उसका एकान्त सेवन और मौन भी निष्फल ही है ।' अतएव महाभारतके अनुसार श्रीरूप-गोस्वामीने अपने 'उपदेशामृत'में ठीक ही कहा है कि—

वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं
जिह्वावेगमुदरोपस्थवेगम् ।
एतान् वेगान् यो विषहेत मर्त्यः
सर्वामपीमां पृथिवीं स शिष्यात् ॥
(महा० ५)

'अपने हृदयको शुद्ध बनानेके लिये जो धीर व्यक्ति अपनी वाणीके वेगको, मनके वेगको, क्रोधके वेगको, जिह्वाके वेगको, उदरके वेगको एवं जननेन्द्रियके वेगको सहन करनेमें समर्थ हो जाता है, वह समस्त पृथ्वीका शासन कर सकता है; अर्थात्—ऐसे जितेन्द्रिय व्यक्तिके प्रायः सभी जन वशवर्ती हो जाते हैं ।' तात्पर्य काम-क्रोध-लोभ आदि दोष मानवके मनमें उत्पन्न होकर, वाणीके वेगद्वारा अर्थात् प्राणिमात्रको उद्विग्न करनेवाले वचनके प्रयोगके द्वारा, मनके वेगद्वारा अर्थात् अनेक प्रकारके मनोरथोंके द्वारा, क्रोधके वेगके द्वारा अर्थात् प्रीतिशून्य कटु वचनोंके प्रयोगद्वारा, जिह्वाके वेगद्वारा अर्थात् खट्टे-मीठे रसोंकी लालसाके द्वारा, उदरके वेगद्वारा अर्थात् अधिक भोजनके द्वारा, उपस्थके वेगद्वारा अर्थात् स्त्री-पुरुष संयोगरूप लालसाद्वारा मनको असद्विषयोंमें आविष्ट कर देते है । ऐसे दूषित मनमे शुद्ध भक्तिका अनुशीलन नहीं हो पाता । भक्ति-अनुशीलनके समय, उक्त छः प्रकारके वेग कच्चे साधकके साधनमें भारी बाधा डालते हैं । अतः भजनशील व्यक्तिको इन छः वेगोंको रोकनेका सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये ।' तभी चरित्रकी विशेषता होती है ।

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्यकी सच्चारित्र्य-शिक्षा

(लेखक—श्रीअवधकिशोरदासजी वैष्णव, 'प्रेमनिधि')

सच्चरित्र-निर्माणके लिये आचार्य श्रीरामानन्द प्रभुने प्रत्येक मन्त्रोपदेशक सद्गुरुको आदेश दिया है कि वे सान्निध्यमें आये मुमुक्षुको एक-वर्षपर्यन्त अपने अनुशासनमें रखकर पूर्ण सुयोग्यताकी परीक्षाके लिये मन्त्रोपदेश करें—

परीक्ष्य शिष्यं समुपासकं गुरुं
वर्षं समभ्यर्च्य हिरण्यरेतसम् ।

अन्य सभी आगमोंमे भी ऐसा ही निर्देश है । यदि इस आज्ञाका यथार्थ पालन किया जाय तो आज एक महान् सम्माननीय साधु-समाजका निर्माण हो सकता है । प्रारम्भिक युगसे लेकर अबतकके सभी सन्त इस दिशामें सर्वथा एकमत हैं; क्योंकि सच्चरित्रता ही सन्तोंका भूषण है—'सन्तश्चारित्र्यभूषणाः' (वाल्मी० युद्ध० ११६) । भगवान् श्रीरामका सम्पूर्ण जीवन ही चरित्र-निर्माणसे ओत-प्रोत है । श्रीशुकदेवजी श्रीहनुमान्‌जीके द्वारा **'मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणम्'**—आपका मानव-लोकमें अवतार मानव-धर्मकी शिक्षा प्रदान करनेके लिये ही हुआ है, ऐसा कहलाया है । वस्तुतः श्रीराम साक्षात् मूर्तिमान् धर्म हैं—**'रामो विग्रहवान् धर्मः ।'**

भगवान् श्रीरामके भक्तोंके लिये भी 'रटै जानै नाम तामें आवै गुण रामके' यह लक्षण निर्देश किया गया है। नाम-संकीर्तन एवं नामजपपरायण श्रीरामभक्तोंको भी श्रीरामके गुणगणोंसे अलङ्कृत होना ही चाहिये। यह श्रीसीतारामनामजापक सन्तोंका अकाट्य सिद्धान्त है। आचार्य श्रीरामानन्द श्रीरामभक्तिके प्रधान आचार्य हैं। अतः उनका इस सिद्धान्तका समर्थक होना सर्वथा उचित है। आपने अपने सुप्रसिद्ध 'श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर' ग्रन्थमें चरित्ररक्षा तथा चरित्र-निर्माणके लिये जो उपदेश दिया है 'कल्याण'के सुधी पाठकोंकी सेवामें उसका यत्किंचित् दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

कितने लोग श्रीरामनाम और शरणागतिका आधार लेकर 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'का उल्टा अर्थ लगाकर धर्म-कर्म-सदाचारकी अवहेलना करने लगते हैं, इसपर आचार्यचरण अपना सिद्धान्त व्यक्त करते हैं—

काम्यानां कर्मणां त्यागः स्वरूपस्याखिलस्य हि।
धर्मत्याग इति प्रोक्तं परमैकान्तिकैर्बुधैः॥

काम्यकर्मोंका परित्याग ही धर्मत्याग है। आसक्तिरहित अपने कर्तव्य-कर्मोंका अनुष्ठान तो करना ही चाहिये। प्रभुकृपा-प्राप्तिके लिये—'तन मन बचन बिकार बिहाई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥' सच्चरित्रवान् बनकर भजन करनेकी स्वतन्त्रता प्रभुने प्रदान की है। अतएव सदाचार-सत्कर्मका अनुष्ठान करते ही रहना चाहिये। यद्यपि अपना कल्याण श्रीरामनामजप तथा शरणागति-मात्रसे ही हो जाता है—

लोकसंग्रहबुद्ध्यैव श्रुतिचोदितकर्मणाम्।
शेषभूतैरनुष्ठानं क्रियते किंकरैः प्रभोः॥

हम प्रभुके सेवक हैं अतः हमको भगवान्‌की आज्ञा मानकर शास्त्रविहित सत्कर्मोंका पालन करना ही चाहिये। अन्यथा अनधिकारी मनुष्य हमारे धर्मत्यागको देखकर पथभ्रष्ट हो जायँगे; अतएव लोक-शिक्षाके लिये भी जब-तक व्यवहारका ज्ञान है, तबतक शास्त्रोक्त सत्कर्मका दृढतापूर्वक अनुष्ठान करना ही चाहिये। 'परमो धर्मः कः' इस परम प्रश्नके उत्तरमें श्रीरामानन्दाचार्य महाप्रभु उपदेश देते हैं—

उत्तमं सर्वधर्माणां शृणु धर्मं सनातनम्॥ ११२॥
दानं तपस्तीर्थनिषेवणं जपो
न चास्त्यहिंसासदृशो शुभाकृतिः।
हिंसामतस्तां परिवर्जयेत्सुधीः
सत्कर्मनिष्ठः परधर्मवृद्धये॥ ११३॥

'दान-तप-तीर्थ-जपादिके सभी धर्म अहिंसा-दयालुताके समान शुभफलप्रद नहीं हो सकते हैं। अतः अपने परमधर्मकी वृद्धिके लिये सत्कर्मनिष्ठ सज्जनोंको हिंसाका सर्वथा परित्याग कर देना चाहिये।' इसी प्रसङ्गमें आपने मांसभक्षणकी घोर निन्दा की है तथा मांसाहारी हिंसकको सर्वान्तर्यामी प्रभुका घातक भगवद्द्रोही माना है। आगे चलकर अनन्यभक्तको द्वेषबुद्धिका सर्वथा परित्याग करनेकी आज्ञा प्रदान करते हैं—

द्वेषबुद्धिस्तु हेयैव देवेष्वन्येषु संततम्।
तया स्वस्यैव हानिः स्याद् द्वेषशीलं भवेन्मनः॥
मनसो निर्मलत्वेन रामधामाधिगम्यते।
मनसः समलत्वेन रामाद्दूरं व्रजेन्नरः॥

श्रीरामभक्तको किसी भी देवी-देवताके प्रति द्वेष-भावना नहीं रखनी चाहिये। इससे अपनी ही हानि होती है तथा मन भी द्वेषशील हो जाता है। मनकी निर्मलता ही श्रीरामधामकी प्राप्ति कराती है एवं मनकी मलिनता ही श्रीरामसे दूर फेंक देती है। आचार्यचरण आज्ञा देते हैं—

मातृवत् परनारीषु पश्येयुर्वैष्णवाः सदा।

श्रीवैष्णवोंको 'परतिय मातु समान' देखना चाहिये। सदाचार-संरक्षणका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सदैव निरन्तर—

त्रिकालसंध्यामनुपास्य वाचा
क्षिपेत्सदैवादिकवेश्च कालम्।
रामार्चनेनेप्टतमेन गीता-
दिना सभाष्येण च भारतेन वा ॥१५५॥
स्याच्चेदशक्तः शृणुयात् कुतश्चिद्
ग्रन्थानमून् शुद्धतमाद्विशुद्धः।
संकीर्तनं श्रीरघुरामनाम्नो
ह्यथानुसंधानमथो विदध्यात् ॥१५६॥

—त्रिकाल-सन्ध्योपासन करना चाहिये, श्रीमद्-वाल्मीकीय रामायणका पाठ करना चाहिये। श्रीरामपूजन करना चाहिये तथा श्रीमद्भगवद्गीता, आचार्यप्रणीत भाष्य तथा भारतादिक सद्ग्रन्थ पढते रहना चाहिये। यदि पढ़नेकी शक्ति न हो तो किसी सच्चरित्र शुद्ध श्रीवैष्णवके मुखसे विशुद्ध होकर सुनना चाहिये। श्रीराम-नामका संकीर्तन अथवा मन्त्र-मन्त्रार्थका अनुसन्धान करते रहना चाहिये। इन प्रभु-कर्मोंको प्रभुके श्रीचरणोंमें समर्पण करना चाहिये।

शुभानि कर्माणि समर्पयेत् सदा
रामाय भक्ष्यं निवेद्य भक्षयेत्।
अहर्दिवं स्वाघनिवृत्तकामिनो
विमुक्तधीः स्याद् भवभीतिवर्जितः ॥१४५॥

श्रीरामजीको नैवेद्य भोग लगाकर उसी प्रभु-प्रसादका भोजन करना चाहिये, रात-दिन अपने पापोंका निवारण कर विमुक्तिकी इच्छासे जो इस प्रकार करता है, वह भवभयसे छूट जाता है। बाह्य सदाचारमें भी—

धृतोर्ध्वपुण्ड्रस्तुलसीसमुद्भवां
दधच्च मालाममलो हि कन्धरम्।
सज्जन्मकर्माणि हरेः सदा स्मरेत्
गुणांश्च नामानि शुभप्रदानि ॥१४७॥

ऊर्ध्वपुण्ड्र तिलक, तुलसीमाला धारणकर प्रभुके पावन जन्म-कर्मोंका स्मरण करता हुआ अपना जीवन व्यतीत करे। इस प्रकार—

जितेन्द्रियः प्रपन्नस्तं बुध आत्मरतिर्हरिम्।
आप्नुयात्परमं स्थानं योऽनुतिष्ठेदिदं मतम् ॥

प्रभुका प्रपन्नशरणागत विचारवान् विवेकी जितेन्द्रिय आत्मा जो इस सिद्धान्तको मानकर श्रीप्रभुसे प्रेम करता है, वह श्रीरामके परमधामको प्राप्त करता है। इस प्रकार आपने सच्चरित्रवान् बनकर प्रभुकी शरणागति ग्रहण करनेवालेको आशीर्वाद दिया है। सभी धर्माचार्योंने सच्चरित्र-निर्माणपर पूर्ण सावधानी रखनेका दिव्य उपदेश दिया है; विशेषतः वैदिक श्रीवैष्णवाचार्योंने तो प्रभु-कृपाप्राप्तिका आधार ही चरित्र-निर्माण बताया है। स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यकी यह शिक्षा सभीका परम कल्याण करनेवाली और चरित्र-निर्माणमें साधकको सम्बल प्रदान करनेवाला है। इसका श्रद्धासे अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है।

चरित्र-प्रधान भारतीय संस्कृति—संस्कृतभाषाके दर्पणमें

(लेखक—डॉ० श्रीशशिधरजी शर्मा, 'आचार्य', एम्० ए०, डी० लिट्०, अध्यक्ष संस्कृत वि० चण्डीग० वि० वि०)

भारतीय संस्कृति चरित्र-प्रधान मानी गयी है। 'चरित्र' शब्द गत्यर्थक भ्वादि (१ । ५५९) परस्मैपदी सेट चर् धातुसे कृत्प्रत्यय 'इत्र' लगकर बनता है। प्रकृतमें गतिका अर्थ होगा—आचरण, अर्थात् आचार। सामर्थ्यात् सदाचारको ही चरित्र कहा गया है। इस शब्दकी व्याख्या करते हुए मनुस्मृतिके टीकाकार कुल्लूकभट्टने स्पष्ट किया है कि वह शिष्ट पुरुषोंका आचार है—'शिष्टसमाचारम्।' (देखिये '**स्वां प्रसूतिं चरित्रं च**।' (मनु० ९ । ७) पर मन्वर्थ मुक्तावली व्याख्या।)

भारतको धर्मप्राण देश माना गया है। धर्मका मूल भी सदाचार ही है। शास्त्रविहित अनिन्द्य कर्म ही धर्म है। महर्षि जैमिनिने धर्मका लक्षण कहा है—'**चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः**' (मीमांसा १ । २)। मनुके शब्दोंमें तो '**आचारः परमो धर्मः**' (मनु० १ । १०८) सुप्रसिद्ध ही है।

चरित्र क्या है ?

'चरित्र क्या है ?' इसे जाननेके लिये वेदोंके अतिरिक्त रामायण, महाभारत, पचासों स्मृतियाँ, अष्टादश महापुराण,

उपपुराण, अर्थशास्त्र एवं कल्प, व्याकरणादि वेदाङ्गोंका प्रामाण्य होता है। इनमें भी अपौरुषेय वेद सर्वोपरि प्रमाण हैं; और तदनन्तर **'वेदार्थस्य प्रधानत्वात् प्राधान्यं हि मनः स्मृतम्'** के अनुसार भारतीय चारित्र्यके ध्वजवाहक मनुस्मृति उनके भाष्य आदिका भारतीय परम्परामें बड़ा आदर है। स्वयं श्रुति भी कहती है—'मनुने जो कहा है, वह संसारके लिये ओषधिकी भाँति हितकर है— **'यत् किंच मनुरवदत्तद् भेषजम्।'** मनुने आर्यावर्तान्तर्गत ब्रह्मवर्त प्रदेशका वर्णन करते हुए यह आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध घोषणा की थी कि संसारके समस्त पुरुष इस प्रदेशमें जन्म लिये हुए विप्रसे अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा लें—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनु—२०)

संस्कृतभाषाप्रिय आर्योंने स्व-जातिका सामान्य नाम 'मानुष, मनुष्य, मनुज और मानव' रखकर मनुको शाश्वत सम्मान देते हुए अपनी कृतज्ञ प्रकृतिकी अभिव्यक्ति दी। तात्पर्य यह कि हम मनुके वंशमें उत्पन्न हुए हैं। इस असामान्य वंश-गौरव-भावनाको आर्योंने बड़ा महत्त्व दिया। साथ ही मनुके द्वारा उपदिष्ट पवित्र चरित्रधाराको अव्याहत आगे बढानेका भार भी उन्होंने इन शब्दोंद्वारा अपने ऊपर लिया। मनुका स्मृतिमें आदर्श और व्यवहारका समन्वय भी बड़ा विचित्र ढंगसे हुआ है। इसका 'कुशल' शब्द एक उदाहरण है। कुश् (४।१०९) धातु चमकने अर्थमें है। जिसकी बुद्धि प्रतिभापूर्ण हो, वह कुशल है। स्त्री कुशला है। इसीसे 'कौशल्य' और कौशल्याकी भी सार्थकता है। 'कुश'* शब्द भी इसीसे उत्पन्न है।

इस विषयके अन्य गवेषकोंने इस बातका भी विवेचन किया है कि 'कुशल' शब्दका भाव 'कुश' काटनेवाला भी है। देवर्षि, पितृकार्योंमें कुशका उपयोग आवश्यक था। उसके लानेके लिये भी निपुणता चाहिये थी।

'कर्मणि कुशलः इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगाद्-विवेचकत्वादौ सम्बन्धे रूढितः। मुख्येनामुख्योऽर्थो लक्ष्यते। यत्स आरोपितः शब्दः व्यापारः सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणः।'

प्राचीन भारतीय श्रद्धालु एवं शीलसम्पन्न होते थे, इसीलिये संसारमें उनकी संस्कृति, उनका गणित, देव, ऋषि, पितरोंकी भावनासे प्रचलित है। महर्षि पाणिनिने इसके पुष्कल प्रमाण दिये हैं। उनसे पूर्व भी आर्योंकी विशिष्टताएँ प्रमाणित करनेके लिये यह कुशल शब्द प्रमाण है।

व्यसनोंसे विमुखता मुख्य चरित्र है

प्राचीन भारतीय व्यसनोंसे बहुत दूर रहते थे। मादक वस्तुओंको मदकारी या बुद्धि-नाशक होनेसे ही 'मद्य' आदि नामोंसे पुकारा जाता था—**'बुद्धिं लुम्पते यद् द्रव्यं मदकारि तदुच्यते।'** जुएको वे बहुत निकृष्ट दुर्गुण समझते थे। छल-प्रधान होनेसे (अमरकोश, महाभारत आदिमें) जुएको 'दुरोदर' कहा गया है। आर्योंके जीवनमें सचाईका भी स्थान उच्चतम था। उसे इसीलिये 'सत्यम्' कहकर पुकारा गया। पुराणोंने तो इसे सीधे 'नारायण' बना दिया। श्रुतियोंमें भी इसकी महिमा कम नहीं। उपनिषदोंके अनुसार 'सत्य' साक्षात् परमात्माका ही नाम है—**'तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि सतीयमिति तद्यत्सत्तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति'** ॥ (छान्दो० ८।३।४-५)।

मिथ्यासे उनको बड़ी घृणा थी। असत्य मानो उन्हे काटता था। इसका प्रमाण है, 'मिथ्या' शब्द जिसका अर्थ है—'वह वस्तु जो मार डालती है।' इसकी व्युत्पत्ति ही है—**मेथतीति मिथ्या। मिह नेह**

* अर्थदृष्ट्या यह 'कुष्' (९।४६) धातुसे भी सम्बद्ध है।